महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

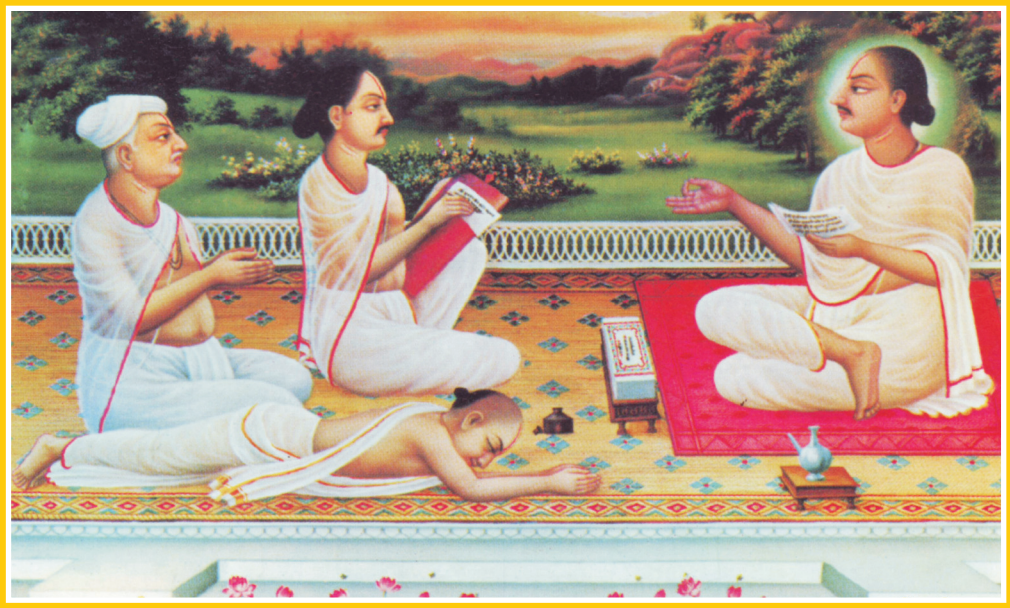

प्रथम स्कन्ध

(अध्याय १-९)

खंड १

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी' प्रथम स्कन्ध

हिन्दी भाषानुवाद

(अध्याय १-९)

प्रथम खंड

(कुल दो खंड)

अनुवादक:

गो.वा.श्रीआनन्दीलाल शास्त्री, श्रीनाथद्वार

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

> दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय; तृतीय स्कन्धके १७ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवतार्थ निबन्धानुसार सारणी
भूमिका. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ-पार्ला) १-४१
भागवतार्थ निबन्ध प्रथम स्कन्ध १
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (प्रथमस्कन्धके नाम) ३३

प्रथम स्कन्ध

अधिकारलीला

प्रकरण १: हीनाधिकार

अध्याय १. शौनकादि ऋषिओंका सूतजीसे प्रश्न १
अध्याय २. फल-साधनरूप तीन कर्मोंका निर्णय ६१
अध्याय ३. भगवान्‌के अवतार १११

प्रकरण २: मध्यमाधिकार

अध्याय ४. शुकके वैराग्यका कारण और व्यासजीकी चिन्ता १५८
अध्याय ५. भक्तिकी महिमा १८८
अध्याय ६. नारदजीकी भक्ति २३६

प्रकरण ३: उत्तमाधिकार

अध्याय ७. अश्वत्थामाके बाणसे रक्षा २६२
अध्याय ८. ब्रह्मास्त्रसे परीक्षितकी रक्षा और भगवान्‌की स्तुति ३०८
अध्याय ९. शरपञ्जर पीडित भीष्मकी स्तुति ३६५

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

प्रथमस्कन्ध

अधिकार लीला

अधिकारी (श्रोता–वक्ता)

प्रकरण१: हीनाधिकारी अ.१–३.
प्रकरण२: मध्यमाधिकारी अ.४–६.
प्रकरण३: उत्तमाधिकारी अ.७–१९.

प्रकरण.१: हीनाधिकारी (शौनकादि–सूतजी)

अ.१. श्रोता–जिज्ञासुत्व
वक्ता–श्रुतभागवतत्व
अ.२. श्रोता–मात्सर्यरहितत्व.
वक्ता–चातुर्य
अ.३. श्रोता–श्रवणमें प्रीति.
वक्ता–गुह्यज्ञान

प्रकरण.२: मध्यमाधिकार (व्यासजी–नारदजी)

अ.४. श्रोता–भगवत्कृपा
वक्ता–भगवत्कृपा
अ.५. श्रोता–भगवदीयत्व
वक्ता–भगवदीयत्व
अ.६. श्रोता–भगवदेकत्व
वक्ता–प्रेमभक्ति

प्रकरण.३: उत्तमाधिकारी (अध्याय ७–१९)

श्रोता–परीक्षित
द्वादशाङ्ग पुरुषमें तत्पर–वैराग्यवान्
वक्ता–शुकदेव
द्वादशाङ्ग पुरुषमें तत्पर–वैराग्यवान्

।। श्रीकृष्णाय नमः।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धार्थभूमिका

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः।।
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैर् ईश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रुभिः तत्क्षणात्।।

(मंगलाचरण)

निजानन्दात्ममायाभिः क्रियाज्ञानादिशक्तिभिः।।
कर्माणि रूपनामानि स्वात्मकान्यात्मनि स्वयम्।।१।।
सच्चिदानन्दकान् स्वस्माद् जडजीवाक्षरात्मकान्।।
सृजन्तं ब्रह्म परमात्मानं श्रीकृष्णमाश्रये।।२।।
कर्मज्ञानभक्तियोगेष्वधिकारितयापि च।।
स्वप्राप्तये स्वांशजीवान् चकार रमणेच्छया।।३।।
यो ज्ञानेच्छायत्नवतो दशलीलापरं हि तम्।।
नौमि नामात्मकग्रन्थाद्यस्कन्धार्थविचिन्तने।।४।।

(उपक्रम)

ग्रन्थारम्भमें अधिकारी विषय सम्बन्ध और प्रयोजन रूपी अनुबन्धचतुष्टय भारतवर्षीय लेखनपरम्परामें सर्वसाधारणतया स्वीकृत शैली रही है. कहीं वह, परन्तु, अभिधा द्वारा तो कहीं व्यञ्जना द्वारा भी प्रयुक्त होती दीखती है. श्रीमद्भागवत महापुराणमें एतदर्थ एक सम्पूर्ण स्कन्धका ही आयोजन उसके कुछ असाधारण वैशिष्ट्यको प्रकट करता है.

इस निगमकल्पतरुपर उद्गत फलरूप ग्रन्थके विषयका प्रतिपादन करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं :

''आनन्दस्तु हरेः लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा अत्र : सर्गो
विसर्गः च स्थानं पोषणम् ऊतयो मन्वन्तरेशानुकथाः निरोधो मुक्तिः

आश्रयः अधिकारी साधनानि द्वादशार्थाः ततो अत्र हि, निरूप्य संख्या स्कन्धा हि द्वादशैव नच अन्यथा. तृतीयादिदशस्कन्धैः लीला दशविधा उदिता; श्रोतुः वक्तुः च लक्ष्म आद्ये, द्वितीयेतु अंगनिर्णयः. इति इदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः''.

(त.दी.नि.३।१।३-६)

अर्थात् इस महापुराणमें आनन्दमय श्रीहरिकी दशविध लीला तृतीय स्कन्धसे आरम्भ कर बारहवें स्कन्ध तक निरूपित हुयी हैं. इन लीलाओंके श्रोता-वक्ताओंकी उत्तम-मध्यम-कनिष्ठताके भेदवश विभिन्न अधिकारिताओंका निरूपण प्रथम स्कन्धमें हुवा है. जबकि द्वितीय स्कन्धमें श्रवणांगभूत भागवतीय पदवाक्योंका शक्तितात्पर्यनिर्धार तत्त्वध्यान हृत्प्रसाद और मनन रूपी साधनांगोका निरूपण अभिप्रेत है.

(अथातो अधिकारजिज्ञासा)

अव्ययकोशकार श्री वा. श्रीवत्सांकाचार्यद्वारा संकलित अव्ययार्थकोश ग्रन्थमें '' **'अधि' स्वाम्य-आधिक्य-निन्दा अभिचारे स्मृतिपाठयोः. पाकारम्भे प्रहसने प्रेरणा-उपरिभावयोः, स्वीकारे विनियोगे च लाभे सन्धानसम्मुखे ज्ञानप्रस्तावयोः...**'' (अव्य.को.३६) यों 'अधि'उपसर्गके अनेक अर्थ दिये गये हैं. तदनुसार कृतिवाचक 'कृञ्' धातुके साथ कर्ताके अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय लगा कर 'अधि' उपसर्ग जोड़नेपर 'अधिकार' शब्द गढ़ा जाता है. ऐसी व्युत्पत्तिवशाद् इसका अर्थ योग्य या श्रेष्ठ कर्ता होता है.

वैसे जहां तक पारिभाषिक अर्थका सवाल है तो न्यायकोशकार श्रीभीमाचार्य झलकीकरजी धर्मशास्त्र न्यायशास्त्र मीमांसाशास्त्र और शब्दशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकारकी परिभाषा उद्धृत करते हैं :

१.यथेष्टक्रयविक्रयादिकर्तृत्वसम्पादकं स्वामित्वम्.

२.यद्धर्मविशिष्टेन कृतस्य कर्मणः फलजनकत्वम्.

३.यत् प्रवर्तमानपुरुषनिष्ठं तथा ज्ञायमानं सत् प्रवृत्तिहेतुः सो अधिकारः.

४.यद् विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते सो अधिकारः.

५.स्वसूत्रे लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थशून्यत्वे सति विधिसूत्रैकवाक्यतापन्नत्वम्.

६.आरम्भः.

प्रस्तुत पौराणिक सन्दर्भमें, परन्तु , इन लक्षणोंको समन्वित करना हो तो

उपलक्षणके रूपमें मान्य करना पड़ेगा. क्योंकि प्रस्तुत भागवतमहापुराणके सन्दर्भमें १.'यथेष्टक्रयविक्रयकर्तृत्वसम्पादकस्वामित्व'रूप धर्मशास्त्रीय अधिकार न तो शास्त्रसंमत हो सकता है और न प्रशस्त ही क्योंकि **''एवं कृते विधाने तु लभते वाञ्छितं फलं दारागारसुतान् राज्यं धनादि च यद् ईप्सितं परन्तु शोभते न अत्र सकामत्वविडम्बनं कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दप्रदं'', ''विप्रैः भागवती वार्ता गेहे-गेहे जने-जने कारिता कणलोभेन कथासारः ततो गतः''** (श्रीस्कान्दपुरा.२।वैष्ण.खं. ४।४६-४८, भाग.माहा.१।७१) इन वचनोंमें क्रयविक्रयोपयागी स्वामित्व निन्दित होनेके कारण सर्वथा अग्राह्य ही मानना पड़ता है.

अतएव भागवतके आदिम मध्यम तथा उत्तम अधिकारकी विवेचना करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

> **१.''वक्ता अधिकारी १.सर्वज्ञः २.सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतो भक्तो हि. अविरक्तः तथा आदिमः सूतत्वाद् वृत्तिः एषा हि तस्माद् न फलितं तथा, यद्यपि एषा न विक्रीता, नामविक्रय-णात् तथा. इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत्स्वरूपविक्रेतरि विक्रय-साध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति''**
>
> **२.''अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतं आदरात् पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्. वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत्.''**
>
> (त.दी.नि.३।१।२६-२७,२।२५३-२५४)

अतः भागवत महापुराणका क्रय-विक्रय करनेका स्वामित्वरूप अधिकार तो शास्त्रवचन तथा आचार्यवचन दोनोंके आधारपर भागवतोपदेशका अनधिकारी ही बनानेवाला सिद्ध हो जाता है.

रही कथा पांचवें और छठ्ठे प्रकारकी अधिकार-परिभाषाओंकी तो वे शब्दात्मक ग्रन्थोंके आरम्भरूप अधिकारपरक हैं. पुरुषके अधिकारपरक नहीं; सो वे तो यहां अप्रसक्त ही हैं. अब रह जाती है बात दूसरी तीसरी और चौथी परिभाषाओंके अनुसार अधिकारके स्वरूपविमर्शकी. तदनुसार प्रवृत्त होनेपर इनके अन्तर्गत क्रमशः द्वितीय और तृतीय परिभाषा वस्तुगत(ऑब्जेक्टिव्) और बोधगत(सब्जेक्टिव्) प्रकारकी हैं. क्योंकि द्वितीय परिभाषामें जैसे प्रकारके धर्मसे विशिष्ट अर्थात् सहित होनेपर किसी कर्ताके द्वारा किया जानेवाला कर्म

फलजननार्थ सक्षम हो पाता हो, वैसा धर्म अधिकाररूप स्वीकारा गया है. उदाहरणतया, भागवतोपदेशकर्ताकी धर्मनिष्ठा कैतव = छलकपटसे रहित होनी चाहिये तथा ज्ञाननिष्ठा मात्सर्यरहित सज्जनतारूप होनी चाहिये. ऐसेके मुखसे कथाश्रवण करनेपर श्रोताके हृदयमें त्रिविधतापहारक और कल्याणकारक ऐसे भागवतवेद्यरूप ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण आरुढ़ हो पाते है. (द्रष्ट.''धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र...तत्क्षणात्'' भाग.पुरा.१।१।२)

तृतीय परिभाषाके अनुसार कोई पुरुष किसी अनुष्ठानमें प्रवृत्त होने जा रहा हो तो उसे स्वयंके बारेमें ऐसी कोई आत्मप्रज्ञप्ति आत्माकांक्षा या आत्मप्रयियतिषा प्रतीत होती हो तो वह प्रवृत्त हो पाता है. यही उसे किसी प्रवृत्तिविशेषके अनुष्ठानमें अधिकारी बनाता है. उदाहरणतया ''**तस्माद् भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यः च इच्छता अभयम्**'' (भाग.पुरा.२।१।५) की व्याख्यामें महाप्रभुने प्रस्तुत भागवतपुराणके विषयरूप भगवल्लीलाके उपदेश और श्रवण के बारेमें शंका-समाधान करते हुवे यों विधान किया है :

> ''ननु वैदिकविधिबोधितानाम् अग्निहोत्रादिनाम् (पूर्व-काण्डोपदिष्टानां) आत्मजिज्ञासायाः (उत्तरकाण्डोपदिष्टायाः) वा कथनं परित्यज्य कथं भगवच्छ्रवणं विधीयते ? अवैदिकत्वात्. ...अभयप्रेप्सवः त्रैवर्णिकाएव भवन्ति इति नास्ति नियमो अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानाम् अभयेच्छासम्भवात्. अतः तेषाम् उपायो वेदे नोक्तइति तदर्थं वक्तव्ये साधने, तेनैव साधनेन त्रैवर्णिकानामपि पुरुषार्थसिद्धौ आवश्यकत्वाद् लाघवत्वात् च, सर्वोपयोगी एकएव उपायो वक्तव्यः. सच सर्वात्मत्वाद् भगवतः तद्विषयएव कश्चिद् वक्तव्यः. नहि स्वस्य आत्मा कस्यचिद् न श्रोतव्यः... अतः श्रुतावपि 'आत्म'पदं सर्वात्मपरम्... तस्य शारीरस्य च भेदाभावाद् न स्वस्य गौणता. किञ्च ''फलम् अतः उपपत्तेः'' इति न्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलं किन्तु श्रवणादिभिः ज्ञाते ब्रह्मणि तत् फलं प्रयच्छति. तत् चेद् निर्धर्मकं शारीररूपं वा स्याद् फलदाने असमर्थमेव स्यात्. अतः फलदानसमर्थरूपएव आत्मा श्रोतव्यः इति आह 'भगवान्' इति षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो नतु भ्रान्तशास्त्रैः प्रतिपन्नः... किञ्च फलं दुःखाभावः सुखं च...यस्तु

उभयरूपो भवति तद् आह 'हरिः ईश्वरः' इति. हरित्वेन सर्वदुःख-हर्तृत्वेन ईश्वरत्वेन सर्वफलदातृत्वेन च श्रोतव्यः... तादृशः श्रोतव्यइति विषयं व्यावर्तकधर्मैः परिच्छिद्य तत्र कर्तव्यम् आह श्रोतव्यादित्रयम्. ननु अस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वात् श्रवणादिकं न धर्मरूपं... अतो नवविधा भक्तिः कर्तव्यत्वेन वक्तव्या. तत् कथम् अत्र त्रयमेव उच्यते इति चेत्, सत्यम्! नवविधभक्तेः वक्तव्यत्वेऽपि प्रेमानन्तरभावित्वाद् अन्येषां त्रयमेव उक्तम्. त्रिभिः स्नेहे जाते अन्येषां कर्तव्यता अनुक्तसिद्धैव... श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः उक्तैव वासुदेवस्य, तदर्थम् अपरा कृतिः... भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः'' (सुबो.२।१।५)

यों अनुबन्धचतुष्टयान्तर्गत अधिकारी और विषय का विस्तृत निरूपण महाप्रभु द्वारा जो किया गया उसका अवलोकन करनेपर अधिकारीकी परिभाषाकी संगति भी प्रस्तुत सन्दर्भमें बैठ जाती है. वह यों कि श्रवण-कीर्तन-स्मरणके विधायक वचनमें पुराणश्रवणके अधिकारीके विशेषणके रूपमें सर्वप्रथम तो 'अभयेच्छुता' हि प्रस्तुत सन्दर्भमें मौलिक अधिकारसमर्पक गुण है. बादमें उसके अवान्तर धर्मरूप आदिम मध्यम और उत्तम गुणोंका विचार भी आगे किया जा सकेगा.

अनुबन्धचतुष्टयान्तर्गत अवशिष्ट सम्बन्ध और प्रयोजन की मीमांसा करनेपर, महाप्रभुके अनुसार, सम्बन्धबोधार्थ इतना तो विदितप्रायः ही है कि -

१.''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधि-भाषा व्यासस्य प्रमाणं तत्चतुष्टयम् उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्तु अस्य प्रमाणं तच्च न अन्यथा'',

२.''सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदितः ब्रह्ममात्र-प्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः. स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवता उदितं विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकं प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थन्तु अतः पुनः सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य न उक्तवान्. वेदकर्तृ-वचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति. स्वस्य अन्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुं नहि क्षमो अत्यन्तमलिनाः लोकाः ततो भागवतं कृतम्. एतदभ्यसनाद् लोको मुच्यते अनुपजीवनाद्—अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्येत—परम् अत्र एको महान्

दोषः 'तदुपजीवनम्'इति वृत्त्यर्थम् उपायो न कर्तव्यः''.

(त.दी.नि.१।७-८,२।६३-६७, प्रका.२।६७)

एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत महापुराण उभयरूप है : वेदार्थरूप भी है और वेदोपबृंहणार्थ पुराणरूप भी. अर्थात् वेदोंके रहस्यरूप उपनिषदोंका जैसे निष्कृष्टार्थ श्रीमद्भगवद्गीता है, जिसे ब्रह्मसूत्रकारने ब्रह्मजिज्ञासाके अन्तर्गत अंगतया, निर्णायकतया, अधिकरणोंमें विषयतया भी और उत्तरपक्षगत संगतितया भी समायोजित किया है. भागवत इन तीनोंमें उभरते सर्वविध संदेहोंके निवारणार्थ चरमप्रमाण होनेके रूपमें अपने प्रतिपाद्य विषयसे सम्बद्ध है. अतः सर्वसन्देहवारक शास्त्रत्वेन मान्य है. एतावता महाप्रभुके मतमें चार प्रमाण माननेकी धांधल नहीं करनी चाहिये प्रत्युत चारोंकी एकवाक्यता सम्पादक वचनराशी ही विविदिषादशामें प्रमाणतया स्वीकारी गयी है.

जहां तक प्रयोजनका प्रश्न उठता है महाप्रभुके ये वचन सर्वदा अनुसन्धेय है **''शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते...तत्र आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थः भक्तिजनिका हि संहिता सृष्ट्यादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्तिः भवति न कार्यत्वे. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला**'' (सुबो.१।१।४). अर्थात् सर्वदुःखहर्ता आनन्दमय ब्रह्मरूप श्रीहरिलीलाके रूपमें समग्रसृष्टि तदन्तर्गत स्वयंका भी बोध होनेपर दुःखाभाव पूर्वक जो परमानन्दानुभव होता है, उसे प्रदान ही श्रीमद्भागवतकथाका परम प्रयोजन है. उत्पत्ति स्थिति मुक्ति और लय के कर्ताके रूपमें ब्रह्मके अभिन्न-निमित्तोपादान होनेका श्रौत ज्ञान मुक्तिपर्यवसायी ही होता है. उन्हीं, किन्तु, चतुर्विध ब्रह्मकार्योंका दशविध भगवल्लीलाओंके रूपमें श्रवण-कीर्तन-स्मरण कर पानेपर, **''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश ! कुर्युः**'' (भाग.पुरा.८।२२।२०) वचनके अनुसार, सृष्टिमें हमारे मिथ्यामोहको दूर कर तथा सृष्टिके भगवल्लीलारूप होनेके लीलाभावसे हमें परिपूरित बना सकता है. यों **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**'' (बाद.सू.२।१।३३) ब्रह्मसूत्रोदित सिद्धान्तका भागवतको स्वोपज्ञ भाष्य सिद्ध करता है.

अर्थाद् भागवतका श्रवण-कीर्तन-स्मरण भगवल्लीलाके प्रत्यभिज्ञानमें फलित हो पाता है. यही अनुबन्धचतुष्ट्यान्तर्गत अन्तिम अनुबन्धरूप प्रयोजन श्रीमद्भागवतका है.

(सा चतुर्धा उपलिप्सकोपायोपलब्धिप्रयोजनभेदात्)

इस अधिकारजिज्ञासाकी अंगभूत चार उपजिज्ञासा होती है :

१. अधिकारोपलंभकामनात्मिका उपजिज्ञासा

२. अधिकारप्राप्तिके उपायोंकी उपजिज्ञासा

३. अधिकारोपलब्धिके स्वरूपकी उपजिज्ञासा

४. अधिकारोपलब्धिप्रयोजनके स्वरूपकी उपजिज्ञासा.

सर्वप्रथम किसीभी प्रकारके अधिकारको कोई व्यक्ति पाना चाहता हो तो उसका ज्ञानेच्छाप्रयत्नसमर्थ चेतन होना नितान्त अपरिहार्य होता है. इन तीनमेंसे किसी भी एक घटकसे रहित होनेपर अधिकारके स्वरूपके ज्ञानके बिना केवल इच्छा और प्रयत्न के वश कोई अधिकार प्राप्त भी हो जाये तो प्रायः अनभीष्ट ही परिणाम भुगतना पड़ता हैं. जो जिस तरहके अधिकारकी कामना रखनेका कोई अधिकारी ही न हो तो उसका वैसे अधिकारार्थ उपलिप्सक होना भी अतीव अनुचित होता है. यह पञ्चतन्त्रके "**शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रको यस्मिन् कुले त्वम् उत्पन्नो गजः तत्र न हन्यते**" (पञ्चतन्त्र : ६।४४) कथाप्रसंगमें उपहासरूपेण वर्णित है. लोमडीके गर्भसे उत्पन्न हिम्मती बच्चेको शिकार करनेका कौशल्य प्राप्त भी हो जाये तबभी उसे हाथीके शिकार करनेके अधिकारलिप्सा ही अनहोनी मानी गयी है. ज्ञान हो पर इच्छा न हो तबभी भीष्मपितामहको अंबासे विवाह करनेको बाधित करनेपर भी अंबाके पति बन पानेकी अपनी अधिकारिताका भान उन्हें नहीं हुवा, ब्रह्मचर्यव्रतके वशात्. ज्ञान और इच्छाके रहते प्रयत्नके अभावमें भी अधिकार नहीं मिलता. उदाहरणतया भागवतोपदेश और पुष्टिभक्ति का कैतवपूर्ण लाभपूजार्थ प्रयोग न करनेके सिद्धान्तवचनका बोध और हृदयमें दबी-दबीसी वैसी इच्छाके बावजूद आधुनिककालमें उस दिशामें हम वल्लभवंशजोंकी प्रयत्ननिष्ठाके अभाववश श्रीकृष्णकी निरुपाधिक पुष्टिभक्तिका अधिकारी हमें स्वीकार पाना किसीके भी लिये अब अशक्य कथा बन गयी है. अतः अधिकारके उपलिप्सकका ज्ञानेच्छाप्रयत्नसमर्थ होना अनिवार्य है.

अतः अधिकारांगभूत ज्ञानके सन्दर्भमें जिज्ञासा अभीप्सा और प्रयियतिषा रूपा त्रिविध कामना उपायतया उपस्थित होती हैं. अवगति अनुतिष्ठासा और अनुष्ठान के त्रैविध्यवशात् अधिकारोपलब्धि भी तीन प्रकारकी

होती है. अतः जिज्ञासा अभीप्सा प्रयियतिषा की उत्तरोत्तर साधनफलभावरूपता फलपर्यवसायी हो पाती है.

(अधिकारिता त्रिविधा कर्मज्ञानभक्तियोगत्रैविध्याद्)

प्रस्तुत अधिकारजिज्ञासाके सन्दर्भमें यह विशेषतः अवगन्तव्य है कि यह जिज्ञासा अधिकारसम्पादिका होनेके अर्थमें नहीं परन्तु अधिकारिताके संप्रत्ययार्थ ही है. जैसाकि कहा गया है **''यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु सद् विधत्ते एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्याः तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः''** (भाग.पुरा. ११।२८।३४). यहां भगवाननें ''मे सती निपुणा समीक्षा'' पदोंका जो प्रयोग किया है, उसके आधारपर जीवात्माधिकारक परमात्मयोगके तीन योग उपायतया प्रतिपादित हुवे हैं. यथा :

> **''योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च न उपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्. निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनाम् इह कर्मसु, तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनां, यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः.''**
>
> (भाग.पुरा.१०।२०।६-८).

इन वचनोंमें ज्ञानादि योगोंके अधिकारनियमके साथ-साथ उनके 'नृणां'पदप्रयोगवश जीवात्माधिकारक होनेका भी सुस्पष्ट प्रतिपादन मिलता है. अन्य वैराग्य तप ध्यान दान परोपकारादि अनेक आध्यात्मिक या आधिदैविक उपाय इन्हीं तीनोंके अंगोपांगतया अनुष्ठेय बनते हैं. साथ ही साथ श्रुतिसे आरम्भकर भागवतर्यन्त जो एक चतुर्थ प्रपत्तिमार्गका भी निरूपण हुवा है, वह जीवात्माकी अधिकारिताके सन्दर्भमें नहीं. वह तो निःसाधनता या निःसाधन-भावना को अनुलक्ष्य बना कर दिया गया उपदेश है. अतः ''योगास्त्रयो... न उपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्'' वचनांशमे अवभासित होते चतुर्थ उपायका निषेध निरर्थक सिद्ध नहीं हो जाता. प्रत्युत वहां प्रपत्तिरूप उपायको परमात्माकी साधननिरपेक्ष उद्धारसामर्थ्यके रूपमें लेना आवश्यक लगता है. यह :

> **''ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीत महत्तमाः अव्रतातप्ततपसः सत्संगाद् माम् उपागताः. केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः**

प्राप्नुयाद् यत्नवानपि. मत्कामाः रमणं जारम् अस्वरूपविदो अबलाः ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगात् शतसहस्रशः. तस्मात्, त्वम् उद्धव !, उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्याः ह्यकुतोभयः.''

(भाग.पुरा.११।१२।७-१५).

यहां, अतएव, जीवात्माका अधिकार जिज्ञास्य माननेके बजाय अनधिकारी जीवात्माके भी उद्धार करनेका अधिकार परमात्माका स्वीकारना आवश्यक लग रहा है. कर्मज्ञानादियोगार्थ अनुष्ठानसमर्थ सुसाधन जीवात्माओंके लिये भगवच्छरणागति फलप्रापिका अनन्यथासिद्ध अंगतया तत्तत् कर्म ज्ञान या भक्ति में अभिलषणीय बनती है. असमर्थ निःसाधन जीवात्माओंके लिये अनुकल्पतया वांछनीय होती है. और समर्थ होनेपर भी आत्मनिःसाधनताकी भावनामें परायण जीवात्माओंके लिये विकल्पतया भी उपदिष्ट होती माननी चाहिये. अतएव ''**इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितं उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषिः निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्... सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतं... कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह कलौ नष्टदृशाम् एषः पुराणार्को अधुना उदितः**'' (भाग.पुरा.१।३।४०-४४) इन वचनोंद्वारा स्वयं भागवतमें स्वयंकी अंगरूपता अनुकल्परूपता और विकल्परूपता स्वीकारी गयी है.

(कर्मज्ञानोपासनादिपुरुषार्थता पूर्वोत्तरकाण्डगतश्रुत्यादिप्रमाणमूला, अनधिगतार्थत्वे सति श्रुत्यादिज्ञापितत्वात्)

यह जैमिनिसूत्र और बादरायणसूत्र का अवलोकन करनेपर स्पष्ट है : ''**अथातो धर्मजिज्ञासा, चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः**'', ''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्**'' (जैमि.सू.१।१।१-२, बादा.सू.१।१।१-२). अतएव अणुभाष्यकार कहते हैं कि ''**अस्ति तावद् वेदत्वम् अध्ययनादिभ्यः, स्मरणात् च. प्रमाणं सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे. सच न यज्ञः चेद् ब्रह्म भवतु. नच एतावता अवेदत्वम्**'', ''**क्रियाज्ञानयोः स्वातक्त्र्येण पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं भिन्नतया शास्त्रप्रवृत्तिः**'' (अणुभा.१।१।२-३). अतः उत्प्रेक्षामूलक किसी अन्य प्रमाणद्वारा सिद्ध धर्मस्थानीय या ब्रह्मस्थानीय पदार्थका श्रौत धर्म या श्रौत ब्रह्म से साम्य उपलब्ध होता भी हो तो तब भी उसके अभिज्ञापक शास्त्रका श्रौत धर्म या ब्रह्म के बारेमें प्रामाण्य अंगीकार्य नहीं हो पाता. सो वह केवल साम्यपर्यसायी ही रह जाता है.

(श्रौतकर्मज्ञानोपासनासु अधिकारः त्रैवर्णिकानाम्)

श्रुतिविहित यज्ञादि कर्मके अनुष्ठानका तथा श्रुतिप्रतिपादित जगद् जीव ब्रह्मादि स्वरूपके ज्ञान या तदर्थ उपासनाओं का अधिकार उनयनसंस्कारमूलक होता है. यह उपनयन ''घटं कुरु-शाटकं वय'' सदृश भाविनीवृत्तिके आश्रयद्वारा ''**अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत, एकादशवर्षं राजन्यं, द्वादशवर्षं वैश्यम्**'' (द्रष्ट.याज्ञ. स्मृ.१।१४) वचनमें उपनयनकी त्रैवर्णिकाधिकारकता सिद्ध करता है. ''**चातुर्वण्यम् अविशेषाद्, निर्देशाद् वा त्रयाणां स्याद्, अग्क्याधेयेऽपि असम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिः इति आत्रेयः... तथा अन्यार्थदर्शनम्**'' (जैमि.सू.६।१।७।२५-३८) पूर्वोत्तरपक्षद्वारा जैमिनिसूत्रोंमें भी वैदिक यज्ञादि कर्मको द्विजाधिकारक माना गया है. इसी तरह बादरायणसूत्रके भी ''**शूगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि... संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापात् च... श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेः च**'' (बाद.सू.१।३।३४-३८) इस अधिकरणमें ब्रह्मविद्या और तदंगभूत उपासनाओंके अनुष्ठानका अधिकार भी त्रैवर्णिकोंका ही स्वीकारा गया है. न केवल इतना प्रत्युत अधिकारितोपलब्धिका प्रयत्न भी निषिद्ध माना गया है. विशिष्ट प्रमेयके अनन्य अभिज्ञापक होनेके कारण निज प्रमेयके इदमित्थंभावेन स्वरूपनिर्धारणमें किसीभी प्रमाणका प्रामाण्य निरंकुश होता है. अतः उस प्रमेयके ज्ञानार्थ अधिकारिता या अनधिकारिता के निर्धारणमें भी वही प्रमाण निरंकुश बोधक हो जाता है. अतएव अणुभाष्यकार कहते हैं ''**स्मार्तपौराणिक-ज्ञानादौतु कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां महताम् अधिकारः. तत्रापि न कर्मजातिशूद्राणाम्. तस्माद् नास्ति वैदिके क्वचिदपि शूद्राधिकारः**'' (अणुभा. १।३।३८).

(स्मार्तपौराणिकादि-कर्मज्ञानभक्तयः चातुर्वर्ण्याधिकार्युद्देश्यकाः)

मनुस्मृतिमें ''**सर्वस्य अस्यतु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः मुख-बाहु-उरु-पद्-जानां पृथक्कर्माणि कल्पयत्**'' (मनुस्मृ.१।८७) वचनके अनुसार चातुर्वर्ण्याधिकारक धर्म स्मृतिओंमें प्रतिपाद्य माना गया मिलता है. सकलोपनिषत्सारस्मृतिरूपा भगवद्गीतामें भी, अतएव, ''**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्**'' (भग.गीता.१०।३२). इसी तरह भागवतपुराणमें युधिष्ठिरद्वारा ''**भगवन् श्रोतुम् इच्छामि नृणां धर्म सनातनं वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्**'' सनातनधर्मके बारेमें जिज्ञासा प्रकट करनेपर समाधानार्थ :

“ [१]सत्यं [२]दया [३]तपः [४]शौचं [५]तितिक्षा [६]ईक्षा [७]शमो [८]दमो [९]अहिंसा [१०] ब्रह्मचर्यं च [११]त्यागः [१२]स्वाध्यायः [१३]आर्जवं [१४] सन्तोषं [१५]समदृक्–सेवा [१६]ग्राम्येहोपरमः शनैः [१७]नृणां विपर्ययेहेक्षा [१८]मौनम् [१९]आत्मविमर्शनम् [२०]अन्नादेः संविभागो भूतेभ्यः च यथार्हतः [२१]तेषु आत्मदेवताबुद्धि सुतरां नृषु... [२२]श्रवणं [२३] कीर्तनं च अस्य [२४] स्मरणं महतां गतेः [२५]सेवा [२६]इज्या [२७]अवनतिः [२८]दास्यं [२९]सख्यम् [३०]आत्मसमर्पणं, नृणाम् अयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः... प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे–युगे वेदवद्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य च इह च शर्मकृत्. वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् हित्वा स्वभावजं कर्म शनैः निर्गुणताम् इयात्. उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यताम् इयात्... एवं कामाशयं चित्तं कामानाम् अतिसेवया विरज्येत यथा राजन्! अग्निवत् कामबिन्दुभिः. यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकं यद् अन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्” (भाग.पुरा.७।११।२–३५)

यहां देखा जा सकता है कि तत्तत्–स्वभावोद्देश्यक वर्णाश्रमाचाररूप धर्म तत्तत्–स्वभावमूलक कामनाओंके, अन्ततः, उपशमनार्थ ही विहित है नकि उद्बोधनार्थ या निर्वाहार्थ. जैसे पुनः–पुनः बीजावाप और अन्नोत्पादन द्वारा कृषिकी भूमिका अतिशय दोहन उसे ऊषरभूमि या अनुर्वरा बना देता है, वैसे ही स्वाभाविक कामनाओंकी पूर्तिके हेतु किया जाता कर्म भी अतिरेकवशाद् अन्तमें कर्मकर्ताको निष्काम बनानेमें हेतु बन जाता है. फिरभी यथाकथञ्चित् यथेच्छ किया जाता कर्म ऐहिक कामनाओंका पूरक हो भी जाता हो परन्तु पारलौकिक अनिष्टमें भी वह पर्यवसित तो हो ही सकता है. अतः शास्त्र उन्हीं स्वभावजन्य कामनाओंकी पूर्तिके हेतु वर्णाश्रमाचारधर्मोंका विधान करना चाहता है, पारलौकिक अनिष्टमें कर्मपर्यवसानसे हमारे त्राणहेतु. वर्णाश्रमाचारीय धर्मोंके अतिसेवनवश स्वभावोपात्त वर्णाश्रमीय कामनाओंका हृदयसे निर्मूलन अभिप्रेत है.

(कलौ वर्णाश्रमव्यवस्थोच्छेदात् तन्मूलकाधिकाराणामपि प्रायो लोपः)

ऊपर दिखलाये गये बत्तीस सामान्य धर्मोंके अन्तर्गत [१]सत्यं [२]दया [३]तपः और [४]शौचं रूपी क्रमशः चार धर्म वृषभरूप धर्मके चार चरणोंकी तरह कुछ महत्ताके वाहक होते हैं. इन चार चरणोंका ही कलिकालके दुष्प्रभाववश [१]अनृत

[३]मद=अहंकार [३]स्मय=अन्यमें हीनतादर्शन और [४]संग रूपी क्रमशः अधर्मपादोंके द्वारा नाश माना जाता है. कलिके प्रारम्भमें तीन चरणोंका तो नाश हो जाता है. प्रथम चरणरूप सत्यको, परन्तु, कायिक वाचिक या मानसिक अनृताचरणवश व्यष्टिके स्तरपर खण्डित न किया जाये तो समष्टिके स्तरपर सत्य तो अखण्डित रहता ही है. यह भागवतमें **''तपः शौचं दया सत्यम् इति पादाः कृते कृताः अधर्मांशैः त्रयो भग्नाः स्मय–संग–मदैः तव, इदानीं धर्म ! पादः ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः तं जिघृक्षति अधर्मो अयं अनृतेन एधितः कलिः''** (भाग.पुरा.१।१७।२३–२५) वचनमें प्रतिपादित हुवा है. यहां एक दुष्चक्र यह है कि भगवत्प्राप्तिके प्रमुख तीन उपाय श्रौत कर्म ज्ञान भक्ति यद्यपि अनृत मद स्मय और संग के निवारण या उन्हें संयत करनेको धर्मकी पादचतुष्टयीके रक्षोपाय बन सकते थे, फिरभी वर्णाश्रमाचार, जब अनृत मद स्मय या दुःसंग के वश अपनी प्रभावोत्पादकता खो देता हो तो, तन्मूलक श्रौत कर्म–ज्ञान–भक्तिके अधिकारका विचार भी अप्रसक्त हो जाता है. ऐसी स्थितिमें तान्त्रिक या पौराणिक कर्म–ज्ञान–भक्ति, चतुर्वर्णाधिकारक अथवा प्राणिमात्राधिकारक माने गये होनेके कारण अवलम्बनीय बन जाते हैं. जैसा कि **''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्''**, **''किरात–हूणा–ऽऽन्ध्र–पुलिन्द–पुल्कसाः आभीर–कंकाः यवनाः खसादयो ये अन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः''** (भग.गीता.४।३०,भाग.पुरा.२।४।१८) भगवद्गीतामें और उसके व्याख्यानरूप भागवतपुराणमें प्रतिपादित हुवा है.

इस ऐसे प्रतिपादनका अभिप्राय श्रौत वर्णाश्रमाचारमूलक कर्मज्ञानभक्ति और स्वतन्त्रा भक्ति या प्रपत्ति के सूक्ष्म प्रभेदको स्वयं महाप्रभुके शब्दोंमें एक बार भलीभांति समझ लेना आवश्यक है. एतदर्थ महाप्रभुके तीन वचनोंको ध्यानमें रखना आवश्यक हैः

> **१.''भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहितायाएव तिरोधान–नाशकत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्ति माहात्म्य–ज्ञानपूर्वक–परमस्नेहरूपा. तथाभूता सती भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत् स्वतःपुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इति उच्यते. अयम् अर्थः : स्वाश्रमाचारसहित–ब्रह्मानुभवसहित–माहात्म्य–ज्ञानपूर्वक–स्नेहो ब्रह्मभावं करोति. तादृशः चेत् परिचर्यासहितो**

भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती त्रयोदशगुणा भवेत् तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादि–करणं फलानुभवप्रति–बन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः त्यक्तव्याः. यथा ब्रह्मभावंगतस्य, अन्यथा कर्तव्याः इति निष्कर्षः''.

२.''**स्वधर्माणां देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानाम् आचरणं यथाशक्त्या कर्तव्यं नतु शक्तावपि संकोचः... विधर्मात् च निवर्तनं द्वितीयं साधनम्. धर्मबाधो विधर्मो यस्मिन् क्रियमाणे धर्मस्य बाधो भवति. स यथाधिकारम् अवसेयः. यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्–धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मो अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः.**''

३.''**अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः, स्वाध्यायादि–क्रियाहीनाः तथाचारपराङ्मुखाः, क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते, विक्षिप्तमनसो भ्रान्ताः जिव्होपस्थपरायणाः, व्रात्यप्रायाः स्वतोदुष्टाः तत्र धर्मः कथं भवेत्, षड्भिः सम्पद्यते धर्मः ते दुर्लभतराः कलौ, अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा, श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति... वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेनतु क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतः तस्माद् न मोचनं, बुद्धिमान् आदरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्**''.

(त.दी.नि.२।१९६, सुबो.३।२८।२, त.दी.नि.२।२१२–२२४)

इन तीनों विस्तृत उद्धरणोंका संक्षिप्त अभिप्राय यही है कि निज वर्णाश्रमाचार निभाते हुवे, श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मका वस्तुमात्रके साथ तादात्म्यज्ञानरूप जो माहात्म्यज्ञान है उसके साथ परमस्नेहपूर्वक भगवत्परिचर्या, यदि, स्वतःपुरुषार्थतया सम्पन्न हो पाती हो तो उसे 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहा जाता है. इस भक्तिकी फलावस्थामें वह सर्वतः ब्रह्मानन्दानुभाविका बन जाती हो तब उसकी तन्मयतामें विवशतया वर्णाश्रमाचार छूट भी जाते हों या कभी अन्तरायरूप लगनेपर स्वेच्छया भी छोड़े जाते हों तो कोई दोषास्पद बात नहीं. उपनिद्में यही बात कुछ प्रकारान्तरसे इस तरह कही गयी है : ''**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति**

कुतश्चनेति, एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु नाकरवं किम् अहं पापम् अकरवम् इति'' (तैत्ति.उप.२।९). अतएव ब्रह्मज्ञानके अभावमें ही वर्णाश्रमीय देहाध्यासोंपर अवलम्बित होनेवाले कर्म छोड़ देनेमें इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है, ब्रह्मज्ञान होनेके बाद नहीं. मिथ्या देहाभिमानमूलक होनेपरभी वर्णाश्रमाचारके धर्मोंका यथाशक्ति पालन इसलिये आवश्यक माना गया है; वर्णाश्रमविपरीत विधर्मोंके त्यागकी तरह. क्योंकि यदि देहाभिमान प्रबल हो तो भगवद्धर्म भी परधर्म या विधर्म लग सकता है. अतः ऐसी स्थितिमें वर्णाश्रमधर्म ही अवश्य अनुष्ठेय बन जाता है. उदाहरणतया स्वाप्निक शोक-मोहका जाग्रद्दशामें बाध होनेसे पूर्व स्वप्नमें भी स्वाप्निक निवारण अभिलषित तो होता ही है, उसी न्यायसे. फिरभी यदि देहादिके संघातसे जीवका पृथक्तया किसीको आत्मभान होने लगता हो तब तो भगवद्धर्म स्वधर्म लगेगा और देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमधर्म परधर्म जैसे लगने लगेंगे. उदाहरणतया गाढ़ निद्रावस्थाके नहीं परन्तु तन्द्रावस्थामें आते स्वप्नोंमें शोकमोहकी अनुभूतिके साथ उनके केवल स्वाप्निक होनेका भी अनुव्यवसाय साथ चलता रहता है. तब तो जागनेसे पूर्व भी शोकमोह प्रकट नहीं हो पाते !

संप्रति कलिकालमें, परन्तु, सभी वेदादि शास्त्रविरुद्ध आचरण करने लगे हैं, न तो वर्णाश्रमोचित ब्रह्मचर्यावस्थामें स्वाध्यायरूप वाचिक तप, न गार्हस्थ्यमें यज्ञयागादि क्रियात्मक कायिक तप; और, न वानप्रस्थ या संन्यास आश्रमोंमें मानसिक तप ही कोई करता है. और जो स्मृति-पुराणोक्त आचार निभाते हैं वह भी विधिवत् नहीं मनगढ़ंत ढंगसे ही निभाते हैं. ऐसे मानसिक रूपमें विक्षिप्तों जैसे भ्रान्त जिव्होपस्थपरायण व्रात्यप्रायः स्वतोदुष्ट कर्ता धर्मानुष्ठान करते भी हों तो धर्म सिद्ध नहीं हो पाता. क्योंकि अभीष्ट देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र और कर्म रूपी छह अंगोंसे सम्पन्न होनेवाली क्रिया ही धर्मरूपा बन पाती है. अब तो धर्मके ये छहों अंग भी प्रदूषित हो गये हैं. फिरभी इन्हीं खण्डितप्रायः अंगोंसे भी धर्ममार्गके ही अनुसरणकी मनोवृत्ति रखनेवाले कर्ताको ही श्रीभागवतप्रतिपादित कृष्णभजनमें परायण होना चाहिये... वर्णाश्रमिओंका मुख्य धर्म तो कलियुगमें नष्टप्रायः ही है सो अनुष्ठानमें तत्पर होनेपर भी धर्म सिद्ध नहीं हो पाता. तो उसके आधारपर उद्धार कैसे सम्भव होगा ? अतः बुद्धिमान् पुरुषको उसकी अधिक चिन्ता किये बिना भक्तिमार्गके अवलम्बनमें तत्पर हो जाना चाहिये.

यहां कही जाती यह बात कथमपि वेदविरोधितया कही गयी नहीं मान लेनी चाहिये. यह भागवतके वेदसारोद्धारतया एवं वेदोक्त धर्मके विकल्पतया भागवतधर्मकी प्रतिष्ठामें महाप्रभुद्वारा दिया गया स्पष्टीकरण है :

१.''**'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते अमले अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकं परोऽपि मनुते अनर्थं तत्कृतं च अभिपद्यते, अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे लोकस्य अजानतो विद्वान् चक्रे सात्त्वतसंहिताम्' साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिः उत्तमा, तया सर्वत्र संमोहः साक्षाद् भक्तिः च मोचिकेति पूर्णं पुरुषं पुरुषोत्तमं जीवराशिभिः आकीर्णं ब्रह्माण्डकोटिभिः वा; मायां च भगवदेकशरणाम् (अपश्यत्)**''.

२.''**यथा वेदः तथा भागवतमिति एकबीजत्वात्. अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन वेदविरोधो वेदाद् दौर्बल्यं च परिहृतम्. किञ्च यथाहि वेदे यज्ञीयाः पदार्थाः योगजधर्मेण अनुभूयन्ते फलसाधनादिसहिताः तथा अत्रापि योगजधर्मेण व्यासः स्वयं त्रयम् अनुभूतवान् – पुरुषो, मायया बन्धो, मोचनं भक्तिहेतुकम्... एषा समाधिभाषा तत्र पुरुषप्रयत्नो भक्तावेव... माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतो अधिकः स्नेहो भक्तिः. सुदृढः सर्वतो अधिकः स्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः. तत्र द्वयं साधयितुम् एषा भागवतसंहिता. यथा यज्ञाः ब्रह्मात्मावगतिः च काण्डद्वयार्थो अन्योन्यहेतुभूतः तथा अत्र द्वय(मा.ज्ञा.+सु.स्ने.) मपि भक्तिहेतुः**''.

(सुबो.१।७।४, १।१।१).

श्रीमद्भागवत महापुराणकी यह वेदमूलकता, वेद–गीता–ब्रह्मसूत्रगत सर्वविध सन्देहोंकी निवारकता; और, अतएव वैकल्पिकता भी ''**षड्भिः सम्पद्यते धर्मः ते दुर्लभतराः कलौ, अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा, श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति**'' (यथापूर्वनिर्दिष्ट) महाप्रभुको पुष्टिभक्ति और/अथवा पुष्टिप्रपत्ति मार्गोंके अवलम्बनोपदेशार्थ प्रेरकबल बनती है. यह अवतीर्ण श्रीकृष्णकी न केवल ब्रह्मता परमात्मता या भगवत्ता के सन्दर्भमें

स्वीकारा गया है; अपितु सर्वोद्धारकतारूप विलक्षण धर्मके भी सन्दर्भमें. इसे भी प्रमाणचतुष्टय और उसके तात्पर्योपदेशक महाप्रभु के वचनोंके सन्दर्भमें जान लेना आवश्यक है.

(त्रैवर्णिकोद्धारार्थे वेदः स्त्रीशूद्राणाम् इतिहासः उभयसारोद्धारत्वात् (भागवतस्य) सर्वोद्धारकत्वम्. सुबो.१।३।४२)

ब्रह्मके बारेमें उपनिषद्के — "**तम् एतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन... एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् इच्छन्तो प्रव्रजन्ति**"(बृह.उप.४।४।२२) इस वचनमें 'वेदानुवचन'पद द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम, 'यज्ञ-दान'पदोंद्वारा गृहस्थाश्रम, 'तपसानाशकेन' पदोंद्वारा वानप्रस्थ; और, 'प्रवृज्या' द्वारा चतुर्थाश्रम यों चारोंही आश्रमकर्मोंकी ब्रह्मविविदिषामें उपयोगिता या अंगता तो इंगित होती है. 'ब्राह्मणाः'पदको, परन्तु, त्रैवर्णिकपरक लें तब भी तीन ही वर्णोका ब्रह्मविविदिषामें अधिकार फलित होता है. जबकि "**स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरः, कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेयः एवं भवेद् इहेति भारतम् आख्यानं कृपया मुनिना कृतं... भारतव्यपदेशेन हि आम्नायार्थश्च दर्शितः दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरपि उत**"(भाग.पुरा.१।४। २५-२९) इसलिये इतिहास-पुराण चातुर्वर्ण्याधिकारक सिद्ध होते हैं. अतएव "**इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः**" (छान्दो.उप.७।१।२) प्रतिपादनद्वारा श्रुतिमें भी धर्म-ब्रह्मज्ञानार्थ इतिहासपुराणकी पांचमे वेदकी जैसी महत्ता बखानी गयी है. यों इस तौलनिक सन्दर्भमें श्रीमद्भागवत महापुराणकी सर्वोद्धारकता घोषित की जा रही है. यह केवल समाधिभाषा होनेके कारण नहीं क्योंकि वह माहात्म्य तो श्रुतिरूप संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपदिषद्के वचनोंका भी है ही. यह सर्वोद्धारकता महाप्रभुके अनुसार दो-तीन कारणोंसे है :

१."**सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह तथात्वं येन संसिद्ध्येत् तदर्थं व्यास उक्तवान् श्रीभागवतम्, अत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम्**".

२."**श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः, शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते, आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा**".

३.''**श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुः लोके फलत्वं गतो... भक्त्यंशे फलता, प्रमाणसुबले वेदत्वम्, अर्थे पुनः स्कन्धैः द्वादशभिः युतः सुरतरुः...**''.

(त.दी.नि.१।१, ३।१-२, सुबो.१।१।१/४).

भागवतप्रतिपाद्य श्रीकृष्णके बारेमें स्वयं भागवतके ''**कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्या ईश्वरे मनः आवेश्य तदघं हित्वा बहवः तद्गतिं गताः**'', ''**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म, उद्धव !, न स्वाध्यायतपस्त्यागो नेष्टापूर्तं हि दक्षिणा व्रतानि यज्ञः छन्दासिं तीर्थानि नियमाः यमाः... केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि**''(भाग.पुरा.७।१।२९, ११।१२।१-९) इन वचनोंके आधारपर भूतलपर अवतीर्ण श्रीकृष्णकी सर्वोद्धारकता घण्टाघोषकी तरह सुस्पष्ट श्रुतिगोचर है. और ऐसे श्रीकृष्णकी लीला प्रकट होती है अवतारकालमें रूपेण; तो, अनवतारकालमें नाम्ना भी भागवतरूपेण स्वीकारी गयी है. जैसाकि पूर्वनिर्निष्ट ''**इति इदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः**'' (त.दी.नि.३।१।६) महाप्रभुने अंगीकार किया है. अतएव सर्वोद्धारकतया प्रकट हुवे श्रीकृष्णकी लीलाके गानार्थ प्रकट भागवतभी सर्वोद्धारक नामात्मक श्रीहरि ही है.

यहां एक प्रमुखतया विचारणीय विषय यह उभरता है कि भागवत महापुराणको – उसके अपने आद्य मौलिक रूपमें तथा क्रमशः विपुलीकृत चौबिस अवतारकथाओंमें, दशविधलीलाकथाओंमें; और, अन्तमें द्वादशस्कन्धात्मक रूपमें यों – क्या सभी स्तरोंपर सर्वोद्धारक माननी चाहिये अथवा अन्तिम परिपक्व कक्षामें जहां वह द्वादश स्कन्धोंमें विपुलीकृत हो जाती है ?

मूल बीजरूप भागवत तो नारायण द्वारा ब्रह्माजीको, उनके द्वारा ''... **यथा आत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितं विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रद् आत्मानम् आत्मना क्रीडति अमोघसंकल्प ऊर्णनाभि यथा ऊर्णुते तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ! भगवन् शिक्षितम् अहं करवाणि हि अतन्द्रितो न ईहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात्**'' (भाग.पुरा.२।९।२४-२८) ऐसी प्रार्थना करनेपर भागवती सृष्टिके संविधानसदृश उपदेश जो माधव नारायणने दिया वह अधोनिर्दिष्ट चतुःश्लोकीरूप है —

''ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितं सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया. यावान् अहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः तदेव तत्त्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात्, ''[१]अहमेव आसमेव अग्रे न अन्यत् यत् सदसत् परं पश्चाद् अहं यद् एतत् च यो अवशिष्यते सो अस्मि अहमेव, [२]ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः. [३]यथा महान्ति भूतानि भूतेषु उच्चावचेषु अनुप्रविष्टानि अप्रविष्टानि तथा तेषु न तेषु अहम्, [४]एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुना आत्मना अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् सर्वत्र सर्वदा ''.(भाग.पुरा.२।९।३०-३५).

यहां १.सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व, स्थितिमें तथा लयोत्तर भी नारायणकी अद्वितीय एकाकिता, २.सद्वितीयताकी भ्रमानुभूति तो अतत्त्वाभास और तत्त्वाच्छादन की ब्राह्मिकी शक्तिरूपा मायासे उपपन्न होती है, ३.इन अतत्त्वाभास और तत्त्वाच्छादन रूपी मायिक प्रदर्शनके मूलमें जीवात्माओंका तत्त्वज्ञानमें असामर्थ्य नहीं अपितु स्वयं ब्रह्मका आत्मोपादानक कार्योंमें तत्तद् उपादानात्मना अनुप्रवेश (immanence) और अप्रवेश (trascendentalness) रूपी विरुद्धधर्माश्रयता ही हेतुभूत होती है ४.अतः सृष्ट नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्में अनुप्रवेशवश अन्वय और अननुप्रवेशवश व्यतिरेक दोनों तरहके सम्बन्ध ही मायाको जीवव्यामोहनार्थ सक्षम बनाते हैं. इस निरूपित प्रकारकी अनुगति तो निश्चयेन भूतलपर प्रकट श्रीकृष्णलीलामें भी खोजी जा सकती है. अभिधावृत्तिसे फिरभी श्रीकृष्णकी लीलाकथा श्रवणगोचर तो नहीं होती. द्वितीय ब्रह्माजी द्वारा उन चार श्लोकोंवाली ब्रह्मलीलाकथाको ब्रह्माण्डमूर्ति नारायणके भूतलपर चौबीस अवतारलीलाओंकी कथाके रूपेण विशद किया गया. ऐसा **''यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय... सो अयं ते अभिहित तात ! भगवान् विश्वभावनः समासेन हरेः नान्यद् अन्यस्मात् सदसच्च यद् इदं भागवतं नाम यद् मे भगवतोदितं संग्रहो अयं विभूतीनां त्वम् एतद् विपुलीकुरु. यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिः भविष्यति सर्वात्मनि अखिलाधारे''**(भाग.पुरा.२।७।१-५३) इन श्लोकोंमें निरूपित हुवा है. यह, परन्तु, अन्यावतारसाधारण ही है, अतः श्रीकृष्णावतारकी अनन्यसाधारण सर्वोद्धारकता यहां इस सोपानपर भी अभिधया निरूपित तो मानी नहीं जा सकती ! तृतीय स्तरपर उन चौबीस भगवदवतारोंकी लीलाकथाओंको

ब्रह्मोपादानक ब्रह्मकर्तृक जडजीवात्मक जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रत्यावृत्ति-लयके हेतुभूत सर्वभवनसामर्थ्यको सर्ग-विसर्ग स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोध मुक्ति लीलाओंको आश्रयभूत मूलस्वरूपके शुद्धबोधार्थ कहा गया है. यह स्वयं ग्रन्थके अन्तःसाक्ष्यके आधारपर स्वीकारना पड़ता है. स्वयं ग्रन्थगत घोषणा — ''**अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम् ऊतयो मन्वन्तरेशानुकथाः निरोधो मुक्तिः आश्रयो दशमस्य विशुद्ध्यर्थ नवानाम् इह लक्षणं वर्णयन्ति... आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते. यो आध्यात्मिको अयं पुरुषो सो असावेव अधिदैविकः यः तत्र उभयविच्छेदः पुरुषो हि आधिभौतिकः. एकम् एकतराभावे यदा न उपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः**'' (भाग.पुरा.२।१०।१-९) इन वचनोंके आधारपर तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्णलीलाभी स्वाश्रयाश्रय परब्रह्म परमात्मा भगवान्के मूलस्वरूपके शुद्धबोधार्थ ही उपदिष्ट है. अर्थात् सर्वोद्धारक श्रीकृष्णरूपकी सर्वोद्धारिका नामलीलाके निरूपणार्थ नहीं. अतः अन्तमें पूर्णतया परिवर्धित द्वादशस्कन्धात्मक भागवतोक्त लीलाओंको ही अपनी समग्रतामें सर्वोद्धारिका मान कर तन्नामात्मक ग्रन्थको सर्वोद्धारक मानना पड़ेगा. अतएव महाप्रभुने भी ''**श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं (रूपनामविभेदेन) सदा सर्वभक्त-समुद्धारे विस्फुरन्तं**''(यथापूर्वोक्त) कह कर नवविध लक्षणरूपा भगवल्लीला-ओंसे द्वादशस्कन्धार्थभूत लक्ष्यरूप तत्त्व, जो वस्तुतः तो स्व(=दशविधलीला और तत्कर्ता श्रीकृष्णके) आश्रय(=धामात्मक तथा धर्मात्मक होनेके कारण) आश्रय(=श्रीकृष्णका) धामरूप अक्षरब्रह्म है, वह समग्र भागवतके शास्त्रार्थरूप श्रीकृष्णका न केवल धर्मरूप अपितु दशमलीलारूप भी माना गया है.

इसमें प्रमुख कारण भारतभूमिके आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनोंकी एक सामान्य धारणा कि यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपा सृष्टि ऋजुरेखामें नहीं प्रत्युत चक्राकाररेखामें निरन्तर चलती रहती है. अतएव ब्रह्मलक्षणमें ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति. तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.३।१) वचनमें ''भूतानि जातानि जीवन्ति प्रयास्यन्ति प्रवेक्ष्यन्ति'' यों तीन कालोंका प्रयोग किये बिना केवल वर्तमान कालका ही चतुर्विध क्रियाकलापोंके हेतु प्रयोग किया गया है. एतावता स्वाश्रयाश्रयरूप अक्षरब्रह्म स्वरूप भी पूर्वोत्तरभूत दो सृष्टिलीलाओंमें सन्दंशपतितन्यायेन विद्यमान

होनेसे लीलारूप भी सिद्ध होता है. अतः दशमस्कन्धप्रतिपाद्य भूतलपर अवतीर्ण श्रीकृष्णकी निरोधलीलारूप लक्षणद्वारा द्वादशस्कन्धप्रतिपाद्य स्वाश्रयाश्रयरूप अक्षरब्रह्मके शुद्धबोधके हेतुभूत होनेपर भी.

अर्थात् सृष्टिके आदिमें पुरुषोत्तमधाम-धर्मरूप निराकार अपुरुषविध ब्रह्मका पुरुषशरीरस्वीकार जैसे सर्गलीला है, उस पुरुषसे ब्रह्मादि स्रष्टृसृज्यादिकी उत्पत्ति विसर्ग, उत्पन्न पदार्थोंका स्वस्वमर्यादामें पालन स्थानलीला, पालनार्थ स्थित पदार्थोंका अभिवर्धन पोषणलीला, पोषणद्वारा पुष्ट पदार्थोंका स्वस्व-वासनानुरूप आचरण ऊतिलीला, इनके अन्तर्गत सदाचार मन्वन्तरलीला, उसके अन्तर्गत विष्णु और उनके अनुगामिओंकी भक्तिकथा ईशानुकथालीला, भक्तोंकी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक अवतीर्ण भगवत्स्वरूपमें आसक्ति निरोधलीला, भगवान्में निरुद्ध जीवोंका अपने शुद्ध स्वरूपमें अवस्थानरूपा मुक्तिलीला, अन्तमें मुक्तात्माओंकी आश्रयभावमें प्रत्यापत्ति आश्रयलीला, यों लीलाचक्रकी दशविधता समझी जा सकती है. इन दशविध लीलाओंके कर्ता श्रीकृष्ण ही परब्रह्म=पुरुषोत्तम परमात्मा भगवान् समग्र भागवतके शास्त्रार्थतया अवगत हो पाते हैं. अतः तीनसे बारहवें स्कन्ध तककी दशविध लीलाओंमें नौ लीला लक्षणरूपा तथा अन्तिम दसवीं लीला लक्ष्यरूपा यों दशविध लीलाओंसे समग्रशास्त्रार्थतया प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण दशविध लीलाविहारी सिद्ध होते हैं. सो देखा जा सकता है कि एक सर्वोद्धारकता दशविधलीलाओंसे निरुपित आ रही है, दूसरी सर्वोद्धारकता एतदन्तर्भूत सृष्टिमें प्रकट देवर्षिमानवादि विविध आत्माओंके उद्धारक होनेके अर्थमें आ रही है, तीसरी कर्मज्ञानभक्त्यादि शास्त्रीय उद्धारसाधनोंकी तरह लौकिक काम-क्रोध-द्वेषादि असाधनोंकों भी साधन बना कर उनके द्वारा भी उद्धार करनेकी श्रीकृष्णावतारमें जो लीला प्रकट की गयी सो वैसी सामर्थ्यरूपा उद्धारकता भी सिद्ध होती है. अवतारकालमें स्वयंके रूपसे उद्धारकी तरह अनवतारकालमें श्रीभागवतरूप नामसे भी श्रीकृष्ण सर्वोद्धारक बनते हैं. इसे सुबोधिनीके मंगलाचरणमें ही महाप्रभुने श्रीमद्भागवतके शास्त्रार्थतया निरूपित किया है : ''**वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदूं वेदवेदान्तवेद्यं लोके भक्तिप्रसिद्धयै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीद् अपारो यस्य आसीद् रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवत् च स्वतन्त्रं शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः**''(सुबो.१।१।१।).

कुल मिला कर इस मंगलाचरणमें विवक्षित यही है कि ब्रह्मकी क्रियाशक्तिके प्रतिपादक वेदके पूर्वकाण्डमें प्रतिपाद्य यागहोमादि कर्म श्रीकृष्ण-रूप हैं यह "**यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः**","**यज्ञो वै विष्णुः**","**मां विधत्ते अभिधत्ते मां**"(ऋक्संहि.१०।७।९०।१६, तैत्ति.संहि.१।७।४, भाग.पुरा.११।२१।४३) आदि वचनोंकी एकवाक्यताके आधारपर सिद्ध होता है. वेदोंके उत्तरकाण्ड वेदान्तमें उसकी ज्ञानशक्तिका "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.२।१) वचनके अनुसार ब्रह्मतया प्रतिपादन हुवा है. इन क्रिया-ज्ञानरूपा उभयशक्ति-ओंके सहित नराकृतिमान् भूतलपर ब्रह्मके प्रकट रूप *श्रीकृष्णके प्राकट्यका प्रयोजन भूतलपर कर्मज्ञानकी तरह भक्तिकी उद्धारकता प्रसिद्ध करनेको है. अतः अवतारकालमें तो इतरसाधननिरपेक्षतया श्रीकृष्ण स्वातक्त्र्येण स्वयंके रूपद्वारा जीवात्माओंके उद्धार करते ऐसी लीला वर्णित हुयी है. अतएव भक्ति-स्नेह-सम्बन्ध-काम-भय-द्वेष तो उस निजरूपके अवान्तरव्यापार बनके केवल व्याजरूपेण प्रकट हुवे हैं. अनवतारकालमें उस निजरूपसे भी निरपेक्षतया स्वातक्त्र्येण केवल भक्ति या केवल भागवतशास्त्रद्वारा भी उद्धार अभिलषित है.

अतएव द्वादश स्कन्धमें महाप्रभु पञ्चविध आश्रयोंको विवक्षित मानते हैंः १.कृष्णाश्रय २.जगदाश्रय ३.वेदाश्रय ४.भक्तियोगाश्रय तथा ५.भागवताश्रय. इनमें दशविध लीलाविहारी श्रीकृष्ण निजस्वरूपेण सकलाश्रयीभूत है. "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**","**त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्**"(छान्दो.उप.३।१४।१, बृह.उप.१।६।१-३) यों ब्रह्मोपादानक ब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्मत्रयीरूप जगत्का भरणकर्ता होनेके कारण पुरुषोत्तम-धामात्मक अक्षरब्रह्मात्मना भी वह सकलाश्रय बना हुवा है. वेदात्मना उसकी आश्रयरूपता त्रैवर्णिकाधिकारक होती यह तो हम देख ही चुके हैं. अवशिष्ट

---

* "स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानादिभेदतो विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च — क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञः एकः तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म","क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य यो अवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते. अतः खण्डशो निरूपणं वेदे भागवतेतु समुदायेन निरूप्य तस्य लीला अनेकविधाः निरूप्यन्तइति एकार्थत्वेऽपि पृथग्वचनं युक्तम् इति अर्थः"(त.दी.नि.प्र.२।८९-९०, १।११)

भक्तियोगके बारेमें ''**कलौ भक्त्यादिमार्गाः हि दुःसाध्याः इति मे मतिः**'' (विवेक-धैर्याश्रय १७) स्वीकारते होनेके कारण भक्तिको भगवत्कृपाके बिना दुःसाध्य माननेका महाप्रभुका मत है. परन्तु सर्वनिर्णयमें महाप्रभुने भागवतके बारेमें यह विशेषतया समझाया है :

> ''**सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदितो ब्रह्ममात्र-प्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवता उदितम्... अत्यन्तमलिनाः लोकाः ततो भागवतं कृतम् एतदभ्यसनाद् लोको मुच्यते अनुपजीवनात्—अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्यते परम् अत्र एको दोषः तदुपजीवनम् इति... वृत्त्यर्थम् उपायो न कर्तव्यः.**''(त.दी.नि.२।६३-६७).

अतः सिद्ध होता है कि भगवन्नामात्मक श्रीभागवत महाप्रभुके अनुसार आत्मोद्धारका एक स्वतन्त्र साधन है, भगवद्रूपनिरपेक्ष ब्रह्मज्ञाननिरपेक्ष तथा त्रैवर्णिकाधिकारक वेदनिरपेक्ष भी, वेदसारोद्धारकतया ही.

यहां एक जिज्ञासास्पद या विवादास्पद विचारबिन्दु यह उभरता है कि निबन्धके ''**कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका, अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपितो, दैवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नाम-ध्यान-अर्चनादिकं पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं नामादिषु निरूप्यते**'' (त.दी.नि.३।६।२-३) अर्थात् तत्तत्प्रमाणनियत प्रमेय या तत्तत्साधननियत फल के नियमोंके आधीन ब्रह्माण्डका नियमन भगवान् करते हैं. इनके नियामक अधिदेव ब्रह्मा विष्णु रुद्र हैं. इनके अर्मूतरूप कर्म स्वभाव काल होते हैं, आध्यात्मिक नियमरूप. भगवदनुग्रह इन सामान्य नियमोंका आपवादिक बाध करनेवाला देवगुह्य रहस्य है. इसे ही 'पुष्टि' कहा जाता है. अपनी इस गूढ़ पुष्टिको प्रकट करनेके लिये भगवान् स्वयंके नाम ध्यान या अर्चन आदिके व्याजसे लीलार्थ उन्हें अपने अनुग्रहका अवान्तरव्यापार बना लेते हैं. ऐसे ही यदि भगवान् अपनी शरणागति या भक्ति को भी अपने अनुग्रहको प्रकट करनेके व्याजसे अवान्तरव्यापार बनाते हों तो महाप्रभु उन्हें 'पुष्टिशरणागति' या 'पुष्टिभक्ति' नाम्ना निर्दिष्ट करना चाहते हैं.

यहां केवल कृष्णानुग्रहको प्रमुख उद्धारसाधन मान कर जीवात्माओंके उद्धारके सभी शास्त्रीय उपायों अथवा शास्त्रतः अनुपायों को अनुग्रहरूप साधनके

अवान्तरव्यापारतया जो बिरदाया गया, उस धारणाको क्या यहां छोड़ा जा रहा है ? अथवा उसी धारणाका यहां भिन्न प्रकारसे प्रतिपादन अभिलषित है ?

आपाततः विचार करनेपर दो विभिन्न दिशाओंमें इसका समाधान कोई खोज सकता है :

क/१.भगवद्दृष्टिसे सृष्टिके नियामक स्वनिर्धारित कर्म-स्वभाव-कालके औत्सर्गिक नियमोंके अपवादरूप निजानुग्रह की अकुण्ठित अपराधीनताके कारण भगवन्नामरूप होनेपर भी भागवतमें अप्रयुक्त भगवन्नाम, भागवतमें अवर्णित भगवद्रूप का ध्यान, इसी तरह भागवतमें अनुपदिष्ट भगवत्पूजापदोंके अर्चनादिरूप अवान्तरव्यापारोंसे भी विलक्षण ऐसी भागवतकी स्वतन्त्रता यहां अभिप्रेत लग सकती है.

क/२.अथवा भगवद्दृष्टिसे ही भागवतोक्त नाम भागवतोपवर्णित भगवद्रूप एवं भागवतोपदिष्ट भगवत्पूजापदों पर भी अनिर्भर ऐसा भागवतका स्वातक्त्र्य.

ख/१.जीवदृष्ट्या क्योंकि पुष्टिसृष्टि ''तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः न अन्यथा भवेत्'',''...कृष्णएव सेव्यः 'कृष्ण'पदेन बहिर्भजनमेव मुख्यम् इति निरूपितम्''(पु.प्र.म.१२, त.दी. नि.प्र.१।१३) इन वचनोंके आधारपर पुष्टिजीवदृष्ट्या, यद्यपि, प्रमुखता तो भगवद्रूपके भजनकी ही रहती है फिरभी भगवद्दृष्ट्या नामात्मक भागवतद्वारा भी भगवान् भगवत्कथासक्तिको व्यसनदशापन्न बना कर आन्तर भगवत्स्वरूपानुभूति या भगवल्लीलानुभूति को सर्वात्मभाव पर्यन्त क्रमशः पल्लवित पुष्पित या फलित करने समर्थ हैं.

अतएव भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षण में महाप्रभुके ये विधान अनुसन्धेय बनते हैं :

१.''सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्तिः दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम''.

२.''महतां कृपया यावत् कीर्तनं सुखदं तावद् आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः फलाय हि... सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् तावत् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः सदानन्दपरैः ज्ञेया सच्चिदानन्दता ततः''.

(भक्तिव.९ निरो.लक्ष.१-९)

इन तीनों ही कल्पोंमें से किसीभी एक कल्पमें सन्तोषप्रद समाधान मिलता नहीं है. क्योंकि स्वयं महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको वेदसारोद्धाररूप और इतिहाससारोद्धाररूप भी स्वीकारा ही है.

(श्रीमद्भागवतस्य वेदसारोद्धारकतायाः स्वरूपम्)

सर्वप्रथम तो भागवतका प्रारम्भ भी गायत्र्यर्थक मंगलाचरणद्वारा हुवा है. वेदाध्ययनका प्रारम्भ जैसे वेदमाता गायत्रीकी दीक्षाद्वारा होता है. उसी तरह भागवतके मंगलाचरणमें ही गायत्र्यर्थ उपनिबद्ध हुवा है. वेदरहस्यरूप उपनिषद्के **''न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति. आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः''**(बृह.उप.४।५।६) वचनमें जैसे परमात्मविषयक प्रेममूलक परमात्माकी श्रोतव्यता मन्तव्यता तथा निदिध्यासितव्यता जो प्रतिपादित हुयी है, वैसे ही भागवतके मूलमें भी नारायणद्वारा सृष्ट्यारम्भमें ब्रह्माजीको ऐसा उपदेश प्रदान किया जाना वर्णित है –

१.''मा वेदगर्भ ! गाः तन्द्रीं सर्गे उद्यमम् आवह तद् मया आपादितं हि अग्रे यद् मां प्रार्थयते भवान्. भूयः त्वं तपः आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयां ताभ्याम् अन्तर्हृदि ब्रह्मन्! लोकान् द्रक्ष्यसि अपावृतान्. ततः आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितो द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन् ! मयि लोकान् त्वम् आत्मनः. यदातु सर्वभूतेषु दारुषु अग्निमिव स्थितम् प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्... अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः. सर्ववेदमयेन इदम् आत्मना आत्मा आत्मयोनिना प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मयि अनुशेरते''.

(भाग.पुरा.३।९।२९-४३)

यह आद्यतम उपदेश है. अर्थात् प्रत्येक जीवात्माके भीतर स्वतःसिद्ध निरुपाधिक सहज स्नेहद्वारा आत्मशुश्रुषा आत्ममीमांसा आत्मनिदिध्यासा प्रकट होनेपर सर्वत्र प्रियतम परमात्माके दर्शन होने लगते हैं. सृष्टिलीलाके प्रयोजनोपम होनेके कारण इसे जीवमात्रके अस्तित्वका भी निगूढ प्रयोजन स्वीकार लेना चाहिये.अतः देखा जा सकता है कि वेदसाररूप यह रहस्य वेदके भी प्राकट्यसे पूर्व नारायणद्वारा ब्रह्माजीको जो उपदिष्ट हुवा. उसे पश्चाद् महर्षि याज्ञवल्क्यने

अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयीको दिया. यह बृहदारण्यकोपनिषद् और भागवत के वचनोका तुलनात्मक विमर्शद्वारा स्पष्ट होता है. अतएव महर्षि वेदव्यासने उसे भागवतमें वेदसारतया संकलित किया.

(श्रीमद्भागवतस्य इतिहाससारोद्धारकतायाः स्वरूपम्)

इतिहास भी दो-तीन प्रकारसे प्रस्तुत हुवा है :

१.वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंमें तत्तत् कर्मांगभूत स्तुति प्रशंसा निन्दा... आख्यान... शापान्त ३५ प्रकारोंके मन्त्रोंमें अथवा कर्मविधायक ब्राह्मणोंमें जो भूतार्थवाद के रूपमें इतिहास उपलब्ध होता है. उदाहरणतया ऋग्वेदसंहिताके नारायणीय पुरुषसूक्त (ऋक्संहि.१०।९०।१६) में सृष्टिके यज्ञात्मना प्रादुर्भावका इतिवृत्त उपलब्ध होता है. यदि इस पुरुषसूक्तके 'नारायण'नामक मन्त्रद्रष्टा और भगवद्गीतोपदेष्टा नारायणावतार वासुदेव श्रीकृष्ण दो न हों तो गीताके ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित विराट्स्वरूपप्रदर्शन नामरूपविभेदेन एकार्थप्रतिपादक स्वीकार लेने आवश्यक लगते हैं.

२.महाभारतमें एवं अष्टादश पुराणोंमें उपलब्ध होते इतिवृत्तात्मक आख्यान रूपी इतिहास. उदाहरणतया भागवतके द्वितीय स्कन्धके प्रथम और षष्ठ अध्यायोंमें इसी ऋक्संहितोक्त पुरुषसूक्त तथा भगवद्गीतोक्त विराट्स्वरूपप्रदर्शन इतिवृत्तात्मक इतिहास हमें उपलब्ध होता ही है. ऐसे अनेक निरूपणोंमें भागवतकी इतिहाससारोद्धारकता दरसायी जा सकती है.

अतः विषयदृष्ट्या विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध-अर्थवादरूप या ग्रन्थदृष्ट्या संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्रूप वेदचतुष्टयी और उसके उपोद्बलक पञ्चमवेदरूप इतिहास-पुराण दोनोंके सार-सारभूत अर्थ श्रीमद्भागवतसंहितामें संकलित हुवे हैं. अतः केवल जिज्ञास्य यही रह जाता है कि क्या ऐसी इस शब्दराशीकी भगवद्रूपनिरपेक्षतया अथवा भगवत्स्वरूप निरपेक्षतया सर्वोद्धारकता तात्पर्यविषयीभूत है ?

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत तादात्म्यवादावलम्बिनी

शुद्धाद्वैतदृष्टिके अनुसार आत्मसृष्ट अनेकविध नाम-रूप-कर्म ब्रह्मधर्मिक ब्रह्मात्मक हैं. अतः आत्मसृष्ट नाम-रूप-कर्म ब्रह्मधर्मात्मक माने जाते हैं. धर्म-धर्मीका तादात्म्य, अर्थात् न तो एकान्तिक द्वैत और न एकान्तिक अद्वैत, प्रत्युत द्वैतसहिष्णु अद्वैत माना गया है. ''**सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो.उप.६।२।२-३) श्रुतिमें निरूपित तत्त्वदृष्टिसे इसे 'अद्वैतसहिष्णु द्वैत' कह सकते हैं परन्तु तत्त्वावमर्शदृष्टिसे इसे 'द्वैतसहिष्णु अद्वैत' कहना भी उतना ही उचित है. यह शांकर केवलाद्वैतकी अवधारणासे इस अर्थमें पृथक् है कि उनका अद्वैत द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित अभेदरूप माना गया है. वाल्लभ अद्वैत, जबकि, ''एकत्वात्यन्ताभावरूप द्वैतविलक्षणत्वे सति द्वित्वत्यन्ताभावरूप अद्वैतविलक्षणत्वे सति द्वैताद्वैत-विलक्षण''रूप स्वीकारा गया है. ठीक उसी तरह जैसे ''सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्''रूप शांकर वेदान्तमें मिथ्यात्व स्वीकारा गया है. यह तदनन्यत्वाधिकरणकी भामतीमें श्रीवाचस्पति मिश्रके ''**न खलु अनन्यत्वम् इति अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः**''(ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४) स्पष्टीकरणके आधारपर तद्वैपरीत्येन हम समझ सकते हैं कि भेदाभावरूप अनन्यता ब्रह्मकी वाल्लभ वेदान्तको अभिप्रेत नहीं है. प्रत्युत सर्वविध नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतोंमें भावरूप ब्रह्मतादात्म्य या ब्रह्मानन्यत्व अद्वैत वाल्लभ वेदान्तको अभिमत है.

अतः अवतारकालमें भगवद्रूपकी कर्म-ज्ञान-भक्त्यादि शास्त्रीय साधननिरपेक्ष स्वतन्त्र उद्धारकता जैसे स्वीकारी गयी, वैसे ही अनवतारकालमें भगवद्रूप तथा भगवत्कर्म से निरपेक्ष स्वतन्त्र उद्धारकता भगवन्नामकी मान्य रखी जा रही है. एतावता भगवत्स्वरूपनिरपेक्ष उसे मानी नहीं जा सकती. 'भाव'पद वस्तुकी धर्मरूपा सत्ताका बोधक होता है परन्तु 'स्वभाव'पद वस्तुकी धर्मिरूपा सत्ताका बोधक हो जाता है. वैसे ही 'रूप'पदको धर्मवाचक समझना चाहिये जबकि 'स्वरूप'पदको धर्मिवाचक. अतः भागवतपुराण भगवद्रूपनिरपेक्ष सर्वोद्धारक तो हो सकता है परन्तु स्वरूपनिरपेक्ष नहीं. भागवतार्थनिबन्धोक्त नाम-ध्यान-अर्चनादिकी भगवदनुग्रहके अवान्तरव्यापाररूप होनेके अर्थात् स्वातक्त्येण उद्धारक न होनेके विधान और यहां कहे जा रहे नामात्मक भागवतके इतरनिरपेक्ष स्वातक्त्येण सर्वोद्धारक होनेके निरूपणोंमें कोई विरोधाभास खोजना

आवश्यक नहीं.

ब्रह्ममें आत्मसृष्ट नाम-रूप-कर्म सृष्टिकालमें अनेकवद्भावापन्न हो जाते हैं और आत्मैकरमणरूप महाप्रलयमें ये ही नाम-रूप-कर्म पुनः एकवद्-भावापन्न हो जाते हैं, जैसा कि मोक्षावस्थाके वर्णनमें "**...कर्माणि विज्ञानमयः च आत्मा परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय**" (मुण्ड.उप.३।२।७-८) यह ठीक इसी तरह. यह अनेकवद्-भावापन्नता, अतएव, किसीको मायिक मिथ्या लग सकती है. परन्तु समानयोगक्षेमन्यायेन, "**कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः-अभूततद्भावे इति वाच्यम्**"(पाणि.व्या.सू.वार्ति.५।४।५०) सूत्र-वार्तिकद्वारा विहित जो अनेकवद्भावापन्न था उसका एकवद्भावापन्न होना अपारमार्थिक यदि न हो तो एकका अनेकवद्भावापन्न होना अपारमार्थिक कैसे हो सकता है ?

वाल्लभ वेदान्तमें, परन्तु , यह न तो ब्रह्मके मूलस्वभावानुपाती है और न ही मिथ्याभ्रमानुभासित भी. यह तो एकमेव अद्वितीय परब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश ही आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाद्वारा प्रकट होती अनेकभावापन्नता मानी गयी है. अतएव श्रुतिमें कहा गया है "**तद् एतद् अनृतम् उभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति**", "**सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्**" (बृह.उप.५।५।१, तैत्ति.उप.२।५). यही तैत्तिरीयोपनिषत् तथा भागवत के अधोनिर्दिष्ट वचनोंमे भी निरूपित हुवा है :

> १."**सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवद्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते**",
> "**आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**".
>
> २."**त्वयि अग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वयि अन्त आसीद् इदम् आत्मतन्त्रे त्वम् आदिरन्तो जगतो अस्य मध्ये घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्**".
>
> (१.तैत्ति.उप.२।६, ३।६ २.भाग.पुरा.८।६।१०).

इन दोनों वचनोंके अभिप्रेतार्थपर मनोन्यास करने भरसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ''अद्यन्तयोः यद् अस्ति तदेव मध्ये'' न्यायेन जडजीवेश्वरात्मिका जो द्वैतसृष्टि है उसके आदि-मध्य-अन्तमें तीनोंही कालमें आनन्दात्मक ब्रह्म विद्यमान होनेके कारण सृष्टिभी आनन्दात्मिका लीलारूपा ही है. यहां भाष्यमें श्रीशंकराचार्यका यह विधान मननीय हो जाता है ''**यस्मात् सत्-त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत् किञ्च इदं सर्वम् अविशिष्टं विकारजातम् एकमेव 'सच्'छब्दवाच्यम् अभवत्, तद्व्यतिरेकेण अभावाद् नामरूपविकारजातस्य तस्मात् तद् ब्रह्म अभवत्**'' (तैत्ति.उ.भा.२।६) अतः आद्यन्तमें मृषापरिगृहीत यदि मृषा माना जाता हो तो आद्यन्तमें ब्रह्मत्वेन परिगृहीत जड़जीवेश्वरात्मिका सृष्टि भी ब्रह्मात्मिका ही मानी जानी चाहिये. इन तीन जड जीव और ईश्वर में केवल जीवको ''ब्रह्मैव नापरः'' कहना श्रुत्येकगम्य ब्रह्म और उसके ब्रह्माद्वैत को प्रत्यक्षबाधित माननेके बहाने इन्द्रियगम्य या तर्कगम्य बना देनेकी धांधल लगती है. इसे एक अन्य श्रुतिवचन ''**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमूर्तं च मर्त्यं च अमृतं च स्थितं च यत् च सत् च त्यत् च... अथात आदेशो 'न' इति 'न'इति. नहि एतस्माद् इति 'न'इति अन्यत् परम् अस्ति**'' (बृह.उप.२।३।१-६)सेभी संवादित करते हैं तो सृष्टिकालमें प्रकट हुवे ब्रह्में समानाधिकरण इन विरुद्धधर्मोंके इतरेतरमें तिरोधानवश तथा इतरेतरविरुद्धताके वश प्रतीत होते द्वैतकी तरह सृष्टिके आविर्भावसे पूर्व और पश्चाद् एकवद्भावापन्नता भी अर्थात् सिद्ध हो जाती है. क्योंकि उपनिषद्में अतिशय स्फुट शब्दोंमें ''**सत्त्वेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति**'' (छान्दो.उप.६।२।२) ऐसा कहा गया है. यहां 'एव'कार द्वारा व्यावर्त्य असत्का और 'इदं'कारको उद्देश्य बना कर प्राकट्यसे पूर्व इदंकारास्पदके 'एकमेवाद्वितीय' होनेका विधान आदि और मध्य उभयत्र सद् होनेकी गवाही देता है. अतः परिदृश्यमान नाम-रूप-कर्मोंकी इतरेतरविरुद्धतावश प्रतीत होती अनेकविधता सृष्टिके प्रादुर्भूत होनेसे पहले एक अव्यक्त सदेकात्मता ही थी और अन्तमें भी सदेकात्मना अवस्थित होनेवाली हो तो सदेकात्मिका ही अनेकता मानी जानी चाहिये.

यह तो सृष्टिकालिकी एकता-अनेकताकी कथा हुयी, जहां नाम-रूप-कर्मोंकी परस्पर त्रिविधता और ब्रह्मत्वेन उनकी एकविधता के सिद्धान्तमें अवभासित होते भेदका यथार्थ स्वरूपावगम करना हो तो वह भी एतावता

सुबोध्य हो जाता है. अन्यथा 'नेति-नेति' विधानको ऐसे इतरेतरविरुद्ध सत्-त्यद् निरुक्तानिरुक्त निलयनानिलय विज्ञानाविज्ञान सत्यानृत मूर्तामूर्त मर्त्यामृत स्थितयत् प्रकटाप्रकट के निखिल द्वैतोंका निरासक मान लेनेकी धांधल हो ही जाती है. ब्रह्मसूत्रकारने, परन्तु, "**प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः**" (ब्र.सू.३।२।२२) सूत्रमें इन परस्परविरोधी गुणोंमें से किसी भी एक कल्पमें ब्रह्मको परिच्छिन्न न बनानेकी बात सिद्धान्तित की है. अतः इस तरहके इतरेतरविरोधी गुणधर्मोंको कहीं-कभी आविर्भूत तो कहीं-कभी तिरोहित करनेकी ब्रह्मकी अचिक्त्य असंख्य शक्तिओंकी एकाधिकरणता तो स्वीकारनी ही पड़ती है. जैसा कि—

> "**पुरः चक्रे द्विपदः पुरः चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुषः आविशत्. सवा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो भवति न एनेन किञ्चन अनावृतं न एनेन किञ्चन असंवृतं... रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते. युक्ताः हि अस्य हरयः शता दश इति. अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि च. तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः.**" (बृह.उप.२।१९।१८-१९).

यह नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि और सृष्टिकर्ता-सृष्ट्युपादानरूप ब्रह्मके बीच तादात्म्यके बिना शक्य ही नहीं. यहां सत्यसंकल्पात्मिका अनन्तशक्तिवशात् सर्वरूपप्राकट्यकर्तृता तथा सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके वशात् सर्वरूपोपादानता अर्थात् सर्वरूपता के साथ-साथ ब्रह्मको पूर्वापरभाव या आन्तरबाह्यभाव से रहित ही नहीं अपितु सर्वानुभू भी स्वीकारा गया है. सर्वानुभूतिनिरासक या सर्वानुभूतिबाधक नहीं. अतः सिद्ध हो जाता है कि सृष्टयन्तर्गत प्रकट नाम-रूप-कर्मोंकी तरह सृष्ट्याविर्भावक नाम-रूप-कर्मात्मक स्वरूप भी ब्रह्मका ही "**उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्, पुरुषविद्यायामिव च इतरेषाम् अनाम्नानात्**" (ब्र.सू.३।२।२७-२८.३।३।२४) सूत्रोंद्वारा निर्धारित किया गया है.

अतः सृष्टिमें भगवान्के नामनिरपेक्ष रूपकी उद्धारकता; अथवा रूपनिरपेक्ष नामकी उद्धारकता; अथवा उभयनिरपेक्ष शास्त्रोक्त कर्मज्ञान-

भक्त्यादिरूप जीवात्मानुष्ठित साधनोंकी उद्धारकता, ब्रह्म परमात्मा भगवान् के स्वरूपानुग्रहसे निरपेक्ष नहीं हो सकती.

(श्रुतौ उपनीतानुष्ठितानां श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां ब्रह्मसाक्षात्कारा-धिकारसम्पादकता)

जैसा कि कहा जा चुका है कि वेदाध्ययनका अधिकार उपनयन संस्कारवश आता है. अर्थापत्त्या वेदके पूर्वकाण्डगत कर्मविधायक वचनोंमें तथा उत्तरकाण्डगत ब्रह्मसाक्षात्कारौपयिक वचनोंके श्रवणादिमें भी त्रैवर्णिकोंको ही अधिकारी माना गया है. अतः "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**", "**स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यम्**" (छान्दो,उप.३।१४।१, ६।८।७) श्रौत तत्त्वका साक्षात्कार श्रवण-मनन-निदिध्यासनौपयिकसमाधि द्वारा शक्य बनता है.

(सूत्रेषु अधीतवेदवेदांगादिशास्त्राणां कृते श्रुत्यर्थनिर्णायकसन्देहनिरासकता)

वेद-वेदान्तके निःसन्दिग्ध तात्पर्यके उपदेशार्थ ब्रह्मसूत्र प्रकट हुवे. जिनमें स्वयंप्रकाशरूप ब्रह्मके तत्त्वज्ञानार्थ स्वयं ब्रह्मातिरिक्त कोई भी प्रमाण नहीं बन पाता. ब्रह्मातिरिक्त कोई भी प्रमेय वेद-वेदान्तोंकी श्रुतियोंका प्रमेय भी नहीं हो सकता है. ब्रह्मकी प्राप्तिके हेतु परब्रह्म परमात्मा भगवान्के अनुग्रहरूप साधनके अवान्तरव्यापारसे अतिरिक्त कोई साधन नहीं भी हो सकता. और अन्तमें मोक्षके कोई भी प्रकार, नामतः, सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य सायुज्य या एकत्व रूपी अब्राह्मिक हो नहीं सकते.

इन प्रमाण प्रमेय साधन या फल के बारेमें विरुद्ध मतोंके कारण संशय जो भी मनमें उभरते हों उनका वारण कर सभी श्रुतिवचनोंका विवक्षित तात्पर्य केवल ब्रह्म परमात्मा भगवान् ही हैं ऐसा समन्वय "**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तद् ज्ञानं मतं मम,.. ऋषिभिः बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथग् ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिः विनिश्चितैः, वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो**","**मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते अहम् एतावान् सर्ववेदार्थः शब्दे आस्थाय मां भिदा**"(भग.गीता.१३।२-४, १५।१५, भाग.पुरा.११।२१।४३) वचनोंमें प्रतिपादित हुवा है. यह गीता-भागवतोक्त प्रमुखतम प्रयोजन ब्रह्मसूत्रका है. अतएव इन ब्रह्मसूत्रोंके अधिकरणोंमें विषय संशय पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष तथा संगति रूपी पांच अधिकरणांगों द्वारा पञ्चधा विमर्श होता है. स्पष्टतया विषय श्रुतिवचन बनते हैं. अन्यान्य मतोंके ब्रह्मके प्रतिकल्पतया प्रस्तुत होनेपर स्वाभाविकतया विकल्पात्मक संशय हो जाता है.

इसी तरह अपोह्य तो पूर्वपक्ष ही होता है. उत्तरपक्षमें एकमेव-अद्वितीय ब्रह्म ही सर्ववचनोंद्वारा वाच्यतया निर्धारित होता है. यह प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलोंके परस्पर समन्वित अर्थकी संगति मिल जाती है. साध्यार्थबोधक श्रुतिवचनोंसे जैसे ब्रह्मका विधान होता है, वैसे ही सिद्धार्थबोधक श्रुतिवचनोंद्वारा अभिधान भी ब्रह्मका ही अभिप्रेत है. न केवल इतना प्रत्युत ब्रह्मके स्थानपर विकल्पपूर्वक अपोहनीय तत्त्वोंके वाचक '' 'न'इति-'न'इति''सदृश पदोंद्वारा अपोह्यार्थ भी ब्रह्म ही होता है. इस विषयमें महाप्रभुके ये वचन यह अनुसन्धेय बन जाते हैं :

> **''प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि. परम्परोपयोगात्. भगवाँस्तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः. नैयायिकैः कर्तृत्वेन मीमांसकैः क्रियात्वेन, वैदान्तैः आत्मत्वेन, सांख्यादिभिः करणत्वेन; अन्यैश्च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन, ज्ञातृत्वेन च अन्यै; ज्ञानाधिष्ठानत्वेन च. सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितो अन्धहस्तिवत्, अनुभवेन युक्त्या च स्वात्मना अनुभवेन दृश्यैः द्रष्टा बुद्ध्यादिभिश्च लक्षणैः असाधरणचिह्नैः जीवेषु प्रवेशम् अलभमानैः क्रियादिभिः. अतएव तर्कसहितैः परोक्षज्ञानजनकैः लक्षितः इति सम्बन्धः. लक्षणया ज्ञापितः''.** (भाग.सुबो.२।२।३५०)

यहां अन्यान्य मतोंमें अभिमत तत्त्वोंके वाचक पदोंसे भगवान् लक्षणाद्वारा अभिज्ञापित होते हैं. ऐसे प्रतिपादनद्वारा वेदान्तसूत्रके प्रथम समन्वय / प्रमाण अध्यायमें अभिधया जैसे बोधगम्य बनते हैं. तो द्वितीय प्रमेय / अविरोधके प्रतिपादक अध्यायमें इतरमताभिप्रेत निरसनीय या अपोह्य ऐसे तत्त्वोंके वाचक पदोंके द्वारा भी लक्षणावृत्तिसे भगवान् ही ज्ञापित होते हैं. यह सिद्धान्तित हो रहा है. सृष्टिलीला और अवतारलीला के प्रभेदवश कभी मर्यादाके अनुसार जैसे शास्त्रविहित जीवात्मानुष्ठित साधनोंसे उद्धारकी तरह शास्त्राविहित या शास्त्रनिषिद्ध साधनोंको भी सर्वसमर्थ भगवान् अपने अनुग्रहका अवान्तरव्यापार बना कर जीवात्माके उद्धारकी अपनी स्वतन्त्रता खो नहीं देते हैं. इसी तरह यथानुग्रह फलप्रदान करनेकी स्वयंकी निरंकुश स्वतन्त्रता भी अन्तिम फलाध्यायमें निरूपणीय है. अतः **''फलम् अतः उपपत्तेः''**,**''प्रदानवदेव तद् उक्तम्''** (ब्र.सू.३।२।३८,३।३।४३) सूत्रोंके आधारपर भाष्यकार महाप्रभुके प्रस्तुत

विधान अवलोकनीय बन जाते हैं: १.''**फलतः साधनेभ्यः च प्रमेयात् च प्रमाणतो विचारेण अबृहत् तत् चेत् को अन्यः साधयितुं क्षमः ?**'' २.''**आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मया उदितं विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्**'' (१.अणुभा. ३।२।३१, २.त.दी.नि.२।३०७). अतः श्रौत अधिकारिता यहां भी अनुवृत्त मानी जाती है. भागवतपुराण इसी सर्वोद्धारसामर्थ्यकी भगवच्चरि-त्रात्मिका लीलाका कीर्तन करता है. श्रीमद्भागवतोपदिष्ट श्रीकृष्णावतारलीलामें, परन्तु , सुबोधिनीमें महाप्रभु यह सुस्पष्ट कहते हैं ''**वैदिकप्रकारेण चतुष्टयम् उक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयम् आह... चतुर्भिः. भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयं : भगवत्साक्षात्कारः साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणं... दर्शनं प्रमाणम् आविर्भावः प्रमेयम् इति... सएव साधनम्... प्रसंगात् तच्चरित्रं फलरूपम्...**'' (भाग.सुबो. १०।२।३८-४१) अतएव प्रथमस्कन्धीय भीष्मस्तुतिमें यह कहा गया है कि ''**तच्छ्रीयेक्षणीये भगवति रतिः अस्तु मे मुमुर्षो यम् इह निरीक्ष्य हताः गताः सरूपम्**'' (भाग.पुरा.१।९।३९). कुरुक्षेत्रके युद्धमें सारथी श्रीकृष्णकी अर्जुनके रथको चलानेकी छटापर आहत मरणासन्न सैनिकोंमें से जिसकी भी दृष्टि आकस्मिक पड़ गयी तो वह मुक्त हो गया ! यह श्रीकृष्णकी शोभादिदृक्षा भी नहीं केवल शोभादर्शनाधिकारिता ब्रह्मसूत्रोंद्वारा श्रुतिओंके निःसंदिग्धार्थकी जिज्ञासाधिकारितासे निश्चय ही अतिविलक्षण है.

(भगवदवतारलीलासृष्टौ भक्तानां यथाधिकारं भगवल्लीलानुभावः)

अतएव भागवतमें कहा गया है कि ''**गोप्यः कामाद् , भयात् कंसो, द्वेषात् चैद्यादयो नृपाः, सम्बन्धाद् वृष्णयः, स्नेहाद् यूयं, भक्त्या वयं विभोः... तस्मात् केनापि उपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्**''(भाग.पुरा.७।१।३०-१). यहां जो उपायावलम्बनप्रेरणा प्रतीत हो रही है वह उपेयरूप अवतीर्ण भगवान्के पूर्वसिद्ध साक्षात्कारवश ही है. महाप्रभु एतदर्थ स्पष्टीकरण देते हैं :

> ''**मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनो असतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः मृत्युः भोजपतेः विराड् अविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवता इति विदितो रंगंगतः साग्रजः : प्रमेयेण निरोधो अत्र कर्तव्यो हरिणा भृशं, लोकाश्च दशधा भिन्नाः ततो दशविधो अभवत्. यस्य भावो यथा तस्य अनुसरणे कृते निरोधो जायते सम्यग् अन्यथा बन्धनं भवेत्.**

गुणाः नवविधाः प्रोक्ताः तदभावः तथा अपरः. शृंगारादिरसाश्चैव तेषामेव निरूपकाः. राजसाः त्रिविधाः पूर्वं सात्त्विकाश्च ततः पराः. आध्यात्मिकाः तथा पूर्वं दैविकास्तु ततः परं, रौद्रो अद्भुतश्च शृंगारो हास्यो वीरो दया तथा, भयानकोऽपि बीभत्सः शान्तो भक्तिरसः तथा एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेव बभौ महान्.''

(सुबो.१०।४०।१७).

अतः देखा जा सकता है कि भगवल्लीलासामयिक जनोंकी प्रापञ्चिक विषयासक्ति शिथिल कर स्वयंमें केन्द्रित करके उन्हें भक्ति या मुक्ति प्रदानार्थ भगवान् तत्तद् भावोंके आलम्बनविभावात्मना अपना रूप पहले दरसाया बादमें काम भय द्वेष सम्बन्ध स्नेह या भक्ति रूपी विविध भावोंके साथ लीलासामयिक जन भगवान्में निरुद्ध हो पाये. प्रसंगवशात् यह खुलासा कर देना भी आवश्यक लगता है कि सप्तमस्कन्धीय वचनमें वृष्णिओंको सम्बन्धभावसे जबकि यहां दशमस्कन्धीय वचनमें भक्तिभाव से भगवान्के साथ जुड़नेकी कथामें परस्पर विरोधाभास जो लग रहा है, उसका कारण नारदजीका स्वयंको भक्तिभावसे भगवान्के साथ जुड़े होनेके भावके अनुरूप वृष्णिओंका सम्बन्धभाव लगना स्वाभाविक है क्योंकि इन सभी भावोंको प्राथमिक रूपेण तो जिसके जैसे भाव वैसा स्वरूप उसके प्रति प्रकट कर आकर्षित किया पर अन्ततः इन सारे भावोंका भक्ति या मुक्ति में उदात्तीकरण किया. यह कथा जीवात्माओंके अपने स्वभावानुरूप मनोभावोंके साथ भगवान्से जुड़नेकी है. परन्तु अनवतारकालमें तो भगवान्की दशविधभक्ति या विकल्पानुकल्पतया शरणागति से ही भगवान्के साथ जुड़ पाना शक्य है. और एतदर्थ भगवान्के चरित्रके महार्णवमें भागवत-पोतारूढ़ हो कर ही पार पाया जा सकता है. यह सन्देहरहित विभिन्न उपायोंके अधिकारकी कथा है.

(निवृत्तसन्देहानां भगवल्लीलानुभावकभगवद्भक्तिप्रपत्त्यधिकारिता)

औपनिषद ब्रह्मके, परन्तु, वासुदेव श्रीकृष्णतया अवतीर्ण होनेपर अवतारकालमें उसकी लीलादर्शन लीलाकीर्तन और लीलास्मरण उसके परमानन्दात्मक स्वरूपके यादृच्छिक दृष्टिगोचर हो जानेपर भी शक्य बन जाता है. ऐसा परन्तु अनवतारकालमें शक्य न होनेपर भी तन्नामात्मक श्रीमद्भागवत पुराणके श्रवण-कीर्तन-स्मरणसे भगवत्स्वरूपानन्दका जो रसात्मक अनुभव

होता है वही पूर्वोक्त ''तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्च इच्छता अभयम्'' में विवक्षित है. अतएव भगवान् तो सभी भूतोंके समानरूपेण सुहृद् तथा प्रिय होते हैं फिरभी इन्द्रका पक्ष ले कर दैत्योंके वधार्थ क्यों-कैसे समुद्यत होते हैं ? महाराजा परीक्षितके ऐसे सन्देहके श्रीशुकदेवजीने समाधानार्थ जो कहा गया वह मननीय है. भगवान् जो साक्षाद् निःश्रेयसात्मा हैं, उन्हें सुरगणोंसे क्या लाभ मिलेगा अथवा गुणातीत होनेके कारण असुरगणोंसे क्या विद्वेष या उद्वेग हो सकता है उन्हें ? अद्भुतकर्मा भगवान्के चरित्रका यही तो माहात्म्य है कि जिसे सुनने कारण जीवात्माके भीतर भक्तिभाव वृद्धिंगामी हो पाता है. क्योंकि वैसे तो अज अव्यक्त त्रिगुणातीत भगवान् अपनी सदंशात्मिका त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंसे पर हैं, फिरभी सृष्टि प्रकट करते समय विविध पुरोंके निर्माणमें रजोगुणको अपनाते हैं, उन पुरोंमें रमणार्थ सत्त्वगुणोंको अपनाते हैं; और, प्रलयकालमें तमोगुणको अपना कर क्रीड़ा करते हैं. ऐसी सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले भूतोंके भीतर अहन्ता-ममताके कारण वैषम्यबुद्धि प्रकट होती ही है परन्तु जहांतक भगवान्का प्रश्न है तो वे तो अखिलात्मा हैं. उनके स्वाभाविक कैवल्यके कारण लीलामें वैषम्यका अंगीकार भी लीलात्मक ही प्रकट होता है. अतएव कहा जाता है कि ''**तस्माद् गोविन्द-माहात्म्यम् आनन्दरससुन्दरम् शृणुयात् कीर्तयेद् नित्यं स कृतार्थो न संशयः... तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिद् न ईक्षते पृथक्**''(भाग.पुरा.७।१।१-२५). यह अवतारकालिक मुक्त्यधिकारिता साधनमार्गीय या उपायात्मिका न हो कर उपेयात्मा भगवान्की लीलाकालमें प्रकटी प्रमेयबलमूलक अन्यथाकर्तुंसामर्थ्य है. भगवान्की उद्दिधीर्षा और वैसे सामर्थ्यवश अनधिकारीकी भी अधिकारिवत् स्वीकृति है. ब्रह्मसूत्रमें इसे अनुष्ठेय सिद्धान्ततया नही प्रत्युत भगवत्सामर्थ्यतया ''**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति**'',''**प्रदानवदेव तदुक्तम्**''(ब्र.सू.२।१।३४,३।३।४३) सूत्रोंमें प्रतिपादित किया गया है. अतएव महर्षि वेदव्यासद्वारा श्रीमद्भागवतप्रणयनके प्रसंगमें वर्णित श्लोकोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है ''**भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते अमले अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकं परोऽपि मनुते अनर्थं तत्कृतं च अभिपद्यते. अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे लोकस्य आजनतो विद्वान् चक्रे सात्त्वतसंहितां यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरूषे**

भक्तिः उत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा'' (भाग.पुरा.१।७।३-७).

(तत्र श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धनिरूपिताधिकारत्रैविध्यम्)

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें स्वयं भागवतके वक्ता और श्रोता के त्रिविध अधिकारोंका निरूपण महाप्रभुने स्वीकारा है. तदनुसार प्रथम स्कन्धमें तीन प्रकरणोंको समायोजित किया गया है. अतः इसे गोष्ठीशाल रामचन्द्रात्मज श्रीघनश्याम कृत विभागसूचिकाके अनुसार एक बार देख लेना उपयुक्त होगा. भागवतप्रथमस्कन्धमें अधिकार तीन तरहके निरूपित हुवे हैं : उत्तम मध्यम और आदिम के प्रभेदवश.

आदिमाधिकार '' तदनुसार प्रस्तुत स्कन्धके प्रथम द्वितीय और तृतीय अध्यायोंमें सर्वप्रथम आदिम अधिकारका निरूपण अभिलषित है. इसके अन्तर्गत अविरक्त श्रोताके आदिम अधिकारके स्वरूपघटक तीन माने गये हैं. यथा अविरक्त श्रोताका : १.जिज्ञासु होना २.अमत्सरी होना ३.भगवल्लीला श्रवणार्थ आदरभावयुक्त होना. इसी तरह भगवल्लीलाके अविरक्त वक्ताके भी आदिमाधिकारतया– १.श्रुतभागवत होना २.चतुर वक्ता होना ३.रहस्याभिज्ञ होना स्वीकारा गया है.

मध्यमाधिकार ''चतुर्थ पञ्चम और षष्ठ अध्यायोंमें क्रमशः श्रोता-वक्ताके दोनोंके ही मध्यमाधिकारके स्वरूपघटक : १.भगवत्कृपाभाजन होना २.भगवदीय होना ३.भगवदेकतान होना अभिमत हैं.

उत्तमाधिकार ''सातवें अध्यायसे शुरु करके उन्नीसवें तक यों बारह अध्यायोंमें निरूपित हुवा है. पुरुषको द्वादशांग माना जाता होनेके कारण तथा श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित ब्रह्म-परमात्मा ही श्रीमद्भागवतमें भगवान्के रूपमें प्रतिपादनीय होनेके कारण ऐसे भगवानके द्वादशांग पुरुषसे आधिक्यसूचनार्थ त्रयोदशात्मक होनेके कारण तेरह अध्यायोंमें निरूपण अभिप्रेत है. ऐसे उन पुरुषोत्तममें एकतानतया प्रवण होनेपर ही तदितरत्र दृढ़ वैराग्यशीलता प्रकट हो पाती है. ऐसा ध्वनित करनेको उत्तमाधिकारिता तेरह अध्यायोंमें वर्णित हुयी है.

महाप्रभु कहते हैं कि भगवज्ज्ञानावतार वेदव्यासजीके मनमें, यद्यपि किसी तरहका मोह उत्पन्न हो नहीं सकता परन्तु स्वयं भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णने व्यासजीके मनमें मोह उत्पन्न किया. अतः महर्षि वेदव्यास द्वारा वेदादि शास्त्रोंके आधारपर जो पृवृत्तिमार्गीय और निवृत्तिमार्गीय धर्मोंकी चौखटमें अवतीर्ण

भगवान्‌की लीलामें प्रदर्शित निःसाधन जीवोंके उद्धारकी व्याख्या कैसे समा पाती ? क्योंकि लीलामें तो —

''तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिद् नेक्षते पृथक् ... एवं कृष्णे भगवति मायामनुजे ईश्वरे वैरेण पूतपाप्मानः तम् आपुः अनुचिन्तया. कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्या ईश्वरे मनः, आवेश्य तदघं हित्वा बहवः तद्‌गतिं गताः, गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषात् चैद्यादयो नृपाः सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभोः.''

(भाग.पुरा.७।१।२५-३०)

जीवात्माके उद्धारकी यह अभूतपूर्व नूतन रीति दरसानेवाली लीलाके कारण लोकवेदातीत भगवत्कृपाका एक विलक्षण मार्ग प्रकट हुवा. इसकी उपपत्ति वेदादि शास्त्रोंके प्रवृत्तिमार्गीय या निवृत्तिमार्गीय धर्मोंके आधारपर मिल नहीं सकती. जीवात्माओंके उद्धारकी इस अद्‌भुत रीतिपर ध्यान न जा पाया. अतः देवर्षि नारदके उपदेशके बावजूद भलीभांति आत्मप्रत्यय प्रकट न हो पाया. अतः महर्षि बादरायण वेदव्यासकी समाधिमें भगवान्‌ने स्वयं यही अनुभव उन्हें प्रदान किया. पहले देवर्षि नारदको भी यही बताया गया था कि ब्रह्मका साकार होना अज्ञानमूलक या उपासनार्थ की जाती कल्पनामूलक मानना अनिवार्य नहीं. क्योंकि **''अहन्यापृतार्तकरणाः निशि निःशयानाः नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः दैवाहतार्थरचनाः ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसंगविमुखाः इह संसरन्ति. त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुसां यद्यद्‌धिया त उरुगाय विभायन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''** (भाग.पुरा.३।९।१०-११) इन वचनोंके आधारपर देखा जा सकता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंको भी भगवद्‌विमुख होनेपर सांसारिक बन्धनमें बंधना पड़ता है और विभिन्न भावयोगोंसे भगवान्‌को परिभावित करनेपर भावानुसारिणी आकृति स्वयं भगवान् अपनी प्रकट करते हैं सदनुग्रहार्थ. अतः ऐसी भक्तभावानुसारिणी भगवदाकृति शुद्ध सच्चिदान-न्दात्मिका ही होती है मायिक अज्ञानकल्पित मिथ्या नहीं. यह भगवान्‌की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा उत्तम प्रज्ञाशक्ति है. परन्तु अज्ञ जीवात्माके भीतर इसका भलीभांति आकलन न होने पानेके कारण व्यामोह पैदा हो जाना स्वाभाविक ही है. यह व्यामोह भगवद्‌भक्ति होनेपर ही निवृत्त हो पाता है अन्यथा नहीं. इस

विषयमें, परन्तु, आश्वस्त न हो पानेके कारण जब समाधि लगायी तब अन्ततः गवान्ने भी ऐसा ही अनुभव महर्षि वेदव्यासको प्रदान किया. और तब श्रीमद्भागवतपुराणसंहिता प्रकट की गयी ऐसी अद्भुत लीलाके प्रतिपादनार्थ. इसका बोध, परन्तु, निज अधिकारके अनुसार होता है, अनवतारकालमें. क्योंकि अनवतारकालकी व्यवस्था स्वयं भागवतमें इस तरह दरसायी गयी है :

१.''मुनिः विवक्षुः भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णो यस्मिन् नृणां ग्राम्यसुखानुवादैः मतिः गृहीता नु हरेः कथायां, सा श्रद्धधानस्य विवर्धमाना विरक्तिम् अन्यत्र करोति पुंसः हरेः पदानुस्मृतिनिवृतस्य समस्तदुःखात्ययम् आशु धत्ते''.

२.''कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषां विज्ञानवैराग्यविक्षया विभोः वचोभिभूतिः नतु पारमार्थ्यं, यस्तु उत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयते अभीक्ष्णम् अमंगलघ्नः तमेव नित्यं शृणुयाद् अभीक्ष्णं कृष्णे अमलां भक्तिम् अभीप्समानः.''

३.''यत् शृण्वतो अपैति अरतिः वितृष्णा सत्त्वं च शुद्ध्यति अचिरेण पुंसः भक्तिं हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्''.

४.''भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र च एषः त्रिकः एककालः प्रपद्यमानस्य यथा अश्नतः स्युः तुष्टिः पुष्टि क्षुदपायो अनुघासम्''.

(भाग.पुरा.३।५।१२, १२।३।१४, १०।७।२, ११।३।४२)

अर्थात् अवतारलीलामें सर्वजनगोचर भगवान् जैसे काम-भय-द्वेषादि लौकिक भावोंके अनुरूप स्वयं रूप दिखला कर अन्तमें अपने बारेके भक्तिभाव या मुक्तिभाव में निरुद्ध कर लेते हैं. ऐसे ही श्रीहरिकथा भी ग्राम्यसुखोंका अनुवादद्वारा हमारी मतिको भगवान्के चरणकमलोंका मधुप बना देती है. परन्तु इस बारेमें यह विवेक समझ रखना अनिवार्य है कि जब तक समग्र सृष्टि निरपवादतया भगवल्लीलारूपा है ऐसा बोध और श्रद्धा सुदृढ़ न हो जाये तब तक भगवल्लीलावर्णनके अंगोपांगतया वर्णित अन्यान्य महापुरुषोंकी कथाको वचोविभूति आलंकारिक भाषा समझनी चाहिये. विवक्षित तो परमार्थतः अवतीर्ण भगवत्स्वरूप परब्रह्मता परमात्मता और भगवत्ता का ऐसा विज्ञान कि

जिसे सुन कर लीलार्थ भगवान्से भिन्नतया प्रादुभार्वित नाम–रूप–कर्मोंमें जीवात्माकी विरक्ति प्रकट हो पाये. अतएव महाप्रभुने निष्कर्षतया जो कहा है कि भगवद्रूप जगत्को जानना चाहिये पर भगवान्की समग्रता जागतिक समग्रता नहीं वह तो जगदतीत भी सर्वथा है ही अतः आसक्ति तो हमारी भगवद्विषयिणी ही अभिलषित होनी चाहिये. वह यदि सिद्ध न हो पाती तब भी भगवान्की शरणागति एक अनवतारकालिक प्रभावी उपाय है क्योंकि शरणागतिसे भक्ति परेशानुभूति और अहन्ता–ममतात्मक संसारसे विरक्ति तीनोंकी साधिका बन पाती है.

(श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धाध्यार्थसंक्षेपः)

श्रीगोकुलरायजीकृत श्रीभागवतनिबन्धानुसारी प्रथम स्कन्धीय अध्यायार्थोंके संकलनानुवादके साथ उपसंहार करना चाहेंगे :

<u>प्रथमस्कन्धमें हीनाधिकार प्रकरणमें प्रथमाध्याय:</u>

प्रस्तुत प्रथमाध्यायमें प्रश्नवर्णनद्वारा श्रोताका जिज्ञासु होना और वक्ता का सम्प्रदायमें अधिकारी पुरुषद्वारा भागवतश्रवण किया होना निरूपित हुवा है.

<u>प्रथमस्कन्धमें हीनाधिकार प्रकरणमें द्वितीयाध्याय:</u>

इस अध्यायमें कर्म–ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नके उत्तरतया भगवदवतारका प्रयोजन लीलाके बारेमें प्रश्नके उत्तरतया श्रोताका अमात्सर्य गुण तथा वक्ता के चतुर होनेके गुणोंका निरूपण हुवा है.

<u>प्रथमस्कन्धमें हीनाधिकार प्रकरणमें तृतीयाध्याय</u>:

इस अध्यायमें भगवान्के रूपात्मक अवतारोंके निरूपणके साथ–साथ श्रोताका लीलाश्रवणमें आदरभाव तथा वक्ताके गुह्य रहस्योंके ज्ञाता होनेका गुण वर्णित हुवा है.

<u>प्रथमस्कन्धमें प्रकरणमें मध्यमाधिकार चतुर्थाध्याय:</u>

चतुर्थाध्यायमें भागवती कथाकी प्रेरणामें हेतुभूत प्रसंगके निरूपण करते हुवे व्यासजीका भगवद्विचारित भगवदीय होनेका गुणका वर्णन अभिप्रेत है.

<u>प्रथमस्कन्धमें मध्यमाधिकार प्रकरणमें पञ्चमाध्याय</u>:

इस पांचवें अध्यायमें पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर तथा कृति के रूपमें महर्षि वेदव्यास तथा देवर्षि नारदजी के भगवान्के द्वारा सम्पादित शरीर और भगवदीय होनेका निरूपण किया गया है.

प्रथमस्कन्धमें मध्यमाधिकार प्रकरणमें षष्ठाध्याय:

छठ्ठे अध्यायमें फलनिरूपणके प्रसंगमें भगवान्के बारेमें कह पानेके भगवदीय होनेका गुण वर्णित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें सप्तमाध्याय:

सातवें अध्यायमें अश्वत्थामा द्वारा पाण्डवकुलके उच्छेदार्थ ब्रह्मास्त्रके सन्धान किये जानेपर उसका परिहार भगवान्ने कैसे करवाया यों अर्जुनके दुःखनिवारणके द्वारा भगवान्के परम अनुगृहका निरूपण करते हुवे भागवतके उत्तम श्रोता ऐसे महाराजा परीक्षितके मातृपरम्परासे भगवत्सम्बन्धवशात् उत्तमाधिकारके अनुरूप उनमें पुरुषपरम्परासे भी अर्थात् पितृपरम्परासे भी किसी तरहका दोष नहीं ऐसा प्रतिपादित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें अष्टमाध्याय:

यहां कुन्तिस्तुतिके निरूपणद्वारा कुन्तिमें ब्रह्मस्वरूपाज्ञानजन्य दुःखके निवारणद्वारा उत्तम श्रोता परीक्षितमें स्त्रीपरम्परया भी किसी तरहका दोष नहीं था, ऐसा दरसाया गया है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें नवमाध्याय:

यहां युधिष्ठिरको जो पितामह भीष्मद्वारा दिये गये उपदेशमें जीवमें स्वरूपाज्ञानजनित दुःखकी निवृत्ति निरूपित करके पोषक अन्नकी शुद्धिका निरूपण किया गया.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें दशमाध्याय:

इस अध्यायमें भीम आदिकी भगवत्परता दरसाते हुवे सामान्यतः सुखप्राप्तिके वर्णनमें परमकृपालु भगवान्ने सांसर्गिक दोष भी निवृत्त कर दिया यह विवक्षित है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें एकादशाध्याय:

एकादशाध्यायमें भगवदवतारलीलाका कार्य सम्पन्न हो जानेके कारण जैसी भगवान्की सुखस्थिति वैसी ही पाण्डवोंकी भी सुखस्थितिका वर्णन किया गया है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें द्वादशाध्याय:

बारहवें अध्यायमें भगवान्के द्वारा परीक्षितकी रक्षा किये जानेपर सुखी हुवे पाण्डवोंकी स्वतः और कालतः भी कैसी कृपावृष्टि हुयी उसका वृत्तान्त बरना

गया है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें त्रयोदशाध्याय:

तेरहवें अध्यायमें धृतराष्ट्रकी मुक्तिके निरूपणद्वारा बीजमुक्तिकी कथा विवक्षित है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें चतुर्दशाध्याय:

इस अध्यायमें बीजमुक्तिके परिणामस्वरूप पाण्डवोंके हस्तिनापुर राज्यसे निर्गमके हेतुतया वैराग्यका वर्णन अभिप्रेत है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें पंचदशाध्याय:

इस अध्यायमें वैराग्यमूलक राजपाटका त्यागके कारण पाण्डवोंको मुक्तिलाभकी कथा कही गयी है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें षोडशाशाध्याय:

सोलहवें अध्यायमें परीक्षितके सार्वभौमिक राज्यका वृत्तान्त निरूपित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें सप्तदशाध्याय:

प्रस्तुत अध्यायमें परीक्षितके शासनमें धरिणी और धर्म के वास्ते कलिकालके निगृहकी वार्ता वर्णित हुयी है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें अष्टादशाध्याय:

इस अध्यायमें परीक्षितके भीतरभी राजपाटके त्यागके कारणीभूत वैराग्य जो मुनिकुमारका शापवश उद्‌भूत हुवा उसके निरूपणके अन्तर्गत धर्मकी जो उन्नति हुयी उसका प्रतिपादन हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें एकोनविंशाध्याय:

इस अन्तिम अध्यायमें त्याग और सत्संगति के सम्पन्न होनेपर भगवल्लीलाकी शुश्रुषा और प्रश्न की अधिकारिता महाराज परीक्षित निरूपित की गयी है.

इस तरह प्रथम स्कन्धमें भागवतके कनिष्ठ-मध्यम-उत्तम अधिकारोंवाले श्रोता एवं वक्ताओंके अधिकारिताकी लीलाका आख्यान निरूपित हुवा है.

सदेकं त्वं द्विधा जातः स्वयं सत्यानृतेऽभवत्‌ ।।

पारमात्म्येन सत्येन बन्धोद्धारावुभावतः।।१।।
नामरूपात्मकं सत्यमाचार्येणोदितं जगत्।।
अहन्तामते तत्र मिथ्यैवाविद्यके मते।।२।।
ब्रह्माग्नौ हूयतेऽहन्ता ज्ञानमार्गे हि मोक्षदा।।
''स्वाहेदं न ममे''त्येवं यज्ञाय ममता कृता।३।।
उभे कृष्णायार्पणीये भक्तिमार्गे च भक्तिदे।।
कर्तुं चाकर्तुमन्यथा वा ते कर्तृस्वातक्र्यतः।।४।।
यथैव रोचते सत्यानृताभ्यां वोद्धरस्व माम्।।
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे।।५।।

महाशिवरात्रि
(विक्रमसंवत् २०७६)

गोस्वामी श्याम मनोहर
पार्ले मुंबई

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

प्रथम स्कन्ध

श्रीमदाचार्यचरण श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करनेकी इच्छासे प्रतिपाद्य रूप भगवानकी वस्तु संकीर्तनरूप मङ्गलके रूपमें स्तुति करते हैं:

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा। सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ।।१।।

सम्पूर्ण भक्तोंके हृदयमें भासित होनेवाले सर्वदा दश लीलासे युक्त परमानन्द श्रीकृष्णको हम नमन करते हैं.

यहां 'कृष्ण'पदसे परम उत्कृष्ट वस्तुको कहा है. उन्हीं कृष्णने विचार किया कि मैं अपना सौन्दर्य प्रकट करूं इसलिये साकार रूपसे जो प्रादुर्भूत हुए उन्हें ही श्रीकृष्ण कहते हैं. श्रीकृष्ण विभूति रूप नही हैं, परमानन्द होनेसे फलस्वरूप हैं. उनका साधन श्रवण है. श्रवणका विषय उनकी दस लीलाएं हैं. भगवानके अवतारका प्रयोजन तो सकल भक्तोंका उद्धार करना ही है. यदि कोई कहे कि उनसे अन्य भी कोई उद्धारक होगा तो कहते हैं कि वे ही पर(सर्वोत्कृष्ट) हैं. अवतारको स्तुति अच्छी लगती है इसलिये उनको नमन किया ।।१।।

शंका: जब भागवत् विद्यमान है तो फिर आपको उसकेलिये अब क्या करना है? इस शकांका उतर देनेकेलिये अपने ग्रंथके विषयको कहते हैं:

शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे। एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते ।।२।।

शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद और अक्षर इन सातोंमें निर्विरोध एक ही अर्थको जानता हुआ मुक्त होता है. अर्थात् भागवतका अर्थ इस तरहसे कहना चाहिए कि जो अर्थ बारहों सकन्धोंमें अनुस्यूत हो. सबका एक ही अर्थ हो अलग-अलग अर्थ न हो. यदि यह शंका हो कि अक्षरोंका अर्थ क्या होगा? तो उसका उत्तर यह है कि जो प्रत्ययरूप अक्षर है उनका अर्थ होता ही है. यह पहले कह चुके हैं. एक ही अर्थ होना चाहिये का तात्पर्य है कि शास्त्र-स्कन्ध आदिका यदि अलग-अलग अर्थ होगा तो वह कृत्रिम (बनावटी) हो जायेगा.

जिस तरह एश्वर्य आदि छ: धर्मोंसे युक्त धर्मी (भगवान्) सात प्रकारके हैं. उसी तरह भागवतार्थ भी स्कन्ध आदिसे युक्त हैं. संसारसे मुक्त हो जाना यह ज्ञानका अवान्तर फल है. भक्तिकेलिए ऐसी मुक्ति अपेक्षित है ।।२।।

शास्त्र-स्कन्ध आदिमें भागवतका अर्थ क्या है इसे 'आनन्दस्य हरेर्लीला'

इत्यादि कारिकाओंसे कहते हैं:

आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा। 'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।।३।।
मन्वतरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः'। अधिकारी साधनानि द्धादशाथास्ततोऽत्र हि।।४।।
निरूप्य संख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा। तृतोयादिदशस्कन्धौर्लीला दशविधोदिता।।५।।
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः। इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः।।६।।

आनन्दरूप भगवानकी आनन्दमयी दस प्रकारकी लीला ही शास्त्रार्थ है. ये लीलाएं हरिकी हैं इसलिए लीलाऐं भी सब प्रकारके दु:खोंको दूर करनेवाली हैं. अतः दुखाभाव–सुखरूप होनेसे ये लीला स्वतःपुरूषार्थरूप हैं ये ही भागवतका अर्थ है. स्कन्ध आदिके अर्थका निरूपण करनेकेलिये उनका दस प्रकारसे विभाग किया है. इस प्रकारसे लीलाओंके विभागमें 'अत्रसर्गो विसर्गश्च' ये भागवतका वचन ही प्रमाण है.

भागवतमें जिन लीलाओंका वर्णन है वे तो दस ही हैं ओर भागवतमें स्कन्ध तो बारह हैं उनका अर्थ करते हैं: प्रथम स्कन्ध अधिकार लीला स्कन्ध है और द्वितीय स्कन्ध साधन लीला स्कन्ध है. अधिकार भी लीला है क्योंकि अधिकारका उत्कृष्ट रूपसे लीलामें उपयोग होता है. ज्ञानके सभी प्रकार अङ्गरूप है इसको बतानेकेलिये 'साधनानि' ऐसा बहुवचन दिया है. इसलिये श्रवणादिरूपा भक्तिके सभी ज्ञान अङ्ग है.

शंका हो सकती है कि भागवतके बारह स्कन्ध हैं इसलिए जब बारह भेद हैं तो एकवाक्यता कैसे होगी? शास्त्रार्थता उससे कैसे होगी? इस पर कहते हैं कि शब्दसे और अर्थसे पुराण भगवद्रूप है यह 'निम्नगानां यथा गङ्गा' यहां कहा जायेगा. भागवतके हरिरूप होने पर भी द्वादशता कैसे है।।२।।

पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम्। हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः।।७।।
सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः। उत्क्षिप्तहस्तः पुरूषो भक्तमाकारयत्युत।।८।।
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गतनुर्हरिः। पादौ सक्थौ कटिर्गुहां हृदयं करौ।।९।।
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः। एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः।।१०।।
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति।

'द्वादशो वै पुरुषः' इस श्रुतिके अनुसार अवयवोंको गिनाते हैं : २ जांघे, २ भुजाएं, १ सिर, १ मध्यभाग, २ हाथ, २ पैर, २ स्तन इस तरह पुरुष (भगवान्)के बारह अङ्ग है. अब भागवतके स्कन्धोंका इन अवयवोंमें इन अवयवोंमें सन्निवेश किस तरह है उसे बताते हैं. अधिकार स्कन्ध और ज्ञान स्कन्ध ये दो भगवानके चरण है. सर्ग और विसर्ग ये दोनों बांह है. स्थान और

पोषण ये दोनों जांघे हैं. पूर्वमें जो 'कर' शब्द आया है उसका अर्थ बाहू है. सप्तम स्कन्ध एक हाथ है और द्वादश स्कन्ध दूसरा हाथ है. इस तरहसे तो भागवतका रूप विकृत सा हो जायेगा? इस आशंका पर दृष्टान्तसे प्रकृतोपयोगी रूपका 'उत्क्षिप्त हस्त:' से कहा है. अष्टम और नवम ये दोनों स्तन हैं इसके अनन्तर दशम मध्य भाग है. एकादश सिर है. द्वादशका वर्णन तो पहले आ ही चुका है. भगवान् जिस तरह भागवत् रूप हुए उसी तरहसे यहां वर्णन किया. यहां कुछ उपासकोंका ऐसा कथन है कि क्रमानुसार ही उपासना करनी चाहिये वही सफल है अत: वे यहां क्रमभेद करते हैं. वे पञ्चम स्कन्धको कटि (कमर) बताते है. मलद्वार स्थानीय नरक गुह्य स्थान षष्ठ स्कन्ध है. सप्तम उदर, अष्टम ह्रदय, दोनों कर नवम. मुख दशम, ललाट एकादश, मस्कत द्वादश. उपासनामें ऐसा भी उचित है. इस तरह निरूपणका अन्य प्रयोजन भी है. इस तरहकी धारणासे अर्थात् पाठत: धारणासे भागवतके भगवद्रूप होनेसे उस रूपसे वो भगवान्की ही धारणा है. ह्रदयमें स्थित भगवान् जिस कामको करेंगे वही कार्य भागवत भी करेगा. केवल पाठमात्रासे भगवान् धारण किये जाते है तो यदि अर्थतः परितः ज्ञान हो जाये तो फिर इदमित्थं रूपसे ज्ञान जिसका है वह ज्ञान भक्तिका अङ्ग हो जायेगा और वह ज्ञान भक्तिको देगा ।।८ – १०।।

ज्ञानकेलिये इस भागवतके स्वरूपको कहते हैं:

एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामिततेजसः।११।लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पौषिके तु ते। ते प्रमाणमभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि।१२। न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके।

यह भागवत् अमित तेजस्वी व्यासजीकी समाधि भाषा, लौकिकी भाषा एंव परमत भाषा दोनों ही समाधि भाषाका पोषण करती है. उन दोनों भाषाओंका प्रामाण्य तो वक्ताके अभिप्रायसे है, समाधि भाषाकी तरह प्रामाण्य नहीं है. अत: यदि उनमें परस्पर विरोध आता है तो दोषजनक नही है. अर्थात् लौकिक और परमत भाषाका निरूपण जहां अवसर आयेगा किया जायेगा.

व्यासजीने समाधिमें जो देखा वह कहा उसे समाधिभाषा कहते है. भागवतमें कहीं तो ज्ञानकी प्रशंसा की है और कहीं कथाओंमें पूर्वोत्तर विरोध है तो कहीं पुनरुक्ति आदि दोष भी हैं उनके समाधानकेलिए ही स्वयं व्यासजीने ही कहा है कि इसमें तीन तरहकी भाषा हैं 'भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः'.

समाधि भाषाके विरुद्ध अर्थ जिसमें है वह 'मतान्तर भाषा' है और जो लोकसिद्ध भाषा है वह 'लौकिकी' है. परमत भाषा तो जिसने उसे कहा है उसके

अभिप्रायके विषयमें प्रमाण है, स्वतन्त्र रूपसे प्रमाण नही है.जिस तरह समाधि भाषा प्रमाणभूत है उस तरह नहीं अतः. यदि समाधि भाषाके साथ उन दोनों भाषाओंका कहीं विरोध हो तो वहां वो दो भाषाएं प्रमाण नहीं मानी जायेंगी. जहां शुकदेवजी ''मैं दूसरेकी बात कह रहा हूं'' ऐसा कहते हैं वह परमत भाषा है और जहां लौकिक रीतिसे निरूपण किया है वह लौकिक भाषा है. जैसे: ''स्तनैस्तनान् कुङ्कुमम स्वाषितान्'' यह लौकिक भाषा है. इनका विरोध व्यासजीने समझ बूझकर रखा है अत: दोष कारक नहीं है. निष्कर्ष यह निकला कि तीनों ही भाषाओंके प्रकारसे स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप श्रीकृष्णलीला भागवतका अर्थ हैं ।।११-१२।।

उनमें श्रोता तथा वक्ताका अधिकार प्रथम स्कन्धका अर्थ है और वह स्वरूप निर्वाहक है. अधिकारके अभावमें स्वरूप ज्ञान, अर्थ ज्ञान और अभिप्राय ज्ञान नहीं होगा.

वह अधिकार मोटे तौर पर तीन तरहका है; और सूक्ष्मरूपसे उन्नीस प्रकारका है. इसमें तीन भेद हैं: साधारण, असाधारण और गुणातीत. साधारण नौ प्रकारका है और असाधारण भी नौ प्रकारका तथा निर्गुण एक प्रकारका. इस तरह अधिकार १९ अध्यायोंका अर्थ जानना चाहिये. सुननेकी इच्छा रखनेवाले सभी अधिकारी हैं यह स्कन्धका अर्थ है.

अब प्रकरणर्थके तीन भेद बताते हैं:

भेदत्रयं तथा चाद्ये हीन-मध्योत्तमत्वतः ।१३। तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तु श्रोतुमिहार्हति। आद्येऽध्यायत्रयं मध्ये तथा चान्ते त्रयोदश ।१४। एवम् एकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः।

प्रथम स्कन्धमें हीन मध्यम और उत्तम इस तरह तीन भेद हैं उन्हीं लक्षणोंवाला अधिकारी वक्ता और श्रोता यहां कहने तथा सुननेके योग्य है. हीनाधिकारके प्रथम तीन अध्याय (१ से ३), उसी तरह मध्यमाधिकारके तीन अध्याय (४ से ६) और शेष तेरह (७ से १९) उत्तमाधिकारके हैं इस तरह उन्नीस अध्यायका प्रथम स्कन्ध कहा गया.

अन्य निबन्धोंमें ऐसे ही अर्थका निरूपण है अतः यहां भी ऐसा ही निरूपण किया गया है इसमें अस्वारस्यका बीज यह है कि अन्य निबन्धकार देश और काल की अपेक्षासे प्रकरणका इस तरह विभाग करते हैं कि प्रकरण देशकालकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे असमर्थ हो जाता है. इस समय तो देश और काल दोनों ही अशुद्ध हैं अत: श्रवणकी ही सिद्धि नहीं होगी इसलिये प्रकरणका ऐसा लक्षण आचार्यचरणको सम्मत नहीं है. श्रवणके अभावमें तो

पुराणका प्रणयन (निर्माण) तथा प्रचार दोनों ही व्यर्थ हो जायेगें अत: अध्यायके अर्थविचारसे ही प्रकरण विभाग उचित है ।।१३-१४।।

जब भागवतकी समाप्ति हुई उस समय ''कस्मै येन विभासितो अयम् अतुलो ज्ञानप्रदो यः पुरा'' इस श्लोकमें जो 'अयम्' आया है उससे पूरे बारह स्कन्धका परामर्श होता है. शुकदेवजीने व्यासजीसे भागवतका अध्यन किया था यह जाना जाता है. उस समय सूत और शौनक की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी. अत: उनका संवाद भी नहीं हुआ था तब 'नैमिषे अनिमिषक्षेत्रे' इत्यादिसे जो प्रथम स्कन्धमे सूत-शौनकके संवादके रूपमें भागवतकी प्रवृत्ति हुई यह संगति असंगत है. इस पर कहते हैं:

कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै ।।१५।। तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तच्छ्रुत्वा सूत आह यत्। शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत् सर्वं भावि हृद्गतम्।।१६।। अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः। व्यासरूपोऽवतीर्याद्य मंगलादिपुरःसरम् ।।१७।। प्रसङ्गपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि।

शुकदेवजी राजा परीक्षितकेलिये कथामात्र ही कहेंगे. उसमें जो प्रश्न और उत्तर हुए उनको सुनकर जो सूतजीने शौनकादिकों कहा यह सब पहलेसे ही व्यासके रूपमें अवतरित भगवानने मङ्गलाचरणपूर्वक एवं प्रसङ्गपूर्वक सब बातोंको समाधिमें जान ली थी और उन हृद्गत अनागत सबको श्लोकरूपसे व्यासजीने कहा. अत: सङ्गति भी असगंत नहीं है, वह भी व्यासोक्त ही है.

यहां एक शकां होती है कि समाधिभाषा होनेसे भागवतमें प्रामाण्य है तो फिर परम्परा और उपदेश तो व्यर्थ ही हैं! इस आशंकाको मिटानेकेलिये परम्परा और उपदेश ये दोनों ही सार्थक हैं इसकेलिये समाधिका निरूपण करते हुए परम्परा और उपदेशका निरूपण करते हैं:

साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ।१८ । तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका इमम् अर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारदाय सः ।।१९ ।।

ब्रह्म शुद्ध एवं साकार है और माया उनकी उत्तम शक्ति है. उस मायासे ही सर्वत्र सम्मोह होता है. मायाके उस सम्मोहसे मुक्त करानेवाली भक्ति है. इसको भगवानने ब्रह्माजीसे कहा और ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा तथा नारदजीने व्यासजीसे कहा.

अर्थात् समाधि अशेष विशेषरूप होनेसे प्रमाणभूत है. परम्परा सब विशेषोंकी ज्ञापिका न होनेसे गौण है ।।१८-१९।।

समाधिकी मुख्यतामें और भी हेतु है उसे कहते हैं:

कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम्। व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद् वाक्यं सकले प्रमा २०
अभिमानाद् नारदोक्तं न सम्यग् अवभाति हि। अतस्तदुक्तमेवार्थं समाधावुपलभ्य हि ।।२१ ।।
वैलक्षण्यं समस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चाद् इदं जगौ।

व्यासजी धर्मको ही परम कल्याणकारी जानते हैं. उन्होंने वेदका विभाग भी किया, परम शास्त्रज्ञ भी थे, महाभारत जैसे पञ्चम वेदका भी निर्माण किया, इसलिये व्यासजीको साधनों पर पूर्ण विश्वास था किन्तु स्वयं भगवान् कृष्णने उनके हृदयमें मोह उत्पन्न किया और फिर उनकेलिये जो वचन कहे वे सर्वत्र प्रमाण हैं. व्यासजीने अभिमानके कारण नारदजीकी बातको ठीक नहीं समझी इसलिये नारदजीसे कही हुई बातके परीक्षणार्थ समाधि लगाई और समाधिमें सबसे विलक्षणता इसकी जानकर पीछे इस (भागवत)को कहा.

व्यासजीको अभिमान हो गया इसलिये परम्परा दुबर्ल हो गई और समाधि मुख्य रही ।।२०-२१ १/२।।

शकां: ऐसा होनेसे मध्यमाधिकारार्थ ही होगा! इस पर कहते हैं:

रीत्या यद् अन्यया प्राह ह्यधिकारास्ततो मता: ।।२२ ।। प्रसङ्ग-साधन-फलान्याह प्रकरणे त्रये।
अन्ते मध्ये तथा चादौ.....

श्रीमद्भागवतको भगवानने कहा, ब्रह्माजीने भी कहा, किन्तु वैसा सूतजीने तथा नारदजीने नहीं कहा. उन्होने जैसा समझा वैसा कहा. अत: भागवतका अर्थ अपने अधिकार अनुसार समझमें आता है. भागवतका यदि सर्वार्थ ज्ञान करना है तो उसकेलिये मुख्यतया अधिकारकी आवश्यकता है. उसकेलिये प्रथम स्कन्धको देखना चाहिये.

प्रकरणत्रयका अन्य प्रयोजन भी है: प्रसङ्ग साधन और फल. भागवत्का प्रसङ्ग जैसे-तैसे या जहां-कहीं नहीं करना चाहिये किन्तु अनेक महापुरुष हों, वे भी शुद्ध तथा तीर्थ निवासी हों, वे भी यदि भागवतके सुननेकी प्रार्थना करें तब भागवतका प्रसङ्ग करना चाहिये. उनकी सम्भावनाको अपने ज्ञानके ज्ञापनसे दृढ़ करके तत्पश्चात् प्रसङ्ग करना चाहिये. नही तो प्रसङ्ग सफल नही होगा. जो ज्ञानाभिमानी होते हैं वे सिद्धान्तको बिना ही जाने अपनेको ज्ञानी मान लेते हैं. ऐसेको नहीं समझाना चाहिये. ऐसे लोग बिना समझे उस पदार्थको उलटा समझ लेते हैं जिससे महापुरुषोंके ज्ञानको भी अपने ज्ञानसे मिला देते हैं. इसलिये ऐसेको कभी ज्ञान न देना. व्यासजी और नारदजीके संवादमें साधनोंका निरूपण है.

साक्षात् भगवान्में प्रवेश, सब प्रकार सन्देहोंसे रहित होना, भगवानकी

कृपा प्राप्त करना, सर्वत्र निर्भय होना और परम प्रेमका होना –ये सब भागवतके फल, परीक्षित और शुकदेवजीके समागममें निरूपित हुए हैं.

अत: भागवतका प्रसङ्ग प्रथमस्न्धके अन्तमें और साधन कथन तथा इतर निराकरण मध्यमें तथा तृतीय प्रकरणमें प्रथम ही भागवतकी उत्पत्ति, प्रवृत्ति एवं भक्ति ये कहे गये हैं.

अब प्रथमाधिकारमें श्रोता कैसा होना चाहिये इस आकांक्षासे उसके विशेषण कहते हैं:

तीर्थयज्ञैर्महाञ् शुचि: ।।२३ ।। कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्सङ्गसम्भवे ।

जो तीर्थभ्रमणादिसे तथा यज्ञादिसे महान् पवित्र है और भगवान्की कृपासे सत्सङ्ग हो जाने पर प्रयत्न करके भगवान् कृष्णकी कथा पुछता है वह प्रथमाधिकारी है ।।२३ १/२ ।।

भले ही ऐसा श्रोता मिल जाय परन्तु उसे सहसा भागवत् नहीं कहनी चाहिये. पहले उसके हृदयको टटोलना चाहिये इसकेलिए व्यासजीने वक्ताकी शिक्षा देनेकेलिये जिस रीतिका निर्देश किया है उसे स्पष्ट करते हैं.

सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् ।२४। उत्कण्ठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं तत: ततो विशेषप्रश्नश्चेद् वाच्यं रीतिरियं सदा ।।२५ ।।

वक्ताको चाहिये कि यदि किसी श्रोताकी सामान्य रूपसे जिज्ञासा हो तो उसे जैसे सूतजीने प्रथम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें निवृत की उसी रीतिसे उसकी जिज्ञासाका निवारण कर दे परन्तु यदि उसकी उत्कण्ठा अधिक सुननेकी हो तो फिर कथाका प्रारम्भ करे. यदि उससे भी विशेष जिज्ञासा हो और कथाके विषयमें प्रश्न भी करे तब उसे सदा कथा कहनी चाहिये यह रीति है ।।२४–२५।।

अब वक्ताका प्रथमाधिकार कहते हैं:

वक्ताधिकारी सर्वज्ञ: सम्प्रदायेन सन्मुखात् । श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथादिम: ।।२६ ।।

जो सर्वज्ञ हो, जिसने सम्प्रदायपुरःसर सन्तके मुखसे कथा सुनी हो, भक्त हो तथा अविरक्त हो –इस तरह गुणचतुष्टययुक्त वक्ता प्रथमाधिकारी होता है.

यहां यह शंका हो सकती है कि वक्ताके अधिकारका उपयोग कहां होगा, केवल श्रोताके अधिकारसे ही कार्य सिद्धि हो जायेगी! इस आशंकाका समाधान यह है कि वक्ताका अधिकार ही मुख्य है वक्ता यदि महान् है तो श्रोता भले ही कैसा ही हो महान् हो जाता है ।।२६ ।।

यदि ऐसी बात है तो सूतजीने तो श्रीशुकदेवजीसे भागवत् सुनी थी तो

फिर सूतजीको फलसिद्धि क्यों नहीं हुई? इस पर कहते हैं:

सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्माद् न फलितं तथा। यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात् तथा ।।२७

यद्यपि सूतजीने श्रीशुकदेवजीसे कथा सुनी किन्तु सूतजीकी लोंगोंको कथा सुनानेकी वृत्ति थी इसलिये सूतजीमें उतमता नहीं आई. इससे वक्ताके अधिकारमें कोई हीनता नहीं हुई. यह भागवत् नामात्मक भगवानका रूप है उसे जो बेचता है उसे विक्रयसे अधिक फल नहीं होता अर्थात् उसके बेचनेमें जितना लाभ होता है उतना ही उसे मिलेगा उससे अधिक लाभ नहीं मिलेगा. सूतजी इसलिये हीन–प्रथमाधिकारी हैं ।।२७।।

यह तो समझमें आया कि सूतजीने भागवतका प्रयोग वृत्तिकेलिये किया था इसलिये वे हीन–प्रथमाधिकारी हुए किन्तु ब्रह्माजीसे नारदजीने भागवत् सुनी तो फिर नारदजीमें उतमता क्यों नहीं आई? उस पर कहते हैं.

नारदस्याधिकारित्वात् कार्यावेशात् तु सर्वतः। न वैराग्यं दृढं जातं तेन मध्यम इर्यते ।।२८।।

नारदजी यद्यपि उत्तमाधिकारी थे परन्तु सर्वत्र उनमें कार्यका आवेश रहता था इसलिये वैराग्य दृढ न हो सका इस कारण उनको उत्तमाधिकारी नहीं कहा है. यद्यपि ज्ञान तो पूर्ण था किन्तु वैराग्यका अभाव था इसलिए मध्यमाधिकारी हुए.

भागवतके जो तीन वक्ता हैं उनमें सूतजीको तो केवल शब्द ज्ञान था, और नारदजीको भागवतका ज्ञान अर्थतः था, तथा श्रीशुकदेवजीको वैराग्य युक्त भागवतका ज्ञान था.

भगवानका आवेश श्रीशुकदेवजीमें ही था इसलिये उनमें वैराग्य था. यदि वैराग्य न होता तो श्रीशुकदेवजी ज्ञानसे विक्षिप्त हो जाते.

प्रमाणबलसे प्रमेयबल अधिक होता है इसलिये भगवानकी इच्छासे नारदजीमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ. और भागवत् तो अपनी उत्पत्तिमें बता गये फलसे अधिक फलको सिद्ध नहीं करता. अत: अधिकारमें भिन्न रूपसे वैराग्य कहा. परीक्षितमें वैराग्यकी सिद्धि हो इसीकेलिये सातसे लेकर अठारह तक बारह अध्यायोंका निरूपण किया तब ही परीक्षित अधिकारी हुआ. अतएव नारदादिका भी प्रवेश श्रोताओंमें ही होता है. इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैराग्यका संपादन करके ही भागवत् सुननी चाहिये तभी अधिकार सफल होगा. वैराग्यमें जो हेतु दोषदर्शन है उसके रहने पर भी नामविक्रय और अधिकार ये दो वैराग्यमें रुकावट डालनेवाले हैं ।।२८ ।।

जब नामविक्रय एवं अधिकार ये दो प्रतिबन्धक नहीं होंगे और श्रवणकी

आवृत्ति भी की जायेगी तो वैराग्य भी हो जायेगा इस आशयसे कहते हैं:

शुके पूर्वोक्तद्वितयं नास्ति तेनोतमः स्मृतः। दृढभक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ।।२९।।

शुकदेवजीमें नामाविक्रय एवं अधिकार ये दोनों ही नहीं थे इसलिये वे उत्तम माने गये हैं.

शंका: यदि शुकदेवजी उत्तमाधिकारी थे तो व्यासजीसे जब भागवत् सुनी उसीके अनन्तर परमभक्ति होनेसे शीघ्र ही भगवान्में प्रविष्ट क्यों नहीं हो गये? समाधान: भक्तोंके लयमें भगवान्की कथा ही रुकावट डालनेवाली है ।।२९।।

भागवतके द्वारा शीघ्र मुक्ति होनेमें ओर भी प्रतिबन्धक हैं उनका निरूपण करनेकेलिये कहते हैं:

यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैव सङ्ग्रहात्। वक्तुः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके।।३०
दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तेन मोक्ष्यते। स्वतस्तर्कपरिज्ञानाद् अवताराच्च मध्यमः ।।३१
नानासाधनविज्ञानात् संवादाद् नारदप्रमा। शुकोक्तिमात्रतस्तस्य निःसंदेहात् फलं भवेत् ।।३२
तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे।

भागवतके सुननेके अनन्तर भी शौनकजीको वैराग्यादिक नहीं हुए उसमें तीन कारण हैं: शौनकजीकी यज्ञोंके करनेमें आसक्ति थी, शिष्योंका संग्रह करते थे शिष्य बनाते थे, और तीसरा हेतु ''सूतजीसे मैं अधिक हूं'' ऐसा ज्ञान था.

तो फिर शौनकजीका भागवत् सुनना व्यर्थ ही रहा? इस आशंकाका उत्तर देते हैं. शास्त्रीय ज्ञान तो उनका दृढ था ही उस ज्ञानसे ही उनकी भगवानमें परम साध्यरूप भक्ति हो गई. तदन्तर भगवान्की कृपासे भक्तिसे युक्त कर्मके द्वारा ही मुक्त हो जायेंगे.

शंका होती है कि व्यासजीमें वैराग्य तो था नहीं, नारदजीमें भी नहीं था; तो फिर व्यासजीको प्रथमाधिकारीमें क्यों नहीं गिना गया? इसका उत्तर यह है कि व्यासजीमें वैराग्य न होने पर भी प्रथमाधिकारीसे दो बात अधिक थी. एक तो व्यासजीको तर्कके द्वारा स्वतः परिज्ञान था और मूलमें वे भगवान्के ज्ञानावतार थे इसलिये व्यासजीकी गणना मध्यममें की गई है. उत्तम तो वे इसलिये नहीं थे कि उन्हें नाना साधनोंका विज्ञान दृढ था और इसलिए नारदजीका उपदेश उनकेलिए दुर्बल था. जब समाधिके द्वारा नारदजीकी कही बात ठीक निकली तब उसको प्रमाण माना, इससे उनकी मध्यमता हुई. परीक्षितमें ये कोई दोष नहीं थे. केवल शुकदेवजीके उपदेशके सुनने मात्रसे ही उनका सन्देह निवृत्त हो गया और भागवत् सुननेका फल उन्हें मिल गया. परीक्षितका वैराग्यादिक यहां स्पष्ट नहीं हुआ है

अत: उसे उत्तमाधिकारीके प्रकरणमें कहेंगे ।।३० – ३२।।

शंका होती है कि सूतजीने तो सम्पूर्ण भागवतको कहा है फिर तीन ही अध्यायमें प्रकरणकी समाप्ति कैसे हुई ? इस पर कहते हैं:

स्वाधिकारनिरूपणार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम् ।३३। कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम् ।

सूतजीने दो बातें कहीं, स्वतन्त्र रूपसे दो अध्याय कहे. उनमें उन्होंने अपने अधिकारका बोध करा दिया. और बाकीका कथन तो भागवत् रूपसे उन्होने कहा. उनमें उन्होंने मुख्य रूपसे कथाक्षेपका निरूपण किया. उससे उन्हीने प्रथम प्रकरणको पूर्ण कर दिया. कथाको समाप्त नहीं किया. उनका अधिकार तीन अध्यायोंमें सम्पन्न हुआ.

अधिकारस्तु सम्पन्नः कथा पश्चाद् भविष्यति ।।३४।।

निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुपूर्वम् उदीरिते । सूतेन नाधिकारेण द्विरूपत्वम् अतस्तयोः ।।३५।।

सूतजीका अधिकार तो तीन अध्यायोंमें पूरा हो गया, कथा तो पीछे होगी. भागवतकी उत्पत्ति तथा उसके प्रचारको हेतु पूर्वक कहा. सूतजीने जो कहा वह अधिकारसे नहीं कहा अतः उनमें द्विरूपता है.

यहां यह शंका होती है कि जैसे सूतजीने अपने अधिकारके प्रकरणकी कथा कही उसी तरह मध्यम प्रकरणमें भी वक्ता सूतजी ही थे तथा उत्तममें भी वे ही वक्ता थे. अत: सूतजीमें मध्यमता तथा उत्तमता क्यों नहीं हुई? द्वितीय प्रकरणमें निष्पत्ति(हेतु)का निरूपण है और उत्तममें निष्पत्ति और प्रवृत्ति दोनों हीका निरूपण है. सूतजीने जो इनका निरूपण किया है वह भागवतका अगं होनेसे ही किया है, उन्होंने अपने अधिकारसे निरूपण नहीं किया है. अत: सूतजीमें मध्यमता तथा उत्तमता नहीं आती. तो फिर यह प्रश्न उठता है कि इस तरहसे तो नारदजीमें मध्यमता और शुकदेवजीमें भी उत्तमता नहीं होगी! इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उनमें द्विरूपता थी. जब दूसरेकी बात कहते हैं उस समय वे अनाधिकारी और स्वयं जब कहते हैं तब तो उनमें अधिकारिता सिद्ध होती है. इसलिये सूतजीके कथनमें और नारदजीके कथनमें मध्यम और उत्तम प्रकरणमें द्विरूपता है ।।३४–३५।।

मध्यम प्रकरणेमें तीन अध्याय क्यों हैं ? उस पर कहते हैं:

मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतूक्त्यैव निरूपितम् । अनिष्पत्तेराद्यवच्च प्रश्नोत्तरनिरूपणम् ।।३६।।

नारदजी व्यासजीको भागवत् समझानेकेलिए नहीं आये थे. वे जानते थे कि व्यासजी मेरेसे उत्तम हैं किन्तु व्यासजी जिस तरह भागवतको कहें उसकेलिए

हेतु कहते हैं इसलिए भागवतसे उनने जिस अर्थका निर्धारण किया उसीसे उनका अधिकार जाना जाता है. तथापि एक यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि प्रथम अधिकारकी तरह इसके भी तीन अध्याय कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि अभी तो भागवतकी निष्पत्ति(उत्पत्ति) नहीं हुई है. जब भागवत् व्यासजीके मुखसे होगी तब ही अधिकार निरूपण हो सकता है. अब तक भागवत् उत्पन्न नहीं हुई इसलिये पूर्वकी तरह ही मध्यम प्रकरणके भी तीन ही अध्याय हैं. इसमें विभाग भी पूर्ववत् हैं. इन तीन अध्यायोंमें प्रश्नोत्तर है. एक अध्यायमें प्रश्न और दो अध्यायोंमें उत्तर है. परन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि प्रथमाध्यायमें प्रश्नका हेतु है और द्वितीयके आरम्भमें प्रश्न है ।।३६।।

शंका करते हैं कि उत्तमाधिकारके प्रथम अध्यायमें पूर्ववत् ही उत्तर कहना चाहिये. उस पर कहते है:

उत्तमे प्रश्न एवाद्ये स्कन्धे श्रोत्राधिकारकृत् । स्पष्टत्वान्न विशेषेण वक्तुरुक्ताधिकारिता ।।३७
सामान्यमङ्गकथनमेकोक्त्यैवोक्तवान् शुकः । सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्न आद्ये द्विधा मतः
अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तम् उत्तरे सूचितं परम् । सम्पूर्णेनैव सर्वोषाम् उत्तरं सम्भविष्यति ।।३९।।

उत्तमाधिकारमें प्रथमस्कन्धमें प्रश्न श्रोताके अधिकारको करनेवाला है. स्पष्ट होनेसे विशेष रूपसे वक्ताका अधिकार नहीं कहा. शुकदेवजीने एक ही साथ सामान्य अङ्गका कथन कर दिया. आद्य स्कन्धमें सामान्य और विशेष इस भेदसे प्रश्नके दो प्रकार माने गये हैं. सब उत्तर सम्पूर्ण ही होगा.

उत्तर तो द्वितीय स्कन्धमें ढाई अध्यायोंसे कहा जायेगा. उसीसे अधिकार होता है. अर्थात् शुकदेवजी जब पधारे तो नारदजी और व्यासजी आदि सब उठकर खड़े हो गये. अत: बिना ही उत्तरके कहे वक्ताका उत्तमाधिकार सिद्ध हो गया, इसलिए कहनेकी आवश्यकता नहीं हुई. अतएव द्वितीय स्कन्धके चौथे अध्यायमें मङ्गलाचरण है. उत्तमवक्ताका अधिकार भी भगवान्के चरित्रके ही अनुरूप है, अतः वह भी भागवतके समान है. इसलिए उसका निरूपण प्रथम स्कन्धमें नहीं किया. क्योंकि श्रोताका ही अधिकार मुख्य रूपमें अधिकार शब्दसे निरूपण करना चाहिये. व्यावहारिक अधिकार तो स्पष्ट ही है. अतः उसके निरूपणकी आवश्यकता नहीं है. तो फिर विशेषाधिकारकी क्या गति होगी? इस आशंकाका उत्तर देते हैं कि शुकदेवजी उत्तररूपसे भागवतको कहते हुए सबसे पहले एक स्कन्धमें अङ्गोंको कहा, उसमें अङ्गतामें स्वयंका अधिकार भी आ जाता है अतः उसे दो अध्यायोंसे कहा. दो अध्यायोंमें कहनेमें हेतु तो सामान्य

और शेष प्रश्न ही है. शंका होती है कि तब भागवतको यहीं समाप्त कर देना था! उतने ज्ञानसे ही उत्तमता सिद्ध हो जायेगी फिर विस्तारकी आवश्यकता क्या? इसका उत्तर यह है कि प्रश्नोंके उत्तरमें सम्पूर्ण ही भागवत् होगी ।।३७-३९ ।।

यह आपने कैसे जान लिया कि प्रथम स्कन्धके प्रश्नोंका ही उत्तर पूरे भागवतमें है ? इस पर कहते हैं:

अतएव समस्तस्य प्रश्नाध्योऽयम् ईरितः । भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र षडर्था भगशब्दगाः ।।४०।।
तस्मात् षडेव सम्प्रश्ना अभिनन्दस्तथैव यत् । ज्ञानवैराग्यधर्माणामैश्वर्यशसोः श्रियः ।।४१।।
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्वान् इहोच्यते । चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरै ।।४२।।
ऐश्वर्यधर्मयो रूपम् अन्येषां प्रथमे जगो ।।४२ १/२ ।।

इस भागवतमें प्रथमाध्याय प्रश्नाध्याय है और समस्त भागवत् उसका उत्तर है. इस भागवतका प्रतिपाद्य भगवान् ही हैं. 'भग'शब्दके ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य वीर्य यश और श्री ये छः अर्थ है. अर्थात् इन छःका समुदाय 'भग' कहलाता है. भगवान् कृष्णमें ये ही छः अर्थ विद्यमान् हैं और भागवत्में भी ये ही छः अर्थ हैं. यदि ये न होते तो भागवतकी प्रवृत्ति व्यर्थ हो जाती. वे छः प्रश्न प्रथमाध्यायमें स्पष्ट हैं. इसलिए उसका अभिनन्दन किया. चारका प्रथम अध्याय तथा दोका दूसरे अध्यायमें कथन है.

सभी कृष्णविषयक ही प्रश्न हैं. अतः कृष्ण ही लीला रूपसे सर्वत्र वर्णित हैं. इससे ग्रंथकी संगतिका निरूपण भी हो गया. भागवतमें बारह स्कन्ध हैं और ऐश्वर्यादि धर्म तो छः हैं अतः दो-दो स्कन्ध एक-एक धर्मको कहा है.

प्रथम एवं द्वितीय स्कन्धमें ज्ञानका कथन है. ३.सर्ग एवं विसर्ग ४.स्कन्धमें वैराग्यका कथन है. दो प्रकारके धर्मका ५.स्थान और ६.पोषण स्कन्धमें कथन है. ऐश्वर्य पह्लाद और मनु आदिसे सप्तम - अष्टम स्कन्धमें सूचित किया है. नवम और दशम स्कन्धमें यशका प्रतिपादन है और श्रीका प्रतिपादन ग्यारहवें तथा बारहवें स्कन्धमें है. वहां भगवान्का स्वरूपसे रमण सिद्ध होता है. अथवा इन दो-दो स्कन्धोंमें ऐश्वर्य आदिका जो क्रम है ''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रीयः. ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीरणा'' इस क्रमसे उपपादन करना. ऐसा होने पर सूतजीने अपने अधिकारकी सिद्धिकेलिये जैसा उत्तर दिया उस तरहका विभाग बताते हैं.

सूतजीने प्रथम अध्यायमें चार प्रश्नोंका उत्तर दिया. अथवा तीनका समान रूपसे. टीकामें उसका कथन है. कृष्णके सहित दो प्रश्नोंका उत्तर द्वितीय

अध्यायमें दिया. इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रति प्रश्नका तथा सभी प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए ।।४० – ४२ ।।

अध्यायका अर्थ समूह होता है. सर्वत्र इस बातको बतानेकेलिए वाक्यार्थोंका संग्रह करते हैं:

मङ्गलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसङ्गः सूतसंस्तुतिः ।।४३ ।।
प्रश्नः साधारणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः। कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ।।४४।।
प्रयोजनक्रियारूपैः विद्यमानविमोचकः । श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात् कृताः ।।४५।।
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं च स्वयोग्यताम् । पूर्वम् आह ततः प्रश्नं प्रथमाध्यायसंग्रहः ।।४६ ।।

प्रथम श्लोकका अर्थ मगंल है फिर दो श्लोकोंसे भागवतका उत्कर्ष तथा प्रसङ्ग, तीन श्लोकोंसे सूतकी स्तुति, एक श्लोकसे प्रथम प्रश्न, ढ़ाई श्लोकोंसे हेतुका प्रश्न, पहला प्रश्न धर्म परक और दूसरा प्रश्न ज्ञानपरक है. फिर कृष्णके विषयमें चार प्रकारके प्रश्न हैं. ऐसा होनेसे धर्मपरक प्रश्न तथा ज्ञानपरक प्रश्न कृष्ण विषयक नहीं होंगे ? इसके समर्थनकेलिये कहते हैं कि इसमें केवल मार्गभेद है अर्थभेद नहीं हैं. कृष्णके विषयमें चार प्रकारसे प्रश्न है और वेदके विषयमें दो प्रकारसे प्रश्न है. भगवान् कृष्ण चतुमूर्ति हैं और वेदके काण्डद्वयार्थ रूप भी हैं. इसलिये दो प्रकार हैं. इसलिये छः भेद ऐश्वर्यादि गुणोंके पर्याय हैं वे यहां पूछने योग्य हैं. इनके जान लेनेसे सब जान लिया जाता है. कृष्णके विषयमें जो चार प्रकारके प्रश्न हैं उनके भी दो रूप हैं: प्रयोजन क्रियारूप और विद्यमान विमोचक. कृष्णके जन्मके प्रयोजनका प्रश्न, क्रियाविषयक प्रश्न, रूपोंका प्रश्न इन तीनका एक ही प्रश्न क्यों किया ? उसका हेतु बताते हैं ''विद्यमानविमोचकः'' भगवान्ने अवतार लेकर योगियों, ज्ञानियों और भक्तोंको मुक्त किया. वास्तवमें तो भगवान्का अवतार भक्तोंको ही मुक्त करनेकेलिये है. इसलिये प्रथम तो सृष्टि आदि क्रियासे तो ज्ञानियोंको मुक्त किया; रूपसे योगियोंको मुक्त किया और उनके अन्दर जो अविहित भक्त है उनकी मुक्ति की.

चतुर्थ प्रश्न जो ''ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्माणि, स्वकाष्ठा मधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः'' अलग है. वह भी तुल्य बलवाला ही है. इसलिये कहा कि आगे मुक्ति किससे होगी उसमें अधिकार कहना चाहिये इसकेलिये अपना अधिकार कहते हुए अपनी योग्यताको बताते हुए प्रश्न किया इस तरह प्रथम अध्यायका सग्रंह है ।।४३–४६ ।।

इति प्रथामाध्यायः

अब द्वितीयाध्यायका संग्रह करते है:

उत्साहसङ्गतिः प्रहवः शास्त्रारम्भोपदेशनम्। प्रश्नाभिप्रायकथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ।।४७ ।।
पञ्चभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः। एंव वेदार्थनिर्धारि श्लोकाः सप्तदश स्मृता ।।४८ ।।
धर्मज्ञानार्थनिर्धारात् श्र वणादिभिरादरात्। प्रेमोत्पत्तौ हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेद् इति ।।४९ ।।
जन्मकारणलीले च सप्तभिःपञ्चभिर्व्यर्धात्।भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिःक्रमादेव तयोःफलम्
सत्वनिर्धारणे पञ्च गुणातीते द्वयं स्मृतम्। विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ।।५१
सामान्यतोऽस्य मूलत्वकथनाय विशेषतः।नोक्तंस्वरूपाविज्ञानात्फलवाक्यंमृषाभवेत्।।५२
अतस्तदुक्त्वा पश्चात्तु कुन्तीवाक्ये वदिष्यति। उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे ।।५३ ।।
पूर्वं पञ्चविद्या लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ।।

अब प्रथम स्कन्धके द्वितीय अध्यायका संग्रह कह रहे हैं. उसमें पहले श्लोकसे सूतका उत्साह तथा कथाके कहनेका प्रयोजन कहा है. तदनन्तर दो श्लोकोंसे शुकदेवजीको नमस्कार, फिर एक श्लोकसे शास्त्रारम्भका उपदेश. इसके अनन्तर अभिनन्दन कहा. इसके अनन्तर स्वयं ही श्लोक विभागोंको कहते हैं. पांच श्लोकोंसे पूर्व निर्धार कहा क्योंकि कर्म पांच प्रकारके है. इससे वेदके पूर्वकाण्डका कथन किया. फिर बारह श्लोकोंसे वेदके उत्तरकाण्डका कथन है. इस तरह सत्रह श्लोक कहे.

वेदमें पुरुषको बारह प्रकारका कहा है 'पुरूषो द्वादशविधः' अर्थात् तत्त्व विचारमें बारह ही प्रकार हैं. इतना ही वेदका अर्थ है. श्रुतिमें कहा है 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' वेदार्थमें सत्रह श्लोक परिनिष्ठित है. वेदमें उससे अधिक गति नहीं है यह इससे सूचित होता है. इस तरह वेदके द्वारा जो कर्म (धर्म)का और ज्ञानका निरूपण किया उसका निमित यह है कि इनके द्वारा ज्ञान और धर्म का निर्धार हो जानेसे प्रजापति मात्रत्व अर्थात् यज्ञात्मकता हो जाती है. तभी भागवत् श्रवणादिक होता है. भगवान्के श्रवणकेलिये ही पहले वेदके उन दोनों कांडोंका निरूपण किया. तब आदरके साथ श्रवणादि करने पर प्रेमकी उत्पत्ति होती है. प्रमोत्पत्तिके अनन्तर भगवान् प्रसन्न होते हैं तब फिर भगवान्के अवतारादि होते हैं. जन्मकारणके निर्धारमें सात श्लोक हैं और लीलामें पांच श्लोक हैं. इनका प्रयोजन यह है कि जन्मके द्वारा भक्तोंका उद्धार होता है और लीलासे भक्तिसिद्धि होती है. जन्मकारणके निर्धारणके सात श्लोकोंमें दो भेद हैं. पांच श्लोक तो विचारक हैं. विचारका उपयोग है विशेष भक्तिकी सिद्धि होना. अन्य प्रयोजन भी कहते हैं ''सामान्यतो अस्य मूलत्वकथनाय विशेषतः''. शंका होती है कि

शौनकजीने तो कृष्णवतारमें प्रयोजन पूछा था तो फिर सूतजीने सामान्य अवतारके प्रयोजनसे उत्तर क्यों दिया? उसकेलिये कहा कि विशेषसे उत्तर नहीं दिया क्योंकि शौनकजी कृष्णस्वरूपसे अनभिज्ञ थे. जब स्वरूप जानें तभी तो उनके जन्मका हेतु बताना चाहिये. यदि स्वरूप ज्ञानरहितकेलिये जन्मका प्रयोजन कहा जाय तो बिना हेतुके जैसे फल व्यर्थ है उसी तरह फलवाक्य भी उसकेलिये व्यर्थ है. अतःपहले तो स्वरूप कहा फिर वह स्वरूप समझमें आया या नहीं इसका निश्चय करके फिर श्रद्धाके अतिशयसे उसकी जानकारी प्राप्त की, उसके बाद कुन्तीके वाक्यसे उसे ''केचिद् आहुरजं जातम्'' इत्यादिसे कहा. लीला पांच प्रकारकी है. इसे स्पष्ट करते हैं ''उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे''. अवतारके पूर्व स्वरूपस्थित भगवानकी लीला पांच प्रकारकी है: १. उत्पादन २. प्रवेश ३. नानात्व ४. भोग और ५. रक्षण. अवतार ग्रहण करनेके अनन्तर तो अनेक प्रकारकी लीलाएं हैं, उन्हें अग्रिमाध्यायमें कहेंगे. बस इतना द्वितीयाध्यायका अर्थ है. इससे श्रोता मात्सर्य रहित है और वक्ता चतुर है यह सिद्ध होता है.

इति द्वितीयाध्यायः

अब तृतीयाध्यायके अर्थको कहते हैंः

आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्वशरीरगः ।।६४।।
अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्णएव हि। ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः ।।६६।।
वराहादि–स्वरूपेणा बलकार्यं जनार्दनः। दत्त–व्यासादिरूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः ।।६५।।

मध्यमें नारद आदिको आवेशावतार बताया इसलिये उसमें और अविर्भावमें कोई अन्तर होगा ऐसा नहीं है. अर्थात् आविर्भाव और अवतार समान ही हैं. जैसे महाराज अपने देशमें घूमता हुआ अपनेलिए बनाये हुए घरोंमें रहता है, कभी अपने घरमें भी रहता है. अतः जब तक अपने लिये बनाये हुए घरमें राजा रहता है तब तक वह घर भी राजगृह कहलाता है इसलिये अपने लिये निर्मित घरमें रहनेमें अथवा अपने घरमें रहनेमें कोई अन्तर नही होता. उसी तरह आवेश और अवतारमें कोई अन्तर नहीं है. शरीर चाहे शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो उसमें निवास करनेवाले निर्गुण कृष्ण ही हैं. स्पष्ट प्रतीतिकेलिये विभाग करते हुए अवतारमें दो भेद बताते हैं: एक तो ज्ञानशक्तिसे अवतार ग्रहण करते हैं और द्वितीय क्रियाशक्तिसे. क्रियाशक्तिसे ग्रहीत अवतार बाहरी दुःखोंको दूर करता है और ज्ञानशक्तिसे गृहीत अवतार आन्तर दुःखोंके निवारणार्थ है. वराह, कूर्म, नृसिंह आदि भगवान्के क्रिया स्थान हैं और दतात्रेय, व्यास, कपिल आदि भगवान्के

ज्ञान स्थान हैं. अर्थात् बलकार्य जब करना होता तो वराह कूर्म नृसिंह रूपमें अवतार लेते हैं और ज्ञान कार्य करना होता है तब दतात्रेय, व्यास, कपिल आदि रूपोंमें अवतार ग्रहण करते है.

अब अवतारोंको साढे तीन श्लोकोंसे गिनाते हैं.

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च सिंह–वामन–भार्गवाः। मन्वन्तरावताराश्च व्यास–बुद्धौ च राघवः ।६७
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः । नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ।।६८।।
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् । तथैव वडवावक्त्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ।।६९।।
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्वेन केवलः ।

मत्स्य कूर्म वराह नृसिंह वामन पशुराम मन्वन्तरावतार व्यास बुद्ध रामचन्द्र कपिल दतात्रेय ऋषभ शिशुमार रुचिपुत्रस–हंस मोहिनी हयग्रीव वडवावक्त्र कल्कि धन्वन्तरि इत्यादि केवल अवतार हैं और कृष्ण शुद्धसत्वसे केवल अवतार हैं.

इनमें जो अवतार भागवतमें नहीं कहे हैं किन्तु पञ्चरात्र आदि आगमोमें कहे हैं उन्हें भी यहा प्रकृतोपयोगी होनेसे गिनाया है ।।५७–५९ ।।

अब साढे चार श्लोकोंसें जिनमें भगवान्का आवेश है उन आवेशियोंका निरूपण कहते हैं:

श्री–ब्रह्म–रुद्र–शेषाश्च वीन्द्रेन्दौ काम एव च ।।६० ।।
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः । धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा।।६१।।
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा । कश्यपः सनकाद्याश्च वह्न्याद्याश्चैव देवताः।।६२।।
भरतः कार्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः । गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः।।६३।।
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः । नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः।।६४।।

श्री ब्रह्मा रुद्र शेष गरुड इन्द्र और काम कामपुत्र–अनिरुद्ध सूर्य चन्द्र बृहस्पति धर्म तथा इनकी भार्या, दक्ष आदि मनु, मनुपुत्र ऋषिनारद पर्वत कश्यप सनकादि, अग्नि आदि देवता, भरत कार्त्तवीर्य पृथु आदि चक्रवर्ती राजा गय लक्ष्मण आदि तीन, बलभद्र प्रद्युम्न रुक्मिणीपुत्र तथा उसका पुत्र अनिरुद्ध नर–अर्जुन ये भगवान्के विशेष आवेशवाले हैं ।।६०–६४ ।।

साधारण रूपसे निरूपित कृष्णकी विशेषताको कहते हैं: भगवान् कृष्ण ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे युक्त हैं.

ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे युक्त कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं.

सामान्य प्रयोजनोक्तिसे लेकर भागवत्की उक्तिके पहले चार अर्थोंका निरूपण किया था उसका प्रयोजन कहते हैंः

माहात्म्यज्ञापने मुक्तिः तदर्थं बन्धनिर्णयः ।।६५।। नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः। विवृतिस्तस्य पूर्वैर्हि कृता येनादिमध्ययोः।६६। भक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणाम्।

उसमें माहात्म्यको बताया है और भागवतके सुननेका माहात्म्य बताया है. मुक्तिके स्वरूपकी सिद्धिकेलिए बन्धका निर्णय किया है. भजनकी सिद्धिकेलिए भगवानकी नित्यता, दुर्ज्ञेयता कही गयी है.

भगवानकी नित्यता और दुर्जेयताका विवरणरूप ही भागवत् है. जो उत्तम हैं उनकेलिए तो भागवतको संक्षेपसे कहें तो भी भक्ति हो जायेगी. किन्तु आदि और मध्यम को भक्ति नहीं होगी इसलिये विवरण है. तत्क्षेपका अर्थ है उसे हम कहेंगे यह प्रतिज्ञा है.

गुह्यज्ञान वक्ताका तृतीयाधिकार है. उसमें भी आदर सहित द्वितीय अधिकार है. यहां अध्यायकी और प्रकरणकी पूर्ति हो गई ।।६५-६६।।

द्वितीय प्रकरण:

अब साढ़े तेरह कारिकाओंसे द्वितीय प्रकरणके अर्थको कहते हुए पांच कारिकाओंसे इस प्रकरणका उपोद्घात है. इसे सूतकी उक्तिसे समर्थित करते हैं. पूर्वपक्ष द्वितीय प्रकरणका हेतुभूत है अतः विरोधिताके अभावकेलिए हर्ष भी कहना चाहिये उसे कहते हैंः

पूर्वं सम्भावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ।।६७।।

ग्रन्थोऽप्यस्तीति तच्छ्रुत्वा शौनकौ हर्षसम्प्लुतः। स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां पाठाध्यापनयोरपि।।६८।। अयुक्तत्वात्तु सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः। श्रोतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम्।। स्वतएवोत्तमत्वाच्च कृष्णानुग्रहणादपि। अतस्तज्जन्मसम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसंगतः।।७०।। प्रश्नत्रयेथ सम्पन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम्। उपोद्घातो हेतुरूपस्त्रयाणां रूपमेव च।।७१।। मध्यमोऽयम् उपोद्घातः फलपर्यवसानतः।

जब भगवान् कृष्ण स्वधाम पधार गये तब धर्मका रक्षक कौन रहा? ऐसा प्रश्न शौनकजीने सम्भावना मात्रसे ही पूछा था. परन्तु इसकेलिए भागवत् ग्रन्थ है ऐसा जब सुना तो उन्हें हर्ष हुआ जैसे जगत्के लोग अपनी रुचिके अनुसार किसी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं यदि उसका समर्थक शास्त्र मिल जाय तो उन्हें प्रसन्नता होती है. अर्थात् यह मैंने किया तो रुचिके अनुसार था किन्तु यह तो शास्त्रसिद्ध है ऐसा ज्ञान हो जाने पर प्रसन्नता होती है.

सर्व प्रथम तो ''सूत सूत महाभाग'' इससे स्वरूप विषयक प्रश्न है एवं ''कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयम्'' इससे भागवतकी उत्पत्तिके विषयका प्रश्न है. और ''केन सञ्चोदितः'' इससे हेतुविषयक प्रश्न है. इस तरह इन तीन प्रश्नोंके अनन्तर फिर तीन प्रश्न हैं: १.शुकदेवजीने भागवतको कैसे पढा और २.व्यासजीने उसको कैसे बढाया तथा ३.परीक्षितके प्रायोपवेशका क्या कारण था.

परीक्षितके विषयमें जो पहले जाना था वह है या नहीं ऐसा सन्देह करके परीक्षितके प्रश्न और कर्मके विषयका प्रश्न इस तरह ये चार प्रश्न हो जाते हैं.

शंका होती है कि भागवतको ही पूछना चाहिये ये अन्य प्रश्न तो अनुपयुक्त है. इस पर कहते हैं कि उत्पत्ति तथा प्रवृत्तिमें जो युक्तिविरुद्ध होगा तो उसके सुनने पर स्वयंको भी वैसा फल नहीं होगा इसलिए प्रश्न है. यदि ऐसा मानलें कि जैसा फल होनेका हो वैसी कल्पना कर लीजिये, इसकेलिये कहते हैं कि अर्थ लौकिक है अतः अलौकिककी तरह अपनी इच्छासे इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है.

भागवतके श्रोता हैं राजा परीक्षित्. उन्होंने जब सर्वस्वका परित्याग कर दिया तब उन्हें अब भागवत् सुननेकी आवश्यकता क्यों रही? क्योंकि वे तो स्वयं ही उत्तम हैं और उनके ऊपर भगवान् श्रीकृष्णका अनुग्रह है. श्रोता परीक्षित् तो आत्माको ही फलरूप मानते है और उस फलमें बाधक विषय हैं. उनका तो उन्होंने पहले ही परित्याग कर दिया है. वे यह समझते थे कि सब शास्त्रोंका कथन यही है कि आत्मज्ञानरूप फलमें विषय बाधक है. इसी तरह वक्ता श्रीशुकदेवजी जो स्वतः ही विषयोंसे निवृत्त है उनकों भागवतके पठनकी क्या आवश्यक्ता है? और भागवतके वर्णनकी तो सर्वथा ही आवश्यकता नहीं थी! यदि कहें कि भगवानके उपदेश करनेसे उनमें उत्कर्ष होगा तो वह भी नहीं है. शुकदेवजी तो स्वयं ही उत्तम हैं. वे तो जन्मान्तरमें भी सर्वोत्तम पूर्णज्ञानवान् थे अतएव यज्ञोपवीत संस्कारकी भी आवश्यकता नहीं थी. वैसे वक्ताकेलिये भागवतसे क्या होगा? भगवानका अनुग्रह भी उनकेलिये स्वतः था. अर्थात् श्रोता और वक्ता दोनों ही उत्तम कोटिके और भगवदनुग्रह प्राप्त थे.

परीक्षितके ऊपर भगवानकी कृपा थी इसे स्पष्ट करनेकेलिये उसके जन्मके विषयमें प्रश्न किया. भक्तोंके ऊपर तो भगवत्कृपा है यह प्रसिद्ध है.

मुख्यरूपसे तो भागवतके विषयमें स्वरूप, उत्पत्ति और हेतु ये तीन प्रश्न हैं अन्य प्रश्न तो उसके जान लेने पर ही जान लिये जायेंगें. अतः तीन ही प्रश्न हैं.

प्रथम प्रश्नका उत्तर द्वितीय स्कन्धमें होगा. यहां तो 'कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयम्' इसका तथा 'कुतः सञ्चोदितः' इनका उत्तर कहा जाता है. उसमें भी तीसरेका निरूपण अभी किया जायेगा, प्रवृत्तिका प्रकरण आगे कहेंगे. इससे एक-एक उत्तर एक-एक प्रकरणको ग्रहण करता है.

किसकी प्रेरणासे? इसका उत्तर है: नारदजीकी प्रेरणासे. उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की इसका निरूपण एक अध्यायमें है. उसके अनन्तर युक्ति, उसके बाद प्रेरणा हेतु रूपको उपोद्घातरूपसे वर्णन करते हैं. इसलिये हेतुका भी विचार करना है. नारदके बोधनमें कौनसा प्रसङ्ग है, उसका क्या प्रोजन है और नारद कौन है -इन तीनको कहना चाहिये. शंका करते हैं कि भागवतमें इसका उपयोग परम्परासे होता है अतः यह प्रथमाधिकार ही क्यों नहीं है? उसका उत्तर देते हैं कि यह मध्यमाधिकारका उपोद्घात है.

इस तरह पांच कारिकाओंसे मध्यम प्रकरणके उपोद्घातका समर्थन किया अब डेढ़ कारिकाओंसे अध्यायार्थोंको कहते हुए मध्यम प्रकरणके प्रथमाध्यायको यह प्रेरणाका हेतु है, इसका उपपादन करते हैं और नारदजीके कथनका प्रसङ्ग बताते हैं ।।६७ - ७१।।

अध्याय ४.

यद् वाक्यात् सर्वविश्वासः फले तस्य विपर्ययः ।।७२।।

कलौ फलं तदुक्ते किमित्यनिर्वृतिवर्णनम्। उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ।।७३।।

यह चतुर्थ अध्याय प्रश्नका अध्याय है और मध्यम प्रकरणका अङ्ग है. प्रकरणके आदिमें प्रश्नका होना अध्यायके अर्थका बाधक नहीं है.

नारदजीके वचनसे व्यासजीको पूर्ण विश्वास हो गया कि नारदजीने जो कहा वह सब मैने किया. फलमें तो विपरीतता हुई है. क्या कलियुगमें जैसा नारदजीने कहा उससे फल होता है? इसलिये व्यासजीके असंतोषका वर्णन है. उत्तर और कृति ये पञ्चमाध्यायका अर्थ है. साधन सहित नारदका फल छठे अध्यायमें है ।।७२-७३।।

शंका करते हैं कि ऐसा होने पर मध्यम प्रकरणमें श्रोता और वक्ता का कौनसा अधिकार सिद्ध हुआ? इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं:

तदीयत्वं च तत्त्वं च मध्यमोत्तमयोः फले। सत्सङ्गो ज्ञान-विज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ।।७४।
उक्तस्यानुभवान्तत्वं वर्णितं नारदेन हि। 'शब्दब्रह्मणि निष्णातो' न परस्नानतः पुरा ।।७५।।
फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम्। श्रोतुः फलं नावतारात् अवतारफलं फलम् ।।७६।

तदुक्तम् अन्यशेषत्वाद् उत्तरत्र न मध्यमे।

मध्यमाधिकारमें भगवदीय होना फल है और उत्तमाधिकारमें तत्त्वज्ञान फल है. व्यासजीको जब असन्तोष हुआ तो भगवत्कृपारूप हेतुसे व्यासजीमें भगवदीयता हुई. व्यास भगवदीय थे यह दूसरे अध्यायमें बताया है. उत्तम प्रकरणका फल तो तत्त्व है. शुकदेवजी भगवान् हैं और राजा परीक्षित् भी वैसे ही हो गये. भगवदीयता दो प्रकारकी है. सर्वप्रथम जब भगवान् अपने लिये कुछ करते हैं तो वहां भगवदीयकेलिये साधनकी अपेक्षा नहीं रहती. जब भगवान् अपने लिये नहीं करते हैं तो साधनके द्वारा भगवदीय होता है. वह भगवदीयता कैसे होती है उसकेलिये नारदजी अपना वृत्तान्त क्रमसे कहते हैं. नारदजी कहते हैं कि सर्वप्रथम तो मुझे साधन रूपमें सत्संग प्राप्त हुआ. उससे मुझे जीवके स्वरूपका और भगवानके स्वरूपका ज्ञान हुआ. तदनन्तर भगवानका अनुभव हुआ. अनुभव तो सिद्ध है इसके लिये कुछ कर्त्तव्य नहीं. अपने अनुभवमें अनुभावनामात्रका अनुभव होना मिथ्या है. अपनेमें भगवदीयता सिद्ध होने पर जैसे नारदजीको पीछे अनुभव हुआ कि ''मैं नारद हूं''. उसकेलिये साधन आवश्यक है. कर्मोंका समर्पण भगवानमें किया. समाधिमें भगवानका अनुभव हुआ फिर भगवानके वचनसे ही उनको ज्ञान हुआ. इन्हीं सबका अनुभव पर्यन्तका नारदजीने वर्णन किया.

शंका: जब ऐसी बात है तो ज्ञान–विज्ञानके उपदेशमें फल तो स्वतः ही हो जायेगा फिर छठे अध्यायकी क्या आवश्यकता है? इस शंका पर कहते हैं कि जो शब्दब्रह्म(वेद)का ज्ञाता होते हुए भी जिसे परब्रह्मका ज्ञान नहीं है उसका श्रम निष्फल है. इसकेलिये फलाध्यायका निरूपण है.

शंका: व्यासजी तो भगवानके ज्ञानांशके अवतार हैं तो उनमें तो भगवदीयता स्वतः ही है. तो फिर श्रवणसे उनमें भगवदीयता कैसे आती है? उत्तर: व्यासजीमें भगवदीयता तो अवतार मात्रसे हो गई किन्तु श्रोता होनेका फल तो उन्हें श्रवणके अनन्तर ही मिला. और अवतारका फल भी तभी हुआ.

शंका करते हैं कि भगवदीयत्वकी सिद्धिकेलिये भागवतका निर्माण यही मध्यम प्रकरणमें कहना चाहिये. इसके लिये कहते हैं कि भागवतका निर्माण तो उत्तमाधिकारीकेलिये है, भगवदीयता होना तो उसका आनुषाङ्गिक फल है. वह तो हो ही जायेगा. इसलिये भागवतका निरूपण मध्यम प्रकरणमें नहीं किया ।।७४ – ७६।।

जब प्रासङ्गिक फल भगवदीयताकी भी सिद्धि नहीं होगी तो फिर

मध्यमता कैसे सिद्ध होगी ? उसके लिये कहते हैं:

प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा।।७७।। रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम्।
दुःखाभावात्स्वतन्त्रत्वाद्भयाभावाच्च संसृतेः ।७८। फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलं।

व्यासजीमें अन्यासक्ति प्रतिबन्धिका थी. नारदीजीके कथनसे उस प्रतिबन्धकी जब निवृत्ति हुई तब व्यासजीने नारदजीका पूजन किया. और नारदजीने पूजन किया साधुओंका. इस तरह व्यासजीमें तो आग्रहका अभाव था और नारदजीमें रागका अभाव था.

इस तरह तीन बातोंमें व्यासजी एवं नारदजीमें भगवदीयता थी. १.व्यासजीने यह समझ लिया कि भगवान् जैसा चाहते हैं वैसा मैंने नहीं किया इसका खेद, २.दूसरा कार्य उन्होंने वक्ता(नारदजी)की पूजा की ३.आग्रहका परित्याग किया. इन तीनसे श्रोता(व्यासजी)में भगवदीयता हुई.

और वक्ता नारदजीमें तीन कारणोंसे भगवदीयता हुई वे तीन हैं: १.भगवदीयोंके साथ मित्रता, २.साधुओंकी पूजा और ३.कुटुम्ब–माता आदिमें अनुरागका अभाव. इनसे विरक्त नारदमें भगवदीयता सिद्ध हुई थी.

कृष्णवाक्य अर्थात् आकाशवाणीके द्वारा नादरजीको मध्यम फल हुआ. शंका: नारदजीको जब पुनर्जन्मकी संभावना थी तो उनमें निकृष्टता क्यों नहीं हुई ? मध्यमता क्यों हुई ? उत्तर: उनमें संसारकृत दुःखका अभाव था तथा परतन्त्रता नहीं थी, विषयादिकसे भय भी नहीं था इसलिये उनमें नारदता(ज्ञानदेना) फल हुआ और सर्वदा भगवानकी स्फूर्ति होना यह अवान्तर फल भी उन्हें प्राप्त हुआ ।।७७ – ७९।।

आशंका करते हैं कि मध्यमताकी सिद्धिकेलिये जैसे नारदजीने साधन किये उस तरह व्यासजीकेलिये साधन क्यों नहीं कहे ? इसके लिये कहते हैं:

नात्मवत् करणं युक्तं बोधनं प्रीणनाद् हरेः ।।७९ ।।
अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै । सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्यात्र पूरणम् ।।८०।।

नारदजीको जैसे संन्यासियोंने ज्ञान दिया था उस तरह ज्ञान देनेवालेकी व्यासकेलिये आवश्यकता न थी. और निर्लज्जतापूर्वक भगवन्नामोच्चारण नारदजीने जैसे किया वैसा करनेकी भी व्यासको आवश्यकता न थी. कारण कि व्यासके ऊपर तो भगवानकी स्वतः प्रीति थी. प्रीतिकी प्राप्तिकेलिये साधनोंकी आवश्यकता नहीं थी.

यहां शंका करते हैं कि जैसे सूतजीने परम्परासे भागवतको प्राप्त करके

शौनकजीसे कहा था उसी तरह नारदजीने ऐसा क्यों नहीं कहा कि ''मैंने ब्रह्माजीसे भागवत् पढा है, उसे मैं तुम्हें कहता हूं''. परम्परा नहीं बतानेका कारण यह था कि लोकमें परम्परा प्रचलित थी नहीं इसलिये नारदजीके कहने पर भी व्यासजीको विश्वास नहीं होता. इसलिये नारदजीने कह दिया कि ''समाधिना अनुस्मर तद् विचेष्टितम्'' समाधिद्वारा भगवानका अनुस्मरण करो, ऐसा सामान्य वचन नारदजीका इसलिये था कि समाधिमें इन्हें मेरी बात सच्ची प्रतीत हो जायेगी. परम्परा कथनकी आवश्यकता नहीं है. जब व्यासजीने ग्रहण ''अहो देवर्षिर्धन्यः'' ऐसी स्तुति की तो सबको समझमें आ गया कि नारदजीकी बात इनके समझमें आ गई है, इसी स्तुतिसे ही मध्यम प्रकरणकी पूर्ति की ।।७९-८० ।।

तृतीय प्रकरण:

तृतीय प्रकरणमें पहले शौनकके प्रश्नमें प्रयोजन बताते हैंः

उपोद्घातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः। वक्तुश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धेस्तु पूर्ववत्।।८१
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्माद् अत्रैव विर्णतः। श्रुतिमात्रात्ततो भक्तिरविश्वासान्न रागिणः।।८२
फले सिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः। अतएवैष्यविज्ञानाद् आत्मज्ञापनसूचनम् ।।८३।।

इस तृतीय प्रकरणका द्वितीय प्रकरण हेतुभूत है. यह भागवतकी उत्पत्तिका साधन है. वह साधन परन्तु तभी हो सकता है जब कि नारदजी गये उसके अनन्तर ही वो भागवतको करते अन्यथा कालान्तरमें करने पर पूर्वोक्त हेतु नहीं हो सकता. इसलिये यह उपोद्घात है, उसके अर्थका विचाररूप है अतः ग्रन्थके स्वरूपमात्रकी निष्पत्तिकेलिये पहले एक प्रश्न किया. तदनन्तर ग्रन्थकी उत्पत्तिके कहने पर वक्ता शुकदेवजीके विषयमें दूसरा प्रश्न है वह प्रश्न तो पहलेकी तरह अनुवाद रूप है. यह आवश्यक है अतः उसका पुनः स्मरण कराया. मुक्तिरूप फल शुकदेवजीमें सिद्ध था इसलिये शुकदेवजी उत्तम वक्ता सिद्ध हुए. इस तरह प्रश्नका अभिप्राय कहकर उसके उत्तरमें ''अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे, भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा'' इसमें युक्तिका बाधन हो इसकेलिये साधिका युक्तिकेलिये भागवतमें भगवानका माहात्म्य और निःसन्देहताकेलिये सर्ववस्तुनिर्धारका कथन है. इसलिये भागवतके सुनने मात्रसे ही भगवानमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है.

शंका: तब आजकलके लोगोंमें भागवतके सुनने पर भक्ति उत्पन्न क्यों नहीं होती? उसका कारण है अविश्वास. अतः भागवतमें वर्णित बात पर पूर्ण विश्वास होगा तब ही भगवानमें भक्ति उत्पन्न होगी अन्यथा नहीं. व्यासजीके

द्वारा कहे हुए भागवतसे उत्पन्न हुआ बोध उसके रोकनेवाले रागके कारण नहीं होता है. इसलिये रागरहित जीवन्मुक्त श्रीशुकदेवजीको व्यासजीने भागवत् पढ़ाया. 'शुकम् अध्यापयामास'.

अब भक्तिसहित भागवत् ग्रन्थके फलका निर्धारण करनेकेलिये सूत-शौनकका संवाद है.

यद्यपि भागवतका फल मुक्ति है तथापि फलकी अपेक्षा भी साधन-भागवत् ही फलरूप है, इसका अनुभव रागरहितको ही होता है अन्यको नहीं यह सूतके वचनसे निर्धारित है. इस सबका तात्पर्य यह है कि जो प्रवृत्तिमें है उनमें भी जिस तरह भक्ति हो उसकेलिये भागवतका आरम्भ किया है. जो विषयी हैं वे तो विषयके उत्कर्षमें ही प्रवृत्त होते हैं. उत्तम विषयकेलिये हीन विषयको छोड़ देते हैं. इसलिये भागवतको मोक्षका साधन न बताकर मुक्तिकी कल्पनाको भी दूर करके मुक्तकेलिये भी प्रवृत्ति बताते हैं. अतः व्यासजीने भागवतको प्रवृत्ति परक किया. जिससे लोग विषयके सौन्दर्यसे ही इसमें प्रवृत्त होते हैं और ऐसी कृतिको आत्मज्ञापन रूप सूचित किया है.

शंका होती है कि विषयके सौन्दर्यसे लोग प्रवृत्त होंगे इसमें क्या प्रमाण है? मूर्ख लोग उत्कृष्ट विषयमें भी प्रवृत्त नहीं होते हैं इसका उत्तर देते हैं कि व्यासजीको कृतिसे ही आगेकी बातका ज्ञान था उसे भी यहां सूचित किया. नारदजीके कथनका पालन तभी तो होगा. इस तरह नारदजीके वाक्यसे सफल भागवतका प्रणयन व्यासजीने किया यह अर्थ फलित हुआ ।।८१ - ८३ ।।

इस तरह सप्तम अध्यायके ग्यारह श्लोकोंका अर्थ कहा अब आगे श्रीशुकदेवजीने परीक्षितको भागवत् सुनायी इस तरह भागवतके प्रचारको कहनेके लिये परीक्षितके जन्म आदि भी कहने चाहिये वह जन्मकी कथा तो बारहवें अध्यायमें कहेंगे, उसके बीचमें अश्वत्थामाको जीतना, कुन्तीकी स्तुति, भीष्ममुक्ति, भगवानका निर्वाण और द्वारका प्रवेश ये पांच अङ्ग कहे है. ये पांच अङ्ग श्रोता परीक्षितके जन्मके अङ्ग कैसे हैं? इस संदेहको दूर करनेके लिये जो किन्हींने कहा है उसी मतका कारिकामें अनुवाद करके दूषित करते हैंः

स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः। इति वैराग्यदाढ्योंक्त्यै प्रोक्ता द्रोणिजयादयः।।८४। इति केचिद् इह प्राहुः ...

अन्य निबन्धकारोंका मत यह है कि परीक्षितकी उत्पत्ति तो बारहवें अध्यायमें बताई है किन्तु उसके बीचमें जो पञ्चाध्ययी है वो वैराग्यका अङ्ग है.

'स्व'से युधिष्ठिर आदि और 'पर'से भीष्म आदि समझने. ये यदि परीक्षितने जब प्रायोपवेश किया उस समय तक रहते तो राजा परीक्षितको राज्य आदि प्राप्त होते ही नहीं अतः उसके वैराग्यका कोई महत्व सिद्ध नहीं होता. परन्तु भगवानकी कृपासे उसको स्फीतत्व और परत्व भी प्राप्त हो गया. ऐसे समयमें उसने राज्यका परित्याग किया इसलिये उसके वैराग्यकी दृढ़ताके लिये अश्वत्थामाका विजय आदि पांच अध्याय पहले कहे. किन्तु ऐसा कथन आचार्यचरणको अभिमत नहीं है अतः आप लिखते हैं:

नैतत् साधुतरं वचः ।।८५।। द्रोणेर्जये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता ।।८५।। न च कृष्णकथा युक्ता स्तुतिर्मोहकथापि वा। प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्मादष्टकथा मुधा ।।

इस तरह पञ्चाध्यायीको वैराग्यका अङ्ग बताना ठीक नहीं है. अश्वत्थामाके विजयसे वैराग्यका क्या सम्बन्ध है. राज्यदाता युधिष्ठिर भी वैराग्यमें प्रतिबन्धक नहीं है. भगवत्कथाका भी उसमें कोई उपयोग नहीं है. भगवानकी कृपा तो त्यागमें प्रतिबन्धक है. कुन्तीस्तुती तथा मोहकथा भी वैराग्यमें प्रतिबन्धक नहीं है अतः जन्माध्यायको छोड़कर सप्तमसे लेकर पन्द्रह अध्याय तककी आठ अध्यायकी कथा व्यर्थ हो जायेगी ।।८५,८६ ।।

इस तरह परमतको दूषित कर सप्तममें इन अध्यायोंकी पूर्वोत्तराङ्गता है इस अभिप्रायसे कहते हैं:

पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः। सर्वत्यागे सतां सङ्गे विश्वासः सर्वथा भवेत् ।।८७।। इति तस्याधिकारित्वसिद्ध्यै पाण्डववर्णनम्। अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्त्यत्र दूषणम् ।।८८

सातसे लेकर ग्यारह तकके पांच अध्याय पञ्चाग्निन्यायसे परीक्षितकी उत्पत्तिमें शुद्धिके कारण भूत है. उत्पन्न होने पर उसकी मुक्तिमें किसी तरहकी रुकावट न हो इसकेलिये अध्याय है. एक अध्याय तो पिताकी मुक्तिको बताता है. क्योंकि जब तक पिताकी मुक्ति नहीं होती तब तक पुत्रकी मुक्ति नहीं हो सकती. उसके अनन्तर दो अध्याय परीक्षितकी मुक्तिसे काल बाधक नहीं है इसको बतानेवाले हैं. तदनन्तर अद्भुतकर्मा भगवान् ब्राह्मणपुत्रके द्वारा शाप दिलानेकी कृपा और उसके अनन्तर श्रोतापन इस तरह तीन पुरुष(पीढी)की शुद्धिकेलिये अध्याय हैं. इन पांच अध्यायोंसे तीन पुरुष(पीढी)की शुद्धि होती है उसे बहुत शीघ्र ही कहेंगे. जन्माध्याय(बारहवां)का अर्थ है जन्म समयमें स्वतः तथा कालके द्वारा भगवानकी कृपा. आगेके पांच अध्यायोंमें सर्वत्यागकी सिद्धि होना अर्थ है. तदनन्तर दो अध्यायोंके द्वारा सत्सङ्गका वर्णन, तब भागवतमें

विश्वास, भागवत् श्रवणका अङ्ग विश्वास ही है.

विश्वासके तीन अङ्ग है: १. सज्जनोंका सङ्ग २. सर्वत्याग ३. परमशुद्धि. शुद्धिमें छः अङ्ग हैं. उनमें मुख्य तो भगवानकी कृपा. शरीरका कारण है बीज (रजः-शुक्र) उसकी अशुद्धि पांच प्रकारसे होती है: दुष्ट परम्परासे. दुष्टपरम्परा पुरुष अथवा स्त्री के द्वारा. इसकेलिये सातवें अध्यायमें अर्जुनके ऊपर परम कृपाका निरूपण है. आठवें अध्यायमें कुन्ती पर भगवत्कृपा. इसके अनन्तर पोषण करनेवालेके अन्नकी शुद्धिकेलिये भीष्मजीका उपदेश. जीवको सत्तामें अन्नदोष अवश्य आता है. इसलिये ज्ञानियोंकी ही शुद्धि होती है. भीष्मजीकी मुक्तिसे ज्ञानकी शुद्धि है यह तीसरा अङ्ग है. बीज सम्बन्धि सभी साधारण भगवत्परक थे यह चौथी शुद्धि है. वह शुद्धि भगवानके निर्गम(स्वधाम पधारने पर) होती है अतः उसे कहा. भगवानके निर्गम(स्वधाम पधारने पर) विरहात्मताप होता है उस तापसे शुद्धि होती है अथवा निर्गमके कारण अत्यन्त भक्तिका प्रादुर्भाव होता है उससे शुद्धि होती है. तदनन्तर आगन्तुक दोषोंके अभावकेलिये भगवानके कार्यकी समाप्तिका वर्णन है. इसलिये आचार्यचरण कहते हैं कि हमारे मतमें श्रोताका अधिकार तेरह अध्यायोंमें सम्पन्न होता है, अन्योंके मतमें नहीं. इसीलिये शौनकजीके नहीं पूछने पर भी ''संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्य कृष्ण-कथोदयम्'' ऐसी सूतकी प्रतिज्ञा उचित होती है. 'च'से उन पर भगवत्कृपाका ग्रहण है. शुद्धि ही भगवानकी कथाके उदयमें कारण है इस बातको बतानेकेलिये 'कृष्णकथोदयम्' ऐसा कहा है. इसलिये मूलमें ही यह अर्थ सूचित कर दिया था. अतः हमारे(आचार्यचरणोंके) मतमें कोई दूषण नहीं है।।८७-८८।।

शंका होती है कि ऐसा क्या आग्रह है कि परीक्षितको ही श्रोता बता रहे हैं. जो स्वतःशुद्ध सनकादि विद्यमान हैं उनकी तो कोई चर्चा ही नहीं है! इस पर कहते हैं:

विद्यमाने समुद्धारः तत्रत्यानां स्वयं कृतः। स्वाभावे तु कथैव स्याद् इत्यनन्तर उक्तवान्।।८९।।
ऐहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभावितम्। तद्वंशे व्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्य हि।।९०।।

यहां केवल अधिकारमात्रका निरूपण करना ही प्रयोजन नहीं है किन्तु भागवतसे ही सबका उद्धार होता है इसका प्रतिपादन करना भी प्रयोजन है. अतः सनकादिकोंको श्रोता न बताकर राजा परीक्षितको श्रोता बताया है. अवतारूपसे भूमण्डल पर जबतक भगवान् कृष्ण रहे तबतक उनने अपने रूपसे ही सभीका उद्धार किया, सबको मुक्त किया. तदनन्तर मुक्त करनेवाला एक भागवत् ही है,

और कोई उपाय नहीं है. इसको बतानेकेलिये भगवानके स्वधाम पधारनेके अनन्तर ही परीक्षित् उत्पन्न हुआ था. और वह भागवतसे ही मुक्त हुआ था ऐसा निरूपण है. तो फिर शुद्धिको ही कहना चाहिये. पाण्डवोंका और भगवानका वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि पाण्डवोंके ऐहिक सब काम भगवानकी कृपासे ही हुए. उन्हींके वंशमें राजा परीक्षित् जन्मे थे इसलिये उनकी श्रद्धा भागवतमें हुई ।।८९-९०।।

जब ऐसा है तो सम्पूर्ण भागवतको भगवत्परक ही कहना चाहिये! इस आशंका पर कहते हैं:

यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते। तत् त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा ।।९१
अनन्यशरणत्वाय रक्षणाशक्तितः स्वतः। पुत्र मारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटा ।।९२।।

यद्यपि अश्वत्थामाको जीतनेमें पाण्डवोंके सामर्थ्यकी प्रतीति होती है किन्तु वस्तुतः उस विजयमें भगवान् कृष्णका प्रभाव ही है भगवान् कृष्णके अनुभावसे ही पाण्डवकी विजय है. अतः सौषुप्तिक कथासे लेकर स्वर्गारोहण पर्यन्तकी महाभारतकी कथा कृष्णपरक ही वर्णित है.

पाण्डवोंकी कथाके वर्णनका अभिप्राय तो यह है कि पाण्डवोंके रक्षक केवल भगवान् कृष्ण ही थे. पाण्डवोंमें अपनी रक्षाका सामर्थ्य नहीं था इसका वर्णन पुत्रके मारणसे आरंभ कर मुक्तिपर्यन्तसे स्पष्ट किया है।९१-९२ ।।

यहां शंका होती है कि पाण्डवोंकेलिये मोक्षका उपयोग कहां होगा? इस पर कहते हैं:

तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेत् क्वचित्। पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्णबान्धवात्।
चन्द्रांशत्वाद् देवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते।

जो मुक्त नहीं होते हैं उनकेलिये भोग आवश्यक है. तो फिर अभिमन्यु मुक्त नहीं हुआ था अतः उससे मुक्तिमें प्रतिबन्ध होगा! इस आशंकाका उत्तर देते हैं कि अभिमन्यु पिताके सामने युद्धमें मरा था, युद्धमें सामने मरने पर उसकी मुक्ति होती है ऐसा स्मृतिमें कहा है. 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' और दूसरी बात यह थी कि वह भगवान् कृष्णका कुटुम्बी माना जाता था तो उसकी मुक्ति क्यों न हो! अभिमन्युमें, चन्द्रवंशमें उत्पन्न होनेसे, एक अंश चन्द्रका था अतः वह तो पीछे देवभावको प्राप्त हो गया. वह आध्यात्मिकरूप था और भगवत्सम्बन्धि होनेसे आधिदैविकरूप था. इस तरह आधिभौतिक - आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों ही उस अभिमन्युकी मुक्तिमें प्रतिबंधक नहीं हुए।।९३,९३ १/२ ।।।

अध्याय ७–९.

अब यहांसे आगे अध्यायोंके विभागकेलिये सातवें – आठवें और नवमे अध्यायके अर्थका निरूपण ड़ेढ कारिकासे करते हैं.

पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्नाभिन्नविभेदतः ।।९४।।

अभिन्नं परतो ज्ञानाद्विधाज्ञानं द्विधा पुनः । ब्रह्म–जीवविभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्यति ।।९५।।

पाण्डवोंको दो प्रकारसे दुःख हुआ, शरीर और पुत्रके द्वारा. उसमें भिन्न जो पुत्रादि दुःख है वह तो एक प्रकारका है और अभिन्न दुःख दो प्रकारका है. एक तो अज्ञानके कारण और दूसरा शत्रुके कारणसे. अज्ञान भी दो प्रकारका है: एक तो जीव विषयक और दूसरा ब्रह्मविषयक. इस तरह अभिन्नके तीन प्रकार होते हैं. भिन्न दुःख भी अभिन्न दुःखके चले जाने पर चला जाता है ।।९४–९५।।

अतोऽध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्टपूरणात् । दुःखहानिर्हरेरेव तदर्थं स्तोत्रम् ईरितम् ।।९६।।

दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा। अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्तिवारिका।

पाण्डवोंके दुःखको दूर करनेकेलिये ये सप्तम, अष्टम, नवम तीन अध्याय हैं. उसमें प्रथम(सप्तम) अध्यायका अर्थ है स्वेष्टपूर्ति–दुःखकी हानि भगवान् हरिसे ही होती है. अतएव भगवान् ही इष्टकी पूर्ति कर सकते हैं. अतः भगवानकी स्तुति है. तब दुःखोंके दूर करनेमें भगवान् ही कारण हैं अतः उनकी स्तुति है. इसलिये तीनों ही अध्यायोंमें भगवानकी स्तुति कही. 'तदर्थ'का अर्थ है सर्वत्र अर्थात् दुःखमें, सुखमें तथा मुक्तिमें सर्वत्र भगवानकी स्तुति है. दुःख जब आया तो अर्जुनने स्तुति की और इष्टसिद्धि होने पर कुन्तीने स्तुति की और मुक्तिके लिये भीष्मजीने स्तुति की. अतः दूसरे(आठवें)अध्यायमें ब्रह्मविषयक अज्ञानकी निवृत्ति कही. जीव विषयक अज्ञानकी निवृत्ति तीसरे(नवमे) अध्यायका अर्थ है इसलिये अन्तमें मुक्ति कही. शंका होती है कि जब अर्जुन आदि भगवदीय थे तो उनके दुःखकी निवृत्ति तो भगवान् कृष्ण निश्चित रूपसे करते ही, फिर स्तुति की आवश्यकता क्या है? इसकेलिये कहते हैं 'अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता' ये स्तुति तो उनके अधिकारकी सिद्धिकेलिये है. स्तुतिके द्वारा ही उनकी आसक्ति हटती है. आधिदैविक प्रेरणाकी निवृत्ति भगवान् करते हैं इसके लिये स्तुति है. ।।९६–९७।।

जब युधिष्ठिर विद्यमान हैं तो अर्जुनने पहले स्तुति क्यों की इस आशंका पर कहते हैं:

अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकट्यतो वरा। सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः।।

सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा। सर्वत्र भक्तरक्षा हि सामान्येन विशेषतः ।।९९।।
अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका।

पाण्डवोंमें नरांशके कारण अर्जुन मुख्य था. और पृथा–कुन्ती भगवानके पिताकी बहिन होनेसे भगवत्सम्बन्धके कारण उत्कृष्ट थीं. भीष्मजी सबमें बड़े थे इसलिये उनमें लौकिक उत्कर्ष था. इन तीनोंमें सर्वश्रेष्ठ तो अर्जुन है, द्वितीय कुन्ती और तृतीय भीष्मजी हैं. स्तुति पाक्षिक नहीं है वह तो आवश्यक है. यदि शंका हो कि भवदीयोंमें भगवानकी स्तुतिसे विशेषता क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं कि स्तुतिसे भगवान् अति आसक्तिसे रक्षा करते हैं. बिना स्तुतिके रक्षा तो करते हैं किन्तु आसक्तिकी निवृत्ति नहीं करते. यदि भगवान् ऐसा करते हैं तो फिर सामान्य व्यक्तिमें और भगवानमें विशेषता क्या है? इस आशंकाका उत्तर यह है कि आसक्तिसे उनकी रक्षा करनेसे भजनमें उत्साह बढता है. जिससे अन्य लोगोंमें भी भजनकी सिद्धि होती है ।।९८–९९।।

द्रौपदी भगवानकी भक्त थी तो पुत्रोंके मरने पर वह रोयी क्यों? इस आशंका पर कहते हैं:

सुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम् ।।१०० ।।
सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम्। भक्तेष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित् ।।१०।।
समर्थत्वात् प्रेमसिद्ध्यै दैत्यांशत्वात्तथा वचः। भीमस्यासन्यावतारात् सहजद्वेषभावतः।।१०२
संहारशक्तेर्द्रौपद्या उभयोः समता हरेः। उभयात्मकत्वकथनं सर्वप्रियहिताय हि ।।१०३।।
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशित्वान्न चान्यथा। आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्तमारणात् ।।१०४

द्रौपदी यद्यपि भगवद्भक्त थी परन्तु पुत्रोंके मरने पर उसे रोना इसलिये आया कि ये मेरे पुत्र युद्ध किये बिना ही ब्राह्मणके द्वारा मारे गये हैं इसलिये ये नरकमें जाऐंगे. ''ब्राह्मणान्निधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवम्'' जो ब्राह्मणके हाथसे मरता है वह निश्चित रूपसे नरकगामी होता है, उस पर भी यदि बिना युद्धके मरता है वह तो निश्चित ही नारकी होता है. कर्मफलका अतिक्रमण तो भगवानकी अतिकृपा हो तो हो सकता है इसलिये भगवानकी कृपाको उत्पन्न करनेकेलिये द्रौपदी रोयी. अर्जुनका द्रौपदीकेलिये सान्त्वना देना भी अनुचित है! इसका उत्तर यह है कि द्रौपदी उसकी प्रिया थी इसलिये वह सान्त्वना झूठी थी. क्योंकि कहा है ''स्त्रीषु नर्मः विवाहे च...नानृतं स्याद् जुगुप्सितम्'' स्त्रियोंके सामने असत्य बोलना निन्दित नहीं है. भगवानने अर्जुनको इसलिये नहीं रोका कि भगवान् भक्तोंका प्रिय करते हैं अर्थात् भगवान् यदि अर्जुनको रोक देते कि तुम्हें

अश्वत्थामाको मारनेकेलिये नहीं जाना चाहिये तो द्रौपदीका शोक शांत न होता और अर्जुनको भी अच्छा न लगता इसलिये नहीं रोका. इससे वह बात सूचित होती है कि भगवानके भक्तोंकी शास्त्रके द्वारा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान करके कर्त्तव्य करना चाहिये. इसीलिये ब्राह्मणके वधमें दोष जानते हुए भी भगवानने अर्जुनको नहीं रोका. यदि ऐसा न होता तो भगवान् सबके भजनीय नहीं होते क्योंकि संसार तो अनर्थरूप होता है.

यहां शंका करते हैं कि भगवानको भगवदीयको दोषसे रोकना चाहिये, सो उसे क्यों नहीं रोका? इस आशंकाका समाधान यह है कि भगवान् रक्षा करनेमें समर्थ हैं अतः यदि अनर्थ हो भी गया तो भगवान् बचा लेंगे. इसलिये रोका नहीं. अनर्थमें प्रेम सिद्ध होता है तथापि अर्जुन ऐसा क्यों बोला कि ''मैं अश्वत्थामाको मारूंगा''. अश्वत्थामा दैत्यांश था अतएव उसकेलिये अर्जुनने ऐसा कहा. अथवा भगवानने जो यह कहा कि ''अश्वत्थामाको मार डालो'' ऐसा वचन अश्वत्थामाके दैत्यांश होनेके कारण था. अश्वत्थामाके मारनेमें वेदविरोध नहीं है इसलिये भीमका भी उसके वधकेलिये उद्यम था इसका निरूपण है भीम आसन्य प्राणका अवतार होनेसे वेदात्मा है, अतः प्रमाणरूप भीमके और प्रमेयरूप भगवानके अभिप्रायको न करनेसे आपत्ति हुई. युद्धशास्त्रको जाननेके कारण अर्जुन लौकिक था और स्त्री होनेसे द्रौपदी लौकिक थी. इसलिये लोकसे तथा वेदसे भी अश्वत्थामाका मरण नहीं हुआ. वेदमें लिखा है ''तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्''. इसलिये अर्जुनने और द्रौपदीने अश्वत्थामाको मुक्त कर दिया. यद्यपि अर्जुनको तो वेदका ज्ञान होनेसे उसे छोड़ा परन्तु द्रौपदीने उसे कैसे छोड़ दिया? द्रौपदी संहार शक्ति थी अतः वह जानती थी कि दैत्य संहार शक्तिके अनुगुण है. इसलिये द्रौपदीने उसे मुक्त कर दिया. भगवान् तो सर्वात्मा है अतः वे तो सबकेलिये समान हैं. भगवान् जानते हैं कि भले ही अश्वत्थामा मुक्त हो जाय, भक्त(परीक्षित)की रक्षा तो मैं ओर प्रकारसे भी कर सकता हूं, करूंगा. यह सप्तमाध्यायका अर्थ उचित ही है. अश्वत्थामाके सिरको मूंड देना चाहिये ऐसी भगवानकी इच्छाका ज्ञान अर्जुनको आवेशावतार होनेसे हो गया. इसलिये पूर्वसे विरोध नहीं हुआ. यह सब कार्य भगवानने ही अर्जुनमें आविष्ट होकर किया. अन्यथा द्रौपदी तो संहार शक्ति थी वह भीम आदिका भी संहार कर देती. ऐसा उपाख्यान भी कहीं रत्नयक्षोपाख्यानमें प्रसिद्ध है. जब द्रौपदीका क्रोधावेश चला गया तब वह विलाप करने लगी. जैसे मैं अपने पुत्रोंके

लिये विलाप कर रही हूं वैसे ही पति ही जिसके देवता हैं ऐसी गौतमी अश्वत्थामाकी मां विलाप न करें ।।१००–१०४।।

भगवानने अश्वत्थामाकी ऐसी बुद्धि क्यों उत्पन्न की? इस आशंका पर कहते हैं:

पुनरस्त्र समुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः।

पहले ब्रह्मास्त्रका धारण कर दिया था इससे अभिमान हो गया था इसलिये अभिमानको दूर करनेके लिये फिर ब्रह्मास्त्र चलाया.

पुनः ब्रह्मास्त्र चलाया तो उसका समाधान भी पूर्ववत् हो जायेगा उस पर कहते हैं:

अनिवर्त्यं निवर्त्यं च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् ।।१०५ ।।

अनिवर्त्यसमुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि। शास्त्राद् देवात्तपोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद् भवेत् १०६

सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः। अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षितवान् पितुः ।।१०७।

ब्रह्मास्त्र दो प्रकारका माना गया है एक अनिवर्त्य, जिसे लौटाया न जा सके और दूसरा निवर्त्य जो लौटाया जा सके. अनिवर्त्य ब्रह्मास्त्रको तो चलाया नहीं जाता. यहां तक कि मरण उपस्थित हो तब भी नहीं चलाते.

इन दोनों ब्रह्मास्त्रकी सिद्धि शास्त्रसे और देवतासे होती है इसलिये इनका तेज महान् होता है. जब अश्वत्थामाके पास कोई उपाय न रहा और मृत्युकी घड़ी ही आ पहुंची तब गुरुपुत्र अश्वत्थामाने पिताकी अत्यन्त उपासनासे प्राप्त ब्रह्मास्त्रको चलाया ।।१०५–१०७।।

जिस तरह गर्वका निवारण किया उसी तरह गर्वका कारण जो वंश है उसका विनाश क्यों नहीं किया इस पर कहते हैं

उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत्। शरणागमनं कृष्णस्तुतिपूर्वं च दर्शनम् ।।१०८।।

उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा। कृष्णदूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम् ।।१०९।।

परीक्षिज्ज्ञानसिद्ध्यर्थं बहुकालस्थितिर्हरेः। अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकारा कथनं तथा।।११०

आसक्तिर्गर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः। प्रतिभातः कृतेश्चापि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः।।१११

उत्तरा भगवान् कृष्णकी परम भक्त थी. वह सबसे श्रेष्ठ थी. भक्त होनेके कारण उसमें भौतिक उत्कर्ष था और वह रोहिणीके अंशरूप थी. इससे उसमें आध्यात्मिक उत्कर्ष था तथा हरिकी सुहृद् होनेसे आधिदैविक उत्कर्ष भी था. इस तरह उत्तरामें तीन प्रकारका उत्कर्ष होनेसे उसका प्रिय करनेकेलिये भगवानने उसके गर्भकी रक्षा की. भक्त होनेसे वह भगवानके शरण गई और देवता रूप

होनेसे उसने स्तुति की तथा भगवदीय होनेसे सर्वप्रथम उसको ब्रह्मास्त्रका दर्शन हुआ. उत्तरा भक्त थी इसको बतानेकेलिये भगवानने उसके उदरमें प्रवेश कर गर्भकी रक्षा की.

यदि यह शंका हो कि उत्तरा भगवानकी भक्त थी तो ब्रह्मास्त्रका उसके उदरमें प्रवेश ही कैसे हुआ? उसकेलिये कहते हैं कि 'कृष्णदुरत्यतः' भगवान् कृष्णके दूर होनेसे उस ब्रह्मास्त्रने उत्तराके उदरमें प्रवेश किया. जब तक ब्रह्मास्त्र गर्भमें प्रविष्ट न हो तब तक रक्षा कैसे हो इसलिये जब वह गर्भमें प्रविष्ट हो गया तभी गर्भकी रक्षा हुई. भगवान् गर्भमें बहुत समय तक तो परीक्षितको अपना ज्ञान करानेके लिये रहे थे.

भागवतमें तो यह कहा है कि सुदर्शन और माया के द्वारा गर्भकी रक्षा की, ब्रह्मास्त्रके नित्य होनेसे उसके लयका निरूपण नहीं है ''वैष्णवं तेजम् आसाद्य समशाम्यद् भृगुद्वह'' इसमें तो क्रूरता धर्मकी निवृत्ति बतायी है, धर्मीकी निवृत्ति नहीं कही. ''अस्त्र तेजः स्वगदया'' इसका भी पूर्वके अनुरोधसे शमन ही अर्थ करना चाहिये. तब धर्मी अस्त्रका लय किसमें हुआ? इस पर कहते हैं ''अन्य तेजो लयः'' ब्रह्मास्त्रके दुर्बल होनेसे उसका लय भगवानमें ही हो गया. क्योंकि वहींसे वह उत्पन्न हुआ था अतः उसीमें लीन हो गया. इसलिये तो उसका कोई प्रकार नहीं बताया. इससे यह सूचित होता है कि जहां-जहां विशेष कथन नहीं हो वहां-वहां उसका कोई प्रकार नहीं बताया. इससे यह सूचित होता है कि जहां विशेष कथन नहीं हो वहां उसका लय कारणमें ही समझना चाहिये.

शंका होती है कि भगवानके निर्गमनसे स्तुति क्यों नहीं की, पीछे स्तुतिमें प्रवृत्ति क्यों हुई? इसका उत्तर यह ह कि पहले अभिमान विद्यमान था इसलिये आसक्ति नहीं हुई. जिसकी आसक्ति होती है वही उसका भजन करता है. भजनकेलिये ही सब सन्देहवारिका स्तुति है.

आसक्ति हो भी गई परन्तु ज्ञान और साधनका अभाव हो तो स्तुति कैसे होगी? भगवानमें आसक्ति होने पर प्रतिभा उसमें उत्पन्न हो गई, जिससे स्तुति की. दूसरा हेतु भी हो गया भगवानने पहले उसकी रक्षा नहीं की थी इसलिये अन्तःकरणमें भासमान होते हुवे भी अनन्तगुणपूर्ण है. 'अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव' इस न्यायसे अन्तरकी सम्भावानसे नहीं जाना. इस समय तो विशेष रक्षा यशसे अन्तर निवृत्त हो गया इसलिये भगवत्कृतिके कारणसे भगवान् कृष्णको विशेषरूपसे जाना ।।१०८ - १११ ।।

शंका: जब ऐसा है तो युधिष्ठिरको पीछे मोह नहीं होना चाहिये!

सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदितः। तावन् मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम्।।११२।।

प्रतिभात या दर्शनके द्वारा होनेवाला ज्ञान मोहका निवारण नहीं करता. शब्दसे ओर दोषके श्रवणसे मोहकी उत्पत्ति होती है. शास्त्रसे प्रतिपन्न भ्रमसे उसको मोह होता है वह शास्त्र प्रकारसे ही निवृत्तिके योग्य है. अतः जब तक भीष्मजी युधिष्ठिरको नहीं समझायेंगे तब तक मोहकी स्थिति रहेगी. इससे यह भीष्माध्याय जीवके स्वरूपज्ञानकेलिये है.

इस नवमाध्यायमें वाक्यविभाग इस तरह है: चौबीस श्लोकोंसे भीष्मके निकट जानेका वर्णन है और भीष्मके वाक्योंका वर्णन है. सात श्लोकमें वहांके वृत्तान्तका वर्णन है. ग्यारह श्लेकोंसे भीष्मजीकी स्तुति है और तीन श्लोकोंसे मुक्ति तथा चार श्लोकोंसे उनके उत्तर वृत्तान्तका वर्णन है ।।११२।।

ऐसा होने पर भीष्मस्तुति असङ्ग है इस आशंका पर कहते हैं:

उक्तेः स्वाचारतो दार्ढ्यज्ञापनायां ततः स्तुतिः। मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्वसन्देहवारिका।११३

भीष्मजीने जो पहले तत्त्वका उपदेश दिया था अर्थात् जीवकी कृतार्थता भगवद्भजनसे ही है, उसीको अपने आचारसे दृढ़ करते हैं इसकेलिये स्तुति है. साधन और फल इन्हें प्रत्यक्ष दिखाते हैं. स्तुतिसे साधनके सन्देहको दूर किया और फलके विषयमें जो सन्देह है उसे अपनी मुक्तिके द्वारा निवारण किया ।।११३।।

यहांसे आगे द्वितीय खंडमें देखें.

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

प्रथमस्कन्धनामानि

अधिकारलीला

पुरुषोत्तमके नामके सूचक श्रीकृष्ण नाम प्रथम कहते हैं. कारण कि सर्व भक्तोंकेलिये विशेष सेवन करने योग्य, सकल शास्त्रोंके अर्थरूप वैसे सर्व नामोंका प्रतिपादन करनेवाला फलात्मक नाम ये ही है. एवं इस ग्रन्थमें उनही प्रभुकी परम रमणीय नवीन-नवीन लीलाओंका सूचन करनेवाले नाम होनेसे, आरंभमें रसात्मक श्रीनंदनंदन वृंदावनचंद्र 'श्रीकृष्ण' इस सुमंगल नामका उपन्यास करते हैं.

श्रीकृष्णः सच्चिदानंदो नित्यलीलाविनोदकृत् ।
सर्वागमविनोदी च लक्ष्मीशः पुरुषोत्तमः ।।९।।

(१) श्रीकृष्णः

यह भगवान् पुरुषोत्तमका मुख्य नाम है. 'श्रीकृष्ण' शब्दका अर्थ उपनिषद्में इस प्रकार बताया गया हैः ''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते''. 'कृष्ण'शब्दमें दो शब्द हैं. एक 'कृष्' एवं दूसरा 'ण'. 'कृष्' शब्दका अर्थ सत्ता होता है. सत्ता अर्थात् सत् स्वरूप. अर्थात् तीनों कालमें अखंड एकरस रहे वो. 'ण' शब्दका अर्थ सुख-आनंद होता है. दोनोंको साथ जोड़ने पर अखण्ड रसस्वरूप, आनंदरूप, सदानंद जो परब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम वह 'कृष्ण' कहलाता है. परन्तु यहां तो 'श्रीकृष्ण' शब्द है, केवल 'कृष्ण' नहीं है. अर्थात् केवल सदानंद ही नहीं, किन्तु 'श्री' जुड़नेसे चित्स्वरूप भी है. अतएव सच्चिदानंदस्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम वह 'श्रीकृष्ण' कहलाता है. श्रीकृष्ण स्वयंमें रसात्मक हैं. वो रस भी शृंगार है. शृंगारके दो प्रकार होते हैंः एक संयोग शृंगार दूसरा विप्रयोग शृंगार. केवल 'कृष्ण' शब्द हो तो विप्रयोग शृंगारात्मक कृष्ण होगा. 'श्री'साथमें हो तो 'श्री'का अर्थ व्रजसुंदरी स्वामिनीजी होता है. अतः संयोग-शृंगाररसात्मक श्रीकृष्ण. यह गूढ़ रहस्य अनुभवैक गम्य है.

श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं उसके प्रमाण देते हैं. विष्णुपुराणमें कृष्णावतार प्रसंगमें कहा गया है : ''जिसमें सर्वव्यापक परब्रह्म विष्णु मनुष्यरूपमें प्रकट हुये हैं उन यदुराजाके वंशके श्रवणमात्रसे ही मनुष्य सर्व पापोंसे मु क्त हो जाता है''. भागवतमें भी ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (कृष्ण तो स्वयं साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् ही हैं). इस वाक्यसे श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम ही हैं, यह सिद्ध होता है. अतएव सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थमें आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि ''परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानंदकं बृहत्'' परब्रह्म तो श्रीकृष्ण ही हैं क्योंकि मनुष्य से लेकर अक्षरब्रह्म

पर्यन्त सब गणितानंद है. श्रीकृष्ण पूर्णानंद होनेसे उनके आनन्दको गिना नहीं जा सकता. अतएव उनको वेद, गीता आदि शास्त्रोंमें परब्रह्म पुरुषोत्तम ही कहा गया है. इन कारणोंसे यह ही नाम मुख्य है. श्रीकृष्ण इस नामसे आरम्भ करके 'श्रीमद्भागवतागमः' पर्यन्तके नाम गूढ़ लीलारूपमें कहे गये हैं. इस कारण प्रथम स्कन्धमें स्फुट रीतिसे जाने नहीं जा सकते हैं. ये नाम श्रीकृष्णके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले हैं. इनमें यह प्रथम नाम श्रीमद्भागवतका मंगलाचरणरूप प्रथम श्लोक ''जन्माद्यस्य यतो अन्वयाद् इतरतः'' इस वाक्यका गूढ़ार्थ रूप है.

(२) सच्चिदानंदः. सत्-चित्-आनंदस्वरूपवाले.

प्रथम नामके अर्थका स्पष्टीकरण इस नाममें है. सत्ता, चैतन्य एवं आनन्द ही जिसका स्वरूप है, ऐसे प्रभु. भगवान्का देह आनन्दका ही है, श्रीमुख, श्रीहस्त, चरण इत्यादि सब कुछ आनन्द ही है. जीवके जैसी पंचमहाभूतकी देह (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशमय शरीर) प्रभुकी नहीं होती. जैसे शक्करके पुतलेमें शक्करके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता वैसे ही प्रभुके श्रीअंगमें सत्ता, चैतन्य एवं आनन्दके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है. उसके लिये गीतामें : ''सद्भावे साधुभावे च सदित्येत् प्रयुज्यते, प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते, यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते, कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'' (१७।६-२७). (सत्-इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है. तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति भी 'सत्' कही जाती है. परमात्माकेलिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक 'सत्' कहा जाता है.) इस कारण सत्=सदा वर्तमान-शुद्ध. चित्=चेतन स्वप्रकाश प्रकाशित ज्ञान. एवं आनन्द=आनन्द स्वरूप सदा शुद्ध बुद्ध आनन्दमय दिव्य देहधारी परमात्मा, वो सच्चिदानंद. यहां 'चित्'शब्द द्वारा स्वतःसिद्धज्ञानवान् ऐसा प्रभुमें जाननेसे दूसरा नाम 'अर्थेष्वभिज्ञः' इस पदके निगूढ़ अर्थको प्रकट करता है तथा भगवत्संबंधी ज्ञान निरन्तर आनन्ददायक होता है, इसका भी सूचन करता है.

(३) नित्यलीलाविनोदकृत्.

(१)निरंतर लीलारूप विनोद करनेवाले; (२)नित्यलीलाओंको प्रकट करनेवाले; (३)लीलाके समय नित्य मुरलीनादद्वारा निजभक्तोंको शरणमें आनेकी प्रेरणा करनेवाले.

लीला=रमण. पुरुषोत्तमने रमण ही किया है. उसका रमण दो प्रकारका होता है. एक आत्मरमण, दूसरा बहिःरमण. प्रभु आत्मरमण ही करते हैं. इस कारण सारे जगतको अपनेमें समाहित रखते हैं. मात्र अपने ही श्रीअंगमेंसे अलौकिक आनन्दमय

सृष्टि प्रकट करके लीला की है. जबकि वेदमें 'आत्मरतिः आत्मक्रीड' (भगवान आत्म रमण करनेवाले हैं) ''स एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत्'' (वह अकेला रमण नहीं कर सकता था, उसने दूसरेकी इच्छा की) बहिः रमण करते हैं तब सर्व जगतको अपने ही श्रीअंगमेंसे प्रकट करते हैं. अर्थात् पुरुषोत्तम लीला करते हैं. लेकिन उनकी लीला भी नश्वर नहीं है, किन्तु भक्तोद्धारार्थ सर्व लीलाऐं हैं. वे नित्य हैं. आज भी प्रभुकी सब लीलाऐं चल रही हैं. इस कारण उनका विनोद ही लीलारूप है. आधिदैविक वृंदावनमें निःसाधन व्रजभक्तोंका निरोध करनेकेलिये जो लीलाऐं आपने करी हैं वो सब नित्य होनेसे आज भी अधिकारी भगवदीय उन लीलाओंके आनंदका आस्वादन लिया करते हैं. पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक पूर्णपुरुषोत्तमकी लीलाविनोद होनेसे यह नाम 'स्वराट्' इस पदका गुप्त अर्थवाला है.

(४) सर्वागमविनोदी.

(१)सर्व वेद जिसके निःश्वासरूप हैं. (२)सर्व वेदोंसे विनोद करनेवाले अर्थात् विभिन्न देवोंकी उपासनाकेलिये विभिन्न धर्मोंका उपदेश देनेवाले. (३) सर्व वेदों द्वारा विनोद करनेवाले. (४)सर्व वेदों द्वारा कालको प्रेरणा करनेवाले. ''यावज्जीवन अग्निहोत्र होम करना'' इत्यादिक कालकी गतिको प्रेरणा देनेवाले.

श्रुति कहती है कि ''प्रभुकी निःश्वास ही वेद हैं''. वेदादि सत्शास्त्र पुरुषोत्तम रूप होनेसे वेदोमें उसीका वर्णन किया है. प्रभु उन वेदादिक रूपोंसे ही विनोद करते हैं. क्योकि वेदोंके कर्मकाण्डमें क्रियाशक्तियुक्त भगवानका वर्णन है. एवं उत्तर काण्डमें ज्ञानशक्तियुक्त प्रभुका वर्णन है. गीतामें ''जो अन्य गुणमय देवोंके भक्त श्रद्धासे उन-उन देवोंका पूजन करते हैं वो भी, अज्ञानपूर्वक सही पर, मेरा ही यजन करते हैं'' ऐसा कहनेसे इन्द्र, वरुणादि देवोंके यजन वेदोंके पूर्वकाण्डमें बताये गये हैं वो सब भगवानको ही उद्देश्य करके कहे गये हैं, यह सिद्ध होता है. क्योंकि सर्वरूप भगवानके ही हैं. अतएव उन-उन देवताओंका यजन भी भगवान्का ही भजन है. तथा ''वेदैश्च सर्वैर् अहमेव वेद्यः'' (सर्व वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं) ऐसे भगवानके कथनसे भी वेदोंके सारे वर्णनोंमें प्रभुका ही सम्बन्ध बताया गया है. सारे वेद शास्त्र परमात्माकी ही लीलाका वर्णन करते हैं. लेकिन यह सब प्रभुका ही सर्वशास्त्रोंमें विनोद हो गया. यह नाम प्रभु वेदप्रकाशक हैं यह सिद्ध करता है. अतएव उसकेलिये ''तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये'' ये दूसरे चरणके पदके गूढ़ अर्थका समर्थन करता है.

(५) लक्ष्मीशः. लक्ष्मीके ईश स्वामी.

लक्ष्मी अर्थात् सागरमेंसे उत्पन्न हुई कमला लक्ष्मी नहीं परन्तु दिव्य शोभा, दिव्य विभूति, दिव्य लावण्य, दिव्य सौन्दर्य, इनका नाम यहां लक्ष्मी है. लक्ष्मीके

स्वामी तो अंशात्मक विष्णु हैं और श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम तो ''लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानम्'' ये श्रीमदाचार्यचरणके वाक्यानुसार सहस्र लक्ष्मीयों द्वारा सेवित हैं. दिव्य शोभासम्पन्न, दिव्य विभूतिमय होनेसे प्रभु सबको मोहित करनेवाले हैं. ''मुह्यन्ति यत् सूरयः'' ये द्वितीय चरणके भावको स्फुट करता है.

(६) पुरुषोत्तमः. ब्रह्मादि सर्व पुरुषोंमें उत्तम.

पूर्ण परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं. पुरुषोत्तम सर्वोत्तम हैं. मनुष्यसे आरम्भ करके ब्रह्मा–विष्णु पर्यन्त उसकी उपासना करते हैं. गोपालतापन्युपनिषद्में आख्यायिका है कि ''किसी समय ब्रह्माजीके पुत्र सनकादिकोंने अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा कि परम सर्वोत्कृष्ट देव कौन है? तब ब्रह्माजीने उत्तर दिया कि 'श्रीकृष्णो वै परमं दैवतम्' श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं. सर्वोत्तमोत्तम हैं.

भागवतमें कहा गया है कि ''ऋषि मनु देवता प्रजापति सहित महापराक्रमी मनुके पुत्र, ये सब श्रीहरिकी ही कलायें हैं''. गीतामें भी प्रभु आज्ञा करते हैं : ''उत्तम पुरुष–पुरुषोत्तम तो अन्य है जिसे 'परमात्मा' कह कर व्यवहार किया जाता है, अविनाशी सर्व जगतको नियममें रखनेवाला प्रभु जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके अखिल विश्वका भरणपोषण करता है''. और भी ''मैं क्षरसे परे हूं और अक्षरसे भी उत्तम हूं इसीलिये लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तमके नामसे विख्यात हूं''. इत्यादि श्रुतिस्मृतिके वाक्योंसे प्रभुका पुरुषोत्तमपना सर्वत्र प्रसिद्ध है. वो अपनी सत्ताके द्वारा ही त्रिगुणात्मक सत्व, रजस् और तमस् कार्यरूप तीनों सर्गोंका निर्माण करते हैं, कोई अन्य वैसा करनेमें समर्थ नहीं है, इस कारण ये नाम ''तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा धाम्ना स्वेन'' इस तीसरे एवं चौथे चरणके पदोंके गर्भित आशयको समझाता है.

आदिकालः सर्वकालः कालात्मा माययावृतः ।
भक्तोद्धारप्रयत्नात्मा जगत्कर्ता जगन्मयः ।।१०।।

(७) आदिकालः.

(१) सर्वमें आदि प्रथम ऐसे कालपुरुष. (२) उत्पन्न हुये सर्व पदार्थोंमें काल सर्वसे पहले है. सृष्टिके आरम्भमें प्रथम कालको ही प्रकट किया था ऐसे.

भगवान् कालरूप हैं. पुरुषोत्तमकी भ्रकुटीसे कालका प्राकट्य है. अतएव काल भी भगवद्रूप कहलाता है. श्रुति बताती है कि ''सब क्षण, कला, घटी, पल, मुहूर्त, दिन, रात्रि इत्यादि कालके परिमाणको दर्शानेवाले सब पदार्थोंसे कालपुरुषकी उत्पत्ति हुई है''. स्मृतिमें भी कहा गया है : ''आदि युगके आरम्भमें जिसमेंसे सबकुछ उत्पन्न होता है. फिर युगके क्षय समय सबकुछ जिसमें प्रलय पाते हैं वो कालपुरुष ऐसे सर्वके आदिकाल भगवान् ही हैं''. उपनिषद् कहता है ''इस परमात्माके भयसे वायु

बहती है. सूर्य जिसके भयसे उदय होता है''. भगवान्का स्वरूप कालरूप भयको उत्पन्न करनेवाला होनेसे, भय भी एक अंशमें प्रभुकी प्राप्ति करवानेमें भक्तिरूपमें कारणरूप है क्योंकि ''भयात् कंसः'' भयसे कंसको प्रभुपदकी प्राप्ति हुई थी, ऐसे श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट बताया गया है. इस कारण प्रभुको कालरूपमें वर्णित किया गया है. आदिकाल परमेश्वर है उनका लय नहीं होता. ऐसे यह नाम ''सदा निरस्तकुहकम्'' ये चौथे चरणके पदका तात्पर्य है.

(८) सर्वकालः.

(१)सर्व, आदि मध्य एवं अंतरूप काल वो सर्वकाल. (२)सबमें प्रेरणा करनेवाला काल (३)सर्व दिशाओंमेंसे सर्व सुखको ग्रहण करनेवाला काल.

प्रभु सर्वके कालरूप हैं. आदि मध्य एवं अंत होना भी कालरूप परमात्मा ही है. वोही सबमें प्रेरणा करनेवाला है. वोही सबकी प्रलय करता है. जैसे मकड़ी अपनी लारसे जाला बनाती है और बादमें वो सब अपनेमें ही खेंच लेती है. वैसे ही भगवान भगवान् भी अपने श्रीअंगमेंसे ही यह सारे जगतको उत्पन्न करके स्वयं ही सबका संहार करके अपने अंगमें ही समा लेते हैं. इस कारण सर्वके कालरूप प्रभु ही हैं. गीतामें भगवानने आज्ञा की हैः ''मैं ही सब लोकोंका आदि मध्य और अंत काल हूं''; ''ये अनन्त कालपरमात्मा सब जगतमें प्रेरणा करनेवाला है''. इत्यादि वाक्योंसे भी सर्वकालरूपता प्रभुकी ही सिद्ध होती है. 'सर्व'शब्दसे तीनों कालमें अबाधित अर्थात् सत्यस्वरूप काल भगवान् हैं इसलिये ''सत्यं परं धीमहि'' ये चतुर्थ चरणके अंतिम पदके गुप्तभावका अनुसरण करता है.

(९) कालात्मा.

(१)कालकी आत्मास्वरूप है. (२) काल=रुद्र है आत्मा–अहंकार जिसके. (३)कालमें धर्मका नाश होता है उस समय जिसकी आत्मा अवतरित होती है.

प्रभुका स्वरूप कालरूपमें भी वर्णित किया जाता है. आप अपने ऊपर द्वेषभाव रखनेवालोंको कालरूपमें दिखाई देते हैं. जैसे कि 'मृत्युर्भोजपतेः' भगवान्के दर्शन भोजपति कंसराजाको रंगमंडपमें कालरूपसे हुये थे ऐसा भागवतमें दर्शाया है. गीताजीके विभूतियोगमें भगवान् उपदेश दे रहे हैं कि ''कालका भी मैं काल हूं. मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूं. और कभी भी क्षयको प्राप्त नहीं होता काल हूं''. इत्यादि वचनों द्वारा कालस्वरूप आप ही हैं. ''जब जब धर्मका नाश होता है तब तब धर्मस्थापनकेलिये अपनी आत्माको प्रकट करता हूं'' अधर्मकी वृद्धि करनेवाले दुष्टोंके काल तो प्रभु ही हैं. हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यपु आदि दुष्ट दैत्योंका हरिने स्वयं कालात्मा होकर अवतार ग्रहण करके, उनके काल होकर, संहार किया है एवं सत्य धर्मका स्थापन

किया है, यह प्रसिद्ध ही है. इस कारण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको कालात्मा कहा. यह नाम धर्मसंस्थापनाके हेतुको सूचन करनेवाला होनेसे ''धर्मः प्रोज्झितकैतवोत्र परमः'' इस दूसरे श्लोकके प्रथम चरणके गूढ भावका स्फुरण करवाता है.

(१०) माययावृतः.

(१)मायासे आवृत्त (२)माया–लक्ष्मी–सौन्दर्य शोभा इत्यादि रूप, लक्ष्मीसे सेव्य समझ कर स्वीकार करा हुआ. (३) माया द्वारा स्पर्श नहीं होनेवाले.

माया–अविद्यासे परमात्माको आवृत्त कहा उसका तात्पर्य यह है कि अक्षरसे परे प्रभुको प्राप्त करनेमें मायाही अंतरायरूप होती है. जब तक मायाका पराभव नहीं किया जाय वहां तक भगवत्स्वरूपका लाभ प्राप्त नहीं हो सकता. इस कारण मायासे आवृत्त प्रभुको कहा है. ये माया भगवानसे भिन्न नहीं है परन्तु भगवद्रूप ही है. पूर्ण पुरुषोत्तमके दिव्य स्वरूपमें माया वनमालाके रूपमें बिराजमान होकर आसुरी जीवोंको महामोह उत्पन्न करती है एवं सरलभावसे जो प्रभुके चरण शरणमें जाते हैं उनको वो महामोह उपजानेवाली होते हुवे भी कुछ कर नहीं सकती. यही आज्ञा गीताजीमें प्रभुने की है ''मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते'' जो मेरी शरणमें आते हैं वो मेरी मायाको तर जाते हैं. माया मोह करनेवाली होनेसे असुरोंको निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमें अन्यथाकल्पना उसमें क्या आश्चर्य? श्रीकृष्णके श्रीअंगमें कंठसे लेकर पादपर्यन्त लम्बायमान सर्पाकार बिराजती वनमालारूप महामायासे आसुरी जीवोंको महामोह प्राप्त हो वो तो संभवित है ही. कंटकयुक्त सुगंधित दिव्य गुलाब इतरके पुंजको कोई पापी बन्दर नष्ट कर देगा परन्तु उसे कोई अलौकिक मधुर मकरंद रसका भोगी भंवर कभी भी नष्ट नहीं करेगा. मत्सर रहित ऐसे सत्यपुरुषोंको ही ऐसा अधिकार होनेसे यह नाम ''निर्मत्सराणां सताम्'' ये द्वितीयपदका गुप्त आशय है, ऐसा समझना.

(११) भक्तोद्धारप्रयत्नात्मा.

(१)भक्तोंके आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक ऐसे तीनों तापोंको दूर करनेके प्रयत्नमें जिसका अंतःकरण लगा हुआ है. (२) भक्तोंके उद्धारके लिये अलौकिक भगवल्लीलामें प्रवेश करवानेकेलिये साधनरूप ऐसे पुरुषोत्तम.

भक्तोंके सांसारिक त्रिविध तापोंको दूर करके उनका उद्धार करनेवाले तो केवल प्रभु ही हैं. आप इसी कारण वारम्वार भूतल पर प्रकट होते हैं. सर्वसाधनसे हीन दीन भगवदीयोंका उद्धार हो ये ही आपके प्राकट्यका मुख्य हेतु होता है. क्योंकि ऐसे भगवज्जनोंको तो आपके चरणोंके अतिरिक्त दूसरी कोई ठौर ही नहीं है. अतएव प्रभु सिवा उनका उद्धार कौन कर सकता है? इसलिये दयानिधि स्वयं ऐसे भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेकेलिये प्रकट होकर उनको अपनी शरण लेते हैं. उनके अनन्तकालके

वियोगजनित तापोंको दूर करते हैं. आपके प्राकट्यका हेतु भक्तोंके उद्धार करनेके अतिरिक्त और कुछ दूसरा नहीं होता. अतएव भक्तोंको ये ही जानना चाहिये और प्रभुका आराधन ही करना चाहिये. यह नाम ''वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु'' द्वितीय श्लोक दूसरे चरणके पूर्व पदका गुप्त हेतु बताता है.

(१२) जगत्कर्ता. स्थावर-जंगमरूप जगतके कर्ता, रचनेवाले.

प्रभुने अपने श्रीअंगमेंसे ही जगतको प्रकट किया है. जैसे घड़ेमें कुम्हारका प्रत्यक्ष कर्तापना है वैसे. इसमें फर्क इतना है कि कुम्हार मिट्टी, चक्कर, डण्डा इत्यादिका आश्रय लेकर घड़ेकी रचना करता है, परन्तु प्रभु तो स्वाश्रयसे ही जगतकी रचना करते हैं. ईश्वर अतिरिक्त दूसरा कोई भी पदार्थ अस्तित्वमें नहीं होनेसे भगवान् स्वयं ही जगद्रूप बनते हैं. जैसे मिट्टीमेंसे अनेक बर्तन बनते हैं और उन सबमें मिट्टी अपने मूलरूपमें भासित होती है, जैसे सोनेके आभूषणोंमें सोना भासित होता है, उसी प्रकार ये अखिल जगत् भगवत्स्वरूप होनेसे ज्ञानीयोंको जगतमें अनेक पदार्थोंमें भगवान् ही दृष्टिगोचर होते हैं. अर्थात् सबमें भगवानके ही दर्शन होते हैं. ''यह सब दृष्य जगत् परमात्मा ही है''. ''यह सब स्थावर जंगमात्मक केवल ब्रह्म ही है''. ''इस जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लय प्रभुसे ही, प्रभुमें ही होती है''. ''ऋषि, पितृ, देव, महाभूत, धातु इत्यादि स्थावर जंगम यह जगत् नारायणसे ही प्रकट हुआ है''. ''मैं सबको उत्पन्न करनेवाला हूं. मुझसे ही सब कुछ निभ रहा है'' इत्यादि श्रुति, ब्रह्मसूत्र, स्मृति, गीता इत्यादि के वाक्योंसे स्थावर जंगमात्मक अखिल जगत् परब्रह्म पुरुषोत्तमसे ही प्रकट हुआ है, ऐसा सिद्ध होता है. इस कारण जगत्कर्ता प्रभुको कहा गया. यह नाम कर्तृत्व प्रतिपादक होनेसे निजभक्तोंकी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला है, कल्याण करनेवाला है, ऐसा भी आशय है. अतएव यह नाम 'शिवम्' द्वितीय श्लोक दूसरे चरणके उत्तर पदका गूढ भाव है.

(१३) जगन्मयः. जगत् रूप प्रभु.

आप जगत्के कर्ता-रचयिता हैं, ऐसा बताया गया है. शंका होती है कि कुम्हार मिट्टीसे पात्रादि बनाता है वैसे भगवान् भी मायासे ही इस जगतको बनाते होंगे? इस शंकाके निराकरणकेलिये इस नामका योजन किया है. जगतको रचा ही नहीं है, पर जगद्रूप स्वयं बने हैं. ''भूत एवं भावी यह सर्व विश्व परमात्मा ही है''. ''मेरे अतिरिक्त दूसरी कुछ भी वस्तु है ही नहीं'' ''तारे, भुवन, वन, पर्वत, दिशायें, नदी, सागर इन सर्वमें व्याप्य रहा हुआ विष्णु ही है; उसके बिनाकी कोई भी वस्तु नहीं है''. इत्यादि श्रुति, स्मृति, गीता, पुराण वाक्योंसे सर्वरूप प्रभु ही हैं. ''हरिरेव जगद् जगदेव हरि'' (हरि ही जगत् है, जगत् ये ही हरिस्वरूप है) जगत्को मायिक मानना आसुर भाव है.

गीतामें प्रभु आज्ञा करते हैं ''जो जगत्को असत्य एवं ईश्वर रहित मानते हैं, वे आसुरी जीव माने जाते हैं''. अतएव ब्रह्मवादको माननेवाले जगत्को ब्रह्मरूप सत्यही मानते हैं, ये शास्त्र सम्मत है. प्रभु जगत्स्वरूप होनेसे निज भक्तोंको जैसे-जैसे भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होनेकी इच्छा होती है, वैसे-वैसे स्वरूप सब जगह सुलभ रीतिसे प्राप्त कर सकते हैं. और उनके तीनों ताप दूर हो जाते हैं. इसके लिये यह नाम ''तापत्रयोन्मूलनम्'' ये द्वितीय श्लोक, दूसरे चरणके अंतिम पदका आशय स्फुट करता है.

नामलीलापरो विष्णुः व्यासात्मा शुकमोक्षदः ।
व्यापिवैकुण्ठदाता च श्रीमद्भागवतागमः ।।११।।

(१४) नामलीलापरः.

नामको प्रवृत्त करनेवाली लीलाओंमें विराजमान अथवा जो नाम और लीलाओं से परिपूर्ण हैं, अथवा जो अपने नाम तथा लीला को प्रवृत्त करनेवाले हैं.

प्रभु निरन्तर लीला ही करते हैं. इस कारण उनकी विविध नौतन लीलायें होती ही रहती हैं. इस जगत्के सर्व व्यवहार प्रभुकी लीला होनेसे चल रहे हैं, और वो लीलायें ही प्रभुके नामोंका प्रवर्तन कर रही हैं. वेदादि शास्त्रोंमें, जो सर्ग, विसर्ग, स्थिति, पोषण, मन्वंतर, ऊति, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय इत्यादि लीलायें प्रतिपादित हैं, वो सब पुरुषोत्तमकी लीला ही है, चरित्र ही हैं. उन लीलाओंके विविध प्रकार होनेसे उनके नामोंमें भी विविधता है. भगवान्के नाम और लीलायें सर्वश्रेष्ठ हैं. उस कारण बड़े-बड़े महात्मा भी विस्मय पाकर उन नामोंका तथा लीलाओंका स्मरण, श्रवण, मनन, कीर्तन करते रहते हैं. भगवान्के नामोंका माहात्म्य पुराणोंमें उत्तम रीतिसे वर्णित हुआ है. बृहन्नारदीय पुराण कहता हैः ''हरिनाम हरिनाम ही हमारा जीवन है, उसके अतिरिक्त इस कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है''. पद्मपुराणमेंः ''सब धर्मोंसे वर्जित हुआ भी केवल भगवन्नामोंका ही स्मरण करनेवाला, जो गति धार्मिक पुरुष प्राप्त नहीं कर पाते, वैसी उत्तम गतिको प्राप्त करता है'' इत्यादि वाक्य प्रभुके नामस्मरणके प्रभावको बताते हैं. एक स्थानमें तो यहां तक कहा हैः ''पापके नाश करनेकी शक्ति जितनी प्रभुके नाममें रही हुई है उतनी शक्ति पापके करनेवाले पुरुषमें भी हो नहीं सकती''. अतएव प्रभुके नामस्मरणकी इतनी महिमा है कि आपके नाम लेनेसे कोटि जन्मोंके पाप भी भस्मीभूत हो जाते हैं. ये ही वास्तवमें प्रायश्चित है. नामस्मरणके बाद पाप करनेमें प्रवृत्ति ही समाप्त हो जाती है. अतएव नामके सन्मुख पापोंका अपराधी खड़ा रह ही नहीं सकता. वह पापोंसे निर्लिप्त हो जाता है. प्रभुकी लीलाचरित्रोंको जाननेसे, उनका मनन करनेसे मनुष्यकी उत्तम गति हो जाती है. अतएव भगवान्के चरित्रोंको श्रवण करके, उनका चिंतन करनेवाला श्रद्धावान् बन जाता है. श्रद्धालु होनेके बाद भगवज्ज्ञानमें निपुणता प्राप्त करता

है. उपरांत प्रभु पर भाव प्रगट होता है. उसके बाद आगे बढ़ता हुआ भक्तियुक्त बनकर परमपद प्राप्त करता है. अर्थात् भगवल्लीलामें प्रवेश करता है. श्रुति कहती है ''मैंने आपको जो कहे उन विष्णुके कर्मोंको-चरित्रोंको देखो और जानो''. गीतामें आज्ञा की है : ''हे अर्जुन! मेरे दिव्य जन्म, कर्म एवं चरित्रोंको जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह इस देहको त्यागकर पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता, मुझे ही प्राप्त करता है''. इत्यादि श्रुति-स्मृतिपुराणादि वाक्योंसे भगवान्की नामलीला-ओंकी श्रेष्ठता बतायी. श्रीभागवत भी भगवान्की नामलीलाओंका प्रतिपादन करती है. यह नाम भी प्रभुके नामलीलाओंका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे ''श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैः'' यह द्वितीय श्लोकके तृतीय चरणके पदका गूढ़ तात्पर्यका स्फुरण कराता है.

(१५) विष्णुः. विश्वमें व्यापक.

विष्णु अर्थात् सत्त्वगुणाधिष्ठाता शेषशायी विष्णु नहीं परन्तु अखिल विश्वमें व्यापक परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र विष्णु, जो जगत्से अभिन्न है. जैसे आकाश सबमें पटतंतुवत् व्याप्त है वैसे प्रभु भी सर्वविश्वमें व्याप्त हैं. जैसे सर्प अपनी इच्छासे कुंडलीरूप हो जाता है, वैसे परमात्मा स्वयं निजेच्छासे जगद्रूप होते हैं. इसी कारण प्रभु और जगत् में पटतंतुवत् ओतप्रोत संबंध बताया गया है. प्रभुके व्यापकता श्रुति बताती हैः ''अन्तर और बाहर जो सर्व प्रकाशमान् दीखनेमें आता है उन सबमें विष्णु ही व्याप्त है ''विश प्रवेशने'' (सर्व विश्वमें जैसे मनकोंमें धागा प्रवेश करता है वैसे ही प्रभु प्रविष्ट हैं). इसीलिए वेदोंमें एवं पुराणोंमें 'विष्णु' कहा गया है. ''यस्मात् सर्वम् इदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः, तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विश धातोः प्रवेशनात्, विशप्रवेशने धातोः ततो नु प्रत्ययादनु, विष्णुर्यः सर्ववेदेषु परमात्मा सनातनः'' यह विष्णुपुराणका वचन भी 'विश्' धातुमें 'नु' प्रत्यय लगानेसे 'विष्णु'शब्द बनता है. अर्थात् अपनी शक्तिसे सारे विश्वमें प्रवेश करनेवाला, जिसको सारे वेदोंमें सनातन-सदावर्तमान भगवान् कहा गया है वो ही विष्णु है. व्यापक वस्तुओंका सब जगह लाभ होता है. इससे निजभक्तोंको उसकी प्राप्ति होनी सर्वत्र सुलभ है. इसकेलिये यह नाम ''सद्यो हृदि अवरुध्यते अत्र कृतिभिः शुश्रूभिः तत्क्षणात्'' यह द्वितीय श्लोक तीसरे चरणके अंतिमपद तथा चौथे चरणके गूढ आशयको स्फुट करता है.

(१६) व्यासात्मा.

(१)पराशरपुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास जिनके आत्मा अर्थात् अवतार हैं, ऐसे पुरुषोत्तम. (२)व्यास=वेदरूप वृक्षका विस्तारक उनकी आत्मा अर्थात् साररूप फल.

भारतवर्षमें २८ व्यास हो गये हैं. उन सबमें कृष्णद्वैपायन ही मुख्य माने जाते हैं. क्योंकि वेदका विभाग करना तथा महाभारत आख्यान प्रकट करनेकेलिये प्रभुने ही

यह कार्यावेश ग्रहण किया है. वो अंशावतार व्यास कार्यके समय तो साक्षात् ईश्वर ही हैं. इस कारण यहां व्यासात्मा–व्यासस्वरूप पुरुषोत्तम ऐसा कहा है. और पुराणमें भी आता है कि ''कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुं, को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान् महाभारतकृद् भवेत्'' (कृष्णद्वैपायन व्यासको नारायण प्रभु मानो क्योंकि कमलनयनके अतिरिक्त कौन महाभारतका कर्ता हो सकता है?) महाभारत जैसे महान ग्रन्थकी रचना कोई साधारण काम नहीं है. इसकेलिये ईश्वरांशकी आवश्यकता है, ऐसा सोचकर प्रभुने ही वेदोंके विभाग करनेकेलिये तथा महाभारत, श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंके निर्माण करनेकेलिये ही श्रीव्यासरूपमें भूतल पर अवतार लिया. फलात्मक श्रीमद्भागवतको प्रकट करनेवाले श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास होनेसे यह नाम ''निगमकल्पतरोः गलितं फलम्'' ये तृतीय श्लोक प्रथम चरणका गूढ भावार्थ सूचित होता है.

(१७) शुकमोक्षदः. शुकदेवजीको मोक्ष देनेवाले.

शुकदेवजीको मोक्ष–मायाके बंधनसे मुक्त करनेवाले स्वयं श्रीभगावान् ही हैं. शुकदेवजीको मायामें लीन होनेके भयसे गर्भसे निकलनेकी इच्छा नहीं थी परन्तु जब अपने पिता व्यासजीका बहुत आग्रह देखा तब मायाके बंधनसे छूटनेकी प्रभुसे प्रार्थना की और फिर प्रकट हुये. उनकी प्रार्थनाको ध्यानमें रखते हुये उनको मायाका बंधन न हो ऐसी कृपा की. अतएव शुकदेवजी बाल्यावस्थासे ही भगवदीय बने. उनका सर्वमें भगवदभाव है. स्त्री अथवा पुरुष ऐसा भेद भी उनके हृदयमें उत्पन्न नहीं हुआ. अतएव शुद्ध अद्वैतभावमें लीन भगवदासक्त होनेसे वे भगवद्रूप ही हैं, मुक्त दशामें हैं. भगवद् लीलाओंके प्रत्यक्ष निरीक्षण करनेवाले हैं. इसी कारण ''शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम्'' श्रीशुकदेवजीके मुखसे द्रवित अमृतका ही रूप श्रीमद्भागवत है, ऐसा बताया गया है. ये तीसरे श्लोकके द्वितीय चरणके गुप्त हेतुको बतानेवाला है.

(१८) व्यापिवैकुंठदाता. व्यापिवैकुंठको देनेवाले.

अपने परम भक्तोंको व्यापक ज्ञानघन ब्रह्ममय अर्थात् जहां जानेके बाद पुनः जन्म मरण नहीं होता, संसारकी माया बाध नहीं करती और जहां प्रभुका सन्निधान ही सदा रहता है, वैसे निजधामके देनेवाले श्रीपुरुषोत्तमके निवासस्थानको–वैकुंठ लोकका ज्ञानघनपना है. अथर्वोपनिषद्में दर्शाया गया है कि : ''जो कोई वैकुंठभवनको प्राप्त करेगा वो इस कमलकोशरूप विश्वका अधिकसे अधिक उत्तमज्ञान है''. अर्थात् जिस धामको प्राप्त करनेके बाद दूसरा कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता. श्रीभगवानने गीतामें उपदेश दिया है कि : ''जिसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते तथा जहां जाकर फिर लौटकर नहीं आना पड़ता, पुनर्जन्म धारण नहीं करना पड़ता, वो मेरा धाम है''. वो धाम प्रभु अपने एकांतिक भक्तोंको प्रदान करते हैं. दूसरोंको उस

आनन्दमय धामकी प्राप्ति नहीं होती. इस नामके अंतमें 'च' शब्द यह समझानेकेलिये दिया है कि व्यापिवैकुंठमें निवास देनेवाले पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं.

इन सभी नामोंको 'श्रीकृष्णः' इस मुख्य नामका विशेषण ही जानना चाहिए. पूर्ण पुरीषोत्तम श्रीकृष्णकी लीलाओंका ही विस्तार यह सहस्रनाम द्वारा करनेमें आ रहा है. यह नाम वैकुंठप्राप्तिरूप आनंदरसके स्वादका प्रकाश करनेवाला होनेसे ''पिबत भागवतं रसम्'' इस तृतीय श्लोकके तीसरे चरणके पूर्व पदका गूढार्थ प्रकट करता है.

(१९)श्रीमद्भागवतागमः.

(१)शोभायुक्त जिनका भागवत शास्त्र है अर्थात् श्रीमद्भागवत संहिताकी जिनके द्वारा उत्पत्ति हुई है. (२)श्रीमद्भागवतका सर्व प्रकारसे बोध करानेवाले; (३)मदनके मदकी श्रीको संपादन करनेवाला भाग्य रहित इसको नहीं जान सकता ऐसा.

श्रीमद्भागवत केवल भगवानकी लीलाओंका ही प्रतिपादन करता है. अर्थात् उसमें श्रीपुरुषोत्तमकी आनन्दमयी दशविध लीलातिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है. वास्तवमें श्रीभागवत तो एक आनन्दसुधारसका सागर ही है. क्योंकि इसमें मत्सररहित ऐसे भगवदीय सज्जनोंके निष्कपट फलरूप भगवद्धर्मोंका ही वर्णन है. अतएव भागवत शास्त्र शोभासंपन्न होकर भगवानके संबंधसे ही जुड़ा हुआ है. और उसका बोध करवानेवाले भी आप ही हैं. आरम्भमें ''तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये'' आदिकवि ब्रह्मदेवके अंतरमें श्रीभागवतका विस्तार करनेवाला सत्य और सबसे परे ऐसे पुरुषोत्तमको ही माना है. अतएव स्वयं ही उसका उपदेश करनेवाले हैं. अर्थात् श्रीमद्भागवतकी उत्पत्ति भी आपसे हुई है. स्वयंकी दिव्य लीलाओंको प्रकट करनेमें आपके अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है? कोई भी नहीं. उसकी उत्पत्ति भी प्रभुसे ही होती है, व्यास तो मात्र उसके विस्तार करनेवाले हैं. समाधिमें उनको भागवतकी स्फूर्ति नारदजीके उपदेशसे हुई. समाधिमें जिस प्रकार भगवान्की लीलाओंकी स्फूर्ति हुई उसी प्रकार व्यासजीने उनका विस्तार किया. ऐसा होते हुये भी कार्यावेशी भगवान् होनेसे सर्वथा स्वयं प्रभुही उसको प्रकट करनेवाले हैं, यह सिद्ध होता है. कामके फेरमें पड़े हुये मदोन्मत्त संसारकी सेवामें आसक्त हुये दुर्जनको-दुर्भाग्यवानोंको भगवान् प्राप्त नहीं हों तो इसमें क्या आश्चर्य? प्रभु तो केवल प्रेमसाध्य हैं. जिसको संसारमें प्रेम-मोह हो, विशेष करके मदनविलासको ही अपना कर्तव्य माना हुआ हो, उसको तो प्रभु पास होते हुये भी दूर ही हैं. अतएव भाग्यहीन प्रभुको नहीं जान सकते ऐसा कहनेका अभिप्राय है. भगवद्रूप होनेसे भागवत रसका आलय-स्थानरूप है. रसिक एवं भावुक भक्तों द्वारा सेवन करने योग्य है. इसलिये यह नाम ''रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भाविकाः'' ये तृतीय श्लोकके चौथे चरणके गूढ भावको दर्शानेवाला है.

यहां तक १९ नाम 'जन्माद्यस्य' श्लोकसे लेकर 'निगमकल्पतरोः' श्लोक पर्यन्त गूढभावोंको दर्शानेवाले हैं. ये श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कंधके प्रथम अध्यायके प्रथम तीन श्लोकोंमें इन १९ नामोंका समावेश हो जाता है. ये उन गूढ़ आशयोंको प्रकट करनेवाले हैं. अब बादमें आनेवाले नामोंको प्रकरणार्थको दर्शानेवाले श्लोकसमुदायके अर्थको एक नाममें प्रतिपादन करनेवाला सूत्ररूप समझना.

शुकवागमृताब्धीन्दुः शौनकाद्यखिलेष्टदः ।
भक्तिप्रवर्तकस्त्राता व्यासचिन्ताविनाशकः ।।१२।।

(२०) शुकवागमृताब्धीन्दुः. शुकदेवजीकी वाणीरूप अमृतसागरके चंद्र.

श्रीशुकदेवजीकी वाणीरूप अमृत-सुधा श्रीमद्भागवत ही है. इस कारण ''शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम्'' ऐसे कहा है. श्रीभागवत केवल अमृत ही है ऐसा नहीं, लेकिन अमृतका सागर है. जैसे सागरमें गंभीरता आदिगुण होते हैं, वैसे ही श्रीमद्भागवतमें भी गंभीरता, उदारता इत्यादि गुण रहे हुये हैं. क्योंकि उसके पाठ-अभ्यास करनेवालोंको वो गुण प्राप्त हुये देखा जाता है. समुद्रमें जैसे चौदह रत्न हैं वैसे श्रीमद्भागवतमें विवेक, धैर्य आदि दैवीसंपत्ति रूप अनेक रत्न भरे हुवे हैं. जैसे सागरका मंथन करके अमृतनिधि चंद्रमा प्रकट हुआ है वैसे ही श्रीमद्भागवतसागरका मंथन करके सुधानिधि-आनन्दरसरूप श्रीकृष्णचंद्र हृदयाकाशमें प्रगट होते हैं. श्रीभागवत सागरके चंद्र ऐसे श्रीपुरुषोत्तम, श्रीभागवत ये श्रीशुकदेवजीके वचनामृत हैं. प्रभुने ही श्रीशुकदेवजी तथा परीक्षित द्वारा भूमिमें भागवतका प्रचार-प्रसार किया है. श्रीशुकवचनामृत(भागवत) रूपी सागरद्वारा श्रीकृष्णचन्द्रका भूतलपर प्रकाश हुआ है, अतएव वो उसके चन्द्ररूप हैं.

(२१) शौनकाद्यखिलेष्टदः. शौनकादि मुनियोंको सर्वोत्तम वस्तु-भक्ति देनेवाले.

नैमिषारण्य क्षेत्रमें कर्मनिमित्त सर्व मुनिजन एकत्रित हुये थे परन्तु दैवेच्छेसे सूत पुराणी वहां आये. उनसे श्रीमद्भागवत सम्बंधित पूछा गया. इस प्रकार शौनकादि मुनियोंको श्रद्धापूर्वक भगवद्गुणानुवाद श्रवणकी जिज्ञासा हुई. ये प्रभुकी इच्छाके बिना होना अशक्य है. कर्मको गौण मानकर प्रभु पर भक्ति होनी, प्रभुकी ही इच्छा एवं प्रेरणा है. अतएव सर्वसे उत्तम ऐसा भक्तियोगको देनेवाले पुरुषोत्तम हैं. कारण कि उनके अनुग्रह बिना उत्तम भक्तियोग मिलना दुर्लभ है.

(२२) भक्तिप्रवर्तकः. भक्तिका प्रचार करनेवाले.

शौनकादि मुनि सर्व वेद, इतिहास, पुराणों के ज्ञाता होनेसे उनको कर्म तथा ज्ञान सिद्ध हुआ है. परन्तु भगवानके अनुग्रहसे ही केवल मिल सके वैसा भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होनेसे, उसकी सार्थकता करनेकेलिये प्रभुने ही कृपा करके उनके हृदयमें

भक्तिमार्ग स्थापन किया. मुनियोंने सूतपुराणीसे भगवत्सम्बन्धी प्रश्न पूछा है. उसका कारण भी ये ही है. अतएव भक्तिमार्गका प्रवर्तन करनेवाले प्रभु हैं ऐसा कहा.

(२३) त्राता. रक्षण करनेवाले.

स्वयं भक्तिमार्गका स्थापन करनेवाले होनेसे निज भक्तों पर कृपा कर उनका रक्षण करनेवाले हैं. अर्थात् उनके अनेक दुःखों एवं दुर्गुणोंको दूर करनेवाले आप ही हैं. उनके अशुभ टल जाते हैं तथा पापपुंज भी नष्ट हो जाते हैं. पुराणमें कहा गया है कि ''न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः, भवति कृतपुण्यानां भक्तां पुरुषोत्तमे, न वासुदेवभक्तानाम् अशुभं विद्यते क्वचित्, जन्ममृत्यु-जरा-व्याधि-भयं नाप्युपजायते'' (पुरुषोत्तममें भक्तिवाले पुण्यवान भक्तजनोंको क्रोध, मत्सर, लोभ, अशुभ बुद्धि इत्यादि कोई भी दुर्गुण छू नहीं सकता. वैसे ही वासुदेव श्रीकृष्णके भक्तोंका किसी भी दिन कुछ भी अशुभ, अमंगल हो नहीं सकता. और जन्ममरण, जरा, रोग इत्यादिका भय भी उनको उत्पन्न नहीं होता.) प्रभु ही सर्वथा उनका रक्षण पालन करते हैं, इस कारण उनको हमेशा सुख-शान्ति ही रहती है. बृहन्नारदीय पुराणमें कहा गया हैः

''यस्य देवे पराभक्तिः विभौ नारायणेऽव्यये. तस्य स्यात् सफलं जन्म मुक्तिश्चैव करे स्थिता, धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था द्विजोत्तमाः, हरिभक्ति पराणां वै सम्पद्यन्ते न संशयः, यथा जलौकसां नित्य जीवनं सलिलं मतम्, तथा समस्तसिद्धानां जीवनं भक्तिरिष्यते, यथा भूमिसमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः, तथा भक्तिं समाश्रित्य सर्वकर्माणि साधयेत्''

(जिसको निर्विकार नारायण प्रभुमें पूर्ण भक्ति होती है उसका ही जन्म सफल है. उसीके हाथमें मुक्ति है. हे विप्रवर्य! श्रीहरिकी भक्तिमें परायण बने लोगोंको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष संज्ञक चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है. जैसे जलमें रहनेवाले जीवोंका जीवन जल ही है, वैसे ही सब सिद्ध महात्माओंका जीवन प्रभुकी भक्ति है. जैसे भूमिका आश्रय कर सारे जीव जंतु जीते हैं, वैसे परमात्माकी भक्तिका आश्रय करके सर्व कर्म सधते हैं.) इत्यादि वचनो द्वारा भक्ति ही प्रभुकी प्राप्तिमें मुख्य साधन है, ऐसा सिद्ध होता है. इस प्रकारकी उत्तम भगवद्भक्तिका प्रवर्तन निज भक्तोंके रक्षण करनेवाले प्रभु-श्रीपूर्णपुरुषोत्तम हैं. इस कारण त्राता अर्थात् भक्ति द्वारा समर्पित भगवदीय जनोंका रक्षण करनेवाले परमात्मा.

(२४) व्यासचिन्ताविनाशकः. व्यासजीकी चिन्ताका विनाश करनेवाले.

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकी चिंताको विशेष कर दूर करनेकेलिये प्रथम स्कन्धका ''अथापि बत ते दैह्यो'' ये श्लोक बताते हैं कि : स्वयं श्रीव्यासजी ''अरे! मेरे देहमें रहा हुआ जीव, सर्व वस्तुओंसे पूर्ण ब्रह्मरूप, तेजस्वी और महासमर्थ होते हुवे भी क्यों अपूर्ण जैसा भासित होता है?'' ऐसे विचारमें निमग्न होकर चिंतातुर हो रहे थे. उस

समय नारदजीने आकर उनकी चिंताको दूर किया. यहां नारदजी स्वयं कार्यावेशी भगवान् हैं अतएव व्यासजीकी चिंताको दूर करनेकेलिये नारदरूपमें स्वयं आप भगवान् पधारे हैं ऐसा समझना चाहिए. नारदरूपमें पधारे भगवानने व्यासजीको कहा : ''जो मनोहर पदकी रचनावाले चित्रमय वचन, जगतको पवित्र करनेवाले श्रीहरिके यशको नहीं गाते, वो वचन काकतीर्थको अर्थात् कामी पुरुषोंके मनकी प्रीतिको अपना स्थान बनाते हैं. जैसे मानसरोवरमें निवास करते हंस कमनीय कमलवनका वास छोड़कर कौओंके रमणस्थलमें रमण नहीं करते वैसे मनमें निवास करते-मनन करते, मनोहर परमात्माका सेवन करनेवाले हंस-महात्माजन वैसे स्थलको स्वीकार नहीं करते''. हे व्यास भगवन् ! आप सर्व चिंताओंको छोड़कर प्रभुके गुणानुवादको गान करो. उनकी लीलाओंका वर्णन करो. भगवद्रससुधाका पान करो, जिससे आपकी सारी चिंताओंका नाश हो जायेगा. इस प्रकार व्यासजीकी चिंताको दूर करनेवाले स्वयं भगवान ही हैं.

सर्वसिद्धान्तवागात्मा नारदाद्यखिलेष्टदः ।
अन्तरात्मा ध्यानगम्यो भक्तिरत्नप्रदायकः ।।१३।।

(२५) सर्वसिद्धान्तवागात्मा.

(१) सर्वसिद्धान्तरूप वाणीके स्वरूप. (२)सारे सिद्धान्तोंकी वाणीमें जिसका स्वरूप है ऐसे; (३) सर्व कपिलादि सिद्ध पुरुषोंकी अंतरात्मामें वाणीरूपसे विराजे हुये.

सर्व वाणीओंमें सिद्धान्तरूप वाणी, अर्थात् वादी और प्रतिवादी शास्त्रार्थ करके जिस अर्थका निर्णय करते हैं उसका नाम सिद्धान्त. उसका कथन करनेवाली वाणीको सिद्धान्तवाणी कहा जाता है. सिद्धान्तवाणी फलरूप होती है. अर्थात् वो कोई दूसरी नहीं लेकिन समाधिभाषा-श्रीमद्भागवत ही है. श्रीमद्भागवतको समाधि भाषा कहा जाता है क्योंकि वह भगवान् व्यासजीको समाधिमें उपलब्ध हुई है. ऐसी श्रीमद्भागवत भगवानका ही स्वरूप है. और वेद गीता इत्यादिमें जो सिद्धान्त दिखाये गये हैं उस वाणीमें भी प्रभुका ही स्वरूप है. सिद्धान्त भगवत्संबंधी होनेसे प्रमेयरूप है और प्रमेयबल प्रभुमें ही सम्भवित है. इस कारण ऐसी सिद्धान्तरूप वाणी वो तो भगवन्मयी ही होगी, इसमें संदेहका अवकाश नहीं है. कपिल, सनकादिकोंको सिद्ध पुरुष कहा जाता है. कारण कि उनके अंतरमें निरंतर ब्रह्मज्ञान सिद्ध ही है. वैसे महात्माओंके अंतःकरणमें वाणीरूप प्रभु बिराजते हैं ऐसे माननेका मुख्य प्रयोजन अन्य कुछ नहीं लेकिन उन सिद्धजनोंकी वाणी जहां होगी वहां ब्रह्मका, प्रभुका प्रतिपादन करनेवाली, उनकी भक्ति दर्शानेवाली, ज्ञानका प्रकश करनेवाली ही होगी. अरे! जिनकी वाणीमें श्रीभगवान्ही बिराजते हों वैसी वाणी भगवान्के अतिरिक्त दूसरी लौकिक वस्तुओंका कहांसे वर्णन करेगी? नहीं ही करेगी. इस कारण उनकी वाणीरूप

भगवान् हैं ऐसा कहा ये वास्तवमें निःसंदेह विर्विवाद ही है.

(२६) नारदाद्यखिलेष्टदः. नारदजीको सर्वश्रेष्ठ लाभ प्रदान करनेवाले.

देवर्षि नारद पूर्व जन्ममें दासीसुत थे परन्तु भगवद्भक्त मुनियोंके समागम होनेसे उनमें प्रभुकी पूर्ण प्रेममयी भक्ति प्रकट हुई. उसके प्रतापसे दूसरे जन्ममें ब्रह्मदेवकी मानस प्रजाओंमें नारदजी भी उत्पन्न हुये. उनमें संसारवासना नहीं होनेसे प्रभुकी भक्तिमें लीन रहनेसे उनको देवर्षि भी माना गया है. देवर्षि नारदजीके विमल हृदयकमलमें बिराजमान रहनेसे उनको भगवान्का आविर्भाव अच्छी प्रकारसे प्रकट दिखाई देता है. एक समय प्रभुके पूर्ण आवेशमें श्रीव्यासजीको भगवानके गुणानुवाद गानेकेलिये प्रेरित किया उन परम भगवदीय देवर्षि नारदके ऊपर अनुग्रह करके परम भक्तिरूप सर्वोत्कृष्ट वस्तुका लाभ देनेवाले आप पूर्णपुरुषोत्तम ही हैं.

(२७) अन्तरात्मा. अन्तःकरण–मनरूप प्रभु.

बहुत ही वेगवान कोईसे भी जो न रुके ऐसा समर्थ मन भगवद्रूप है. गीतामें श्रीमुखसे आज्ञा करी है कि ''इन्द्रियोंमें मैं मन हूं''. ''जो–जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस–उसको तू मेरे तेजके अंशकी अभिव्यक्ति ही जान''. इन वचनोंसे मन समर्थ तथा समाधिमें मुख्य होनेसे प्रभुरूप ही है.

(२८) ध्यानगम्यः. ध्यान द्वारा प्राप्त होनेवाले.

ध्यानपूर्वक समाधिमें एक चित्त होकर जाना जा सके वैसे. व्यासजीने सरस्वती नदीके तीर पर अपने आश्रममें आचमन लेकर मनको स्थिर किया. अतएव भक्तियोगसे अच्छी प्रकार निश्चल बने निर्मल अंतःकरणमें प्रथम पूर्ण पुरुषोत्तमके दर्शन करे. उसके बाद आपके आश्रयमें रही हुई निज शक्तिरूपा माया भगवल्लीलाको देख प्रथम स्कन्धके ''आसीनोप उपस्पृश्य'' ''अपश्यत् पुरुषं पूर्ण मायां च तदुपाश्रयाम्'' इन दोनों श्लोकोंमें व्यासजीने ध्यान किया. उसके बाद उन्होंने अपने हृदयमें भगवत्–स्वरूपको निहारा है. एक चित्तसे ध्यान करनेसे अनेक भक्त प्रभुको प्राप्त हुये हैं और होते हैं. अतएव यहां उनको ध्यानगम्य–ध्यानसे प्राप्त हो सकें, ऐसा कहा.

(२९) भक्तिरत्नप्रदायकः. भक्तिरूप रत्नका उत्कर्षपूर्वक दान करनेवाले.

यहां भक्ति अर्थात् भक्तिका तथा उसके साधनरूप श्रीमद्भागवतका दान करनेवाले ऐसा ग्रहण करना चाहिये. भक्तिका अर्पण करनेवाले प्रभु हैं. वैसे ही श्रीमद्भागवतका समर्पण करनेवाले भी वो ही हैं. व्रजभक्तोंको प्रभुने भक्ति दी है. ब्रह्मदेवको विष्णुद्वारा, नारदजीको ब्रह्मदेवद्वारा, व्यासजीको नारदद्वारा, शुकदेवजीको व्यासजीद्वारा, और परीक्षतको शुकदेवजीद्वारा श्रीमद्भागवतका दान देनेवाले आपही हैं और कोई दूसरा नहीं है.

मुक्तोपसृप्यः पूर्णात्मा मुक्तानां रतिवर्द्धनः ।
भक्तकार्यैकनिरतो द्रौण्यस्त्रविनिवारकः ।।१४।।

(३०)मुक्तोपसृप्यः.

मुक्त पुरुष अर्थात् भक्तजन जिनके समीपमें जा सकते हैं अथवा जो भक्तजनके समीपमें जा सकते हैं.

मुक्त भक्तजनोंकी परमगति–सद्गति होती है, वो ही भगवानके चरणारविन्दों को प्राप्त करते हैं. अतएव वो ही उनके समीपमें जा सकते हैं. दूसरे संसारभावनामें रहे होनेसे उनमें भगवद्भावका अभाव होता है, अतएव उनको भगवत्पद कैसे प्राप्त हो सकता है? नहीं मिल सकता. परन्तु उनकी अपने ऊपर पूर्ण निष्ठावाली प्रेमभक्तिको देखकर प्रभु स्वयं ही उनके समीप पधारते हैं. इस कारण उन भक्तोंके तो अहो भाग्य हैं! अतएव भक्तजनोंके समीपमें जा सकें ऐसे पुरुषोत्तम, ऐसे कहा.

(३१) पूर्णात्मा.

(१)परिपूर्ण आत्मावाले (२)भक्तिरसमें पूर्ण भरे हुवेकी आत्मारूप (३)सर्वगुणोंसे जिसकी आत्मा पूर्ण है ऐसे (४)जिसका स्वरूप पूर्ण–व्यापक है ऐसे (५)शुकदेवजी जिसकी आत्मा हैं ऐसे.

पूर्ण आत्मास्वरूप प्रभुके अतिरिक्त कोई हो सकता है? आपके अतिरिक्त सर्वमें जन्ममरण बाल्ययौवन वृद्धत्व इत्यादि धर्म होते हैं. क्योंकि उनमें सांसारिक धर्म दृढ़ रहे हुवे होते हैं. देहके ऊपर अपना भाव मानते हैं. इस कारण वो पूर्ण नहीं हैं. केवल प्रभु ही स्वयं ही पूर्ण हैं, आनन्दमय हैं, इस कारण आप परिपूर्णरूपतया बिराजते हैं. भक्तिरसमें पूर्ण भरे हुवे निजभक्तोंकी आत्मारूप भी आप ही हैं. भक्तजन देह–गेहके अभिमानको दूर करके आपकी भक्तिमें ही आसक्ति रखते हैं. और सर्वत्र भगवद्–भावनासे आपकी सेवा ही करते हैं, इस कारण उनके हृदयमें दयानिधि प्रभु आत्मारूपमें उदित होते हैं. सर्वगुणोंसे परमात्मा ही पूर्ण हो सकते हैं क्योंकि सूर्यमें ताप, चंद्रमें कलंक, समुद्रमें खारापन, इन्द्रमें काम, दुर्वासा प्रभृतिमें क्रोध –इस प्रकार सबमें कुछ न कुछ दोष तो दृष्टिगोचर होते ही हैं. एक हरि ही निर्दोष हैं. सर्वगुणगणरूप मणियोंके आभूषणोंसे प्रभु ही शोभायमान हैं. प्रभुके पूर्ण व्यापकपनेमें श्रुति कहती है ''वृक्षके जैसे जो आकाशमें रहा हुआ है ऐसा उस एक पुरुषसे यह जगत् पूर्णव्याप्त है''. भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं ''मया ततम् इदं विश्वं जगद् अव्यक्तमूर्तिना'' (मेरे सूक्ष्मरूप द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है.) इत्यादि वचनोंसे प्रभुका पूर्णपना एवं व्यापकरूप सिद्ध होता है. श्रीशुकदेवजी स्वयंमें पूर्ण हैं, भगवद्रूप हैं. श्रीमद्भागवतमें ''निवृत्तिमें भगवदानंदमें ही अत्यंत लीन हुये अन्य सर्व लौकिककी उपेक्षा करनेवाले शुकमहामुनि

हैं''. इस वचनमें शुकदेवजीकी पूर्णताको बताया है. इस कारण ऐसे पूर्ण शुकदेवजी भगवानका स्वरूप हों ऐसा कहनेमें कोई गलत बात नहीं है क्योंकि वैसे हुये बिना पूर्णता प्रभुमें कहांसे होगी ?

(३२) मुक्तानां रतिवर्द्धनः.मुक्त ऐसे भक्तोंके प्रेमको बढ़ानेवाले.

संसारके सर्व बन्धनोंसे मुक्त हुवे, प्रभुमें अनुरक्त हुवे निज भक्तोंकी अपने ऊपर रही हुई प्रेममयी भक्तिको बढ़ानेवाले. प्रभुके अनुग्रह बिना उनमें दिव्य रति होनी सम्भव ही नहीं हो सकती, सर्व वस्तुओंके सिद्ध होनेमें प्रभुकी कृपा आवश्यकता है. भगवानका अनुग्रह प्राप्त करनेकेलिये बड़े महात्मा ज्ञान सम्पन्न होते हुवे भी प्रभुमें प्रेममयी निष्कामभक्ति करते ही हैं, उसकेलिये ही भागवतमें कहा गया है: ''प्रभुमें निरंतर रमण करनेवाले, निरभिमानी मुनिवर भी श्रीकृष्णमें निष्काम भक्ति करते हैं. ऐसे प्रकारकी मनोहारी गुणधारी हरि हैं''. इसलिये ही मुक्त भक्तोंकी भी रति-प्रीति बढ़ानेवाले पुरुषोत्तम ऐसा कहा है.

(३३) भक्तकार्यैकनिरतः.

(१)भक्तोंके कार्य करनेमें प्रयत्नशील (२)भक्तोंके भजनरूप एक कार्यमें निरंतर रमण करनेवाले.

दीन भक्तोंके सर्व कार्योंको सफल करनेमें ही प्रभु लीन रहते हैं. व्रजभक्तोंका और वैसे ही युधिष्ठिरादि पांडवोके सारे कार्य सफल करनेमें भगवानने भक्ताधीनता दिखाई है. गीतामें आप आज्ञा करते हैं कि ''जो मेरा भक्त है वो मुझे बहुत ही प्रिय है''. भगवान्को भक्त बहुत प्यारे लगते हैं इस कारण ही उनके समग्र कार्योंको उनकी इच्छा न होते हुये भी स्वयं ही पूरे करते हैं. अतएव ''भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति'' ''हरिरन्यद् विडम्बनम्'' भक्तिसे ही हरि प्रसन्न होते हैं, इसके बिना और कुछ तो विडम्बनामात्र ही है.

(३४) द्रौण्यस्त्रविनिवारकः.

अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रका विशेष करकेनिवारण करनेवाले.

उपर्युक्त नामको सिद्ध करनेकेलिये इस नामको बता रहे हैं. द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पांडवों और उत्तराके गर्भ का विनाश करनेकेलिये ब्रह्मास्त्र छोड़ा था. वहां प्रभुने ही सबकी रक्षा करके सिद्ध किया कि आप भक्तोंके सारे कार्योंको सफल बनाते हैं. अर्जुनने ब्रह्मास्त्रके ऊपर ब्रह्मास्त्र छोड़ा और फिर उसको वापिस लेनेमें पाप उपस्थित होता है ऐसा संदेह उत्पन्न हुआ. धनुर्वेदका नियम है कि अस्त्र जब छोड़ दिया जाय और उसको वापिस लेनेमें मनुष्य दोषवान बनता है, तो ऐसा दोष अर्जुनसे कैसे हो सकता है ? ऐसे विचारमें पड़े हुवे अर्जुनके सर्वनाश होनेका प्रसंग उपस्थित होनेसे उस प्रकारसे करनेकी आज्ञा प्रभुने दी. वैसा करके प्रभुने पांडवोंकी रक्षा करी. उत्तराके

गर्भका रक्षण प्रभुने उदरमें अंगुष्ठ मात्र रूपसे प्रविष्ट कर गदासे करा है.

भक्तस्मयप्रणेता च भक्तवाक्परिपालकः ।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा भक्तानां च परीक्षकः ।।१५।।

(३५) भक्तस्मयप्रणेता.

(१)भक्तोंको स्मय करानेवाले; (२) भक्तोंका गर्व दूर करनेवाले.

भक्त पांडवोंके ''हे अर्जुन! निरापराधी सोतेहुवे बालकोंको मारनेवाले इस दुष्ट ब्राह्मणका वध कर, यह रक्षण करने योग्य नहीं है''. ऐसे ब्राह्मणका वध करनेकी आज्ञा करके श्रीकृष्णने सबको विस्मयमें डाल दिया. एक समय ''ब्राह्मणो मामकी तनुः'' (ब्राह्मण तो मेरा ही तनु है.) ब्राह्मण अपराधी हो तो भी उसका नाश नहीं करना, ऐसी आज्ञा करके फिर आप आज्ञा कर रहे हैं कि ब्राह्मणका वध कर! तो उचित क्या समझना? इस प्रकार अर्जुन इत्यादि पांडवोंको आश्चर्यमें डाल दिया. प्रभु दुष्टके अत्यंत नीचकृत्यको देखकर, युधिष्ठिरादिमें कैसा धर्म है, उनकी परीक्षा करनेकेलिये, मनमें आपके उसका नाश करनेकी इच्छा नहीं थी तो भी अर्जुनको इस प्रकार वध करनेकी आज्ञा की. फिर ब्राह्मणको नहीं मारनेका प्रभुके हृदयका अभिप्राय जानकर उनको आश्चर्य हुआ कि अब अश्वत्थामाको क्या करनेवाले हैं? ऐसा भीमादिको गर्व हुआ था. परन्तु उसके ब्रह्मास्त्रका प्रभाव बताकर उसके प्रति तुम कुछ भी करनेमें शक्तिमान नहीं हो ऐसा बताकर फिर उसका रक्षण भी किया. इस कारण श्रीकृष्ण भक्तोंके गर्वके नाशक हैं.

(३६) भक्तवाकपरिपालकः. भक्तकी वाणीके पालनहार.

भक्तोंकी वाणीको सर्वप्रकारसे पालन करनेवाले परमात्मा हैं. स्वयं ही अश्वत्थामाके वधकी आज्ञा करी थी परंतु ''अपकार करनेवाले गुरुपुत्रको दयादृष्टिसे देखकर सरल स्वभाववाली द्रौपदीने उसके पैरोंको छुआ''. द्रौपदी आपकी भक्त है. इस कारण प्रभुने उसका विचार जानकर अपना जो अभिप्राय, अश्वत्थामाका वध करने संबंधी प्रकट किया था, उसे टालकर भक्तकी वाणीका परिपालन किया अर्थात् अश्वत्थामाका वध नहीं करवाया और अपनी भक्ताधीनता दर्शायी.

(३७) ब्रह्मण्यदेवः.

(१)ब्रह्ममें योग्य ऐसे देव (२)ब्रह्मण्य पुरुषोंमें क्रीड़ा करनेवाले (३)ब्रह्म परायण महात्माओंके द्वारा जिनकी स्तुति हो रही है (४)ब्रह्मण्य महात्माओंको प्राप्त हो ऐसे (५)ब्रह्मनिष्ठजनोंको प्रकाश देनेवाले.

ब्रह्ममें-अक्षरब्रह्ममें योग्य प्रभु स्वयं अक्षरातीत पूर्ण पुरुषोत्तम हैं. अक्षरब्रह्म भी आप ही हैं. अतएव ब्रह्ममें देवता योग्यता प्रभुकी ही है. ब्रह्म-भगवानमें तल्लीन हुवे

पुरुषोंमें अर्थात् व्रजभक्तोंमें क्रीड़ा-रमण करनेवाले आप ही हैं. ब्रह्मनिष्ठ मुनिजन निरंतर संसारवासाको छोड़कर भगवदुपासना करते हैं तो वे परमात्म प्राप्ति करते हैं. प्रभु ऐसे मुनियोंको, भक्तोंको प्राप्त होते हैं, दर्शन देते हैं इतना ही नहीं लेकिन उनकेलिये अवतार ग्रहण करके उनका कार्य साधकर उनको कृतार्थ भी करते हैं. इस कारण ही मुनीश्वर, योगीश्वर, भक्तजन आपकी स्तुति करते हैं, आपको सर्व समर्पण करते हैं. और कहते भी हैं ''नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च'' (गाय तथा ब्राह्मणों का हित करनेवाले ब्राह्मणदेव श्रीकृष्णको नमस्कार हो).

(३८) धर्मात्मा.

(१)धर्म जिनका स्वरूप है ऐसे (२)धर्म युधिष्ठिरके आत्मारूप (३)धर्म केलिये अवतार धारण करनेवाले; (४) धर्ममें जिसका चित्त है ऐसे.

आप प्रभु ही धर्मरूप हैं. धर्मके चार पद माने जाते हैं. सत्य, दया, तप एवं शौच. प्रभुकी प्राप्तिमें सत्यादि चारों पदोंकी मुख्यता है. ये चारों पद सहित धर्मपालन कर प्रभुका सेवन करनेमें आता हो तो प्रभु प्रसन्न होते हैं. इस कारण आप धर्मरूप स्वयं हैं. क्योंकि सत्य-दया-तप-शौच सहित धर्म न हो तो फिर चाहे जितनेभी साधन प्रभुको मिलनेके करो, वो सब वृथा हैं. अर्थात् वैसे प्रकारके धर्मका वारंवार आप रक्षण करते हैं. गीतामें आप आज्ञा करते हैं ''हे भारत! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब तब ही मैं प्रकट होता हूं. साधु पुरुषोंका उद्धार करनेकेलिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेकेलिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेकेलिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूं''. इस प्रकार युग-युगमें प्रभु प्रकट होकर धर्मका रक्षण करते हैं. अतएव धर्म कोई अद्वितीय ईश्वररूप ही व्यक्ति है, इसमें संदेह नहीं है. प्रभुका चित्त भी धर्ममें ही रहा करता है, उस कारण भी आप धर्मका अनुसरण करते हैं.

(३९) भक्तानां च परीक्षकः. भक्तोंकी परीक्षा करनेवाले.

अश्वत्थामाका वध करना चाहिये ऐसी आज्ञा श्रीकृष्णने अन्तःकरण पूर्वक नहीं लेकिन पांडवों तथा द्रौपदीकी परीक्षा करनेके लिये ही की थी. उसके बाद आपने ही उसके सिरके ऊपरकी मणि निकालनेकी तथा उसका मुंडन करके तम्बूके बाहर निकाल देनेकी आज्ञा अर्जुनको दी थी. उसका वैसा अभिप्राय दिखाया है. इस कारण प्रथम करी हुई आज्ञा परीक्षाहेतुके लिये करी थी. इस प्रकार भक्तोंकी अपने ऊपर कैसी प्रीति है तथा धर्म ऊपर कैसी श्रद्धा है उसे जाननेकेलिये प्रभु परीक्षा भी लेते हैं.

आसन्नहितकर्ता च मायाहितकरः प्रभुः ।
उत्तराप्राणदाता च ब्रह्मास्त्रविनिवारकः ॥१६॥

(४०) आसन्नहितकर्ता.

(१)सबका सत्वर हित करनेवाले (२)भक्तोंके अंतरंग कार्योंमें हित करनेवाले.

ब्राह्मण अश्वत्थामाका भीमादि नाश करनेवाले थे लेकिन तुरन्त सर्वके चित्तोंको फेरकर उसका रक्षण करनेरूप हित किया है. कार्य दो प्रकारके होते हैं: १.अंतरंग २.बहिःरंग. अतंरंग अर्थात् गुप्त अलौकिक भगवत्संबंधी कार्य. और बहिःरंग अर्थात् बाहरके व्यवहारमें दीखनेमें आते कार्य. बहिरंग कार्योंमें प्रभु हित करनेवाले हैं. जैसे ऊपर बताये गये द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके अस्त्रका निवारण किया, भक्तोंकी वाणीको सिद्ध करना इत्यादिमें स्पष्ट बताया गया है. अब अंतरंगके अलौकिक भगवत्संबंधी कार्योंमें भी प्रभु हित करनेवाले हैं. उपदेश देकर आत्मस्वरूप दर्शाकर भक्तिको प्रगटाकर भक्तोंके निर्मल हृदयमंदिरमें आप पधारकर उनके अंतरंग कार्योंको भी सिद्ध करते हैं. उस संबंधमें भी प्रभु हित करनेवाले ही हैं. ये प्रसंग गीतामें अर्जुनका हित करनेमें स्पष्ट दिखाई दिया है.

(४१) मायाहितकरः.

(१)माया-लोकरूढी द्वारा हित करनेवाले; (२)मायासे अहित करनेवाले; (३)अपनी मायाशक्तिद्वारा सबका हित(अभय) करनेवाले; (४)मा अर्थात् लक्ष्मी. लक्ष्मी-सम्पत्ति देकर सर्वका हित करनेवाले, माया-लक्ष्मीका हित करनेवाले.

स्वयं प्रभुने लोकरूढीसे धृतराष्ट्रके (पुत्रोंके मरनेसे हुआ) शोकको दूर करने जैसे आचरण किया है. उनको सांत्वनाके वचन कहकर लोकरूढी अनुसार उनको शांत किया है. अपने पुत्रों पर झूठी माया रखनेसे उसका अहित-सर्वस्व नाश हुआ है. ये तो भगवद् इच्छा ही थी. अतएव मायाके मोहमें फंसे मनुष्योंका अहित करनेवाले प्रभु ही हैं. प्रभुके ऊपर भाव नहीं हो और मायामें ममता रखता हो, तो उसका अहित होना तो स्वाभाविक ही है. उसमें अपनी माया शक्ति द्वारा भगवान् सर्वको अभयरूप हितका दान कर रहे हैं. किसी भी मनुष्यकी सम्पत्ति समृद्धिमें वृद्धि होनेका कारण आप ही हैं. अतएव लक्ष्मी-सम्पत्ति द्वारा सर्वका हित ईश्वर ही करते हैं. और माया-लक्ष्मीका हित करनेके लिये प्रभु सत्वगुणात्मक विष्णुरूप प्रकट हुये. ब्रह्मदेवादि सर्व देव होते हुये भी लक्ष्मीजीने आपको वरा और आपने उनको अपना हृदय रूपी रमणीय स्थान प्रदान किया है. इसलिये लक्ष्मीजीका हित करनेवाले प्रभु ऐसा कहा.

(४२) प्रभुः. समर्थ.

परमात्मा सर्व ब्रह्मादि देवोंसे समर्थ हैं. सर्व जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाश इत्यादि करनेमें समर्थ हैं. किसी दूसरे देवसे ऐसा हो नहीं सकता. इस कारण आपको सर्वमें समर्थ कहा गया है. युधिष्ठिरके सर्व शत्रुओंका पराभव करना, उनको

राज्य दिलवाना, तीन अश्वमेध यज्ञ कराकर इन्द्रके जैसा निर्मल यश विस्तार करना इत्यादि सर्व करवानेमें प्रभु स्वयं ही समर्थ हैं. ''साधयित्वाजातशत्रोः'' इत्यादि भागवतके इस स्कंधमें प्रभुने उनके कार्य सिद्ध किये हैं.

(४३) उत्तराप्राणदाता.

(१) उत्तराके गर्भका रक्षण कर उसको प्राण दान करनेवाले; (२) उत्तराके ब्रह्मास्त्र द्वारा दग्ध हुये गर्भको फिरसे जीव देनेवाले–जीवन देनेवाले.

जब अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया तो उसके तत्काल बाद ही उत्तराका गर्भ दग्ध हो गया. तत्पश्चात् उत्तराके प्राणोंको बचानेकेलिये प्रभुने गर्भको फिरसे सजीवन कर जीवनदान करके उत्तराके प्राण बचाये. इस प्रकार प्राणदान करनेवाले भगवान् स्वयं ही हैं. सर्व जगत्को जलाकर भस्मीभूत कर देनेकी ब्रह्मास्त्रकी शक्तिको वृथा करना, ये ऐसा–वैसा कार्य नहीं है, यह किसी साधारण जनसे हो सके ऐसा कार्य नहीं है. अतएव ऐसे अमोघ अस्त्रको निष्फल करनेवाला प्रभुके अतिरिक्त और कौन हो सकता है? अतएव स्वयं प्रभुने ही ये कार्य किया है.

(४४) ब्रह्मास्त्रविनिवारकः. ब्रह्मास्त्रका विशेष रीतिसे निवारण करनेवाले.

''यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः'' ब्रह्मास्त्र अमोघ है. कभी निष्फल नहीं होता. ऐसा जानकर भगवानने फिरसे प्रकट होकर सर्वका नाश न करे इसकेलिये विशेष रीतिसे उसका निवारण किया. अर्थात् उसके सामने कोई भी क्रिया चलती नहीं है लेकिन भगवान्के तेजको प्राप्त कर ऐसा अमोघ होते हुवे भी शांत हो गया.

सर्वतः पांडवपतिः परीक्षिच्छुद्धिकारणम्।
गूढात्मा सर्ववेदेषु भक्तैकहृदयंगमः ॥१७॥

(४५) सर्वतः पांडवपतिः. सर्व प्रकारसे पाडंवोंके पालनहार.

सर्व अनिष्टोंसे–दुःखोंसे पांडवोंके पालन करनेवाले आप प्रभु हैं. प्रभुने विशेष रीतिसे पांडवोंका रक्षण किया है. क्योंकि पांडव इस लोक और परलोक दोनोंमें भगवानके सम्बन्ध बंधनसे जुड़े हुये हैं.

(४६) परीक्षिच्छुद्धिकारणम्. राजा परीक्षितकी शुद्धिके हेतु रूप.

परीक्षितकी प्रभुने गर्भमें रक्षा करी और उसमें रहे हुये दोषोंको दूर किया. इन दोषोंके दूर होनेसे ही परीक्षित शुद्ध हुआ. इस शुद्धिके कारण स्वयं प्रभु ही हैं. और आगे जाके यह मेरे रूप श्रीशुकदेवजीके मुखसे श्रीभागवत श्रवण करनेवाला है, ऐसा विचार कर प्रभुने उसकी शुद्धि की. शुकदेवजी तो भगवानका ही स्वरूप हैं. उनके मुखसे श्रीमद्भागवत श्रवण करनेकेलिये शुद्ध तो करना ही है. अतएव भावी शुद्धिके रूप भी प्रभु स्वयं ही हैं. श्रीमहाप्रभुजीने ''वैयासकिः सभगवान् अथ विष्णुरातम्'' इस

श्लोककी विवेचना करते हुये 'विष्णुरात' पदका अर्थ दर्शाया है ''विष्णुने श्रीभागवत श्रवण करवानेके लिये जिसका रक्षण किया है. अतएव विष्णु द्वारा रक्षित होनेसे विष्णुरात कहलाता है. इस कारणसे प्रभु परीक्षितकी शुद्धिसे बने हैं.''

(४७) गूढात्मा सर्ववेदेषु.

(१)सर्ववेदोंमें जिसका गुप्त स्वरूप है ऐसे; (२)सर्व वेदोंमें गूढ़-गुप्त है आत्मा-अभिप्राय जिसका ऐसे प्रभु.

वेदोंमें पद-पद पर भगवल्लीलाओंका वर्णन है. वैसी रीतिसे वर्णन करके उनके सर्वव्यापक आनन्दमय स्वरूपका ही प्रतिपादन किया गया है. इस कारण गीतामें भी आप आज्ञा करते हैं कि ''सर्व वेदोंसे मैं ही जानने योग्य हूं''. ''वेद, पवित्र रामायण, पुराण, महाभारतमें तथा उनके आदि, मध्य तथा अंतमें सर्वत्र हरि परमात्माका ही गान है''. यद्यपि वहां गूढरूपसे भगावनके स्वरूपका ही निरूपण किया गया है. प्रत्यक्ष तो ऐसा लगता है कि किसी दूसरेका वर्णन हो रहा है, राजाओंके इतिहासका वर्णन जैसे लगता है. परन्तु जब भगवानमें एकनिष्ठा होनेसे सर्वमें ब्रह्मभाव भगवद्भाव दीखनेमें आने लग जाता है, तब भगवान्के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं, सर्वत्र ईश्वरका स्वरूप ही अनुभवमें आता है. ऐसी सर्वमें ब्रह्मभावना होनी ये पूर्ण प्रेमकी कसौटी है. परन्तु वैसा भाव होनेमें तो विलम्ब लगता है. सर्व वेद, गीता, पुराण, इतिहास आदिमें वारंवार वर्णन करते हुये भी जहां ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' वाणीका विराम हो जाता है; अर्थात् जहां भगवती वाक्देवी भी पहुंच नहीं सकती फिर दोषयुक्त जीव तो भगवान्से कैसे मिल सकता है? श्रुति कहती है कि ''हे शिपिविष्ट! हे विष्णो! लोकमें और वेदोंमें प्रसिद्ध ऐसे आपके नामकी मैं प्रशंसा करता हूं. आप ही हमारे स्वामी हो, ज्ञान प्राप्त करनेके उपायोंको जाननेवाले हो, विद्वान हो. इस कारण मैं आपकी स्तुति करता हूं. मैं तो एक क्षुद्र जीव हूं और आप तो सर्वव्यापी, इस लीलात्मक प्रंपचसे पर गूढरूप रहे हुये हो''. और श्रुतिमें ''न ते महित्वमाश्रुवन्ति'' (आपकी महिमा कोई सुनभी नहीं सकता.) गीतामें भी आप ''मां तु वेद न कश्चन'' (मुझे कोई भी जान नहीं सकता.) इत्यादि श्रुति-स्मृतिके वचन भगवान्के गूढपनेका कथन करते हैं. इस कारण सर्ववेदोंमें गूढ रूपमें रहे हुये पुरुषोत्तम, ऐसा कहते हैं.

(४८) भक्तैकहृदयंगमः.

(१)भक्तोंके हृदयमें ही स्थिति करनेवाले (२)भक्त ही जिनके हृदयमें निवास करते हैं ऐसे (३)भक्तोंके साथ एक हृदय हो जाय वैसा जिसका ज्ञान है, ऐसे.

भक्तजन अपने चंचल मनको स्थिर करके अपने हृदयमंदिरमें भगवानका स्थापन करते हैं. इस कारण उनके ऊपर प्रभु प्रसन्न होकर उनके हृदयमें स्थितिपूर्वक

निवास करते हैं. सर्व प्राणीमात्रके हृदयदेशमें प्रभु बिराजते हैं, ऐसा गीतामें कहा गया है. परन्तु वहां जीवरूपमें पधारते हैं और भक्तोंके हृदयमें प्रभु साक्षात् बिराजते हैं. क्योंकि भक्त मनमें ध्यान करते अपने इष्ट स्वरूप भगवानको हृदयमंदिरमें पधारे हुये आंतरिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं. सर्व प्राणीजनोंके अन्तःकरण संसारवासनाओंसे और मलीन भावनाओंसे दूषित हैं, इस कारण वहां जीवरूपसे हैं. लेकिन प्रत्यक्ष स्वरूपका ज्ञान उनको होता नहीं. भगवान् भक्तोंके विमल हृदयकमलमें भ्रमररूपसे गुंजार करते रहते हैं. इतना ही नहीं, परन्तु अपने हृदयकमलमें भक्त-भ्रमरोंका स्थापन करके निज मकरंद रसका लाभ प्रदान करते हैं. अर्थात् भक्तोंको भी अपने हृदयमें स्थिर करते हैं. इतनी अधिक कृपादृष्टिकी वृष्टि आप भक्तोंके ऊपर करते हैं. इस कारण यह आपका कृपानिधानपना है. ऐसे करनेका कोई दूसरा कारण नहीं है लेकिन भक्तोंके साथ हृदयकी ऐक्य करना, उनमें अभेद भावका-शुद्ध अद्वैत भावका अनुभव कराना ही है. अतएव आप भक्तोंके साथ हृदयका ऐक्य करवानेका ज्ञान धरते हैं.

कुंतिस्तुत्यः प्रसन्नात्मा परमाद्भुतकार्यकृत्।
भीष्ममुक्तिप्रदः स्वामी भक्तमोहनिवारकः ।।१८।।

(४९) कुंतिस्तुत्यः.

(१)कुंती द्वारा स्तुति करने योग्य (२)कुंतीने जिनकी स्तुति करी है, ऐसे.

युधिष्ठिरादि पांडवोंकी माता कुंती भगवानकी संबंधी थीं परन्तु उनमें भगवदनुग्रहसे यह बुद्धि नहीं थी कि श्रीकृष्ण मेरे सगे सम्बन्धी हैं. परन्तु ये परमेश्वर हैं, भूमिका भार उतारने और भक्तोंको तारने केलिये यहां पधारे हैं. इनसे ही श्रेय होगा. ऐसा सोचकर कुंती उनकी भक्तिमें लीन हो गई थीं. भक्तोंके हृदयमें प्रभु स्थिति करनेवाले हैं, अतएव कुंतीके भी हृदयमें स्थिति करके स्वरूपका ज्ञान करवाया जिससे कुंतीजीने उनकी स्तुति करी है. प्रभुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान स्तुति करनेसे ही हो सकता है.

(५०) प्रसन्नतात्मा.

(१)प्रसन्न जिसकी आत्मा एवं अंतःकरण है ऐसे (२)शुद्ध-सौम्य भाववाला जिसका अंतःकरण है ऐसे.

प्रभु पूर्णकाम हैं अर्थात् सर्व कामनाओंसे परिपूर्ण हैं, उनको किसी भी वस्तुकी अभिलाषा नहीं होती. इस कारण आप निर्गुण-निष्काम कहलाते हैं. स्वयं ही सर्वरूप होते हुवे भी आपमें अन्य वस्तुको पानेकी चिंताओंका प्रवेश ही नहीं होता. अतएव आप प्रसन्न मनसे भक्तोंके प्रसादाभिमुख (भक्तोंके ऊपर कृपा कटाक्ष करनेमें तत्पर) रहते हैं.

(५१) परमाद्भुतकार्यकृत्. अत्यन्त आश्चर्यकारक कार्योंको करनेवाले.

बहुत ही विस्मय जनक और सुंदर कार्य प्रभु सिवाय कोई अन्य कर सकता है क्या? नहीं. दावानलपान, गिरिराज धारण, ये प्रभुके कार्य क्या सबको आनन्ददायी और आश्चर्यकारक नहीं थे? भगवान् सब धर्मोंके उपदेष्टा हैं. युधिष्ठिर व्यास आदिके सन्निधान होनेके उपरान्त भी भीष्म द्वारा उनको सर्वधर्म श्रवण कराते हैं, क्या ये उत्तम और विस्मयकारक नहीं है? अतएव आपको परम आश्चर्य जिसको देखसुनकर हो, ऐसे कार्योंके करनेवाले, ऐसा कहा जाता है.

(५२) भीष्ममुक्तिप्रदः. भीष्मको मुक्ति प्रदान करनेवाले.

कौरव-पांडवोंके पितामह भीष्मके, सर्व दुःखोंको दूर करके सारे मुनिजनोंके साथ दर्शन देकर मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभु आप हैं. मुक्ति अर्थात् जन्म-मरणके भयसे रहित होकर ज्ञानपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति होनी. यहां भीष्मको प्रभुके साक्षात् दर्शन होनेसे मुक्ति मिली है, प्रभुकी प्राप्ति हुई है.

(५३) स्वामी. सबके स्वामी एवं भक्तजनोंके अधिपति.

स्वयं ये ही भक्त अर्थात् जो आपका स्वरूप है वो ही भक्तोंका स्वरूप है. और भक्तोंका जो स्वरूप है, वो आपका ही स्वरूप है; ऐसे अभेद भावसे तन्मय भावमें रहनेवाले. गीतामें आपने आज्ञा की है कि ''जो भक्ति द्वारा मेरा सेवन करता है वो मेरेमें रहा हुआ है और मैं उसमें रहा हुआ हूं''. इस प्रकार भगवान भक्तोंमें एकमेक हो गये हैं. प्रभु उस प्रकारसे ही उनमें प्रेमका विस्तार करते हैं अतएव स्वामी यह नाम कहा गया.

(५४) भक्तमोहनिवारकः. भक्तोंके मोहका निवारण करनेवाले.

प्रभु भक्तजनोंमें रहे हुये मोह-अज्ञानको दूर करते हैं. अपने भक्त युधिष्ठिरके धर्ममें मोह होनेसे बन्धुओंके नाश करनेका शोक हृदयमें कचोटता था. परन्तु भगवान्ने भीष्म द्वारा उपदेश दिलाकर उनके शोक-मोह-अज्ञानका निवारण करवाया. इसलिये ही भगवानको भक्तोंके मोहका निवारण करनेवाला कहा.

यहांसे आगे द्वितीय खंडमें देखें.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवत

प्रथम स्कन्ध सुबोधिनी

अधिकार लीला

प्रकरण १ : हीनाधिकार प्रकरण(अ.१–३)

अध्याय १

(श्रीसुबोधिनी विवृतिकी मंगलकारिका)

वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यम्
लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीद् अपारः।
यस्यासीद् रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतन्त्रम्
शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः ।। का.१ ।।

अनुवादः मैं प्रभु श्रीकृष्ण देवको वंदन करता हूं, जो विघ्नरूप दोषात्मक मुर तथा नरक असुरोंके संहारक हैं तथा जिनका स्वरूप वेद तथा उपनिषदों द्वारा ही जाना जा सकता है. जिसका अन्त ही नहीं, ऐसे अपार श्रीहरिप्रभु, लोकमें भक्तिको प्रसिद्ध करनेकेलिये यदुकुलरूपी महासमुद्रमें प्रकट हुये, जिनका आनन्दमय स्वरूप ही त्रिभुवनका उद्धार करनेकेलिये प्रादुर्भत हुआ है, तथा जो प्रभु भक्तिकी तरह ही अपने आनन्दमय स्वरूपसे (मोक्ष देनेकेलिये) स्वकीय स्वतन्त्र शास्त्रात्मक स्वरूपको भी लोकमें प्रकट करते हैं, वही श्रीकृष्ण प्रभु, हमारी भागवतकी व्याख्यारूप वैभवके उत्कर्षमें कारणरूप बनें अर्थात् भागवतके यथार्थ स्वरूपकी अभिव्यक्तिमें श्रीकृष्ण प्रभु ही प्रेरक बनें।।१।।

व्याख्याः श्रीभागवतके ऊपर व्याख्या करनेकी इच्छासे श्रीवल्लभाचार्य अभीष्ट प्राप्तिकेलिये श्रीभागवत प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करते हैं. 'वन्दे श्रीकृष्णदेवं'. यहां 'कृष्ण' पद से पर पदार्थका निर्देश किया गया है 'श्री' पदसे ब्रह्मानंदरूपा 'चित्' शक्ति और देवीरूपा माया शक्तिद्वय का तथा 'कृष्ण' पदसे कृष्णावतार रूपका भी ग्रहण किया गया है. 'देवम्' पदसे दशविध लीलायुक्त स्वरूप समझना चाहिये.

कहने का तात्पर्य यह है कि जो 'परपुरुष' ब्रह्मानंदरूपा चित् शक्ति तथा देवीरूपा माया शक्तिसे, अर्थात् द्विविध लक्ष्मीसे, व्यूह–चतुष्टयसे (वासुदेव,

संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न व्यूहोंसे) तथा अनेक अवतारों से क्रीड़ा करता है, उसीका भजन करना चाहिये. भागवतका यही अर्थ है. ''अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्'' इत्यादि उद्धरणसे भी यही निष्कर्ष निकलता है.

साक्षात् नारायणोक्त पांचरात्रादिक तन्त्रशास्त्रमें प्रतिपादित व्यूहोंका ही प्रतिपादन यहां श्रीभागवतमें किया गया है. विभिन्न तंत्रोंके उन व्यूहोंका नहीं जो भगवान्के रूपमें प्रतिपादित किये गये हैं. तदनुसार यहां 'मुरनरकभिदम्' तथा 'वेदवेदान्तवेद्य' इन दो विशेषणोंसे प्रथम, अनिष्ट निवारणार्थं संकर्षण व्यूहका, तदनन्तर, अभीष्ट प्राप्तिकेलिये वासुदेव व्यूहका यथा क्रम बोध कराया गया है. संकर्षण दैत्योंके संहारक हैं, अतः 'मुरनरकभिदं' इस विशेषणसे संकर्षण व्यूहका निर्देश किया गया है. प्रभुकी प्राप्तिमें मुर और नरक दैत्य, भक्तोंका प्रतिबंध करते थे. इनका जब नाश किया गया तब इनसे रुद्ध कन्याओंको श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई. भक्तोंके प्रतिबन्धकी निवृत्ति स्वयं प्रभु ही करते हैं. 'वेदान्तवेद्य' विशेषरणसे वासुदेव व्यूहका निर्देश किया गया है, क्योंकि वेद तथा वेदान्त से जिसका ज्ञान होता है वह वासुदेव व्यूह ही मोक्ष देता है.

यहां श्रीभागवतमें तो प्रादुर्भूत भगवानका ही निरूपण किया गया है. अब यदि संकर्षण तथा वासुदेव व्यूहोंसे ही अनिष्टकी निवृत्ति तथा अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है तो फिर पुरुषोत्तमके पूर्ण आविर्भावका प्रयोजन ही क्या रहा? उसके निरूपणकी आवश्यकता ही कहां रही? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि लोकमें भक्तिकी प्रसिद्धिकेलिये उसका सर्वत्र मंगलमय आलोक फैलानेकेलिये ही यदुकुल उदधिमें स्वयं श्रीहरिभगवान् पूर्णरूपसे प्रादुर्भूत हुवे. ''लोके भक्तिप्रसिद्धयै'' इस पंक्तिसे वंशकी वृद्धि करनेवाले प्रद्यम्न व्यूहको सूचित किया गया है. अर्थात् अनन्त अपार प्रभुको भी भक्तिको प्रसिद्ध करनेकेलिये प्रकट होना पड़ा, जन्म लेना पड़ा. प्रद्युम्न, कामदेवरूप हैं और उसीसे वंश परंपरा चलती है.

'यस्यासीद् रूपमेव त्रिभुवनतरणे' इस द्वारा धर्मरक्षारूप अनिरुद्ध व्यूहका निर्देश किया गया है. प्रवृत्तिरूप तथा निवृत्तिरूप धर्म दो प्रकार का है. प्रवृत्तिरूप धर्मका फल त्रिलोकी तथा निवृत्तिधर्मका फल मोक्ष है. 'त्रिभुवनतरणे' पदमें त्रिभुवन पदसे त्रिलोकीरूप प्रवृत्तिधर्मके फलका तथा 'तरण' पदसे मोक्षरूप निवृत्तिधर्मके फलका सूचन किया गया है. तदनुसार उपर्युक्त पंक्तिका अर्थ इस प्रकार है: प्रवृत्तिमार्गीय तथा निवृत्तिमार्गीय धर्मके ह्रास होने पर धर्मकी रक्षाके

लिये अनिरुद्ध व्यूहरूप भगवान् प्रकट हुवे. ''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत... तदात्मानं सृजाम्यहम्'' आदि गीतावाक्यों से यही स्पष्ट होता है.

इस प्रकार भगवद् रूपके प्रकट होनेका प्रयोजन व्यूह द्वारा कहकर, अब नामात्मक अवतारका प्रयोजन भी 'भक्तिवच्च' द्वारा निरूपित करते हैं. जिस तरह भगवान्ने स्वकीय आनन्दस्वरूपात्मक स्वतंत्र भक्तिको प्रकट की है, उसी प्रकार शास्त्रात्मक स्वरूपको अर्थात् नामात्मक स्वरूपको भी अपने आनन्दद्वारा ही प्रकट किया है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभागवतके प्रकटीकरणमें भगवद आनन्द ही प्रधान है.

उपर्युक्त श्लोकमें चतुर्व्यूह सहित भगवान्को प्रणाम किया गया है।।१।।

पूर्वोक्त श्लोकमें भागवतकी सुबोधिनी व्याख्यामें प्रभु प्रेरक बनें, इस प्रकारकी अभ्यर्थना की गयी है. किन्तु प्रभु यदि केवल अनुकूल ही हो जायें तो भी व्याख्यारूप उत्कर्ष प्राप्त हो सकता है, ऐसा होने पर भी यदि व्याख्यारूप वाणीमें भगवान् अपनी स्थिति नहीं करते तो व्याख्या लौकिकवाणीके समान ही मानी जाने लगेगी. इस प्रकारकी लौकिकत्वकी निवृत्तिकेलिये अपनी वाणीमें उसके पतिरूपसे भगवान्की स्थितिकेलिये प्रार्थना करते हुवे आचार्यचरण उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित श्रीहरिके स्वरूपका वर्णन करते हैं.

कर्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभूः सर्वस्वरूपोऽपि सन्
सर्वस्यापि विधारणो विजयते निर्दोषसर्वेष्टदः।
यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं
सोऽयं वाचि ममास्तु पूर्णगुणभूः कृष्णावतारः पतिः।।का.२।।

अनुवाद : जो श्रीहरि समग्र विश्वके कर्ता तथा सर्वज्ञ हैं, वेदादि शास्त्रों के कारणरूप हैं, सर्वरूप होते हुए भी सर्वको धारण करनेवाले हैं, दोष रहित जीवोंके सर्व मनोरथोंको सिद्ध करते हुवे विराजमान हैं, अपनी विभिन्न लीलाओंके अनुरूप अनेक प्रकारके स्वरूप धारण करते हैं, पूर्ण गुणयुक्त हैं, विशुद्ध होते हुवे भी अपना अनेक रूपोंमें विस्तार करते हैं –ऐसे कृष्णावतार मेरी वाणीमें उसके पतिरूपसे स्थिति करें.

व्याख्या:– उपर्युक्त श्लोककी 'कर्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभूः' इस पंक्तिसे यह बताया गया है कि ''यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते'' जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं इत्यादि श्रुतिसे तथा 'जन्माद्यस्य यतः'' जिस ब्रह्मसे इस

जगत्की स्थिति, उत्पत्ति तथा प्रलय होता है इत्यादि सूत्रोंसे प्रतिपादित जो भगवान् हैं, उसीसे सर्ववेदादि शास्त्र उत्पन्न हुवे हैं. 'निगमभूः' इसीका प्रतिपादन 'शास्त्रयोनित्वात्'' इस ब्रह्मसूत्रमें किया गया है. 'सर्वस्वरूपोऽपि सन् सर्वस्यापि विधारणः' इस पदसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही सबके उपादान कारण हैं आत्मा हैं तथा सबकेलिये सेतुरूप हैं. तदनुसार, वाणीमें भी प्रभुकी स्थिति है यह स्वतःसिद्ध है, इसीलिये वाणीमें प्रभु स्थिति करें यह प्रार्थना की गयी है. अन्तर्यामि ब्राह्मण में ''यो वाचि तिष्ठन्'' इत्यादि वाक्योंसे वाणीमें भगवान्की स्थितिका निर्देश किया गया है. भगवान् स्वकीय निर्दोष भक्तको उससे अभ्यर्थित अभिलषित वस्तु प्रदान करते ही हैं, अतः जिनको इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती वहां, वस्तुतः, जीवगत दोष ही कारणभूत है, भगवद् धर्म काररणभूत नहीं है. यही बात 'निर्दोष सर्वेष्टदः' इस पदमें स्पष्ट की गयी है. 'यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं'. ''प्रभु स्वकीय अनेकविध विशुद्ध लीलाओं द्वारा अपने स्वरूपका विस्तार करते हैं'' इसमें निर्दोष भक्तको उसकी इस वस्तुकी जो प्राप्ति कराई जाती है, उसका प्रकार बताया गया है. 'पूर्णगुणभूः' इसी पदसे तापनीय श्रुतिमें मूलस्वरूपका निरूपण किया गया है. तदनुसार इस पदसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलरूप तथा अताररूप श्रीकृष्ण, यह दोनों ही भागवतके प्रतिपाद्य विषय हैं ।।२।।

शिष्टाचारके अनुसार श्रीवल्लभाचार्य अपने पिताश्रीको नमस्कार करते हैं:

श्रीमद्वल्लभविद्वदीश विलसद्वंशाब्धिपूर्णेन्दवे
श्रीगोपीपतिवन्दिने सुमनसि ब्रह्मामृतस्यन्दिने ।
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति यद् नमाखिलाभीष्टदं
तस्मै तातमहाशयाय हरये कुर्मो नमः सिद्धये ।।का.३।।

अनुवाद : विद्वद् शिरोमणि पितामह श्रीवल्लभके समृद्ध वंशरूपी समुद्रमेंसे उदित पूर्ण चंद्रमाके समान, गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णको वंदन करनेवाले, ब्रह्मानन्दरूप परागसे उच्छलित सुन्दर पुष्परूप निर्मल मनवाले हरिस्वरूप तितृचरण श्रीतात महाशयको, जिनका श्रीमद्लक्ष्मणभट्टसूरि यह पवित्र नाम समस्त अभीष्ट कामनाओंको पूर्ण करता है, मैं इष्टसिद्धिकेलिये नमस्कार करता हूं.

व्याख्या: 'गोपीपतिवन्दिने' पदसे ऐसा संकेत मिलता है कि श्रीलक्ष्मण भट्ट विष्णुस्वामी मतानुसार 'गोपालोपासना'के उपासक रहे होंगे. अपने पितृचरण केलिये 'हरये' शब्दके प्रयोगसे यह सूचित किया गया है कि जिस तरह श्रीहरि पूर्ण

हैं उसी तरह श्रीलक्ष्मण भट्टजी भी 'पूर्ण' उपासक थे. 'ब्रह्मामृत-स्यन्दिने' विशेषणसे यह सूचित होता है कि श्रीलक्ष्मण भट्ट एक महान् तत्वज्ञानी थे.

इस प्रकार अचार्यश्री शिष्यशिक्षार्थ मंगलाचरण करके, मुख्य मध्यम तथा हीन अधिकारियों को उनकी योग्यतानुसार श्रीभागवत फल देता है, इसको प्रारम्भमें स्पष्ट रूपसे नहीं कहा था अतः इसका निरूपण अब यहांसे प्रारंभ करते हैं. क्योंकि यदि यह निर्णय अनुक्त ही रहे तो श्रीभागवतके श्रवरणमें सभी व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति नहीं होगी. अतः प्रत्येक अधिकारीको योग्यताके अनुसार जो-जो फल मिलना चाहिये उस-उस फलके अनुकूल श्रीभागवतके स्वरूपका निरूपण करते हैं.

श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुः लोके फलत्वं गतो
भाषाभेदविभेदतस्त्रयमपि स्याद् नो विरुद्धं महत् ।
भक्त्यंशे फलता प्रमाणसुबले वेदत्वम् अर्थे पुनः
स्कंधैर्द्वादशभिर्युतः सुरतरुः शाखाद्विवह्निद्वयम् ।।का.४।।

अनुवाद : श्रीमद् भागवत वेदरूप है, कल्पवृक्ष है तथा लोकके उद्धारार्थ फलरूपताको प्राप्त हुआ है. यह महापुराण है, अतः यद्यपि इसमें लौकिकी भाषा, परमत भाषा तथा समाधि भाषा -इस तरह तीन प्रकारकी भाषाओंमें परस्पर भेद होनेके कारण, इसमें तारतम्य अवश्य है तथापि इसकी जो फलरूपता, वेदरूपता तथा कल्पवृक्षरूपता है, वह परस्पर अविरुद्ध है, इसकी भागवतरूपतासे विरुद्ध नहीं है. वेदरूप, कल्पवृक्षरूप तथा फलरूप होता हुआ भी यह भागवत महापुराण है; क्योंकि भक्तिके अंशमें यह फलरूप है, प्रमाणके विशिष्ट बलमें यह वेदरूप है, और अर्थमें, द्वादश स्कंधरूप स्थूलकाय शाखाओं सहित कल्पवृक्ष है. कल्पवृक्षरूप भागवतकी छोटी-छोटी ३३२ शाखायें हैं (द्वि= २, वह्निद्वयम् ३३=३३२). अर्थात् ३३२ अध्यायरूप शाखायें हैं. अर्थात् भागवतमें तीन भाषायें हैं: १.समाधि भाषा २.परमत भाषा ३.लौकिक भाषा. इन तीनों भाषाओं के होते हुए भी भागवतकी त्रिरूपतामें वेदरूपता, कल्पवृक्षरूपता और फलरूपता में कोई विरोध नहीं आता. भागवत महापुराण है. जो लोग भागवतको वेदों और इतिहासके साररूपमें देखते हैं, उनकेलिये यह वेदरूप है. ज्ञानप्राप्तिके साधनरूपमें अध्ययन करनेवालों केलिए भागवत कल्पवृक्ष है और भागवतका श्रवण करनेके उपरांत जिनमें भक्तिका उदय होता है, उनकेलिये यह फलरूप है. दशमस्कंधगत वत्सहरण

लीला के ३ अध्याय प्रक्षिप्त हैं. इनको कम करने पर भागवतमें कुल ३३२ अध्याय हैं.

व्याख्या: श्रीभागवत लोकमें अर्थात् दैवी सृष्टिमें वेदरूप, कल्पवृक्षरूप तथा फलरूप है. यहां यदि यह शंका हो कि एक ही श्रीभागवतके तीन रूप कैसे हो सकते हैं, तो उसका यह समाधान है कि 'भाषाभेदविभेदतः' श्रीभागवतमें तीन प्रकारकी भाषायें हैं: लौकिक, मतान्तर तथा समाधि. इन तीनों प्रकारकी भाषाओं के जो अनेकों भेद हैं उन विभेदोंसे श्रीभागवतमें तारतम्य है, किंतु इस तारतम्यके कारण उपर्युक्त आगमत्वादि तीनों रूप विरुद्ध नहीं हैं. क्योंकि श्रीभागवत एक महापुराण है. यहां यह शंका होती है कि श्रीभागवतके प्रमुक अंशमें त्रिरूपता हो सकती है, किंतु समग्र श्रीभागवतमें इस तरह होना सम्भव नहीं. गौर पुरुषके नख, केश तथा नेत्र में उज्वलत्व, श्यामत्व तथा रक्तत्व आदि अन्य रूप-रंग वर्तमान होते हुये भी, वह गौर रूप ही कहा जायेगा, अनेक रूपवाला नहीं. इसी प्रकार सम्पूर्ण भागवतको त्रिरूपता प्राप्त नहीं हो सकती. इसके समाधानमें यह कथन है कि जैसे एक ही पुरुष किसीका पिता तथा किसीका पुत्र आदि रूपमें होता है, उसी तरह अधिकारीभेदसे फलमें भी भेद होता है. तदनुसार, भागवतमें त्रिरूपता हो सकती है, इसीका प्रतिपादन 'भक्त्यंशे फलता' इस पदसे किया गया है. अर्थात् भक्तिके अंशमें तो सम्पूर्ण भागवत ही फलरूप है.

'यस्यां वै श्रूयमाणायाम्' जिसके श्रवण करते रहनेसे भक्ति उत्पन्न होती हैं -इत्यादि वाक्योंमें भागवतको भक्तिका उत्पादक कहा गया है. भक्तिके होने पर, स्वतंत्र पुरुषार्थरूपसे श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा जो इसका रसास्वादन करता है, उसकेलिये तो संपूर्ण भागवत निःसंदेह फलरूप ही है.

भागवतको भगवानने प्रकट की है. 'इदं भगवता पूर्वं', तदुपरांत, 'सर्ववेदेतिहासानाम्' इस वाक्यके अनुसार भागवत, वेद, इतिहास आदिका साररूप है. तदनुसार, प्रमाणबलके अंशमें समग्र भागवत वेदरूप है, अर्थात् वेदके शब्द स्वतःप्रमारण हैं. उसमें किसी अन्य प्रमाणकी कोई अपेक्षा नहीं. अर्थात् ऐसे अनपेक्षत्वरूप अंशमें स्वतःप्रमाण होनेसे संपूर्ण भागवत की वेदरूपता है.

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अधिकारीभेदसे सम्पूर्ण भागवतको ही त्रिरूपता है. उदाहरणार्थ 'कैवल्येक प्रयोजनम्' पदमें 'एक' पद मुख्य वाची है और 'कैवल्य' पद मोक्षकेलिये प्रयुक्त होता है. उसी तरह 'लीला' केलिये भी 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'. अतः भागवतमें भगवल्लीलारसका आस्वादन भी

प्राप्त होता है और मोक्ष भी. तदनुसार, भागवतकी त्रिरूपता स्पष्ट है, उसमें शंका को कोई स्थान नहीं. प्रक्षिप्त अध्यायोंका ग्रहण नहीं हो इसलिये इस कल्पवृक्षरूप भागवत की ३३२ शाखायें ही निर्दिष्ट की गई हैं. 'शाखाद्विवह्निद्वयम्'. श्रीधरीमें भी ३३२ शाखाओं का ही उल्लेख है ''द्वात्रिंशत् विशतं च विलसत् शाखा'.

यद्यपि श्रीआचार्यचरण, काव्योंमें जिस तरह अलंकार आदिका आदर है, उसी तरह भागवतके व्याख्यानमें अलंकारोंके प्रति सत्कार नहीं करते, तथापि श्रुति–सूत्र सम्मत अमुक अलंकारोंको ही आपने मान्यता प्रदान की है. जैसे ''असावादित्यो देवमधु'' ''शरीररूपकविन्यस्त गृहीते'' आदिमें जो रूपकालंकार है उसे स्वीकार किया है और इसीलिये स्वकीय उपर्युक्त कारिकामें भागवतके लिये 'सुरतरु' इस रूपकका प्रयोग भी किया है. वास्तवमें देखा जाय तो व्यासचरणको भी यह रूपक अभिप्रेत है, अन्यथा श्रीभागवतके भागोंकेलिये स्कंधका प्रयोग आपश्री कदापि न करते।।४।।

अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुः वैश्वानराद् वाक्पतेः–
अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपतिः।
दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुः यस्माद् अतोऽहं मुदा
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम्।।का.५।।

अनुवादः अलौकिक सुखसे वंचित इस विश्वके उद्धारार्थ भागवतके यथार्थ अर्थ प्रकट करनेकेलिये, वाणीके पति वैश्वानर श्रीवल्लभाचार्यके अतिरिक्त अन्य कोई भी समर्थ नहीं है, यह विचार कर श्रीपति भगवान्ने अपने ही अंशरूप मुझे भी श्रीवेदव्यासकी तरह ही मानवदेहसे संपन्न करके, श्रीभागवतका उत्तम अर्थ प्रकट करनेकी कृपापूर्ण दृष्टिपात पूर्वक आज्ञा प्रदान की, इसी कारण श्रीवेदव्यास तथा श्रीविष्णुको(अथवा विष्णुरूप व्यासको) जिस तरह अत्यंत प्रिय लगे उस तरहसे भागवतके गूढ़ अर्थको मैं आनंदपूर्वक अनेक प्रकारसे प्रकट करता हूं.

व्याख्याः इस तरह भिन्न–भिन्न अधिकारीके भिन्न–भिन्न फलके अनुकूल भागवतके स्वरूपका निरूपण करके, अब प्रस्तुत श्लोकसे यह कहते हैं कि इससे पूर्व अनेकों पण्डितोंने श्रीभागवतकी व्याख्यायें की है तो फिर, श्रीवल्लभाचार्य इसकी व्याख्यामें क्यों प्रवृत्त हुये? इसका यह कारण है कि जबसे इस भूतलका अलौकिक सुख लुप्त हो गया, तबसे इस भागवतके यथार्थ अर्थ करनेकी श्रीवल्लभाचार्यके अतिरिक्त किसीमें भी सामर्थ्य नहीं रही, क्योंकि आप स्वयं

वाणीके पति हैं, वैश्वानर हैं, अग्नि, वाणीके पति हैं, उनका सामर्थ्य अबाधित है. पत्नि अपने स्वरूपको अपने पतिके समक्ष ही प्रकट करती है, अतः वाणी अपने अंतरंग स्वरूपको अपने पति अग्निस्वरूप श्रीवल्लभाचार्यके समक्ष ही व्यक्त करेगी. ''तस्याग्निरास्यम्''के अनुसार अग्निको मुख कहा है. तदनुसार, शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ इस प्रकार के सातों अर्थ प्रकट करनेका सामर्थ्य श्रीअग्निस्वरूप वाक्यपति श्रीवल्लभाचार्य में ही है, अन्य में नहीं.

श्रीपति भगवान्ने जिस तरह श्रीव्यासको भागवत प्रकटनार्थ मनुष्यदेहमें आविर्भूत किया, उसी तरह अपने ही अंशरूप मुझे(आचार्यचरणको) 'मानुषतनु' के रूपमें प्रकट किया तथा कृपापूर्ण नेत्रोंसे निरखते हुवे मुझे भागवतके अर्थको प्रकट करनेकी प्राज्ञा प्रदान की. अतः श्रीभगवान् तथा श्रीव्यास को अतिप्रिय जो भागवतका गूढ़ार्थ है उसको मैं प्रसन्नतापूर्वक बहुत प्रकारसे प्रकट करता हूं. भागवतके गूढ़ार्थको प्रकट करनेमें, भगवदाज्ञासे उत्पन्न मेरी प्रसन्नता ही कारण है।।५।।

जिस प्रकार को अपनाते हुये यह व्याख्या की गई है, उसीका निर्देश निम्न श्लोक में किया है :

लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनाद् अन्यपूरणम्।
आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनाद् ऋते ।।का.६ ।।

अनुवाद : मैं भागवत का अर्थ कहीं भी लक्षरणा से नहीं करूंगा, उसी तरह 'यहां अर्थ न्यून है' ऐसा कहकर उसकी पूर्ति में दूसरों अथवा अधिक अर्थका संयोजन नहीं करूंगा, परोक्ष कथन के प्रतिरिक्त, जो वाच्यार्थ है वही कहूंगा. अर्थात् परोक्षरूपमें कहे गये अर्थमें लक्ष्यार्थ हो सकता है, किन्तु, अन्यत्र तो वाच्यार्थ ही कहूंगा. अर्थात् जैसा शुद्ध अर्थ निकलता होगा वैसा ही अर्थ करूंगा, तोड़-मरोड़ कर नहीं.

व्याख्या : शब्दका अर्थ लक्षणासे भी किया जाता है, जैसे 'गंगायां घोषः' इस वाक्यका यथार्थ अर्थ होगा 'गंगामें गांव' किंतु, यहां 'गंगायां'का अर्थ है 'गंगाके किनारे पर' यही लक्षणा कहलाती है. इस प्रकारका लक्षणार्थ मैं नहीं करूंगा. न्यून पदके प्रयोगसे, दूसरे पदकी पूर्ति नहीं करूंगा. पुरंजनाख्यान आदि परोक्षकथनको छोड़कर, शब्दका यथार्थ अभिप्राय ही प्रकट करूंगा. इन

नियमोंके अन्तर्गत रहते हुये भागवतार्थ करनेकी इस श्लोक द्वारा श्रीआचार्यचरण प्रतिज्ञा करते हैं ।। ६ ।।

अविरोधेन सप्तानाम् अर्थानाम् इह सङ्गतिः ।
उत्तरोत्तर दौर्बल्यं वाच्यं सङ्कोचतः परम् ।।का.७।।

अनुवादः सातों प्रकारके ग्रंथोंमें परस्पर विरोध न हो, इस प्रकारसे यहां सभी ग्रंथोंकी संगति रहेगी. इस प्रकारके सप्तार्थोंमें, व्यवहार सौकर्य–सुलभ शक्ति संकोचके कारण यथापूर्व अर्थकी अपेक्षा यथोत्तर अर्थका दौर्बल्य रहेगा ।।७।।

व्याख्या : श्रीआचार्यचरणने भागवतका सात प्रकार से अर्थ किया है: शास्त्रार्थ, स्कंधार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ तथा अक्षरार्थ. ये सातों प्रकारसे अर्थ परस्पर अविरुद्ध हैं तथा एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं. सर्वसाधारण, भागवतका अर्थ सहजतया समझ सकें यही इस व्याख्याका प्रयोजन है. किन्तु व्यवहार–प्रयोजन–सुलभ शक्तिसंकोचको लेकर उपर्युक्त सप्तधा अर्थोंमें उत्तरोत्तर अर्थकी दुर्बलता रहेगी. कहनेका तात्पर्य यह है कि भागवतशास्त्रका मुख्य अर्थ है भगवान श्रीकृष्णकी आनन्दमय लीलायें. भागवतशास्त्रका यह मुख्य अर्थ–शास्त्रार्थ प्रत्येक स्कन्धके अर्थ में व्याप्त है. अतः शास्त्रका अर्थ सर्वतोधिक प्रबल माना जायेगा. स्कन्धार्थ, शास्त्रार्थका अवयवरूप होनेके कारण, शास्त्रार्थसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन नहीं करेगा, प्रत्युत भगवल्लीलाके प्रतिपादक शास्त्रार्थके अनुकूल, भगवल्लीलाका ही निरूपण करेगा. इसी तरह, सम्पूर्ण स्कन्धका अर्थ उस स्कन्धके उस ही प्रकरणमें नहीं आ सकता. इसलिये शास्त्रार्थसे स्कन्धार्थ, स्कन्धार्थसे प्रकररणार्थ दुर्बल रहेगा. इसी तरह सम्पूर्ण प्रकरणके अर्थसे अध्यायार्थ, अध्यायार्थसे वाक्यार्थ, वाक्यार्थसे पदार्थ तथा पदार्थसे अक्षरार्थ उत्तरोत्तर दुर्बल समझ लेना चाहिये ।।७।।

भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात् समाहितः ।
भाषात्रयविभेदश्च लक्षणैर्ज्ञाप्यते पुनः ।।का.८।।

अनुवादः भागवतमें लौकिकी मतान्तर तथा समाधिभाषामें जहां–जहां विरोध आता हो, वहां–वहां उसका समाधान–निराकरण कल्पभेदसे कर लेना चाहिये और इन तीनों भाषाओंके भेद भी उनके लक्षणोंसे बताये गये हैं, अथवा उनके लक्षणोंसे जान लेना चाहिये ।।८।।

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि यहां भागवतमें कहीं ज्ञानकी प्रशंसा की गयी

हैं, और कहीं कथामें भी पूर्वोत्तर भेद है, कहीं पुनरुक्ति आदि दोष हैं, इन सबके समाधान में तीन प्रकारकी भाषाका उल्लेख किया गया है: 'भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः' समाधि, मतान्तर तथा लौकिकी. साक्षात् समाधिमें, भगवदनुभव पूर्वक जितने भागवतार्थका श्रीव्यासने निरूपण किया, वह समाधि भाषा है. जहां इसके विरुद्ध कहा गया है, वहां मतान्तर भाषा समझनी चाहिये. लोकसिद्ध भाषा लौकिकी हैं. मतान्तर तथा लौकिकी भाषाका प्रामाण्य, उस भाषाके वक्ताओंके अभिप्राय तक ही सीमित माना गया है. मतान्तर तथा लौकिकी भाषामें अभिव्यक्त किये गये अर्थका प्रामाण्य, समाधिभाषाके प्रामाण्यकी कोटिमें कदापि स्वीकृत नहीं किया जाता. समाधिभाषाके अर्थका अनुमोदन करने पर ही लौकिक अथवा परमत भाषा प्रमाण मानी जायेगी, अन्यथा नहीं. सर्वाशमें प्रमाणभूत तो समाधि भाषा ही है. सम्पूर्ण भागवतमें सामान्यतया सर्वत्र समाधि भाषाका ही कथन है, तथापि श्रीश्राचार्यचरणने अपनी सुबोधिनीमें इन तीनों ही भाषाओंका पृथक्-पृथक् निर्देश भी किया है. ऐसा कहा गया है कि श्रीशुकने जहां-जहां यह कहा है कि 'अब मैं अन्य व्यक्तियोंसे सुनी हुई बात कहूंगा' वहां-वहां परमतका उल्लेख किया गया है. तदनुसार इसे मतान्तर भाषा समझनी चाहिये. जहां विषयका लौकिक शैलीमें निरूपण किया गया हैं, उसे लौकिकी भाषा समझनी चाहिये यथा ''स्तनैः स्तनान् कुङ्कमपङ्करूषितान्''।।८।।

अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम्।
अत्र सन्तः स्वन्तोषैराज्ञां यच्छन्तु सिद्धये।।का.९।।

अनुवाद : भागवतके सात ग्रथोंमेंसे प्रथम चार अर्थ तो तत्त्वार्थदीप निबन्धमें किये जा चुके हैं, अवशिष्ट तीन अर्थ यहां सुबोधिनी व्याख्यामें कहूंगा. अतः इस विषयमें साधुपुरुष स्वसन्तोषपूर्वक सहृदयता सहित अर्थसिद्धिकेलिये आज्ञा प्रदान करें ।।९।।

व्याख्या: 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध'के भागवतार्थ प्रकरणमें श्रीआचार्यचरण भागवतके ग्रथंचतुष्टय: शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ कर चुके हैं. सम्प्रति भागवतके अवशिष्ट अर्थत्रय: वाक्यार्थ, पदार्थ तथा अक्षरार्थ अपनी सुबोधिनीमें उपपत्ति सहित कर रहे हैं. निर्विघ्नरूपसे इस अर्थकी सिद्धिकेलिये अपश्री सत्पुरुषोंसे स्वसन्तोषपूर्वक आज्ञाकेलिये प्राथना करते हैं ।।९।।

अध्याय १

प्रकरण १ : हीनाधिकार प्रकरण(अ.१-३)

शौनकादि ऋषिओंका सूतजीसे प्रश्न

ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण करना चाहिये, इस प्रकारकी शिक्षा शिष्यको देनेकेलिये स्वयं श्रीवेदव्यास भगवदाज्ञासे, भक्तिरसको उत्पन्न करने वाली भागवतसंहिताका प्रारम्भ करते हुए प्रथम श्लोकसे मंगलाचरणपूर्वक वेदकी बीजरूप गायत्रीके अर्थका प्रतिपादन करते हैं :

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।१।।

श्लोकार्थः समवायी तथा निमित्त कारणरूप जिस ब्रह्मसे इस जगत्के जन्म आदि होते हैं, जो ब्रह्म सर्व विषयोंको जानता है, अथवा समग्र जीवोंके धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थ सिद्ध करनेके विषयको सर्व प्रकारसे जानता है (अर्थेष्वभिज्ञः), जो ब्रह्म विषयोंमें रमण न करके अपने ही स्वरूपानंदमें स्वयं ही रमण करता है (स्वराट्) अथवा जो ब्रह्म विराटके भीतर रहने वाला स्वराट् है, अथवा विराटान्तर्गत रहता हुआ उसकी सभी वस्तुओं-विषयोंको जानता है (अर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्), जिस ब्रह्मने उत्तम विद्वानोंको भी मोहित कर देनेवाले वेदोंका पुराणों सहित अवबोध, शब्दरसमें निपुण ऐसे आदिकवि ब्रह्माको, हृदयपूर्वक (हृदा) कराया, जिस तरह तेज जल तथा पृथ्वी इनमेंसे एककी दूसरेमें प्रतीति मिथ्या है उसी तरह जिस ब्रह्ममें तीनों गुणोंके (सत्व-रज-तमके) अर्थात् मायाके कार्यरूप देह-इन्द्रियां तथा अंतःकरणादि धर्मोंकी तथा उनके अध्यासकी कल्पना करना मिथ्या है, जो ब्रह्म स्व-स्वरूपकी स्फूर्तिसे ही जीवोंकी सर्व अविद्याको निवृत्त कर देता है उसी परम सत्यरूप ब्रह्मका (पूर्ण-पुरुषोत्तमका) जो त्रिकालाबाधित है हम ध्यान करते हैं.

सुबोधिनी: यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि भागवत वस्तुतः कथारूप है, इस कारण इसका यथार्थ प्रारम्भ ''**नैमिषे अनिमिषक्षेत्रे**'' इस चतुर्थ

श्लोकसे ही होता है तदनुसार, ''**जन्माद्यस्य यतः**'' यह प्रथम श्लोक तथा ''**धर्मः प्रोज्झित**'' तथा ''**निगमकल्पतरोः**''से प्रारम्भ होने वाले यथाक्रम द्वितीय और तृतीय श्लोक ये तीनों श्लोक असंगत हैं कथारूप भागवतसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि इनमेंसे किसी भी श्लोकमें कथाका निरूपण ही नहीं किया गया है.

इसके प्रत्युत्तरमें यह कथन है कि सर्व-प्रथम यह जान लेना चाहिये कि भागवत किसे कहते हैं? ''भागवत वही माना जायेगा, जिसका प्रारम्भ गायत्रीसे हो, जिसमें धर्मका सविस्तर वर्णन हो, और जो वृत्रासुरके वधकी कथासे युक्त हो''. (इसीलिये यहां प्रथम बीजरूपगायत्रीके अर्थ निरूपणसे भागवतका प्रारम्भ किया गया है.) यज्ञाहुतिसे वृत्रासुरकी उत्पत्ति हुई थी ''त्वष्टा हवनीयम् उपप्रावर्तयत् स्वाहा इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व'' इस तरह यज्ञात्मक होनेके कारण उससे यज्ञादि प्रवृत्तियां रुद्ध हो गयी थीं. किन्तु, जब इन्द्रने उसका वध किया तब यज्ञोंकी प्रवृत्ति हुयी, इसी तरह यहां भागवतमें ''**अहं हरेस्तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः**'' इस स्तुतिसे वृत्रासुर भक्त्यात्मक कहा गया है. तदनुसार, यहां भक्तिके प्रतिबन्धक वृत्रासुरवधके निरूपणसे भक्तिकी निःसन्देह प्रवृत्ति होगी. अर्थात् वधकालमें वृत्रासुर द्वारा भक्तिका निरूपण होने पर ही जगत्में भक्ति प्रवर्तित हुयी तथा होती रहेगी.

भागवतका प्रारम्भ गायत्रीसे ही किया जाता है. गायत्री वेद-माता है, अतः वेदत्रयीके अर्थका प्रतिपादन वही कर सकती है. तदनुसार, गायत्रीका अर्थ यहां भागवतका बीजरूप माना गया है. जिस तरह वेदका बीज गायत्री है, उसी तरह भागवतका बीज भी गायत्री ही है. वेदमाता गायत्रीके अर्थका निरूपण यदि भागवतमें किया जाये तो, भागवतका वेदसे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता. जैसा वेद है वैसा ही भागवत है, क्योंकि दोनोंका बीज एक ही है और वह है गायत्री. तदनुसार जिस तरह वेद प्रमाण है, उसी तरह भागवत भी प्रमाण है. अतः भागवत वेदके समान है, वेदसे भागवतमें न्यूनता नहीं है. गायत्रीके अर्थका भागवतमें बीजरूपसे निरूपण होनेके कारण, यह शंका नहीं करनी चाहिये कि भागवत वेदसे विरुद्ध अथवा न्यून-दुर्बल है, और इस प्रकारकी शंकाके समाधानकेलिये प्रथम श्लोकमें गायत्रीका अर्थ प्रतिपादित किया गया है, जो बीजरूप है.

अब, यहांसे दूसरे श्लोककी संगतिका निरूपण इस तरह किया गया है

कि जिस तरह वेदमें फल तथा साधन सहित यज्ञसम्बन्धित समग्र पदार्थोंका योग-बलसे-योगसिद्धिसे अनुभव होता है, उसी तरह यहां भागवतमें भी श्रीवेदव्यासने पुरुषका, मायासे बन्धनकी प्राप्तिका, भक्तिसे बन्धनकी मुक्तिका इन तीनोंका समाधि द्वारा साक्षात् अनुभव किया और इसी तथ्यको ''**अपश्यत् पुरुषं पूर्णं**'' इस पंक्ति द्वारा स्पष्ट किया गया है. इसीलिये भागवत श्रीव्यासकी समाधिभाषा कहलाती है. पुरुषका प्रयत्न भक्तिकी सिद्धिकेलिये है और, भागवतका यही विषय है. ''भगवान्में उसके माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ तथा सबसे अधिक स्नेहको भक्ति कहते हैं और ऐसी भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है, अन्यसे नहीं''. ''**माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः, स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिः नचान्यथा**'' नारदपंचरात्र अर्थात् वैष्णवतंत्रके अनुसार यही भक्तिका स्वरूप है. अत्यन्त दृढ तथा सर्वसे अधिक स्नेह तो प्रत्येक प्राणीको अपनी आत्माके प्रति ही होता है, अन्यके प्रति नहीं. अतः प्राणी जब भगवान्को अपनी आत्मारूप जानने लगता है, तब उसका भगवान्में सर्वतोधिक स्नेह होता है. इसी तरह, कोटि-ब्रह्मांडरूप इस समग्र सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि भगवान्के आधीन हैं, इस प्रकारके ज्ञानसे जीवको प्रभुके माहात्म्यका ज्ञान होता है. जीवमात्रमें भगवान्के माहात्म्यज्ञानको तथा उनमें सुदृढ तथा सर्वतोधिक स्नेहको इन दोनोंको सिद्ध करनेकेलिये यह भागवत-संहिता प्रकट की गयी है. इस प्रकारके स्नेहसे ही भक्ति-सिद्ध होती है. और इसी अभिप्रायको भागवतके द्वितीय श्लोकमें व्यक्त किया गया है. यहांसे, तृतीय श्लोककी संगतिका इस तरह निरूपण किया गया है कि जिस तरह वेदका पूर्वकांड, यज्ञरूप परब्रह्मकी क्रियाशक्तिके प्रतिपादनद्वारा तथा जिस तरह वेदका उत्तरकांड परब्रह्मकी ज्ञानशक्तिके (ब्रह्मावगतिश्च) प्रतिपादनद्वारा एक दूसरेके अर्थके संपोषक-उपकारक हैं, उसी तरह, भागवत संहितामें यज्ञ तथा ब्रह्म; क्रिया तथा ज्ञान ये दोनों ही साक्षात् तथा परंपरासे भक्तिके संवर्धक-हेतुभूत माने गये हैं. अर्थात् निष्काम यज्ञादि करते रहनेसे चित्तशुद्धि होती है, तदनन्तर, चित्तशुद्धिसे ब्रह्मज्ञान होता है और, ब्रह्मज्ञानसे भक्ति होती है. तदनुसार, भक्तिका साक्षात् कारण ज्ञान है तथा यज्ञादि भक्तिमें, परंपरासे कारण है. क्रिया तथा ज्ञान ये दोनों ही भक्तिमें कारण हैं और इसीके स्पष्टीकरणकेलिये गायत्रीको बीजरूप, वेदको वृक्षरूप तथा भागवतको फलरूप माना है. अतः यज्ञ तथा ब्रह्मज्ञानसे सम्पन्न किन्तु भागवतसे अपरिचित

व्यक्ति उतना ही निरर्थक अधन्य माना जायेगा जितना फलहीन एक वृक्ष. इसीलिये फलरूप भागवतका प्रकटीकरण उसका प्रारम्भ अनिवार्य है. तदनुसार, प्रारम्भके तीनों श्लोकोंमें से 'जन्माद्यस्य' प्रथम श्लोकसे बीजरूप गायत्रीके अर्थका निरूपण किया गया है. 'धर्म प्रोज्झित' इस द्वितीय श्लोकसे वेदरूप वृक्षका प्रतिपादन किया है तथा 'निगमकल्पतरोः' इस तृतीय श्लोकसे भागवतको फलरूपसे निरूपित किया गया है और यही इन तीनों श्लोकोंकी संगति है.

यद्यपि प्रणव–ओंकारको सर्व मंत्रोका बीजरूप माना गया है ''**स सर्वोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्**'' इसी तरह 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृतियां भी वेदकी बीजरूपमें परिगणितकी गयी हैं, किन्तु इनका अर्थ स्पष्ट न होनेके कारण, यहां, गायत्रीके अर्थका ही निरूपण किया गया है. यहां अक्षरशः गायत्री मंत्रको उद्धृत न करके उसके अर्थको ही प्रकट किया है. इसका कारण यह है कि अग्निके उपस्थानमें गायत्रीका उपयोग होता है और इसीका निरूपण 'सवितुः' गायत्री मंत्रके इस पदसे ब्राह्मणभागमें किया गया है. तदुपरान्त मंदेह आदि दैत्योंके निवारणार्थ भी गायत्रीसे अभिमंत्रित जलको अर्घ्य द्वारा ऊपर उछाला जाता है ''**गायत्र्याभिमंत्रिता आप उर्ध्वं विक्षिपति**''. ऐसी गायत्रीके प्रत्येक उपयोगको सूचित करनेकेलिये, तथा गायत्रीके अनेकों अर्थ हैं उनमेंसे कौन सा अर्थ शुद्ध है, यह भी स्पष्ट करनेकेलिये, यहां गायत्री मंत्रको अक्षरशः न कहकर, उसके अर्थसे ही भागवतका प्रारम्भ किया गया है. और, वास्तवमें देखा जाये तो अग्निके उपस्थानमें प्रयुक्त गायत्री केवल भगवान्का ही वर्णन करती है ''**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**'' श्रुतिके अनुसार, भगवान् अग्निके अन्तर्यामी हैं तथा मंदेहादि दैत्योंका निवारण भी भगवत्सामर्थ्यसे होता है. अतः अग्निके उपस्थानमें अथवा मंदेहादिके प्रशमनमें प्रयुक्त गायत्री केवल भगवान्का ही निरूपण करती है और यही तो गायत्रीका अर्थ है. तदनुसार, भागवत्के व्याख्यानमें वाणीकी निर्विघ्न प्रवृत्तिकेलिये गायत्रीसे भगवदुपस्थान करते हुये 'जन्माद्यस्य' इस प्रथम श्लोकसे गायत्रीके अर्थका निरूपण करते हैं.

''**तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि**'' गायत्री मंत्रमें 'सवितुः' तथा 'देवस्य' यह दोनों पद षष्ठ्यन्त हैं, तदनुसार, इनका अर्थ यह होता है कि (तत्) वह भगवान् जगत्का उत्पादक है (सवितुः), अतः कर्ता है, तथा देव (देवस्य) होनेके कारण सर्वज्ञ है. गायत्रीके इन दोनों पदोंका अर्थ अर्थात् 'सवितुः' और

'देवस्य'का अर्थ यथाक्रम ''जन्माद्यस्य यतोन्वयादितरतः'' तथा 'अर्थेष्वभिज्ञः' पदोंसे किया गया है.

'वरेण्यम्'का अर्थ है श्रेष्ठ जो श्रेष्ठ होता है उसीमें भक्ति होती है. यहां ब्रह्म ही श्रेष्ठ है, अतः ब्रह्म ही भक्तिका विषय है. 'वरेण्यम्' इस तरह भक्तिका बीज-हेतु है तथा 'भर्ग' शब्द संसारकी निवृत्तिका बोधक है ''भर्जयति अखिला अविद्याम्'' सम्पूर्ण अविद्याको जो भस्म करता है उसे 'भर्गः' कहते हैं. 'तेजोवारिमृदां' तथा 'धाम्ना' ये दोनों पद, गायत्रीके 'वरेण्यं' तथा 'भर्गः' इन पदोंके अर्थरूप हैं.

उपर्युक्त गायत्री मंत्रकी पङ्क्तिका, तदनुसार, यह अर्थ होता है कि जो सबको जन्म देता है ('तत्सवितुः' यहां सविताका अर्थ सूर्य नहीं है, किन्तु 'प्रसव' करनेवाला जन्म देनेवाला है) सर्वज्ञ है (देवस्य), श्रेष्ठ है(वरेण्यम्) तथा संसारका निवर्त्तक है(भर्गः), उसीका हम ध्यान करते हैं(धीमहि सत्यं परं धीमहि) प्रत्येक श्लोकमें 'धीमहि' पद गायत्रीके 'धीमहि' पदके ही अनुसंधानमें समझना चाहिये. इस प्रकारकी विशिष्टता वाले तत्त्वका पदार्थका ध्यान अवश्य करना चाहिये, यही शास्त्रकी आज्ञा है **''धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा प्रेरयेत् यः समस्तानां तद् ध्यानं सर्वथा हितम्''** जो पदार्थ मन सहित समस्त इन्द्रियों और बुद्धिको प्रेरणा देता है उसीका ध्यान सर्वशः कल्याणप्रद होता है. श्री वेदव्यास, ''जन्माद्यस्य यतः'' इस पङ्क्तिसे उसी 'परं' पदार्थके ध्यानका आदेश देते हुए भागवत-संहिताका मंगल आरम्भ मंगलाचरण करते हैं.

यहांसे भागवतके प्रथम श्लोककी व्याख्याका प्रारम्भ होता है ''जन्माद्यस्य यतः'' यहां 'यतः'का अर्थ है, जिससे अर्थात् जिससे 'आद्यस्य'= आकाशका जन्म हुआ और यही अर्थ श्रुति भी करती है, **''एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः''**. गायत्रीके अर्थमें तो 'सवितुः'से 'प्रसव' जन्म अर्थ ही लिया गया है, स्थिति तथा प्रलय नहीं. तदनुसार, उपर्युक्त 'जन्माद्यस्य यतः'के अर्थमें केवल 'जन्म' सविताका ही निर्देश किया गया है.

स्थिति तथा प्रलयका अर्थ तो वरेण्यं तथा भर्गः गायत्रीके इन अग्रिम शब्दोंसे पीछेसे सूचित किये जाते हैं और जिसका अर्थ इसी श्लोकके उत्तरार्ध द्वारा किया जायेगा. अर्थात् 'वरेण्यं'से स्थिति तथा 'भर्गः'से प्रलय यथाक्रम यह दोनों अर्थ आगे कहे जायेंगे.

अथवा, गायत्रीके उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय इस सूचितार्थको लेकर भी इन तीनों ही अवस्थाओंका निरूपण, श्लोक–गत केवल ''जन्मादि' पद द्वारा भी, किया जा सकता है. श्रुतिने भी ब्रह्मसे ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका प्रतिपादन किया है ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**'' इत्यादि तदनुसार जन्मादिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय यह अर्थ द्विविध प्रकारसे किया जा सकता है प्रथम अर्थ इस तरह है 'जन्म आदिः यस्य स्थिति भंगस्य' अर्थात् 'जन्म है आदिमें जिसके ऐसा स्थितियुक्त प्रलय'. यह अर्थ तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि समासके अनुसार है द्वितीय अर्थ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समासके अनुसार इस तरह है 'जन्म है आदिमें, जिस जन्म–स्थिति तथा लयके'. यहां इस अर्थमें 'जन्म' शब्दको उत्पत्ति, स्थिति तथा लय इस समुदायका विशेषण बनाया गया है. इस अर्थमें 'उत्पत्ति' शब्दकी पुनरुक्ति अथवा अधिकता नहीं माननी चाहिये. प्रस्तुत 'जन्मादि' शब्दोंसे यहां ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**'' इत्यादि सम्पूर्ण श्रुतिका अर्थ ग्रहण किया गया है अतः, इस प्रकारका यह अर्थ वेदार्थका प्रतिपादक होनेसे, इसमें अधिकताके अर्थका तथा पुनरुक्तिका दोष नहीं आता. इस तरह यह 'जन्मादि'का अर्थ हुआ. 'अस्य'का अर्थ है 'मनसे भी जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती ऐसे कोटि ब्रह्माण्डरूप इस जगत्की जिससे उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है. यहां 'मनसे भी अचिन्त्य 'कोटि ब्रह्माण्डरूप जगत्'के निर्देश द्वारा भगवान्के माहात्म्यका बोध कराया गया है. 'यतः' इस अव्ययके प्रयोग द्वारा, यह निरूपित किया गया है कि इस जगत्का उत्पादक होता हुआ भी ब्रह्म अविकृत ही रहता है. जिस तरह कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि तथा मन्त्र आदिसे उत्पन्न होते हुए पदार्थ दीख पडते हैं, किन्तु, कामधेनु आदि अविकृत ही रहते हैं, उनमें कोई विकृति नहीं होती, उसी तरह ब्रह्म अविकृत रहता है. श्रुतिके इस कथन द्वारा यह शंका भी निरस्त हो जाती है कि 'यदि एक ही ब्रह्म अपने आपको ही 'जगत्' रूप बना देता है, तो इस तरह समग्र ब्रह्मके ही कार्यरूप होने पर, मूल कारणरूप ब्रह्मका ही उच्छेद हो जायेगा'. और यदि यह शंका हो कि ब्रह्म, जगत्का अंशी है तथा जगत् उसका अंश है, तो यहां भी श्रुतिसे विरोध आयेगा, क्योंकि श्रुतिने ब्रह्मको निरवयव निष्कल तथा निष्क्रिय माना है ''**कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयवत्वशब्दकोपो वा**''(ब्रह्मसू.२।१।२६) इस प्रकारकी ब्रह्मसूत्रमें जो शंकाकी गई है तो इस शंकाका भी निराकरण, श्रुतिके इस कथन

द्वारा, कि जगत्को उत्पन्न करता हुआ भी ब्रह्म अविकृत ही रहता है, हो जाता है.

'य आदिकवये' में 'यत्' शब्द है अतः आगे 'तत्' शब्द भी होना चाहिये, क्योंकि ''यत्-तदोः नित्यसम्बन्धः'' किन्तु श्लोकमें 'तत्' शब्द नहीं है अतः शब्द न्यूनताका दोष आता है अतः श्लोकान्वयमें 'तत्' शब्दका अध्याहार करना चाहिये, किन्तु, गायत्री मंत्रके अन्तर्गत 'तत् सवितुर्वरेण्यम्' में जो 'तत्' शब्द आया है, उसीके अर्थमें, यहां अर्थात् गायत्रीके व्याख्यान रूप इस श्लोकमें 'सत्यं परं' ये दो पद विद्यमान हैं. तदनुसार, 'तत्'शब्दके अध्याहारकी आवश्यकता नहीं है. इस प्रकार ब्रह्म, जगत्का कारण है, इसका प्रतिपादन इससे हो जाता है.

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि अमुक मतमें ब्रह्मको समवायि-कारण तथा प्रकृतिको निमित्त कारण माना गया है और अमुकके मतमें इससे विपरीत अर्थात् प्रकृतिको समवायिकारण और ब्रह्मको निमित्त कारण बताया गया है अमुकके मतमें, ब्रह्म केवल कर्ता ही कहा गया है इन प्रत्येक पक्षके परिहारार्थ ही मूल श्लोकमें 'अन्वयात्' तथा 'इतरतः' इन पदोंका प्रयोग किया गया है. यहां 'अन्वय'का अर्थ है समवायिकारण जैसे 'मृत्तिका'मेंसे 'घट' आदि उसके कार्यरूप आकार बनते हैं यहां इस कार्यरूप 'घट' आकारकी समवायिकारण मृत्तिका है. 'इतरतः'का अर्थ निमित्त कारण है. उपर्युक्त उदाहरणमें कार्यरूप घटका कुम्भकार, चाक तथा दण्ड आदि निमित्त कारण हैं. जिस तरह 'घट' आदि कार्यमें, समवायि उपादानकारण मृत्तिका तथा निमित्त कारण कुम्भकार आदि पृथक्-पृथक् हैं, उस तरह इस कार्यरूप जगत्के दोनों कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं अर्थात् जगत्का ब्रह्म ही उपादान समवायिकारण है और ब्रह्म ही निमित्त कारण है. अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म जगत्का कारण है. इस श्लोक पंक्तिमें 'इतरतः च' 'च'कारका प्रयोग किया गया है. इसका अभिप्राय यह है कि जितनी भी कर्ता, कर्म, तृतीया, चतुर्थी आदि विभक्तियां हैं ''यत्र येन यतो यस्य'' उन सबका अर्थ 'भगवान्' ही हैं भगवान् ही कर्ता, वही कर्म, वही साधन हैं उसकेलिये और उससे ही यह सब कुछ है और जिसका उल्लेख दशमस्कन्ध, उत्तरार्धमें, श्रीवासुदेवकृत स्तुति प्रसंगमें किया गया है. इसी तरह, जगत्की स्थिति भी ब्रह्ममें रहती है. जगत्के प्रलय आदिमें, तदनुकूल आधारके रूपसे, समवायका ग्रहण किया गया है अर्थात् तदनुकूल अपेक्षाके रूपसे, ब्रह्मका, प्रलयस्थितिमें भी, जगत्से

समवाय सम्बन्ध रहता है. इसी कारण ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्यायके द्वितीयपादमें समवाय सम्बन्धका जो निषेध किया गया है, वह कणाद मुनिके न्यायशास्त्र द्वारा स्वीकृत समवाय सम्बन्धका निषेध है, तादात्म्यरूप सम्बन्धका निषेध नहीं है. श्रीव्यासने तो अपने 'तर्क पाद' वैनाशिक आदिसे सम्मत समवायका खंडन किया है, तादात्म्यरूप समवायका नहीं, यहां यह शंका होती है कि कार्य और कारणमें जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है अतः, प्रलय कालमें कार्यका नाश होनेसे वहां समवाय सम्बन्ध किसमें, और कैसे हो सकेगा सम्बन्धकेलिये कार्य तथा कारण दोनोंकी आवश्यकता है इसका समाधान यह है कि कार्यरूप जगत्का प्रलय कालमें सर्वथा नाश नहीं होता कार्यका केवल तिरोभाव होता है नाशकी दशामें भी जगत्की स्थिति अक्षरब्रह्ममें रहेगी ही इस तरह कार्य कारणके रहनेसे समवाय सम्बन्ध रहेगा और ब्रह्म समवाय कारण कहलायेगा.

यहां यह शंका होती है कि 'तत् सत्वे तत् सत्वं' जैसे जहां जहां वह्नि है वहां वहां धूम है इस प्रकारके सम्बन्धको एकके होने पर दूसरेका होना अन्वय कहते हैं तथा 'तदभावे तदभावः' 'यत्र वह्निः नास्ति तत्र धूमो नास्ति' इस प्रकार सम्बन्धको उसके न होने पर उसका न होना व्यतिरेक कहा जाता है. तो फिर यहां 'अन्वय'का अर्थ समवायिकारण तथा 'इतर'का अर्थ निमित्त कारण कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि ब्रह्म जगत्का कारण है. किन्तु इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है यह तो एक वेद-सद्ध प्रमाण है और, इसीलिये यहांसे प्रत्यक्ष सिद्ध अन्वय-व्यतिरेक नहीं माने जा सकते. अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार करने पर एक दोष भी है कि वहां व्यतिरेकमें ब्रह्मका अभाव भी मानना पडेगा किन्तु, ब्रह्मका अभाव तो कहीं भी नहीं देखा गया. जब कि आकाश, पुष्प जैसी बुद्धि-कल्पित वस्तुकी सत्ता भी, ब्रह्मसे अन्वित होनेके कारण ही भासित होती है अर्थात् आकाश, पुष्पकी बाह्य सत्ता न होते हुये भी बुद्धिमें सत्ता अवश्य है. आकाश पुष्पके उच्चारण करते ही बुद्धिमें अमुक पदार्थ उपस्थित होता है और उसकी सत्ता, ब्रह्मसे अन्वित अनुस्यूत होनेसे ही है. इसी संदर्भमें यह कहा गया है कि जो कुछ है, जो कुछ नहीं है 'यद् अस्ति यन्नास्ति' वह सब कुछ ब्रह्म रूपसे, निमित्त रूपसे, अधिष्ठान रूपसे प्रयोजक रूपसे, ब्रह्म ही जगत्का कारण है और इसीका निर्देश 'अन्वयाद् इतरतश्च' पद द्वारा किया गया है.

ब्रह्म ही जगत्का कारण है और इसीलिये वह सर्वज्ञ कहा गया है. सर्वज्ञ

हुये बिना, वह जगत्का कारण नहीं बन सकता. लौकिक व्यक्तिकी तरह ब्रह्म 'फल'का जानकार नहीं है ऐसा कथन अनुचित है और इसीका संकेत 'अर्थेषु अभिज्ञः' इस पद द्वारा किया गया है. इस पदका वास्तवमें गूढ तात्पर्य यह है कि ब्रह्म, पूर्ण वैराग्यसे निष्कामभावसे युक्त है, तथा उसे कोई पदार्थ ईप्सित नहीं और इसी हेतुसे 'अर्थानाम् अभिज्ञः' अर्थोंका जानकार इस प्रकारकी कर्मषष्ठीका प्रयोग न करके 'अर्थेषु अभिज्ञः' अर्थोंमें जानकार ऐसी विषय सप्तमी कही गई है अर्थात् ब्रह्म, पदार्थोंमें अनासक्त रहता हुआ उनके विषयमें जानकार अवश्य है. यहां 'अर्थेषु' बहुवचनान्त पद है क्योंकि ब्रह्मके एक प्रयोजनमें अनन्तों प्रयोजन होते हैं एक प्रयोजन भी अनेकों प्रयोजनोंकेलिये हो सकता है और, ब्रह्म उन सबका जानकार है.

ब्रह्म, प्रयोजन अथवा फलका जानकार होता हुआ भी उसमें आसक्त नहीं है अर्थात् इस निमित्तसे उसे न हर्ष है न विषाद है इसीका सूचन करनेकेलिये प्रयोजनवाची 'अर्थेषु'में तथा ज्ञान-शक्तिवाचक 'अभिज्ञः'में इन दोनों पदोंमें 'अर्थाभिज्ञः' इस तरह समास नहीं किया गया. 'अर्थाभिज्ञः' ऐसा समस्त पद न देकर, प्रयोजन निर्देशक 'अर्थेषु' तथा ज्ञानशक्ति निर्देशक 'अभिज्ञः' इन दोनों पदोंका पृथक् पृथक् प्रयोग किया गया है. यहां 'अर्थ' शब्द प्रयोजनवाची है.

अथवा, 'अर्थेषु'में विषय सप्तमीसे अर्थ न लगाकर, निमित्तार्थक सप्तमीसे अर्थ किया जाये तो तात्पर्य यह होगा 'पुरुषार्थ सिद्धिकेलिये इस जगत्को उत्पन्न किया'. तथा 'अर्थेषु'का यह तात्पर्य होगा 'एक ही प्रयोजनकी प्रयोजन कार्य-कारणपरम्परा' और इस प्रयोजन परम्पराका भी उसे अभिज्ञः ज्ञान है. ब्रह्मने, धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिकेलिये इस जगत्का निर्माण किया है. 'सभी जीवोंकी, सर्वविध पुरुषार्थ सिद्धिकेलिये, मैं इस जगत्का निर्माण कर रहा हूं' यह वह ब्रह्म जानता है.

ज्ञानमार्गीय यह मत कि ब्रह्म अपनेलिये इस जगत्का निर्माण करता है, अशुद्ध है. भागवतकारके मतमें 'ब्रह्म' स्वराट् है, वह अपने आपमें ही रमण करता है, विषयोंमें नहीं. यद्यपि जीव भी, ब्रह्मके अपने ही रूप हैं, फिर भी स्वयं ईश्वर ब्रह्म है तथा ये जीव ही हैं, ऐसे प्रकार भेदके कारण, ब्रह्मकी 'स्वराट' रूपतामें कोई दोष नहीं आता. ब्रह्म अपने ही स्वरूपमें स्वयं प्रकाशमान है तथा विषयोंमें रमण नहीं करते. अथवा, विराट्के अन्तर्गत स्वराट् है और इसी कारण पूर्वोक्त सर्वसताका

इससे समर्थन हो जाता है, अथवा, स्वयंको क्लेश नहीं इसलिये ब्रह्म अपने ही आनन्दमें रमण करते हैं. 'अन्तारमण' ही प्रलयका प्रयोजन है.

यहां तक उपर्युक्त श्लोकके प्रथम पद द्वारा यह सिद्ध किया गया कि इस रूपात्मक जगत्का कारण ब्रह्म ही है. अब नामात्मक जगत्का अर्थात् वेदका कारण भी वही ब्रह्म है इसका निरूपण 'तेने' इत्यादि पद द्वारा कहते हैं. यद्यपि यहां रूपनामात्मक इस प्रपञ्चद्वयका एक मात्र ब्रह्म ही कारण है इसका विवेचन एक साथ ही किया जाता तो कोई विशेष अन्तर नहीं पडता, तथापि, रूपप्रपञ्चमें तथा नाम प्रपञ्चमें इन दोनोंमें आसक्त रहने वाले जीव भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये नाम प्रपञ्चका पृथक् निरूपण किया गया है. बन्ध तथा मोक्ष दोनों भिन्न प्रकारके पदार्थ हैं यह निरूपण करनेकेलिये वेदका 'तेने ब्रह्म हृदा' पदसे तथा जगत्का 'जन्माद्यस्य' पद से, अलग अलग निर्देश किया है यद्यपि वेदमें त्रिविध उत्पत्तिका ही निर्देश है, तथापि प्रलयके समय प्रपञ्च सूक्ष्म-संकुचित रूपसे रहता है. जिस प्रकार वर्णोंका अनेक भाषाओंके रूपमें विस्तार है, उसी तरह श्रुतिका भी, वेदकी शाखाओंके भेदसे विस्तार है.

यहां 'ब्रह्म' पदका अर्थ वेद है, वेदका 'ब्रह्म' शब्दसे जो उल्लेख किया गया, वह यह निर्देश करनेकेलिये कि वेद भी, ब्रह्मकी तरह अविकृत है. ऐसे अविकृत वेदका, आदि कवि ब्रह्माकेलिये संकल्पमात्रसे विस्तार किया अर्थात् ब्रह्माको, भगवान्ने, वेदका ज्ञान, हृदय पूर्वक, मनःपूर्वक (हृदा) दिया. यहां 'हृदयपूर्वक' इस कथनसे यह निर्देश किया गया है कि इस ज्ञानके अनुदानमें प्रभुका अपना स्वार्थ भी निहित है. यहां 'हृदा'का अर्थ पुराण भी होता है 'पुराणं हृदयं स्मृतम्' तदनुसार, इसका यह अर्थ भी होता है कि भगवान्ने पुराण सहित 'हृदा' वेदका ज्ञान आदिकवि ब्रह्माको दिया. भगवान्ने ब्रह्माको वेदका बोध कराया, इसका प्रमाण श्रुतिमें मिलता है यथा ''**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति**'' अर्थात् भगवान्ने ब्रह्माको प्रकट किया तथा उनको वेदोंका ज्ञान कराया. जितने भी गूढ अभिप्राय होते हैं वे हृदयमें ही निगूढ रूपसे रहते हैं अतः यहां 'हृदा'का एक अर्थ यह भी है कि भगवान्ने अपने अंतरंग अभिप्रायका ब्रह्माको बोध किया, और भगवान्का अंतरंग अभिप्राय वेदमें ही है, लोकमें नहीं.

'तेने ब्रह्म हृदा यः' इस श्लोकमें 'यः' पदसे गायत्रीके ''धियो यो नः प्रचोदयात्'' इस तृतीय पादके 'यः' पदका ग्रहण किया गया है, तदनुसार इस

श्लोक पंक्तिका वही अर्थ होगा जो गायत्रीके तृतीय पादका अर्थ है अर्थात् गायत्रीके 'सर्व प्रेरकत्व'का अर्थ ही उपर्युक्त श्लोक पंक्तिमें संगृहीत है अर्थात्, 'जिससे जन्मादि होते हैं और जिसने ब्रह्माको वेदका बोध कराया, वही ब्रह्म सबका प्रेरक है' इस तरह 'यः' पद द्वारा इस श्लोक पंक्तिमें, गायत्रीके तृतीय पादका अर्थ ग्रहण किया गया है. श्लोक पंक्ति द्वारा, गायत्रीके तृतीय पादका अर्थ संगृहीत किया गया है यह सिद्ध करनेकेलिये ही श्लोकमें 'यः' पदका प्रयोग किया गया है यदि यह अर्थ अभिप्रेत नहीं होता तो 'यः' पदके प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः' पदमें प्रयुक्त 'यतः'में सार्वविभक्तिक 'तसि'के प्रयोगसे 'यतः'को व्याकरणके नियमानुसार सभी विभक्तियोंके अर्थमें प्रयुक्त किया जा सकता है तदनुसार 'तेने ब्रह्म हृदा यः' इस पंक्तिमें 'यः'की जगह 'यतः'का प्रयोग किया जा सकता था किन्तु यह न करके 'यः'का प्रयोग ही किया उससे यह स्पष्ट किया गया है कि गायत्रीके तृतीय पादका संपूर्ण अर्थ इस श्लोक पंक्ति में संगृहीत है.

'आदिकवये' वेद मार्गके सर्वप्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा ही हैं इसलिये यहां 'आदिकवि'से ब्रह्माका ग्रहण किया गया है. वेदोंके अर्थमें निष्ठा रखने वाले अन्यव्यक्तियोंको भी, उसी रूपसे, ब्रह्मरूपसे ही, मुक्ति मिलती है, यह तात्पर्य है. 'आदिकवये' में ब्रह्माकेलिये 'कवि' पदके प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि वह शब्द–रस के ज्ञाता हैं. अथवा 'कवि' पद, परोक्षरूपसे ब्रह्माका बोधक है क्योंकि "**परोक्षप्रिया वै देवाः परोक्षं मम च प्रियम्**" देवताओंको परोक्ष गुप्त कथन प्रिय है. अतः परोक्ष कथनकेलिये 'कवि' पद दिया गया है अथवा, कवि लोग, अन्यथा कथनका सामर्थ्य भी रखते हैं इसलिये भी 'कवि' पदका प्रयोग किया गया है.

यदि केवल 'कवि' पदका ही प्रयोग किया जाता अर्थात् 'आदिकवये'में 'आदि' शब्दका प्रयोग न करते, तो केवल 'कवि' पदसे नवीन कवियोंका भी ग्रहण किया जाता और नवीन कवियोंमें दोषकी संभावना होती है किन्तु, यहां 'आदि' पदके प्रयोगसे यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मामें कोई दोष नहीं, क्योंकि इनके सदृश दूसरा है नहीं.

अथवा, ब्रह्माने अनेकविध स्तोत्रोंसे भगवान्को संतुष्ट किया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान्ने ब्रह्माको वेदके ज्ञानसे प्रकाशित किया इसका निर्देश

करनेकेलिये भी, 'आदिकवि' पदका प्रयोग किया गया है.

'मुह्यन्ति यत् सूरयः' ब्रह्माके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियोंकेलिये वेदोंकी कोई उपयोगिता नहीं उद्भट पंडित लोग भी वेदोंके अर्थमें भ्रांत हैं यज्ञ लौकिक है, उनमें यज्ञोंमें जो वैदिकता है वह इसलिये कि उनके अनुष्ठानसे फलकी प्राप्ति होती है अपनी इस मान्यताके कारण मीमांसक वेदार्थमें भ्रांत ही हैं इसी तरह 'ब्रह्म, जीवोंका केवल आत्मरूप हैं' अपने इस मन्तव्यके कारण सांख्य तथा योगमार्गके पंडित भ्रांत हैं. केवल, वैदिक मार्ग वाले भ्रांत नहीं हैं. पौराणिक, यद्यपि सत्कार्यवादको मानते हैं, तथापि, उनका निरूपण 'पुरुष' तक ही सीमित है 'पुरुषोत्तम'को नहीं जानते. अतः ये पौराणिक तथा इनका अनुसरण करने वाले भी, वेदार्थमें भ्रांत ही हैं. अपनी भगवद्-विमुखताके कारण ही इनकी वेदार्थमें भ्रांति रही. इसलिये वेदके अर्थको या तो भगवान् ही जानते हैं या भगवत्सम्मुख रहने वाला जीव ही.

यहां यह शंका होती है कि, यदि ब्रह्माके अतिरिक्त अन्य कोई भी वेदार्थ नहीं जानता तो फिर मीमांसकादिकी पद्धतिसे किये गये यज्ञादिसे पुत्रादि रूप फलकी जो प्राप्ति होती है, उसका क्या कारण? इसका उत्तर यह है कि वेद, भगवत्स्वरूप होनेके कारण सर्वसमर्थ है इसीलिये विविध कामनाओंसे आतुर प्राणियोंकी सर्वकामनाकी सिद्धिकेलिये वेदका प्रचार हुआ है और, इसी तरह उसकी अनेक शाखाओंका भी विभाग भी किया गया है और इसी तरह इस प्रकारके शास्त्रीय वाक्य उद्धरण भी मिलते हैं. यथा पहिले पुरुरवाकी कामना पूर्तिकेलिये वेदत्रयी उसके हृदयमें उत्पन्न हुई, कभी हृदयमें पुरुषरूपमें वेद उत्पन्न हुए अथवा, 'वेद, पहिले ओंकाररूपमें था'(वेदः प्रणव एवाग्रे) तत्पश्चात् उसका ऋग्-यजुः-साम इस तरह विभाग किया गया. वास्तवमें तो वेदोंका सर्व प्रकारसे उपयोग तो ब्रह्माने ही किया है. इसलिये वेदके तात्पर्यको बिना समझे ही जो लोग वेदका अन्यप्रकारसे ही अर्थ करते हैं वे सभी उपेक्षणीय हैं.

जीवोंको, प्रपंचसे बंधन तथा वेद(ज्ञान)से मोक्ष मिलता है. भगवान् रूपप्रपंच तथा नामप्रपंच इन दोनोंसे ही क्रीडा करते हैं यही भगवान्का माहात्म्य है.

इस तरह, भगवान्, पूर्ण गुण विग्रहसे युक्त हैं यह प्रतिपादित करके, भगवान्के 'निर्दोषत्व'को सिद्ध करते हुये 'भर्ग' शब्दका अर्थ कहते हैं

''तेजो वारि मृदां यथा विनिमयः'' भगवान्में माया तथा मायाके कार्यका लेश मात्र भी नहीं है इसीलिये वह वरणीय वरेण्य है, अथवा दोषरहित है. ('भर्ग' शब्द गायत्रीमें संसारकी निवृत्ति करने वाला इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अथवा, 'भर्ग' शब्द यहां भक्तिके बीजका निर्देश करता है.) दोषोंके अभाव पक्षमें दो प्रकारके दोष कहे गये हैं स्वयं ही दुष्टताका संपादन करनेका दोष, अथवा, सेवकोंका उद्धार नहीं करनेका दोष. इनमेंसे प्रथम दोषका स्वतः दुष्टता संपादक दोषका भगवान्में अभाव है. देह, इन्द्रिय तथा अंतःकरणके धर्मोंका अपनेमें संबध करना, यह स्वतः दुष्टता-संपादक रूप प्रथम दोष है और यह दोष प्रत्येकमें होता है. इसलिये इनके दृष्टान्त भी अनेकों हैं. इनके सात्विक, राजस, तथा तामस भेदसे भी अनेकों दृष्टान्त हैं. दृष्टान्तका आशय यह है कि जिस प्रकार, पृथिवी, जल, तेज इनमेंसे एककी दूसरेमें जो प्रतीति अथवा आभास होता है वह मिथ्या है केवल देखने वालेकी बुद्धि ही उस प्रकारकी हो जाती है किन्तु, वहां उस प्रकारका कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकारसे, भगवान्में अथवा उनके अवतारोंमें, अथवा जिनको फलकी प्राप्ति हो चुकी है ऐसे भक्तोंमें, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणके धर्मोंका संबन्ध मिथ्या है. अर्थात् तेजमें जलकी बुद्धि, जिस तरह मृगजलमें होती है जलमें पृथ्वीकी बुद्धि, जिस तरह रात्रिके अन्धकारमें जलाशयमें, होती है, पृथ्वीमें तेजकी बुद्धि जिस तरह मणि आदिमें होती है, पृथ्वीमें जलकी बुद्धि, जिस तरह काच आदिमें होती है जलमें चन्द्ररूपी तेजकी बुद्धि जैसे बादलोंमें होती है और, तेजमें वस्त्ररूप पृथ्वीकी बुद्धि, जिस तरह चन्द्र-किरणोंमें होती है, इसी तरह स्वसमान-सजातीय पदार्थमें अर्थात् शुक्ति आदिमें, रजतकी भ्रांति होती है. एक वस्तुकी दूसरी वस्तु है जो प्रतीति होती है वह देखने वालेकी बुद्धिका भ्रम है, क्योंकि, वहां उस प्रकारकी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं. जिस तरह ये पदार्थ जीवोंकी बुद्धिसे कल्पित करलिये जाते हैं, उसी तरह भगवान्में तथा उनके अवतारादिमें, देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणक़ के धर्मोंका संबन्ध भी जीवोंकी बुद्धिसे परिकल्पित है, इसलिये मिथ्या है.

'यत्र त्रिसर्गो मृषा' इस पंक्तिमें 'यत्र' पद द्वारा, निमित्त तथा अधिकरण इन दोनोंका ग्रहण किया गया है अर्थात् वहां ब्रह्ममें, तीनों गुणोंके कार्यरूप जो देह, इन्द्रिय तथा मन हैं, अथवा इन गुणोंके धर्म, अथवा इनके कारण (प्रकृति), अथवा इनके अधिकरण अथवा अर्थरूप रस स्पर्श आदि हैं, उन सभीका अध्यास

नहीं है. संक्षेपमें, तात्पर्य यह है कि ब्रह्ममें प्राकृत गुणकृत शरीरका तथा इन्द्रिय आदिका संबन्ध अथवा तत्कृत अध्यास नहीं है.

मायावादीकी तरह यहां देह, इन्द्रिय आदिके केवल मिथ्यात्वप्रतिपादनमें 'मृषा'का तात्पर्य नहीं है. क्योंकि, ब्रह्म, मिथ्याभूत देह, इन्द्रिय आदिका आधार है, ऐसा कहीं भी प्रसिद्ध नहीं श्रुतिने ब्रह्मको सभी सत्यवस्तुओंका आधार बताया है 'सदायतना, सत्प्रतिष्ठा'. तदनुसार सर्वका आधाररूप ब्रह्म, सत्यस्वरूप है, इस कारण उसमें देह तथा इनके धर्म, जीवको अपने अज्ञानादि दोषको लेकर अर्थात् अध्याससे ही प्रतीत होते हैं और यही सिद्ध करनेकेलिये कि ब्रह्ममें देह इन्द्रिय आदि धर्मोंकी प्रतीति मिथ्या है, तथापि केवल लोकदृष्टिसे तीनों गुणोंके कार्योंकी उसमें प्रतीति होती है, दृष्टान्तोंको उद्धृत किये हैं. (संक्षेपमें यह तात्पर्य है कि ब्रह्ममें देहादिके धर्म, लोकदृष्टिसे प्रतीत होते हैं, अन्य धर्मोंकी अर्थात् प्राकृतकी तरह देह, इन्द्रिय आदि धर्मोंकी ब्रह्ममें प्रतीति होना मिथ्या है.)

' तेजोवारि मृदां' तेज, जल तथा मृत्तिका इनमेंसे जलमें प्रवृत्ति है, तेजमें प्रकाश है किन्तु मृत्तिकामें न प्रवृत्ति है और न प्रकाश इस प्रकारसे वैधर्म्योंके स्पष्ट होते हुए भी जिस प्रकार एकमें दूसरेका भ्रम होता है जैसे जलमें प्रकाशका, तेजमें प्रवृत्तिका तथा मृत्तिकामें प्रकाश (तेज) तथा प्रवृत्ति (जल) इन दोनोंका भ्रम होता है, उसी तरह कोई भगवान्में देह, इन्द्रियोंकी कल्पना करके इनको चिदानंदरूप बताते हैं. कोई चिदानंदरूप ब्रह्ममें देह इन्द्रियों आदिकी कल्पना कर लेते हैं. कोई आवेशात्मक कृष्णमें जड, जीवका संबन्ध मानते हैं. कोई जड और जीव विशेषमें ही सामर्थ्य है ऐसा मानते हैं. कोई शरीरमें माया तथा मायासे युक्त भगवान्के अध्यासकी कल्पना करते हैं. कोई मायाविशिष्ट भगवान्में अपनी इच्छासे शरीरका संबध होता है, ऐसा मानते हैं. इस प्रकारसे मानने वाले इन सबकी बुद्धि ही भ्रांत है, ब्रह्ममें प्राकृत शरीर एवं इन्द्रियोंका संबन्ध नहीं है. ब्रह्ममें देहादिका व्यवहार जिस प्रकार होता है, वह प्रकार हम अग्रिम प्रसंगमें कहेंगे. इस तरह, भगवान्में जड और जीवके धर्म मिथ्या हैं यह प्रतिपादित किया गया. ब्रह्ममें माया तथा मायाके कार्यका लेशमात्र भी संबध नहीं है. और, इसीलिये वह वरणीय है अर्थात् सुन्दर है. तदनुसार भगवान्में स्वतः दोषका अभाव है इस प्रकारके पूर्वोक्त कथनका यहां प्रतिपादन हो जाता है.

अब, भगवान्के भजनीयगुणोंके वर्णनपूर्वक, उनके सेवकों द्वारा गुणका

निरूपण किया जाता है 'धाम्ना स्वेन' भगवान् अपने स्वरूपकी स्फूर्तिसे ही सभी प्राणियोंकी सर्वविध अविद्याका नाश कर देते हैं. बिना किसी साधनके, भगवान्का स्वरूप ही अविद्याका नाश कर देता है. इसमें कलिकाल आदि भी प्रतिबंध करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि यहां स्वरूप ही अविद्याका नाश करने वाला है इसे 'प्रमेय'बल कहते हैं.

देह, इन्द्रिय आदिमें से अविद्याजन्य आत्मभावकी निवृत्ति होने पर, अर्थात् देहेन्द्रिय आदिमें आत्मभावरूपी कापट्य निवृत्त होने पर, अपने अपने अधिकारानुसार, अर्थात् जिस प्राणीका जैसा अधिकार है, उसको उसके अनुरूप, अपने आप ही स्वतःसिद्धिकी प्राप्ति हो जायेगी ''तस्मिन् निराकृते शिष्टं स्वतएव भविष्यति''. इस प्रकारके निरूपण द्वारा गायत्रीके 'स'कारान्त 'भर्गस्' शब्दका अर्थ किया गया है. भर्गका अर्थ है 'सर्व अविद्याका नाशक 'भर्जयत्यखिलाविद्यां' (गायत्री मंत्रमें 'भर्गस्' ऐसा सकारान्त शब्द है और इसीकी यह व्याख्याकी गई है.)

अब, गायत्रीमें 'तत्सवितुर्वरेण्यं'में आये हुये 'तत्' शब्दकी व्याख्या करते हैं. 'सत्यं परं धीमहि' जो कालत्रयसे अबाधित, सर्वलोकप्रसिद्ध हो, उसे 'सत्य' कहते हैं और जो श्रेष्ठ, पुरुषोत्तमरूप सर्ववेद प्रसिद्ध हो, वह पर कहा जाता है. 'धीमहि'का अर्थ है 'जो कालत्रयाबाधित सर्वलोक तथा सर्ववेद प्रसिद्ध श्रेष्ठ पुरुषोत्तम है, उसका हम ध्यान करते हैं अथवा उससे प्रीति करते हैं.

तात्पर्य यह है कि भगवान् दिव्यस्वरुपसे युक्त, निर्दोष तथा दिव्य पूर्ण गुण हैं. अतः परम सुन्दर हैं, वरण करने योग्य हैं अर्थात् अविद्यानाशक तथा अत्यन्त सुन्दर होनेके कारण भगवान् ही एकमात्र वरेण्य है.

गायत्रीमें तथा प्रस्तुत श्लोकमें उभयमें 'धीमहि' इस एक ही पदका समानपदका जो प्रयोग किया गया है, उससे यह निर्देश किया गया है कि भागवत को भी वैदिकत्व प्राप्त है इसी हेतुसे यह कहा जाता है कि यह भागवत पुराण वेदसम्मत है. इस तरह यहां तक गायत्रीरूप बीजभावका निरूपण किया गया है.

अब, वृक्षभावका निरूपण करनेकेलिये, 'भागवत' कल्पवृक्ष है, यह प्रतिपादित किया जाता है

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।

श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिः तत्क्षणात् ।।२।।

श्लोकार्थः मात्सर्य आदि दोषोंसे रहित तथा कृपालुत्वादि गुणोंसे युक्त सन्त जनोंके भगवद् भक्तोंके कापट्यादिसे मुक्त परम धर्मका यहां भागवतमें निरूपण किया गया है. यहां भागवत शास्त्रमें, जानने योग्य उस परम वस्तुतत्वका साक्षात् भगवान्का निरूपण किया गया है जो कल्याणकारी हैं तथा त्रिविध तापका समूल विनाशक है. महामुनि श्रीवेदव्यासने इस दश रसयुक्त भागवतका प्रणयन किया है तो फिर भगवद् अतिरिक्त अन्य पदार्थका निरूपण करने वाले अन्यशास्त्रोंसे प्रयोजन ही क्या ? इस भागवत शास्त्रका ऐश्वर्य इतना अमाप है कि श्रवणकी इच्छा करने वाले महाभाग्यशाली जीव, तत्क्षण ही श्रवण करते ही ईश्वरको अपने हृदय-कमलके संपुटमें अवरुद्ध कर लेते हैं अपने वशमें कर लेते हैं.

सुबोधिनीः धर्म और ज्ञान साधन हैं, भगवान्का आविर्भाव साध्य है अर्थात् धर्म और ज्ञानसे भगवान्का आविर्भाव होता है, तदनन्तर, उसमें प्रवेशको प्राप्त करना ही फल है. यह सब भागवतसे ही संभव है. अतः भागवत एक विशिष्ट कल्पवृक्ष है अर्थात् भागवत इच्छितसे भी अधिक देता है. जिसका 'विधि'से संबध हो, अर्थात् जो विधि-बोधित हो वह धर्म है और यही धर्मका लक्षण है अर्थात् किसी भी कार्यको करनेमें वेदकी आज्ञाको धर्म कहते हैं. धर्ममें वेद प्रमाण है. वैदिक धर्म यज्ञात्मक है आचार, पौराणिक धर्म है. सत्य, तप तथा श्रवण आदि भी धर्म हैं. अब, प्रथम श्लोकके कथनानुसार, वेदविहित यज्ञादि धर्ममें महान् पंडितोंको भी मोह भ्रांति होती है. वास्तवमें देखा जाये तो स्वर्गादि लोककी प्राप्तिरूप फलकेलिये यज्ञ करनेका विधान नहीं है, यज्ञादिका विधान तो श्रीकृष्णके आनन्दकी उपलब्धिकेलिये है ऐसी स्थितिमें "**स्वर्गकामो यजेत**" इस प्रकारके कथन द्वारा यज्ञादिको स्वर्ग का साधन बताते हुये भ्रम उत्पन्न किया जाता है. इसलिये, वैदिक-धर्ममें कापट्यकी संभावना है.

आचार धर्ममें भी "**शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु**" इत्यादि कथन द्वारा एकसमान पदार्थोंमें भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे शुद्धि और अशुद्धि का विधान माना गया है गुण तथा दोष का यह विधान, प्राणियोंकी आचार-धर्ममें प्रवृत्ति करानेकी एक युक्ति मात्र है अर्थात् आचारधर्ममें मनमानी प्रवृत्ति रोकनेकेलिए गुण दोषका यह विधान किया गया है. अतः आचार धर्ममें भी

कापट्य है. सत्यादि धर्म, व्यवहारदशामें असत्यादिसे मिले रहते हैं. अतः उनमें भी कापट्य है. इसी तरह तप आदि धर्मोंमें भी कापट्य है. अपने और परायेका उपकार करने वाले तपो धर्म द्वारा अपना तथा अन्यका कल्याण अथवा अर्थ किस तरह सिद्ध किया जा सकता है? अन्यत्र गीतामें तो तप आदि धर्मकी निन्दाकी गयी है शरीरमें स्थित पंच महाभूतोंको तप आदिसे जो कष्ट देते हैं वे मूढ हैं. इस तरह सर्वत्र विहितका निषेध किया जानेके कारण, कापट्यकी प्रतीति होती है.

श्रवणादि धर्ममें, ऐसा किसी भी प्रकारका कापट्य नहीं. श्रवणादि करने वाले भक्तोंमें भी कापट्यका अभाव है. यहां कापट्यके एकान्त अभावका निर्देश 'उज्झित' के पूर्व 'प्र'उपसर्गके प्रयोग द्वारा किया गया है. अर्थात् भागवतमें कापट्य धर्मका 'प्रकर्षरूप'से सर्वथा अभाव है. कपट रहित श्रवणादि धर्म भागवतसे ही सिद्ध किया जा सकता है. भगवद्धर्म होनेके कारण, यह परम धर्म है. अथवा, इससे 'परो मीयते' पर श्रीकृष्ण जाने जा सकते हैं इसलिये, अथवा, यह धर्म भगवत् साक्षात्कारमें हेतु है, इसलिये भी इस धर्मको 'परम' श्रेष्ठ कहा है. श्री व्यास जैसे विशिष्ट महानुभावोंसे आचरित होनेके कारण भी यही धर्म उत्कृष्ट है, और इसीका निर्देश, 'निर्मत्सराणां सतां' इस पंक्ति द्वारा किया गया है.

दूसरोंके उत्कर्षको सहन नहीं करना मत्सर–दोष कहलाता है. कृपालुता आदि धर्म सम्बधी विषय गुण कहलाता है. जो व्यक्ति दोषसे रहित तथा गुणसे युक्त हैं, वे ही इस श्रवणादि धर्मके सम्बन्धी हैं अधिकारी हैं अन्य नहीं, और इसीमें भागवत धर्मके उत्कर्षकी सिद्धि है. इससे अन्य धर्मोंमें ईर्ष्या आदि, मात्सर्य आदि स्पष्ट ही हैं. ज्ञान भी भागवतमें ही निरूपित हुवा है, और इसीलिये जानने योग्य वस्तु तो भागवतमें ही है 'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु' इस प्रकारका कथन किया गया है. अन्यत्र तो यज्ञ–ब्रह्म–काल तथा पुरुष ये चार ही विषय जानने योग्य वेद्य बताये गये हैं. किन्तु यहां भागवतमें तो इन चारोंका ही वास्तविकरूप (वस्तु–स्वरूप) जो साक्षात् भगवान् हैं वही जानने योग्य कहे गये हैं, क्योंकि, भगवान् ही सबके 'वास्तविक' रूप हैं. तदुपरांत, अपने आपसे ही प्रकाशित भगवान् यहां भागवत शास्त्रमें ही जाने जा सकते हैं, अन्यत्र नहीं. क्योंकि अन्य शास्त्रोंमें वेद्य–वस्तु (जानने योग्य पदार्थ) अवास्तविक हैं और जो वास्तविक वस्तु है वह अवेद्य है जानने योग्य नहीं है. ऐसी स्थितिमें, अन्य शास्त्रोंमें निरूपित विषय, अविद्यासे

युक्त व्यक्तियोंकेलिये है अर्थात् अन्य शास्त्रोंमें अविद्याग्रस्त जीवोंको अधिकार है, किन्तु भागवतमें तो केवल मुक्त जीवोंको ही अधिकार है.

सबकेलिये अवैध होते हुये भी, भगवान् भागवत धर्ममें अपनी इच्छासे प्रकट होते हैं, तथा वेद्य बनते हैं. अन्य शास्त्रोंमें जिनकी बुद्धि समाप्त हो गयी है, अथवा लगी हुयी है उन्हींको यहां साक्षात् भगवान्में अवास्तविकताकी प्रतीति होती है, अथवा वास्तवमें देखा जाये तो, प्रत्येक व्यक्तिको, वास्तविक स्वरूपकी जानकारी वेद्यत्व यहां ही प्राप्त हो सकती है.

यज्ञादि करनेसे, अथवा उनको जान लेनेसे शांति तथा परम आनन्द प्राप्त नहीं होते, क्योंकि यज्ञादि द्वारा प्राप्त होने वाला फल 'पारलौकिक' है ऐहिक नहीं. अतः जब तक इहलोकमें स्थिति है, तब तक तो दुःखानुभव ही करना होता है. आत्मज्ञानसे भी शान्ति मिलती है, किन्तु परम आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती. आत्मज्ञानीकेलिये इसी परमानन्दका निषेध शास्त्रों द्वारा किया गया है. भगवत् साक्षात्कार अथवा अन्ततः सायुज्य होने पर ही शान्ति तथा परमानन्द दोनों ही मिल जाते हैं और प्राप्ति समकालमें ही तत्काल ही उसके ताप-त्रयका उन्मूलन हो जाता है. इसलिये, श्रवणादि धर्म वालेको तो साधन और फल यह दोनों यहां भागवतमें ही प्राप्त हो सकते हैं और इसीलिये, ज्ञानकी अपेक्षा श्रवणादि धर्म उत्कृष्ट माना गया है.

शब्द रसको भलीभांति समझने वालोंके लिये भी यही भागवत ही उत्कृष्ट है इसीका निर्देश प्रस्तुत श्लोकमें 'श्रीमद्भागवते' इस पद द्वारा किया गया है. यह भागवत श्रीसे युक्त श्रीमद् है, अर्थात् भक्तिरस सहित दश रससे युक्त है. जितने भी काव्य हैं उनमें यद्यपि इसकी छाया अवश्य है, तथापि काव्य निन्दित है, क्योंकि, उनके रचयिता सदोष हैं. यहां भागवतमें कर्तृदोषकी, अर्थात् उसके प्रणेतामें दोषकी शंका करना ही व्यर्थ है, क्योंकि यह श्रीमद् भागवत तो महामुनिकी रचना है अर्थात् सम्यक् मनन करने वाले महामुनि श्रीवेदव्यास द्वारा प्रणीत है. वेदव्यासने समाधिमें अनुभव करके इसको रचा है. इसी समाधिभाषा का निर्देश करनेकेलिये यहां 'महामुनिकृते' इस पदका प्रयोग किया गया है तदुपरांत इस पदसे यह भी सूचित किया गया है कि इस भागवतका प्रणयन, समाधिमें जैसी वेदव्यासको भगवान्ने प्रेरणा दी, उसीके अनुसार मनन पूर्वक यह भागवत आलेखित की गयी है. वेदव्यासका कथन है कि मैंने स्वतन्त्रतया इस

भागवतकी रचना नहीं की है. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इसमें भागवतमें कर्तृदोष नहीं है.

मंत्र–शास्त्र तथा पंचरात्र उपासना काण्ड है, इस उपासना काण्डसे भी अधिक असाधारण उत्कर्षसे युक्त यह भागवत है. मंत्र शास्त्रमें देवता स्वाधीन होते हैं, किन्तु वे ईश्वररूप नहीं है. पंचरात्रमें भी देवता, मंत्रके अधिष्ठान रूपसे ही स्वाधीन होते हैं, इसी तरह स्थान विशेषमें अर्थात् मथुरा आदिमें भी, उसमें आवेश रूपसे ही स्थान–स्वरूपसे ही स्वाधीनता है. अर्थात् पंचरात्रके अनुसार उपासना करने वालेके तथा मथुरा आदिमें निवास करने वालेके हृदयमें भगवान् अवरुद्ध नहीं होते. साक्षात् पुरुषोत्तम तो यहां भागवतसे ही हृदयमें अवरुद्ध होते हैं. इसीलिये, भगवान्से अतिरिक्त अन्यका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रोंसे अथवा इससे भिन्न रूपसे प्रतिपादित शास्त्रोंसे कौन सा फल सिद्ध किया जा सकता है? कोई भी नहीं. इसीका निर्देश 'किं वा परैः' पदसे किया गया है यहां 'वा'का अर्थ 'अनादर' है अर्थात् भगवद् अतिरिक्त अन्यका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र, अथवा भिन्न रूपमें प्रतिपादन करने वाले शास्त्र अनादरणीय हैं. श्रीमद्भागवतमें तो ईश्वर ही प्रतिपादित है यह ईश्वर, करनेमें, न करनेमें, तथा अन्यथा करनेमें समर्थ हैं अदृष्ट तथा काल आदिके भी बाधक हैं दूर करनेवाले हैं. इनको दूर करके, जो करना हो वही कर सकते हैं, अदृष्टादिसे किये गये प्रतिबंधको दूर करनेमें समर्थ हैं. जो भक्त भ्रांत हो गये हैं, उनकी भ्रांतिको दूर करके, उनको सन्मार्गमें प्रवृत्त करते हैं यहां 'ईश्वरः'से यही तात्पर्य है. यही ईश्वर श्रीभागवतके श्रवण मात्रसे ही, विचार अथवा चिंतन किये बिना भी, तत्क्षण हृदयमें आरूढ हो जाते हैं.

श्रीमद्भागवतका प्रतिपादन करने वाले ब्रह्मा, नारद आदि महापुरुष होनेसे उनके वाक्य दुर्बोध हैं. उनका आशय यथावत् समझमें नहीं आ सकता इसलिये उनके सम्यक् बोधनके प्रकारका निर्देश करते हुये कहते हैं कि 'कृतिभिः शुश्रूषुभिः' जो व्यक्ति कुशल बुद्धि वाला है तथा श्रवणकी उत्कट इच्छासे युक्त है, उनको भागवतका ज्ञान होता है अर्थात् बुद्धिका कौशल भागवतके बोधनमें उपयोगी है, तथा श्रवणकी इच्छा कथनमें उपयोगी है. अतः जिसमें कृतित्व है और जो सुननेकी इच्छा रखता है, उसको इस ज्ञानका कथन उपयोगी है. इन दोनोंके होने पर भगवान् तत्क्षण ही हृदयमें आरूढ हो जाते हैं.

अथवा, 'किं वा परैः' इस पंक्तिमें भागवतके उत्कर्षका कथन है अर्थात् भागवतके उत्कर्षमें अन्य अनेक हेतु हैं. उन सभीका यहां उल्लेख करनेसे कोई लाभ नहीं. अर्थसे तथा शब्दसे, भागवतकी उत्कृष्टताके, यद्यपि बहुतसे प्रकार हैं तथापि इनमें सबसे अधिक महान् उत्कर्ष तो यह है कि साक्षात् भगवान्को ही श्रवणकी परमोत्कट इच्छावाले भक्तजन शीघ्र ही हृदयमें पधरा कर रोक लेते हैं इस प्रकारकी यह श्रवणेच्छा परम भाग्यसे ही होती है और इसीका निर्देश यहां 'कृतिभिः' पदसे किया गया है. यहां कृतिका अर्थ 'कुशलता' है. परमत भाषा लौकिकी भाषा तथा समाधि भाषा इन तीनों भाषाओंसे विरोध न आये, इस तरह पद और वाक्योंकी भगवत्परताको जानता हुआ जो कुशल व्यक्ति इस श्रीमद्भागवतको सुनता है, उसीके हृदयमें भगवान् तत्क्षण पधार कर, वहां ही निवास करते हैं, अन्यथा सुना हुवा भी, अनसुना जैसा ही हो जाता है. यहां 'तत्क्षणात्'का तात्पर्य यह है कि इस तरह श्रवण करने वालेका, उसी समय, भगवत् प्राप्तिकेलिये प्रयत्न देखा गया है.

इस समस्त व्याख्यानसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रीमद्भागवत सबसे उत्कृष्ट है. इस प्रकार यहां वस्तुका निर्देश हुआ है.

यहां अनुबन्ध-चतुष्टय इस प्रकार है १.विषय=ईश्वर २.प्रयोजन= तापत्रयका उन्मूलन ३.अधिकारी=सत्पुरुष ४.सम्बन्ध=विषयके साथ ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव.

अब, भागवतकी फलरूपताका प्रतिपादन किया जाता है

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।।३।।

श्लोकार्थः पृथ्वी पर रहने वाले भावना-चतुर, हे रसिको वेदरूपी कल्पवृक्षसे परिपक्व होकर स्वतः गिरे हुए शुक मुखको प्राप्त अतएव भक्ति रससे परिपूर्ण, मोक्षानन्दको तिरस्कृत करनेवाले तथा प्रपञ्चको निवृत्त करनेवाले, भागवत रूप रसका पुनः पुनः पान करो.

सुबोधिनीः काव्यमें जिस प्रकार रूपक अलंकारके सहारे किसीका निरूपण करते हैं, उसी तरह यहां भी 'कल्पतरु' पदसे, रूपकका आधार लेनेसे यद्यपि अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है, फिर भी भागवत सर्व वेदका साररूप है, तथा रूपकालंकार केवल बुद्धिकी कल्पना मात्र है, इसलिये यहां रूपकका वर्णन

सर्वथा अनुचित है. इसलिये, यहां तो वेदही कल्पतरु है 'निगमकल्पतरु' इस तरह वाच्यार्थ ही कहना होगा.

यद्यपि वेद, कल्पवृक्ष है, इस तरह कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, तथापि 'निगमकल्पतरु' इस वाक्यके अन्यथा अनुपपन्न होनेसे, अर्थात् वेद ही कल्पवृक्ष है ऐसा अर्थ न किया जाये तो, 'निगम-कल्पतरु' पदका यथार्थ अर्थ नहीं हो सकता. इसलिए वेद ही कल्पवृक्ष है यही मानना चाहिये.

यहां अक्षरात्मक व्यापिवैकुंठमें प्रणव-बीजसे अंकुरित तथा विकसित एक वेद-वृक्ष है तदनन्तर, व्यास रूपमें जब भगवान्ने अथवा आदिनारायणने अवतार लिया, तब सब जनोंके हृदयको आनन्द देनेकेलिये, वह मूर्तिमान् आधिदैविक फल यहां लाया गया. उसीका यहां निरूपण किया जाता है.

यहां यह शंका होती है कि शब्दका मूर्त्त रूप तथा रसात्मक रूप तो अप्रयोजक है, फिर यहां ऐसा क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है

''**सैषा त्रय्येव विद्या तपति**'' इस श्रुतिसे सूर्यका वेदात्मकरूप निश्चित होते हुये भी, मधु-विद्यामें सूर्यका मूर्त रूप तथा रस रूप सिद्ध है ''**असौ वा आदित्यो देवमधु**'' अर्थात् यह सूर्य देवताओंकेलिये मधु है, रसात्मक रूप है. जैसे हमारेलिये पुष्पपरागसे एकत्रित किया गया मधु है, उसी तरह स्वर्गमें कल्पवृक्ष है, और उसी तरह एकमात्र वेदसे ही जाना जा सके, ऐसे वैकुंठमें भी शब्द-रसात्मक कल्पवृक्ष है, इसलिये यहां रूपक मानकर लक्षणासे अर्थ नहीं करना चाहिये यह तो वेदोंका आर्थिक उत्कर्ष है और इसीलिये वेदका नाम 'निगम' कहा गया.

जो ब्रह्मका निरन्तर ज्ञान कराता है, उस परमोपनिषद्को निगम कहते हैं. और, यह निगम ही कल्पतरु है, क्योंकि यह सर्व प्रकारके फलदान करनेमें समर्थ है. और ऐसे कल्पवृक्षका यह श्रीमद्भागवत गलित फल है, अत्यन्त पक्व फल वृक्षसे अपने आप नीचे गिर जाता है. तात्पर्य यह है कि श्रीव्यास, इस गिरे हुये फलको एक शुभ शकुनके रूपमें यहां आते समय अपने साथ लेते आये. व्यासके पुत्र शुक, मुक्त होनेके कारण यहां इस फलके अधिकारी हैं. पिता, अपने पुत्रको उत्कृष्ट वस्तु ही खिलाता है और यदि फल हो तो उसको देनेका विशेष आग्रह रहता है. तदनुसार व्यासने अपने पुत्र शुकको यह भागवत रूप फल दिया और यह फल रसात्मक है, इसका आस्वाद, निर्झरसे जलकी तरह उत्पन्न सर्व इन्द्रियोंसे संवर्द्धित प्रेम रसको, प्रवाहित करता है. सर्व इन्द्रियोंसे प्रसवित यह प्रेमरस एकत्र

होकर हृदयमें हृदकी तरह भर जाता है. वहां हृदयमें, प्रेम रससे संश्लिष्ट भागवत भक्तिरससे आलोडित होकर मुखसे बाहर निकलता है. शुक मुखसे निकला हुआ यह रस, अमृत (अर्थात् मोक्ष)को भी, द्रावित (अर्थात् शिथिल) कर देता है ऐसा यह भक्ति रस, साक्षात् अमृतद्रवसे युक्त है. इससे यह सिद्ध होता है, कि यह भागवत, अन्य सभी प्रकारके रसोंकी अपेक्षा अधिक रसयुक्त, उत्कृष्ट रससे परिपूर्ण है.

यद्यपि इस प्रकारके उत्तमोत्तम फलको उत्पन्न करनेमें वृक्षका उपकर्ष सिद्ध होता है, किन्तु वृक्षके उत्कर्षका हेतु यहां फलोत्पत्ति है, अतः यहां प्रधानरूपसे फलका ही उत्कर्ष माना जायेगा, न कि वृक्षका वृक्षका उत्कर्ष, उसके उत्तमोत्तम फलको लेकर है स्वतंत्र नहीं. अथवा, शब्दात्मक वृक्षका फल भी, शब्दात्मक ही होता है. सर्व वेदोंके अर्थका विचार करते हुये भगवान्के हृदयमें ही यह भागवत फलित हुआ है. इसीलिये इसका शब्द-समूह निश्चित अर्थका प्रतिपादन करने वाला है. इसका शब्द राशिसे प्रतिपाद्य अर्थरूप फल यह है कि शुद्ध प्रसन्न चित्त तथा ब्रह्मविद्यामें कुशल पुरुष ही भगवान्की सेवा करनेके योग्य है, अन्य नहीं. भागवतका यह अर्थ 'गोप्य' होते हुये भी भक्तकी चिन्तासे परवश भगवान्के हृदयमें से निःसरित हुआ है और इसीका निर्देश यहां 'गलितम्' इस पदसे किया गया है. इसीलिये भागवतका यह गोप्य गलितार्थ, अन्य भगवद्रूप अवतारों तथा अधिकारियोंमें फलित न होकर अत्यंत विरक्त श्रीशुकमें यह ग्रंथार्थ फलित हुआ है. इसीलिये, उनके हृदयमें यह भक्ति-रस तथा भागवत दोनों ही स्थित हैं. श्रीशुकके मुखसे जब भागवत निःसरित होती है, तब वह भक्ति-रसको साथ ही में लेकर बाहर निकलती है अर्थात् भागवत तथा भक्ति रस इन दोनोंका परस्पर उत्तमोत्तम योग है और 'संयुतम्'का यहां यही अर्थ है. इस तरह इन दोनोंके इस उत्तम योगसे, भागवतका जैसे तैसे श्रवण करने पर भी अधिकारीके हृदयमें भक्तिका आवेश होता है. वेदमें 'स्वाध्यायका अध्ययन करो' ''**स्वाध्यायो अध्येतव्यः**'' ऐसा उपदेश है इसी तरह 'भागवतरसका पान करो' 'पिबत' यहां भी यह उपदेश है. इन्द्रिय आदि द्वारा बाहर स्थित रसके अन्तःप्रवेशनको पान कहते हैं, ऐसा पान प्रवाही द्रव्यका ही किया जा सकता है, और इसीलिये, भागवतको यहां रसरूप कहा है.

भागवत यह ग्रन्थका नाम है, अथवा, जो भगवान्से सम्बद्ध हो वह

भागवत कहलाता है. शब्दको सुनकर, अर्थका ज्ञान होने पर, उस शब्दके रसका एक लोकोत्तर जैसा आस्वादन होता है जैसे दूध आदिका सीत्कार पूर्वक पान करनेसे एक भिन्न प्रकारके ही रसका अनुभव होता है. इसीलिए शब्दार्थके ज्ञानपूर्वक भागवतका पान करना चाहिये, केवल श्रवण मात्र ही नहीं.

यह फल छिलके तथा गुठली रहित है. बेदाना–दाडिमके जैसा है. अमुक फल केवल रसमय भी होते हैं, जैसे शहतूत गोस्तनी आदि. जैसे पृथ्वी आदिके रस उद्गीथ पर्यन्त हैं, उसी तरह, रसात्मक भगवान्का रस यह श्रीभागवत है. ऐसा रस केवल स्पर्श करनेके योग्य ही नहीं है, किन्तु वह पान करने के योग्य है.

यह रसात्मक फल ब्रह्मरूप है 'रसम् आलयम्' अर्थात् यह रस, सर्वका आधारभूत है, अथवा 'आसमन्तात् लयो यस्मात् आलयम्' यह रस, सर्व प्रपंचके लयका हेतु रूप है, अर्थात्, इसका एक बार पान करने पर, जगत्में पुनः आगमन नहीं होता. अथवा, इस भागवत–रसके समक्ष मोक्षानंद भी तुच्छ है 'आ ईषद् लयो मोक्षो यस्मात्' इसीलिये, मोक्षकी कामनाको त्याग करके भी, इसीका भागवत–रसका पान करना चाहिये.

'पुनः–पुनः पान कीजिये' 'मुहुरहो' इससे श्रीव्यासकी परवशताका निर्देश किया गया है. श्रीव्यास इस रसके इतने आधीन हो गये हैं कि श्रोताओंको इस रसका पुनः–पुनः पान करनेकेलिये आग्रह करते हैं. अन्यथा यदि रसिक पुरुष स्वयं ही इस रसका पान करने लग जायेंगे, तो श्रीव्यासका पुनः–पुनः पान करनेका कथन ही व्यर्थ हो जायेगा. अथवा, रसका पूरा ज्ञान तभी हो सकता, जब वह बार बार पीया जाये. लौकिक करणोंसे इस रसका आपाततः आस्वादन नहीं हो सकता. इसलिये, करणोंकी लौकिकताको निवृत्त करनेकेलिये ही इस रसका पुनः–पुनः पान करनेकेलिये कहा गया है. इसीका कथन "**परस्परं त्वद्गुणवाद–सीधु–पीयूषनिर्यापितः देहधर्माः**"(भाग.पुरा.३।२१।१७) इस पंक्ति द्वारा अग्रिम प्रसंगमें किया जायेगा. तात्पर्य यह है कि परस्परमें निरन्तर किये गये भगवद् गुणानुवादरूप अमृतसे भगवदीयोंकी देहके लौकिक धर्मोंकी निवृत्ति पूर्वक अविद्या नष्ट हो जाती है. इसीलिये यहां इस रसको पुनः–पुनः पीनेकेलिये कहा गया, जिससे करणोंकी लौकिकता निवृत्त हो जाये और साथमें लोकोत्तर आस्वादनका अनुभव भी हो.

श्लोकमें 'अहो रसिकाः' इस प्रकार आश्चर्यकी अभिव्यक्ति पूर्वक

संबोधन किया गया, इसका आशय यह है कि हे रसिको! आप लागोंकेलिये ही यह अमृत द्रवसे संपूर्ण भागवत भूतल पर लाया गया है, क्योंकि यहां पृथ्वी पर अपने जीवनको सफल बनाने वाले आप स्वयं ही हैं अथवा, भावना करनेमें चतुर हैं कदाचित् रसका विस्मरण हो जाये, किन्तु आप अपनी भावनासे भी रसमें अभी निवेश कर सकते हैं और इस तरह रसका पुनः-पुनः पान करना संभव है भूतल पर जो भाग्यवान 'भावुकाः' है, उनको भी इस रसके पुनः-पुनः पानकी प्राप्ति होती है. यहां 'भावुकाः' बहुवचनान्त है. अतः पान करनेवाले बहुतसे बताये गये हैं, जिससे यह सूचित किया गया है कि एकको रसका अनुभव नहीं होता, परस्पर अनेकोंको मिलकर एकत्रित होकर, इस रसका पान करना चाहिये।।३।।

इस प्रकार बीजभाव, मध्य(वृक्ष)भाव तथा फलरूपताका निरूपण करके, सभी श्रोताओंको सावधान करके शास्त्रका प्रारम्भ किया जाता है:

नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसमम् आसत।।४।।

श्लोकार्थ: जहां ब्रह्मासे छोडे गये मनोमय चक्रकी नेमियां(आरे) विशीर्ण हुई थी, ऐसे विष्णुक्षेत्र (अनिमिष क्षेत्र)में, मंत्रद्रष्टा शौनकादिने एक हजार वर्षमें पूर्ण होने वाले 'सहस्रसम' नामके यज्ञको लोकाधिदैविक देवविशेष शरीरकी प्राप्तिकेलिये सत्रारम्भ किया.

सुबोधिनी: यहां भागवतके परंपरागत सात अर्थ, कथाके अर्थसे अतिरिक्त होते हैं, इसलिये, उनका अन्य टीकाओंमें निरूपण नहीं किया गया. किंतु तत्त्वार्थदीपनिबंधमें इनका निरूपण किया गया है. यथा भागवतका १.शास्त्रमें २.स्कन्धमें ३.प्रकरणमें ४.अध्यायमें ५.वाक्यमें ६.पदमें और ७.अक्षरमें इस तरह सात प्रकारसे, परस्पर अविरोधपूर्वक एक ही अर्थ जानने वाला संशयसे मुक्त हो जाता है.

यहां आनन्दरूप भगवान्की लीला ही इस भागवत शास्त्रका अर्थ है. यह भागवत संहिता भक्तिकी जननी है. सृष्टि आदि भगवान्की लीला है, ऐसा ज्ञान होने पर भगवान्में भक्ति उत्पन्न होती है, किंतु सृष्टि आदि भगवान्का कार्य है, इस प्रकारका माहात्म्यज्ञान भक्तिको उत्पन्न नहीं कर सकता. और, इसीलिये उपनिषद् आदि भक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि इनमें सृष्टि आदिको भगवान्का कार्य कहा है, लीलारूप नहीं कहा. भगवान्का कुतूहलतावश

अनायास बिना श्रमके किया गया कर्म 'लीला' कहलाता है. सृष्टि आदिको भगवान्‌की लीला मान लेने पर ही भगवान्‌की महत्ता एवं निर्दोषता सिद्ध होती है. लीलार्थ कर्ममें-खेलमें दोष नहीं होता. यह लीला मुख्यतया दश प्रकारकी है (सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय), जिसका निरूपण ''अत्र सर्गो विसर्गश्च'' इस श्लोक द्वारा किया गया है. यह दशविध लीला, तृतीयादि स्कंधसे (द्वादश स्कंध पर्यन्त) दश स्कंधोंमें निरूपित की जायेगी. प्रथम स्कंधमें श्रोता तथा वक्ताके लक्षणोंका वर्णन है. द्वितीय स्कंधमें अंगका निरूपण है अतः ये दोनों गौण लीलायें हैं. इस तरह कुल बारह लीलायें हैं द्वादश स्कंध हैं.

भागवतके अर्थको समझनेमें, हीनाधिकारी मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी के पृथक्-पृथक् प्रकारभेद बतानेकेलिये, यह प्रथम स्कंधमें 'अधिकारी लीला'का निरूपण किया गया है. क्योंकि सभी मनुष्य एक ही प्रकारसे भागवतका अर्थ नहीं समझ सकते. हीनाधिकारी सूत और शौनकसे जाना गया भागवतार्थ एक प्रकारका है तो मध्यमाधिकारी नारद और व्यासने इस अर्थको दूसरे ही प्रकारसे जाना तथा उत्तमाधिकारी शुक और परीक्षितने इसीका अर्थ तृतीय उत्तम प्रकारसे समझा इस तरह भागवतमें तीन प्रकारके अधिकारियोंका निरूपण होनेसे यही प्रतीत होता है कि इसके अर्थका बोध अधिकारानुसार फलित होगा. इस संदर्भमें पहिले, प्रश्न तथा उत्तरपूर्वक, तीन अध्यायोंमें हीनाधिकारका कथन किया गया है. अर्थात्, जिसका जैसा अधिकार, उसके अनुसार उसको वैसा ज्ञान होगा. प्रश्न, एक प्रकारका है, उत्तर दो प्रकार के. यहां स्वरूप तथा संगतिके भेदसे (अर्थात्, प्रश्न कर्ताके स्वरूपसे तथा वक्ताकी संगतिसे) दो श्लोकों द्वारा प्रथम 'प्रश्न'की 'संगति' कहते हैं.

नैमिषे, इत्यादि द्वारा 'स्वरूपके विषयमें कहा गया है अर्थात् जिस क्षेत्रमें यह भागवत सत्र प्रारम्भ हो रहा है उसका स्वरूप कैसा है, यह कहते हैं. जो व्यक्ति, पुण्यक्षेत्रमें यज्ञादिसे परिशुद्ध है तथा जिनमें यज्ञरूप भगवान् का आवेश है, वे भगवद्‌विषयक प्रश्नमें स्वरूपतः अधिकारी अर्थात् (प्रथम) हीनाधिकारी हैं.

(नेमिश पुण्यक्षेत्र ही है) जहां चक्रकी नेमियां विशीर्ण हुई हों, वह नेमिष कहलाता है. नेमिश ही नैमिश है. अर्थात्, ऋषियोंके योग्य तपःस्थान बतानेकेलिये, प्रजापति द्वारा फैंके गये मनोमय धर्मचक्रकी नेमि जिस स्थान पर

शिथिल हो गयी, वही स्थान निमिषारण्य कहा गया है, और वहां ही पुण्य-प्रचुरता है. जहां 'नेमिष' ऐसा पाठ है, वहां यह अर्थ करना चाहिये 'निमिष मात्रमें जहां दानव सेनाका संहार कर दिया गया हो वह नेमिषारण्य'. और इसी कारणसे यह स्थान सर्व-दोषोंका निवारक माना जाता है. इस क्षेत्रके देवता 'विष्णु' हैं यह निर्देश करनेकेलिये इसे 'अनिमिषक्षेत्र' भी कहते हैं 'अनिमिष' अप्लुत दृष्टि विष्णुका नाम है विष्णुका यह क्षेत्र दोषोंसे रहित तथा गुणोंसे युक्त है. यहां ऋषियोंकी परम्परामें सुप्रसिद्ध शौनकादि मन्त्रदृष्टा ऋषि हुए इन ऋषियोंने 'सहस्रसम' नामक सत्रको प्रारम्भ किया. यह सत्र हजार वर्षमें पूर्ण होता है, इसलिये, इसे 'सहस्रसम' कहते हैं. जिस यज्ञमें सभी यजमान ऋत्विजोंका कर्म करते हों, उसे 'सत्र' कहते हैं. यहां, जैसे बहुत पहले सहस्र-सम सत्रमें अलौकिक भगवद् आविर्भाव हुआ था, जिसका वर्णन ''**विश्वसृजः प्रथमाः सत्र मासते**'' में किया गया है, उसी तरह यहां फिर सहस्रसम सत्रके करनेसे भागवतरूप भगवान्का आविर्भाव होगा, यह जानकर ऋषियोंने यह सत्र प्रारम्भ किया.

स्वर्ग तो भगवान्के आनन्दका अंशभूत है और, लोकात्मक स्वर्ग, भगवान्के आनन्दका महान् अंशरूप है, और उसीकी प्राप्ति यहां फलरूप कही गई है. अन्य टीकाकारोंने यहां 'विष्णुलोक'की प्राप्तिको फल माना है. उन्होंने श्लोकोक्त 'स्वर्गाय लोकाय'का अर्थ विष्णुलोक किया है स्वर्गीयते इति स्वर्गायो विष्णुः, स च असौ लोकश्च इति विष्णुलोकः अर्थात्, जिसकी प्रसस्ति स्वर्गमेंकी जाती हो उसको स्वर्गीय-विष्णु कहते हैं. तदनुसार 'स्वर्गाय लोकाय' का अर्थ विष्णुलोक हुआ. इस अर्थसे सुबोधिनीकार सम्मत नहीं हैं, क्योंकि यह अर्थ किया जाये, तो श्रुतिसे विरोध आता है ''**सुवर्गाय वा एतानि लोकाः हूयन्ते**'' यहां 'सुवर्गाय स्वर्गाय'का अर्थ है 'भगवद् आनन्दरूप नित्य आत्मसुख' इसी नित्य आत्मसुखकेलिये 'सुवर्गाय' इन इन्द्रादि लोकप्राप्तिकी कामनाओंका तथा अन्य विसर्जनी द्रव्योंका होम होता है. क्योंकि, इन्द्रादिलोकमें 'केवल सुख' नहीं है यह सुख वहां ईर्ष्या अभिमान आदि दुःखान्त भावोंसे, युक्त है तथा क्षयिष्णु अस्थिर है. और यही श्रुतिका निर्णय है ''**देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोभवत्**'' देवताओंकेलिये स्वर्गलोक अर्थात् 'सुख विशेष शरीरसे युक्त देव विशेष लोकरूप स्वर्ग' तिरोहित हो गया. इसीलिये, गृहविमान आदि होते हुए भी उनको देवताओंको सुख नहीं मिला.

संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्रादि पांच नित्य यज्ञोंकी आकृति करते हुये, सहस्रवर्षमें संपूर्ण होने वाले दीर्घ सत्रके अनुष्ठान द्वारा, कोई भी व्यक्ति इन्द्रलोकादि लौकिकफलकी कामना कदापि नहीं करेगा, क्योंकि इस प्रकारका यह फल, क्षयिष्णु अस्थिर है. अतः इस प्रकारके नित्य यज्ञका कोई अलौकिक फल होना चाहिये और रसात्मक भागवतरूप भगवान्के आविर्भावसे अतिरिक्त अन्य और कौन सा अलौकिक, नित्य तथा अक्षय्य फल हो सकता है? अतः यहां इसी 'नित्य आत्मसुखरूप' फलकी सिद्धिकेलिये अर्थात्, भगवदानन्दके महान् अंशरूप लोकात्मक स्वर्गफलकेलिये ऋषियोंने इस सुदीर्घ एवं नित्य सत्रका प्रारम्भ किया है विष्णुलोककी प्राप्तिकेलिये नहीं.

वेदमें जहां जहां 'यज्ञ किया' ऐसा मंत्र आता है, वहां वहां 'कृ' करना धातुकी जगह 'आस' धातुका प्रयोग किया जाता है. सत्रमें सर्वत्र 'कृतिवाची आसति'का ही प्रयोग होता है तदनुसार, यहां 'आस' धातुका अर्थ है 'करना' इस प्रयोगके द्वारा ऋषियोंका स्वरूपतः उत्कर्ष बताया गया है ।।४।।

अब यहां वक्ताकी संगति कहते हैं:

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुत–हुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतम् आसीनं पप्रच्छुरिदम् आदरात् ।।५।।

श्लोकार्थ: एक समय नित्य–नैमित्तिक हवनसे निवृत्त होकर मुनियोंने, सत्कार प्राप्त करके आसन पर विराजमान श्रीसूत पौराणिकसे आदरपूर्वक यह पूछा (जिसका वर्णन इससे आगे किया जायेगा).

सुबोधिनी: 'त एकदा' यह उत्सर्ग अथवा दीक्षाका समय है इसलिये ऐसे समयमें मुनिलोग नित्य–नैमित्तिक सभी प्रकारके होम आदिसे निवृत्त होकर, भगवत्कथा सुननेकेलिये सावकाश हो गये थे. इसीका निर्देश 'प्रातर्हुत–हुताग्नयः'से किया गया है. यहां 'एकदा'से 'हरिगाथाके उपगायन कालका' सूचन किया गया है क्योंकि, ऐसे समयमें ही सूत आदिका वहां आगमन हुआ था. 'मुनयः' इससे यह संकेत किया गया है कि मननशील होनेके कारण ये मुनिगण अलौकिक परिज्ञानसे सम्पन्न हैं परिणामतः उनको श्रीसूतके स्वरूपका सर्वशः ज्ञान है, अर्थात् 'श्रीसूत हमारेसे जिज्ञासित अर्थको जानते हैं' यह भी इन मुनियोंको ज्ञान है श्लोकोक्त 'से' पदका अभिप्राय यह है कि उक्त प्रसंगमें, शौनकादि ऋषिने ही श्रीसूतसे प्रश्न किया, दूसरोंने नहीं. 'प्रातर्हुत–हुताग्नयः'

मुनियोंने प्रातः जिन अग्नियोंमें हवन किया था, उन्हीं अग्नियोंमें फिर हवन किया. इस श्लोक पंक्तिमें 'हुत' पद दो बार आया है प्रथम 'हुत' पदसे नित्य किये जाने वाले होमका तथा द्वितीय 'हुत'से नैमित्तिक होमका सूचन किया गया है अर्थात् मुनियोंने प्रथम, नित्य हवन किया, पीछे नैमित्तिक हवन किया. दूसरी बार होम करनेका वेदमें निषेध है इसलिये, वेदसे विरोध आयेगा, यहां ऐसी शंका अनुचित है क्योंकि, श्लोकमें 'तु' अव्यय द्वारा, 'पूर्वात् परबलीयस्त्वम्' इस न्यायानुसार यहां पक्षान्तरमें वैष्णवपक्षका स्वीकार किया गया है. इस पक्षान्तरको स्वीकार करनेमें, ये मुनिजन 'मनन' कर सकें यही एकमात्र कारण है. इन शौनकादि मुनियोंको कालके गुणका परिज्ञान है इसीलिये, वैष्णव पक्षको लेकर ही यहां प्रातः हवन कहा गया है और इसी कारणसे 'यह विश्वाससे रहित कर्म है.' इस प्रकार अग्रिम प्रसंगमें कहेंगे. यथोचित संभाषण आदिसे अथवा ब्रह्मासन देकर यहां सूत पौराणिक का सत्कार किया गया है 'सत्कृतम्'. श्रीसूत पौराणिक है आपका नाम उग्रश्रवा है. पौराणिक सूत ही ब्राह्मणोंकी सभामें बैठ सकते हैं, इनके अतिरिक्त अन्य क्षत्र धर्मोपजीवी वैश्य वृत्ति करनेवाले सूत वहां नहीं बैठ सकते. और, यदि सूत पौराणिक खडे ही रहे तो तत्सुलभ (भ्रम) व्यग्रता आदि होने पर हरि कथामें न्यूनभाव(अनादर) होगा. इसके निराकरणार्थ भी, वह बैठे हुये हैं 'आसीनम्.' भगवत्कथारसका अभिनिवेश सभीमें होनेका कारण मैं पहिले पूछूं, मैं पहिले पूछूं, इस प्रकारकी स्पर्धाके कारण सभीने श्रीसूतसे प्रश्न किया और इसीलिये, बहुवचनान्त 'पप्रच्छुः' क्रिया पदका प्रयोग किया गया है. यह प्रश्न पूछा जो आगे कहेंगे. सूत पौराणिकका भगवान्में आदर है यह देखकर अथवा भगवान्के स्वरूपको जाननेमें इन मुनियोंको स्वयंको आदर है इसलिये भी मुनियोंने प्रश्न किया सर्वत्र भगवत्कथामें, आन्तरभाव प्रेम ही मुख्य है वाक्यमात्र नहीं, केवल वाणी द्वारा वर्णनमात्र फलरूप नहीं है. यहां यह आदर हार्दिक है.

भगवान् के षड्गुण हैं इसी कारण भगवान्के विषयमें यहां छह प्रश्न किये गये हैं. इस प्रकारसे प्रश्न करनेकेलिये प्रथम तीन श्लोकोंद्वारा वक्ताका अभिनन्दन किया गया है.

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ!।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ।।६।।

श्लोकार्थः ऋषियोंने कहा हे निष्पाप सूत! आपने इतिहासों सहित

पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया है तथा अध्ययनोपरांत उसका व्याख्यान भी किया है आपने इनका पुनः-पुनः अध्ययन अध्यापन व्याख्यान किया है.

सुबोधिनी: श्रीसूतसे ऋषियोंने कहा कि जो कुछ भी हम कह रहे हैं वह आपको प्रसन्न करनेकेलिये मिथ्या स्तुतिरूप नहीं है अपने इसी निश्चयकी अभिव्यक्तिरूप यहां 'खलु' शब्दका प्रयोग किया गया है. आपने शतकोटि विस्तारमें विस्तृत समग्र पुराणोंका आपने अध्ययन किया है. तदुपरांत, सांख्य, योग, पाशुपत तथा वैष्णवरूप मूल चारों संहिताओंको भी पढा है. इतिहासरूप महाभारत भी आपने पढा है और (च) अन्य कथाओं तथा गाथाओंके भी आप ज्ञाता हैं.

यहां 'अनघ' पदसे यह अभिप्राय है कि आप उक्त विद्याओंके व्याख्यान आदि करके अपनी आजीविका नहीं चलाते अतः आप 'निष्पाप' हैं. 'आख्यातान्यप्यधीतानि' आपने पुराणादिक पर व्याख्यान किये तथा उनको पढे भी हैं अर्थात्, प्रथम अध्ययन करके, पुनः व्याख्यान द्वारा उनको दृढ करलिये हैं. इस तरह पुनः पुनः आवृत्तिसे इन विषयोंमें अब आपको कोई भी संदेह नहीं रहा है. और आपने धर्मशास्त्रोंका भी अध्ययन किया है बुद्धिमान् पुरुषोंकेलिये धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ दो प्रकारके हैं एक जीवविचारित, दूसरे ईश्वरविचारित. इनमें ईश्वरविचारित पुरुषार्थ चारों वेद ही हैं तथा जीवविचारित पुरुषार्थोंमेंसे धर्मका निरूपण स्मृतिमें है, अर्थका नीतिशास्त्रमें है, कामका वात्स्यायन आदिमें है तथा मोक्षका सांख्यायनादिमें है. इन शास्त्रोंमें जब तक सर्वज्ञता प्राप्त न कर ली जाये तब तक भगवत् शास्त्रका परिज्ञान नहीं हो सकता इसकेलिये धर्मशास्त्रोंका उल्लेख किया गया है. 'उत यानि' तदुपरांत अन्य सुप्रसिद्ध अर्थ शास्त्र आदिका तथा लौकिक कथानकोंका भी आपने वारम्वार अवगाहन किया है इसलिये आप सर्वज्ञ हैं अतः आपको भगवत् शास्त्रका परिज्ञान है.

यह शंका होती है कि श्रीसूत तो सूत परम्परासे ही जाने गये शास्त्रोंको जानते हैं, किंतु ब्राह्मणोंने जिस रूपमें इन शास्त्रोंको जाना है, श्रीसूतको उस रूपसे इनका ज्ञान नहीं है, तो फिर श्रीसूतको सर्वज्ञ क्यों मान लिया? इस शंकाके निवारणमें कथन है कि:

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः।
अन्ये च मुनयः सूत! परावर विदो विदुः ।।७।।

श्लोकार्थ: हे सूत! ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् व्यास जो जानते हैं तथा भूत तथा भविष्यके ज्ञाता मुनि लोग जो जानते हैं वह सब आप जानते हैं.

सुबोधिनी: धर्म, अर्थ, काम, इस त्रिवर्गका ज्ञान तो श्रीसूतको अपनी वंश परम्परासे भी प्राप्त हो सकता है किंतु मोक्ष शास्त्र तो ब्राह्मणोंसे ही जाना जा सकता है. अतः मोक्ष शास्त्रमें श्रीसूतका अज्ञान संभव इस प्रकारकी संभावनाके निराकरणार्थ कथन है कि ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् व्यासको जिन सभी मोक्ष-शास्त्रोंका ज्ञान है, उन सबको आप भी (श्रीसूत) जानते हैं यदि यह कहो कि ये सब मोक्ष शास्त्र, व्यासने सूतको क्यों बता दिये? तो कहते हैं कि व्यासजी भगवान् हैं, भगवान् सर्वसमर्थ हैं. तथापि, अनधिकारी को वैसा ज्ञान क्यों दिया? तो कहते हैं कि व्यासजी, बादरायण हैं अनधिकारी सूतको, व्यासजी अपने तपोबलसे अधिकारी बना सकते हैं अर्थात् अत्यंत तप करके उनमें इस प्रकारके अधिकार संपादनकी शक्ति है. अर्थात् सूतको, वे मोक्षशास्त्रका ज्ञाता बना सकते हैं.

एकादश स्कंधमें ऐसा कथन है कि 'एक ही गुरुसे प्राप्त किया गया ज्ञान, पर्याप्त नहीं होता' (नहि एकस्माद् गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात् सुपुष्कलम्) इसके अनुसार सूतजीमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती. इस शंकाके समाधानमें कथन है कि 'अन्ये च मुनयः' वैसे जैसे अन्य मुनिजन अपने मननसे ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी तरह ज्ञान प्राप्तिमें आप भी समर्थ हैं. यदि यह कहो कि उन मुनियोंको यह ज्ञान ही नहीं था कि यह सूत हैं तो कहते हैं कि मुनियों को इसका ज्ञान था क्योकि, सूत सर्वत्र प्रसिद्ध हैं और आपको सूत जानकर ही उपदेश दिया है और, इसीलिये यहां पुनः सम्बोधनात्मक 'सूत' पदका प्रयोग किया गया है.

अब, यदि सूतजी इतने प्रसिद्ध हैं, तो फिर मुनियोंने उनको उपदेश क्यों दिया? इस शंकाका समाधान यह है कि 'परावर विदो विदुः' ब्रह्मादि(पर) तथा हम(अवर) जो जानते हैं वह आप भी जानते हैं अथवा, भूत और भविष्यत्कालके तथा पदार्थके ज्ञाता ये मुनिगण जो जानते हैं वह सब आप भी जानते हैं कि अभी ईश्वरकी यही इच्छा है और काल भी ऐसा ही है कि सूत द्वारा उपदेश ग्रहण किया जाये. इसीका बोध करनेकेलिये यहां इस प्रकारका कथन किया गया है अथवा 'हमें आप समझाइये' इस तरह बोधनार्थ यह कहा गया है अथवा सूतको प्रोत्साहन देनेकेलिये वचन है ।।७।।

जिन शास्त्रोंको व्यास जी जानते हैं तथा जिन शास्त्रोंको भूत, भविष्य

तथा वर्तमान कालके ज्ञाता मुनिजन जानते हैं इस प्रकारसे गत श्लोकमें जो कहा, उससे जो निष्कर्ष निकला फलित हुआ वह कहते हैं:

वेत्थ त्वं सौम्य तत् सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यम् अप्युत ।।८।।

श्लोकार्थ: क्रूरता आदि दोषोंसे रहित, सेवा आदि गुणोंसे युक्त हे सूत! व्यास आदिके अनुग्रहसे आप उन सभी विषयोंको तत्त्वतः जानते हैं, क्योंकि, गुरुजन, प्रियशिष्यको निगूढ रहस्य भी कह देते हैं ।।८।।

सुबोधिनी: 'सौम्य' सम्बोधनसे शिष्यके गुणोंको बताया है. सौम्यका अर्थ है हे शान्त! सेवा आदि साधारण गुणोंसे युक्त होते हुये भी शूद्र जातिमें असुरता होनेके कारण क्रूरता आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है. यदि ये दोष न हों तो अन्य सद्गुण अपने आप सिद्ध हैं. इसके निर्देशार्थ सूतको 'हे सौम्य' इस तरह सम्बोधित किया है. इससे पूर्व श्लोक में 'हे सूत' इस सम्बोधनसे सूचित किया गया है कि शूद्र होनेके कारण उनको वेदका ज्ञान नहीं है तदतिरिक्त आपको सर्वका ज्ञान है और यह ज्ञान भी ऊपर उपरका आपाततः ज्ञान नहीं है, किन्तु आप उनके तत्वतः ज्ञानसे सम्पन्न हैं.

यहां शंका होती है कि व्यासजीने भले ही सूतजीको उपदेश दिया किन्तु, अनधिकारीको इस तरहका ज्ञान कैसे हो गया? इसका उत्तर यह है कि गुरुजनका अनुग्रह हो जाने पर सब कुछ सम्भव हो जाता है ।।८।।

इस तरह सूतकी सर्वज्ञताका वर्णन करके, शौनक आदि ऋषिगण, प्रथम, फलके विषयमें प्रश्न करते:

तत्र तत्राञ्जसा युष्मद् भवता यद् विनिश्चितम् ।
पुंसाम् एकान्ततः श्रेयः तद् नः शंसितुम् अर्हसि ।।९।।

श्लोकार्थ: हे आयुष्मन्! जिस-जिस शास्त्रको आप जानते हैं, उन-उनमें सरलतासे शीघ्र ही प्राप्त होनेवाला तथा आपसे भी विशेष रूपसे निश्चित किया गया, मनुष्योंका जो एकांत कल्याण करने वाला हो, उसे कहें ।।९।।

सुबोधिनी: फलकेलिये ही साधनकी खोजकी जाती है परिणामतः कौन फल है, कौन अफल है यह भी विचार उपस्थित हो जाता है. सर्वत्र अभ्युदयको अथवा कल्याणको फल कहा जाये, अथवा इनसे अतिरिक्त हो उसे फल मानें. वस्तुतः इन सभी प्रकारके फलोंमें सर्वत्र दोष है इसका वर्णन अग्रिम प्रसंगमें करेंगे.

इस प्रकारका संदेह होनेसे ही यहां फल विषयक प्रश्न किया गया है. तथापि, यहां फल अथवा अफलका निर्णय, शास्त्रोंके प्रमाण-बलसे ही किया जाना चाहिये इसीका कथन यहां 'अंजसा' पदसे किया गया है तात्पर्य यह है कि शास्त्रोंसे जिसका सरलतापूर्वक निर्णय किया जा सके, वही बताइये.

'आयुष्मन्'! आशीर्वादात्मक है, अथवा इससे भयके अभावका निर्देश किया गया है. आप दीर्घायु हैं, आपको किसी प्रकार भय नहीं. गुरुजनोंके निर्णयमें परस्पर विरोध है, तथापि आपके बहुतसे गुरु हैं, इसलिये उनके निर्णयोंको भी आप अपने बुद्धि-बलसे यथार्थ वस्तुका निश्चय करके कहें अर्थात् आप अपना एक ऐसा विशेष निश्चय कहें, जो स्वतंत्र पुरुषोंकेलिये श्रेयस्कर हो जो सभीकेलिये अपने 'श्रेयस्त्व'का त्याग नहीं करता हो उसे कहें एकान्ततः श्रेयः. स्वर्गमें रहनेवाले, पुत्र आदिको एकान्त श्रेयरूप नहीं मानते इसी तरह मुक्तिको प्राप्त जीव, स्वर्गको तथा भक्तजन, मुक्तिको एकान्त श्रेयरूप नहीं समझते.

इसलिये एकान्ततः श्रेय क्या है यह आप हम लोगोंको कहिये अर्थात् जो सभीकेलिये श्रेयरूप है, अथवा जिसे सभी लोग श्रेयरूप मानते हैं हमें आप वही कहें ।।९।।

अब ढाई श्लोकों से दूसरा प्रश्न कहते हैं:

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य! कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ।।१०।।

श्लोकार्थ: हे सभ्य! इस कलियुगमें मनुष्य अधिकतर अल्पायु आलसी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के दोषोंसे युक्त, मन्दभागी तथा व्याधिग्रस्त होते हैं ।।१०।।

सुबोधिनी: इससे पूर्व श्लोकमें फलविषयक प्रश्न किया गया है, प्रस्तुत श्लोकमें इस फलकी प्राप्ति जिस साधनसे हो सकती है, उस साधनके विषयमें प्रश्न है.

यहां 'प्रायेण' इस पदसे यह निर्देश किया गया है कि सभी अल्पायु नहीं हैं किन्तु, हमसे शौनकादि ऋषियोंसे अतिरिक्त मानव अल्पायु हैं. क्योंकि, ऋषि होनेसे शौनकादि स्वयं चिरजीवी हैं. तदनुसार, ऋषियोंसे अतिरिक्त व्यक्तियों केलिये यह उपाय पूछा गया है. पहिले प्रश्नमें 'नः' पद 'पुसां'से सम्बन्धित उसके साथ ही है 'नः पुंसाम्' जिसका अभिप्राय ऋषि व्यतिरिक्त व्यक्तियोंसे है क्योंकि,

जो अल्पायु हैं, उनकेलिये सहस्रवर्षमें सिद्ध होनेवाला सत्र उपयोगी नहीं है अर्थात् हजार वर्षका सत्र ऐसे व्यक्तियोंकेलिये साधन नहीं हो सकता वह तो हमारे जैसे चिरजीवी ऋषियोंकेलिये है.

यदि यह शंका हो कि जो साधन अल्पायु वालोंकेलिये उपयोगी होगा, वह आपलोगोंकेलिये अर्थात् शौनकादि ऋषियोंकेलिये अनुपयोगी है, तो इसका समाधान यह है कि आपमें (सूतमें) सभाके सभी गुण हैं अतः आप सभ्य हैं सभाके योग्य हैं. प्रथम तो सभामें प्रवेश ही नहीं करना चाहिये, यदि प्रवेश किया है तो सभामें जो भी प्रश्न किया जाये, उसका उत्तर देना चाहिये चाहे वह प्रश्न दीर्घायुकेलिये हो अथवा अल्पायुवालेकेलिये हो. सभ्यका यह धर्म है और इसीका निर्देश करनेकेलिये सूतको यहां 'सभ्य' कहा है.

यदि यह कहो कि जिस साधनके सिद्ध होनेमें अधिक समय अत्यंत आवश्यक अल्पायुवालेको वह साधन नहीं बताना चाहिये, तो उसका उत्तर यह कि जो अल्पायु हैं, कलिदोषके कारण हैं, स्वभावसे नहीं. और इसीलिये, कलिदोषको दूर करनेवाले इस प्रकारके साधनसे अल्पायुवालेकी आयुमें भी अभिवृद्धि होगी, इसी अभिप्रायको लेकर 'कलावस्मिन् युगे' इस पदका यहां प्रयोग किया गया है अर्थात्, इस कलियुगमें ऐसे मनुष्य हैं (अल्पायु वाले) यदि यहां केवल 'कलौ युगे' पदका प्रयोग किया जाता तथा इसमें 'अस्मिन्' पद नहीं होता, तो उस अवस्थामें 'कलौ युगे'का अर्थ होता केवल कलियुगमें अर्थात् केवल कलियुगमें ऐसे अल्पायु मनुष्य होते हैं. इस प्रकारके कथनसे तो 'यह कोई कालान्तर कलिकेलिये कहा गया है' ऐसा अर्थ करनेसे यह शंका होती है कि यदि कालान्तर कलिमें ऐसे (अल्पायु) व्यक्ति होंगे तो फिर उनकेलिये उपायको, अभीसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं. इस शंकाके निवारणार्थ 'अस्मिन्' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् 'इस कलियुगमें ऐसे (अल्पायु) मनुष्य हैं'. यहां 'युग' पदसे, इस कलिमें जन्म लेनेवाले मनुष्यकी पूज्यताका निर्देश किया गया है इस कलियुगमें जन्म लेनेवाले भगवान्के भक्त होनेके कारण पूज्य हैं. इसलिये, अभीसे उनको और उपाय बताया जाना चाहिये.

जीवोंमें सहज संसारीपनेका अभाव है यह बतानेकेलिये यहां 'जनाः' शब्दका प्रयोग किया है. जीवोंका प्रादुर्भाव परब्रह्मसे उसके अंशरूपमें होनेके कारण, उनमें उत्तमता है. किन्तु, मानव-देहमें उत्पन्न होनेके कारण उनमें सहज

दोष है. इस तरह सहज दोषको कहकर जब मनुष्यके आगन्तुक दोषोंको चार विशेषणोंसे कहते हैं. 'मन्दाः'का अर्थ है आलसी. चित्तकी जडतासे जीव आलसी हो गये हैं. ज्ञानेन्द्रियके दोषोंको लेकर अत्यंत मंद बुद्धि तथा कर्मेन्द्रियोंके दोषके कारण मंदभागी बने हुये हैं, क्योंकि अदृष्ट भाग्यकी सिद्धि दोष रहित कर्मेन्द्रियोंसे ही सम्भव है. इस तरह जीव रोगोंसे आक्रांत रहते हैं यह शरीरका दोष है 'उपद्रुताः'. इस तरह चार प्रकारके ये आगन्तुक दोष हैं.

और वे मनुष्य कार्यान्तरमें लगे हुये हैं यह उनका बाह्य दोष है, और इसीका वर्णन यहां करते हैं:

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।
अतः साधोऽत्र यत् सारं समुद्गृह्य मनीषया।
ब्रूहि भद्रं हि भूतानां येनात्मा सुप्रसीदति ।।११।।

श्लोकार्थः मनुष्योंकेलिये विभाग पूर्वक, विवेक सहित श्रवण करने योग्य अनेकों शास्त्र हैं. अतः, परदुःख निवारक हे सहृदय साधु! उन उन शास्त्रोंके उन उन प्रकरणोंमें जो जो सारूप हो उस उसको आप अपनी बुद्धिसे चुन चुन कर हमको कहें जिससे उनका कल्याण हो तथा भगवान् परम प्रसन्न हों ।।११।।

सुबोधिनी: इस श्लोकमें निरूपित दोष, बाह्य दोष हैं "**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**" कोई भी प्राणी एक क्षण भी, कार्य किये विना नहीं रहता. इससे ज्ञात होता है कि कोई लौकिक कर्ममें व्यस्त है, तो कोई शास्त्र विहित कर्ममें व्यस्त है. इन कर्मोंका किस प्रमाणसे विधान है, ऐसा विचार करने लगेंगे, तो धर्म आदिका निरूपण करनेवाले शास्त्रोंका प्रकरण पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना पडेगा. उन शास्त्रोंमें अनेक कर्मोंका वर्णन है यह सब 'भूरिकर्माणि'से कही गयी है. किन्तु, उन कर्मोंके श्रवणमात्रसे जीव कृतार्थ नहीं हो सकता किन्तु, उनमें कहे गये कर्म करने ही चाहिये इस तरह, यह एक महान् बाह्य दोष माना गया है. इस तरह, पूर्व श्लोकोक्त सहज दोष तथा आगन्तुक दोष तथा इस श्लोकमें निरूपित बाह्य दोष इन तीनों दोषोंसे ग्रस्त प्राणीकेलिये अर्थात् इस प्रकारके त्रिदोषात्मक सन्निपात ग्रस्त जीवोंकेलिये जो उपाय हो वह कहो. 'अतः' पदसे इसीका कथन किया गया है.

हे साधो आप साधु हैं साधु उपकार करता है किन्तु, प्रत्युपकार नहीं चाहता इसलिये आपको परदुःख दूर करना ही चाहिये और, यही आपका कर्तव्य

है. यहां, हम मुख्य साधन जानना चाहते हैं अन्य कार्योंकेलिये बताया गया अथवा प्रासंगिक रूपसे कहा गया साधन, हम सुनना नहीं चाहते. यही 'अत्र' पदका अर्थ है 'अत्र'का तात्पर्य यही है कि ऐसे उपर्युक्त त्रिदोषज–सन्निपातको मिटानेकेलिये कौन सा उपाय है?

यदि यह कहो कि इस दोषके शमनार्थ यहां भी बहुतसे साधन हैं तो हमारा यह निवेदन है कि इन साधनोंमेंसे जो सबका साररूप साधन हो, उसे निकाल कर कहिये. 'यत्' तथा 'तत्' पदका नित्य सम्बन्ध माना गया है अतः यहां 'यत् सारं'के संदर्भमें 'तत्'का अध्याहार करनेमें कोई दोष नहीं. अथवा 'यत्'को प्रसिद्धार्थक मानकर 'प्रसिद्ध' जो सारं ऐसा अर्थ करने पर 'तत्'के अध्याहारकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि ''प्रसिद्धानुभूतार्थ विषयस्तत् शब्दो यत् शब्दं नोपेक्षते'' यह न्याय 'यत्' शब्दकेलिये भी वैसा ही है जैसा 'तत्' शब्दकेलिये है. अतः, 'तत्' शब्दका अध्याहार न हो तो भी कोई दोष नहीं है.

'सारम्'में एकवचनसे यह निर्देश किया गया है कि जो असाधारण अर्थात्, जिसकी बराबरीका अन्य न हो तथा सुगम जो सरलतासे समझमें आ सके ऐसा एक ही सार कहिये अर्थात् जो परम्परागत हो और जिससे फलकी निःसदेह प्राप्ति होती हो, ऐसा सार कहिये. 'प्रकरणेन विषयो बद्ध्यन्ते' इस न्यायसे यद्यपि सब कुछ तथ्य प्रकरणोंमें सुसम्बद्ध है, तथापि, वहांसे उद्धृत करके हमें सार वस्तु कहिये क्योंकि प्रकरणोंमें वह सार रूपसे नहीं जाना जा सकता. इसीसे 'समुद्गृह्य' पदका प्रयोग किया है.

मनीषया मनकी ईषाको मनकी चंचलताको मिटानेवाली बुद्धिको मनीषा कहते हैं. आप अपनी बुद्धिसे कृतिसे नहीं उस सारको ग्रहण करके हमें कहिये, जो प्रकरणोंसे नहीं जाना जा सकता और जिससे विविध दुःखके शमन पूर्वक, महासुखकी प्राप्ति होती है अर्थात् जो कल्याणप्रद है 'ब्रूहि' क्रियामें यहां प्रार्थनाके अर्थमें तथा प्राप्तकालमें लोट् लकार है. भद्रका अर्थ है कल्याणरूप. यदि यह कहो कि इस प्रकारका कल्याण तो भगवान्के प्रसन्न होने पर मिल सकता है तो इसकेलिये ही श्लोकमें कहा गया है कि 'येनात्मासुप्रसीदति' जिस उपायसे आत्मा भगवान् अच्छी तरह प्रसन्न हों, उसे कहिये. श्लोकमें 'जीवानाम्' न कहकर 'भूतानाम्' जो कहा है उससे यह सूचित होता है कि जीव–गण, पिशाचोंकी तरह घूमते रहते हैं अतः उन पर दया–भाव रखना उचित है ।।११।।

इस तरह फल और साधनके विषयमें दो प्रश्नोंका निरूपण किया. यहां भूतल ऊपर आविर्भूत भगवान् ही फल और साधन हैं ऐसी शंका करके तथा, भगवान्का अवतार लोगोंकेलिये है अथवा अपने स्वयंकेलिये, ऐसा संदेह होने पर, शौनकादि ऋषि सूतसे भगवद् अवतारका प्रयोजन जाननेकेलिये पूछते हैं:

सूत! जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ।।१२।।

श्लोकार्थ: हे सूत! भगवान् सात्वतोंके सत्वैकनिष्ठ देवताओं अथवा मुक्तात्माओंके पति हैं. तो फिर, यही भगवान् मुक्तलोकसे इस मनुष्य लोकमें, वसुदेवकी भार्या देवकीमें, जिस कार्य करनेकी इच्छासे प्रकट हुये, वह आप जानते हैं आपका कल्याण हो ।।१२।।

सुबोधिनी: 'यह बात मानो अत्यंत गूढ होनेके कारण, किसे पता कोई जानता है या नहीं' इस प्रकारके संदेहसे, शौनकादि ऋषि, सूत पौराणिकसे पूछते हैं कि क्या आप जानते हैं? 'सूत! जानासि' आपकी प्रसन्न मुख-मुद्राको देख कर हम समझ गये कि आप इसे जानते हैं. यह सब समझ कर मुनिगण, सूतको, हर्षसे आशीर्वाद देते हैं 'भद्रं ते' आपका कल्याण हो 'अस्त्वित्यर्थात्' आपसे इस महान् ज्ञानोपदेशकेलिये हमारी ओरसे यही दक्षिणा है. हमने सुना है, देवकीसे भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया है. हमें यहां सन्देह है. षड् ऐश्वर्यसे युक्त भगवान्को केवल ब्रह्माके कार्यको सिद्ध करनेके लिये देहसे सम्बन्धकी कोई आवश्यकता 'अपेक्षा' नहीं. जीवके धर्म अविद्या 'काम क्रोध' आदि भगवान्में है ही नहीं और यहां भगवान्के प्रादुर्भावका प्रकार तो नितांता जीवके समान है. इसलिये यह संदेह हो रहा है भगवान् तो जीवन्मुक्त सत्वैकनिष्ठ नारद सनकादि जैसों के सात्वतोंके पति हैं. उनको छोडकर, संसारी मनुष्योंके यहां साक्षात् परब्रह्मका आविर्भाव कैसे हुआ? पति होनेके कारण भगवान् द्वारा उनका परित्याग अनुचित है. इसलिये उनको नारद सनकादिसे ही आविर्भूत होना था. तदुपरांत, देवता तथा मुक्त नारद सनकादि भी ब्रह्माकी देहसे अथवा मनसे उत्पन्न होते हैं न कि स्त्रीसे. फिर, भगवान् किसी अप्रसिद्ध देवककी कन्या देवकी गर्भसे कैसे प्रकट हुये? अर्थात्, जलमेंसे नारायण भगवान्की तरह उत्पन्न नहीं हुये. और विशेष बात तो यह है जिसमेंसे आप प्रकट हुए वह देवकी वसुदेवकी भार्या होनेसे पराधीन है. श्लोकमें 'वसुदेवस्य'में सम्बन्ध सामान्यमें षष्ठी है, इसलिये, वसुदेवका भगवान्के

अवतारमें देवकीके साथ भार्यादि रूपसे विशेष सम्बन्ध हुआ यह बात नहीं है, किन्तु, वसुदेवका उससे सम्बन्ध मात्र सामान्य सम्बन्ध था. अतः, षड् ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान्का पराधीन देवकीमें अवतार लेनेमें क्या प्रयोजन हो सकता है. अब यदि यह हो कि भगवान् प्रकट ही नहीं हुए तो वह उचित नहीं क्योंकि, 'जातः' यह कहा गया है. अतः प्रकट तो जरूर हुए हैं.

प्रश्नका तात्पर्य यह कि कंसादि वध तो, भगवान्के अन्य अंश अथवा कला अवतार भी कर सकते थे. पूर्ण पुरुषोत्तमका अवतार जिस कार्यकेलिये, इस प्रकार हुआ, वही हमें बताइये. भगवान्के अवतार लेनेमें मुख्य प्रयोजन ही कहें प्रासंगिक प्रयोजन नहीं. जिस कार्यकेलिये भगवान् प्रकट हुये हैं, वह कार्य, काल आदिसे भी साध्य नहीं है इसलिये जिस मुख्य कार्यकेलिये वे प्रकट हुये हैं वह कहिये ।।१२।।

कितने ही कारणोंसे भगवान्के अवतारमें कोई प्रयोजन तो अवश्य है, इस प्रयोजनको योगबलसे जाना जा सकता है. तो फिर पूछनेकी आवश्यकता ही क्या है? तो कहते हैं कि:

तन्नः शुश्रूषमाणानाम् अर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् ।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ।।१३।।

श्लोकार्थ: यहां हम सभी लोग भगवत् तत्त्वके श्रवण करनेकी इच्छा रखते हैं, हे वत्स सूत! आप हमारे स्वकीय ही हो हमारी इस श्रवणेच्छाको आप अवश्य पूर्ण करें. तथा भगवान्के अवतरणमें जो असाधारण प्रयोजन है, उसे कहें. भगवान्के अवतारका साधारण प्रयोजन तो हम जानते हैं उनका अवतार स्थावर-जंगमादि सर्व प्राणिमात्रको ऐहिक सर्वसुख देनेकेलिये, उनके सर्व दुःखोंकी निवृत्तिकेलिये, उनको मोक्ष देनेकेलिये तथा उनकी अविद्याको दूर करनेकेलिये है.

सुबोधिनी: हम सभीकी श्रवणेच्छाको पूर्ण करनेकेलिये आपको वह प्रयोजन कहना चाहिये. यह प्रयोजन, योगबलसे जाना जा सकता है, किन्तु, उससे श्रवणेच्छाकी पूर्ति नहीं होती और न योग-साधन सभी लोग कर सकते हैं. भगवद्-वाक्योंके विना, केवल योग द्वारा भगवदीय पदार्थ जाना भी नहीं जा सकता. इसीलिये, साक्षात् अथवा परम्परासे, भगवन्मुखसे कहे गये तथा गुरुमुखसे सुने गये इस प्रयोजनका तदनन्तर वर्णन आप ही कर सकते हैं. जो कुछ भी पढा गया हो, उसका दूसरेके समक्ष अनुकथन आवश्यक है मन्त्रादिकमें भी

यही प्रक्रिया है. फिर जो इसके अधिकारी विशेष हैं, और जो यहां सुननेकी इच्छासे ही आये हैं, उनकेलिये तो अवश्य कहना चाहिये. श्लोकोक्त कोमल सम्बोधन 'अंग!'से यह सूचित किया गया है कि आप हमारे अंग हैं अतः हमारे अधीन हैं. हमारे पूछने पर आपको कहना ही चाहिये. यहां हम प्रभुके अवतरणका असाधारण प्रयोजन पूछते हैं. साधारण प्रयोजन तो 'यस्यावतारः' इत्यादि साढे तीन श्लोकोंमें जो कहा गया है, उसे हम जानते ही हैं. यहां पहिले अवतार द्वारा रूप धारण करनेका प्रयोजन कहते हैं. यस्य भगवान्का साधारण अवतरण भी अर्थात् देव, पक्षी तथा मनुष्य आदिमें अलौकिक तेजका संक्रमण भी उत्पन्न हुये स्थावर–जंगम आदि प्राणीमात्रको ऐहिक सर्व सुख देनेकेलिये, तथा उनके सर्व दुःखोंकी निवृत्तिकेलिये और मोक्षकेलिये है. यहां 'च'से 'अविद्या निवृत्तिकेलिये' यह अधिक ग्रहण होता है. यह सब कुछ भगवान्के साधारण अवतरणसे सिद्ध हो जाता है. यद्यपि, यहां 'भवाय 'भव' शब्दका अर्थ 'संसार' है, किन्तु, अन्य टीकाकारोंने उसका 'संपत्ति' अर्थ किया है, तथापि, यहां प्रकरणके अनुरोधसे 'भव भवाय' शब्दका अर्थ 'मोक्ष' लिया है. इसमें प्रमाण युक्ति यह है कि 'भव' शब्द 'भू' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ 'सत्ता' होता है अतः 'सत् मात्रकेलिये' 'मोक्षकेलिये' ऐसा अर्थ जो किया गया, वह उचित है.

यदि यह कहो कि मोक्ष होने पर अविद्या निवृत्ति स्वतः हो जाती है अतः श्लोकोक्त द्वितीय 'च' पद व्यर्थ हो जायेगा इस आशंकासे, 'च' पदसे रहित दूसरा पक्ष कहते हैं कि 'जिसके अवतरणसे, चैतन्यमें अनुप्रवेश रूप परम मोक्ष प्राप्त होता है' यहां यह 'च'का द्वितीय अर्थ है "**चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात्**" (ब्रह्मसू.४।४।६) अर्थात्, भगवान्के साथ सम्बन्ध होने पर भगवदानन्दका अनुभव प्राप्त होता है जीवका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होनेसे यह ब्रह्मरूपसे सर्वकामोंका उपभोग करता है शरीर धारण करके नहीं ।।१३।।

इस तरह, सर्वके अभ्युदयार्थ निःश्रेयसार्थ, भगवान् अवतार लेते हैं अन्यका रूप धारण करते हैं यह कहा जा चुका है. किन्तु, जब भगवद्रूप स्वधाम पधार जाते हैं तब अर्थात्, अनवतार दशामें उत्पन्न होने वालेको तो भगवद् नामसे ही पुरुषार्थ प्राप्त होगा अतः यह नामका माहात्म्य कहते हैं.

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद् बिभेति स्वयं भयम् ।।१४।।

श्लोकार्थः सर्पादि योनिको प्राप्त अथवा महाव्याधिसे ग्रस्त कोई भी प्राणी परवशमें हो अथवा कालके वशमें हो भगवन्नामका उच्चारण करते ही शीघ्र इस संसार योनिमेंसे विशेष रूपसे मुक्त हो जाता है 'विमुच्येत' क्योंकि भगवन्नामके माहात्म्यका प्रभाव ही ऐसा है कि स्वयं भय भी भयभीत हो जाता है अर्थात् भगवन्नामोच्चारणसे वक्ता तथा श्रोता दोनों ही भयमुक्त हो जाते हैं ।।१४।।

सुबोधिनीः 'घोरां संसृतिं' सर्पादि योनिको प्राप्त अथवा महाव्याधिसे ग्रस्त व्यक्ति परवश होकर अथवा 'वे' कालके अधीन होकर भी जिस अवतारका नामोच्चारण मात्र करनेसे तत्क्षण सर्पादि योनिसे तथा महाव्याधि आदि संसारसे मुक्त हो जाता है. यहां अन्तकालमें 'भय' नाम वाला 'काल'का अधिकारी सभीको मृत्यु-पाशसे जकड लेता है चतुर्थ स्कंधमें ''**सैनिकाः भयनाम्नो ये**'' आदि पंक्ति द्वारा यही कहा गया है. नामोच्चारण करने वाला उस मृत्यु-पाशसे तत्क्षण ही मुक्त हो जाता है 'ततः सद्यो विमुच्येत'.

यहां प्रश्न होता है नामोच्चारण मात्रसे ही यम क्योंकर पाशोंको छोड देता है? उसका उत्तर है कि 'यद् बिभेति' अर्थात् भगवन्नामसे कहीं मेरा स्वरूप ही नष्ट न हो जाये, इस भयसे स्वयं भय भी भयभीत रहता है. बाहरकी वस्तुके नाशसे यह भय नहीं खाता. भगवन्नामका यही माहात्म्य है कि वह नामका श्रवण करने वालोंको मुक्त कर देता है तब भय भी नहीं रहता है, अथवा स्वरूपभूत भय भी चला जाता है अर्थात् द्वैत दृष्टि ही नहीं रहती. ''**द्वितीयाद् वै भयं भवति**'' जब द्वैत दृष्टि नहीं रहती है तब भय भी नहीं रहता क्योंकि भय दूसरेसे होता है.

इसलिये भगवान्के स्वधाम पधार जाने पर उनके नामका उच्चारण करने मात्रसे ही जीव मुक्त हो जाता है. अतः अब इससे अग्रिम अवतारकालमें उत्पन्न होने वालोंकी मुक्ति नामसे होगी ।।१४।।

यह तो उचित है, परन्तु यहां प्रश्न होता है कि जिनमें नामोच्चारणका सामर्थ्य ही न हो ऐसे वृक्ष पशु आदि कैसे मुक्त हो सकेंगे? उत्तर देते हैं कि :

यत् पादसंश्रयाः सूत ऋषयः प्रशमायनाः।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ।।१५।।

श्लोकार्थः जैसे गंगाजल अपने स्पर्शसे भगवत्सेवकोंको पवित्र कर देता है, उसी तरह भगवान्के चरणारविंदोंका आश्रय लेने वाले तथा कर्म, ज्ञान एवं भक्तिसे युक्त भक्तजन अपने स्पर्शसे सभीको तत्क्षण पवित्र कर देते हैं ।।१५।।

सुबोधिनी: भगवन्नामोच्चारणमें असमर्थ वृक्ष पशु आदि भी, भक्तके स्पर्शसे ही मुक्त हो जाते हैं उन भक्तोंके स्पर्शसे जिनको भगवान्‌के चरणोंका आश्रय है. यद्यपि ज्ञान-मार्गमें भी भगवान्‌का समाश्रयण होता है, किन्तु, ज्ञानियोंमें देहाध्यासका अभाव होनेसे उनके स्पर्शसे नहीं, अपितु उनके उपदेशसे मुक्ति मिलती है. किन्तु, उसका यहां निरूपण नहीं किया गया है क्योंकि, श्लोकमें 'पाद' शब्द दिया है और, पाद-संश्रयण तो भक्तिमार्गमें ही है.

यहां 'संश्रयाः'में 'सम्‌' उपसर्गसे गुरुका जो आश्रय लिया जाता है, उस प्रकारके आश्रयसे यहां अभिप्राय नहीं है अपितु भगवद् चरणोंमें सर्वतोभावेनलिये जाने वाले आश्रयका यहां उल्लेख किया गया है, क्योंकि गुरुका आश्रय विद्याध्ययन अथवा उपदेशग्रहण तक ही सीमित है सर्वदा नहीं. हे सूत! इस सम्बोधनसे यह अभिप्राय है कि भक्तिमार्गमें पावन कर देनेका जो अचिन्त्य प्रभाव है, उसका आपको भी सूतको भी अनुभव है अर्थात् शूद्र होते हुये भी आप अपनेमें भगवद् नामसे पवित्रताका अनुभव करते हैं. सूत होते हुये भी, महापुरुषकी कृपासे, आप ब्राह्मणोंके साथ उनके यज्ञ आदिमें भी अच्छे प्रकारसे व्यवहारमें सम्मिलित हैं. मंत्रदृष्टा ऋषिगण तथा एकान्त शान्तिका समाश्रय करने वाले ज्ञानीजन भी भगवच्चरणारविन्दोंका ही एकमात्र आश्रय लेकर पवित्र करते हैं यहां 'प्रशमायनाः'का अर्थ है उत्तम प्रकारका 'सम्‌' ही है स्थान जिनका ऐसे ज्ञानीजन. अथवा भगवान्‌के चरणोंका ही आश्रय करनेवाले ऋषिगण, ज्ञानसे युक्त होकर, तथा इस तरह ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिको प्राप्त करके, सभीको पवित्र करनेमें हेतु बनते हैं अर्थात् स्वयं शुद्ध होकर, दूसरोंको पवित्र करते हैं. यहां ज्ञान तथा कर्म अपनी स्वशुद्धिकेलिये उपयुक्त है किन्तु, दूसरोंको पवित्र करनेमें ज्ञान और कर्म साक्षात् कारण नहीं हैं. इसलिये दूसरोंको पवित्र करनेमें भक्ति ही अपेक्षित है. ऐसे भक्त समीपमें, देहके केवल स्पर्शमात्रसे सम्बन्धमात्रसे पवित्र कर देते हैं.

'तीन बार वेदका अध्ययन करें अथवा तीन रात्रि सावित्रीका अध्ययन करें तो एक वर्षमें ही व्यक्ति अपने आपको पवित्र कर लेता है' इस तरह करनेसे मनुष्य कालान्तरमें विलम्बसे पवित्र होता है किन्तु भक्तोंका सम्बन्ध तत्क्षण ही पवित्र कर देता है.

'ऋषयः'की जगह 'मुनयः' ऐसा पाठ होने पर भी मनन करने वाले अथवा कर्मयोगी ऐसा अर्थ होगा. 'उपस्पृष्टाः'में 'उप' उपसर्गका तात्पर्य है क्रूरता

आदिसे स्पर्श नहीं करना चाहिये. अथवा 'उपस्पृष्टाः'का सम्बन्ध गंगाजलके साथ है. अर्थात् गंगाके जलका स्पर्श पवित्र कर देता है. भक्त तो दृष्टि आदिसे पवित्र कर देता है अर्थात् भगवत् समाश्रित भक्त लोग तो शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं. किन्तु उपस्पृष्ट अर्थात् स्पर्श किया गया गंगाजल भगवत्सेवकोंको ही पवित्र करता है भगवद् विमुखोंको नहीं क्योंकि जैसे गंगादि तीर्थोंका जल मदिराके घटको पवित्र नहीं कर सकता उसी तरह भगवान्से विमुख अनेकविध प्रायश्चित भी मुक्त नहीं कर सकते "**प्रायश्चित्तानि चीर्णानि**" गंगाजल शीघ्र ही पवित्र करता है (सद्यः पुनाति गांगेयम्) इसका तात्पर्य यह है कि नारायणके सन्मुख करके गंगा-जल पवित्र बनाता है. अथवा भगवत्सन्निधिमें स्पर्श किया गया गंगाजल शीघ्र ही पवित्र करता है ऐसा भी उदाहरण (१) है. श्लोकमें 'आपो अनुसेवया'में 'अनुसेवया' ऐसा पदच्छेद करनेसे यह अर्थ होता है कि गंगाजल भगवत्सेवकोंको भी पवित्र करता है अब यदि 'आपः नु सेवया' इस तरह पदच्छेद करते हैं तो 'नु' यहां वितर्कके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अर्थात् भगवद् भक्त और गंगा पावन करते हुये भी भगवत्सेवाके द्वारा ही पवित्र कर सकते हैं अन्यथा नहीं (२). अन्य किसी भी कारणसे नहीं. यहां ऊपर ऊपरसे पवित्र किया जाना अभिप्रेत नहीं है यहां पवित्रतासे ऊपर ऊपरकी सामान्य-पवित्रता नहीं समझनी चाहिये अपितु, यथार्थ पवित्रतासे ही यहां अभिप्राय है और, वह तभी सम्भव है जब मायाके स्पर्शका सर्वथा अभाव हो परम पावनता तभी सम्भव है. भगवद् भक्तोंके सम्बन्धसे जब माया सर्वशः निवृत्त हो जाती है तब परम पावनता आती है ।।१५।।

इस तरह ढाई श्लोकसे भगवद्रूपका तथा भगवद्नामका तथा उनके चरणोंमें आश्रयका सम्बन्धका माहात्म्य कहा गया है यहां शंका होती है कि भगवत्शास्त्रके ज्ञानके विना ही यह सब कुछ कैसे जान लिया गया क्योंकि यदि यह सब कुछ भगवत्शास्त्रसे ज्ञात था तो फिर यह सब पूछनेकी आवश्यकता ही क्या थी? इसके समाधानमें कहते हैं:

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न शृणुयाद् यशः कलिमलापहम् ।।१६।।

श्लोकार्थ: शुद्धिकी कामनावाला जगत्में ऐसा कौन है जो पुण्यशाली कीर्तिवाले व्यक्तियोंसे संस्तुत्य भगवान्के कलिमलनाशक यशको न सुनें ।।१६।।

सुबोधिनी: हमें यह सब कुछ जो स्फुरित हुआ है वह भगवान्के यशका

श्रवण करते करते ही हुआ है, शास्त्रोंके द्वारा नहीं. किन्तु शास्त्रका सामान्यज्ञान जरूर है अतः विशेष ज्ञानकेलिये यह प्रश्न किया गया है. यद्यपि, भक्तिके अभावमें भगवद् यशका स्वतः पुरुषार्थरूपमें श्रवण नहीं होता है, तथापि सन्मार्ग पर चलने वालेको शुद्धिकी अपेक्षा होती है, और, इसीलिये वह श्रवण करता है. विशेषतया इस कलिमें इस श्रवणकी विशेष आवश्यकता है क्योंकि, कलिने देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म इन छहोंको अशुद्ध कर दिया है. 'को वा भगवतस्तस्य' 'क' पदसे यह तात्पर्य है कि जिनकी श्रवणमें स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, उनको यहां नहीं लिया गया है. किन्तु जिनका स्वभाव तो श्रवण करनेका है, फिर भी श्रवण नहीं करते ऐसे लोगोंकेलिये यहां 'क' पद दिया गया है. 'वा' यहां अनादरके अर्थमें है जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नहीं है वे अनादरणीय हैं उनके विषयमें क्रुद्ध भी कहना उपयुक्त नहीं है. अर्थात् जिनकी भगवान्के यशको सुननेमें प्रवृत्ति नहीं है वे दैत्यांश हैं अतः उनकी गणना ही नहीं करनी चाहिये. ब्रह्म जो स्वतः उत्कृष्ट है, उससे ही जीवोंकी शुद्धि है, और इसीलिये यहां 'भगवतः' इस पदका प्रयोग किया गया है. 'तस्य'का तात्पर्य है जो अवतीर्ण हुये हैं, उनका ही यश सुलभ अर्थात् अवतारदशामें सुलभ है, अनवतारदशामें नहीं. 'पुण्य-श्लोकेड्यकर्मणः' जिस तरह अपने लौकिक स्वामीकी कोई स्तुति करता है उसी प्रकार सामान्यजन आपकी स्तुति नहीं करते हैं, किन्तु पुण्यकीर्तिवाले भक्त ही आपकी लीलाओंकी स्तुति करते हैं अतः जहां भगवत्कीर्तन करनेवालेकी कीर्ति ही जब सभीको पवित्र कर देती है, तो फिर, स्वयं भगवत्कीर्तन सर्वको पावन करता हो उसमें कहना ही क्या? अथवा, पुण्यश्लोक होनेसे उन भक्तोंको यद्यपि पवित्रताकी अपेक्षा नहीं है, तथापि वे भगवत्कीर्तन करते हैं. तात्पर्य यह है कि जो पुण्यश्लोक पवित्र हैं उनमें ही भगवत्कीर्ति रहती है, अर्थात् वे ही भगवान्की कीर्तिका गान कर सकते पूर्वोक्त पंक्तिमें 'कर्मणः' 'कर्म' पद ही दिया गया है जिससे सामान्य कर्मका ही ग्रहण होता है जिससे यह निर्देश किया गया है कि जो भगवत्कर्म उत्कर्षका आधायक नहीं है अर्थात् जिन भगवत्कर्मोंसे भगवान्के उत्कर्षका ज्ञान नहीं होता, वे कर्म भी पवित्र करनेवाले हैं भगवान्के ऐसे कर्मको श्रवण करनेवाला भी पवित्र हो जाता है. श्लोकस्थ 'पुण्यश्लोक' पदसे ऐसा निर्देश किया गया है, उत्तम यशस्वी महानुभावोंका सभीसे सम्बन्ध होता है वे भगवान्का ही कीर्तन करते हैं अतः उनके यहां भगवत्कीर्तनका श्रवण सुलभ है. जहां

भगवद्–यशके आपाततः श्रवणसे शुद्धि होती हो, तो फिर, यथार्थ शुद्धिकी इच्छावाला उसे क्यों न सुने?

जिससे व्यक्तिके उत्कर्षमें अभिवृद्धि हो जो सर्व प्राणियोंको आनन्द देने वाला हो, ऐसे सर्वत्र विस्तीर्ण गुणको कीर्ति कहते हैं और इसीका नाम यश है. कलियुगमें सर्व प्राणी पाप रहित नहीं हैं इसलिये, यह कलि सुलभ दोषको दूर करनेमें असमर्थ है किन्तु, भगवान् कालसे भी अतीत हैं और इसी तरह इनकी कीर्ति भी है अतः वह कलियुगके दोषको निवृत्त कर देती है ।।१६।।

इस तरह भगवान्के प्राकट्यका प्रयोजन कहकर अब, उनके लीला कर्मसे सम्बन्धित लीला चरित्रके विषयमें प्रश्न करते हैं.

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ।।१७।।

श्लोकार्थः जो भगवान् अपनी लीलाओंके द्वारा प्रतिक्षण नूतन कलायें धारण करते हैं, उन भगवान्के नारदादि सूरियोंसे संकीर्तित उदारचरित्रोंको श्रद्धोपंत हमको कहैं ।।१७।।

सुबोधिनीः भगवान् जिस प्रयोजनको लेकर प्रकट होते हैं उसको हृदयमें उतारनेकेलिये, उनके चरित्रोंको ही पूछते हैं. चरित्रके श्रवणसे जो फल होता है उसे ही भगवान् देते हैं ऐसा भी नहीं है. भगवत्कृत वे कर्म ही अन्य फलोंको भी पात्रापात्रका विचार किये विना ही सामान्य जीवको भी अधिकाधिक मात्रामें प्रदान करते हैं. इसीका निर्देश 'कर्माण्युदाराणि' पंक्तिमें किया गया है. जिस तरह उदार व्यक्ति पात्रापात्रका विचार किये विना ही योग्यतासे भी अधिक दान दे देता है, उसी तरह भगवान्के कर्म भी उदार हैं वे भी पात्रापात्रका विचार किये विना ही प्रचुर मात्रामें दान कर देते हैं.

श्लोकोक्त 'उदाराणि' आदि कर्मके विशेषण हैं ये विशेषण कर्मके स्वरूपको बताने वाले नहीं हैं, कर्मके उद्देश्यसे ही उदारता आदि कहे गये हैं उसका विधान करते हैं अर्थात् भगवान्के कर्म उदार हैं, क्योंकि 'कर्माणि' इस विशेषण पदका प्रथम निर्देश किया गया है और 'उदाराणि' विशेषणका तदनन्तर निर्देश है.

मुख्य फल तो भगवान्से ही मिलता है किन्तु वे कर्म उदार हैं इसलिये अवान्तर फल शुद्धि आदि देते हैं. वे कर्म अज्ञात भी नहीं हैं, क्योंकि महानुभाव

सूरियोंने, नारदादि भगवद् भक्तोंने उनका चारों ओरसे संकीर्तन किया है. चारों ओरसे गाये जानेके कारण उनका चारों ओरसे संकीर्तन किया है. चारों ओरसे गाये जानेके कारण उनका श्रवण सर्वत्र दूरसे भी संभव है. इन चरित्रोंका गान सूरियोंने किया है अतः वे अन्यथा नहीं हैं अपने यथार्थ स्वरूपमें हैं. प्रश्न होता है कि चारों ओरसे संकीर्तित भगवत्-चरित्रोंका श्रवण शौनकादि ऋषियोंको भी सुलभ है तो फिर उनका यहां क्यों कथन किया जाये? इसके उत्तरमें कहते हैं 'श्रद्दधानानां'. अर्थात् हमारी उन कर्मोंमें श्रद्धा है, जिनमें श्रद्धा होती है उनको सुननेकी बारम्बार इच्छा होती है उनको इन कर्मोंसे कभी अरुचि नहीं होती क्योंकि, 'लीलया दधतः कलाः' अनायास, हर्षपूर्वक की जा रही चेष्टाको लीला कहते हैं. जिस तरह भगवान् इन लीलाओंसे प्रतिक्षण नयी-नयी कलायें धारण करते हैं, उसी प्रकार भगवत्कर्म भी चन्द्रमाकी तरह, नवीन-नवीन कलाओंसे सम्बन्ध करते हैं इसलिये भगवत्-चरित्रके श्रवणसे अरुचि होती ही नहीं. 'लीलया दधतः कलाः' यह विशेषण पूर्वोक्त चरित्र-कथनको सिद्ध करनेवाला है.

इस तरह एक उपक्रम प्रारम्भसे भगवान्के प्रकट होनेका प्रयोजन तथा चरित्र पूछा गया है अब भिन्न पृथक् क्रमसे अवतारकी कथा पूछी जाती है.

अथाख्याहि हरेर्धीमन् अवतारकथाः शुभाः।
लीलया विदधतः स्वैरम् ईश्वरस्यात्ममायया ।।१८।।

श्लोकार्थः जो भगवान् अपनी सामर्थ्यरूप मायासे स्वच्छन्द लीला करते हैं सर्वदुःख निवारक उस भगवान्की शुभ अवतार कथाओंको कहिये ।।१८।।

सुबोधिनीः उन-उन अवतारोंके उपाख्यानोंमें, यद्यपि कतिपय अवतारोंके चरित्र सुने गये हैं तथापि, एक ही उपक्रमसे, सभी अवतारोंको उनकी विशेषता सहित जानना है इसलिये शौनकने उत्सुकतासे पृथक् रूपसे प्रश्न किया है. यहां 'अथ' शब्द, पूर्वोक्त बातोंसे भिन्न बात कहनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. दूसरोंके दुःख दूर करनेकेलिये भगवान् हरि अवतार लेते हैं, और उनके अवतारका यही सामान्य प्रयोजन यहां कहा है.

अवतारस्वरूप दुर्ज्ञेय है उसका ज्ञान सर्वसाधारणको नहीं हो सकता इसलिये सूतको यहां विशेषरूपसे 'धीमन्'पदसे सम्बोधित किया है. अवतार कथाके विषयमें चार प्रश्न हो सकते हैं:

१.अवतार कैसे हुआ? २.किसका हुआ?

३.कहां हुआ?　　४.किसलिये हुआ?

इस तरह अवतार सम्बन्धी चार प्रकारकी कथायें, वक्ता, श्रोता तथा उनके प्रवर्तकको शुभ फल देने वाली होती है. वास्तवमें भी कथा शुभ है जैसे लोकमें पुत्रजन्मकी बात शुभ होती है.

'इन अवतारोंमें भी, भगवान्ने जिन अवतारोंमें अपनी इच्छासे लीला-विहारकी है उन्हें कहें' इसीका निर्देश यहां 'लीला विदधतः'से किया गया है. 'स्वैरम्' इसका भाव यह है कि जो स्वच्छन्दतासे 'अर्थात् भगवान्ने मर्यादाका अतिक्रमण करके जो लीलाकी है' उन्हें कहें. मर्यादाके अतिक्रमण पूर्वक लीला करनेका कारण यह है कि वह 'ईश्वर' है 'ईश्वरस्य'. सर्वभवन-सामर्थ्यको माया कहते हैं. यह अन्यथा करके भी काम चला सकती है तथा दोष न हो इसमें कारण मानी गयी है.

'आत्ममायया' आत्मासे यह तात्पर्य है कि वह भगवान्की अपनी माया है इसलिये यह दूसरोंसे नहीं जानी जा सकती और उसका उल्लंघन भी नहीं किया जा सकता ।।१८।।

इस प्रकार विशेषरूपसे सभी विषयोंका परिज्ञान रखने वालोंको फिर श्रवणसे क्या लाभ? इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं कि:

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।१९।।

श्लोकार्थ: भगवान्के चरित्रको सुनते हुये हम तो तृप्त नहीं होते क्योंकि, सुननेवाले रसज्ञोंको इसके पद पदमें अधिकाधिक रसास्वाद प्राप्त होता है.

सुबोधिनी: भगवत्कथाके स्वरूपको जो नहीं जानते, वे कुछ समय तक कथा सुनकर फिर नहीं सुनते किन्तु जो रसज्ञ हैं वे कथा सुननेसे निवृत्त ही नहीं होते अतः जो तृप्त होकर निवृत्त हो गये हैं, उन्हें भले ही निवृत्त होने दीजिये हम तो तृप्त होते ही नहीं अतः हमारे लिये विवृत्त होनेका अवसर ही कहां?

भगवत्कथासे निवृत्ति तीन प्रकारसे ही संभव है १.यदि किसीमें इससे भी अधिक उत्कृष्ट रस हो, २.अथवा ऐसी कथा सुननेको ही न मिले, ३.रसका ज्ञान ही न हो.

इनमेंसे प्रथम दो संभावनाओंका निराकरण करते हैं उत्तमश्लोक भगवच्चरित्रके श्रवणसे हम कभी निवृत्त नहीं होते क्योंकि ब्रह्मानन्दका अनुभव

करनेवाले मुक्त जीव भी भगवच्चरित्रका गान करते हैं इस प्रसंगका निरूपण सविस्तर ''इत्थंभूतगुणो हरिः'' इत्यादिसे हम अग्रिम स्थलमें करेंगे. इसलिये भगवत्कथा-रससे अधिक दूसरा कोई रस अन्यत्र नहीं है ब्रह्मानन्दका रस भी इससे न्यून है. 'विक्रमः' इस पदसे इस कथाकी दुर्लभताका भी निवारण हो जाता है. भगवान्का विक्रम अर्थात् पादविक्षेप जिसमें होता है उसको भगवत्पराक्रम कहते हैं इस पराक्रम (विक्रम)में विशेषरूपसे, भगवान्की क्रियाशक्ति आविर्भूत रहती है इस प्रकारका भगवत्पराक्रम सर्वत्र पूर्ण है 'सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपने पदविक्षेपसे भगवान्ने पूर्ण कर दिया था ऐसी क्रियाशक्ति उस समय प्रकट की गयी थी'. इस प्रकारके पराक्रम वाली भगवत्कथाका रस सर्वत्र होनेसे दुर्लभ नहीं कहा जा सकता यह रस सर्वत्र सुलभ है. वह सुननेको न मिले, ऐसी बात नहीं है. अब, रसकी अनभिज्ञतासे होने वाली निवृत्तिका निराकरण करते हैं. रसका ज्ञान सुननेसे ही होता है 'यच्छृणवतां' जिस तरह लोकमें रसोई-निर्माण करनेके ज्ञानोपार्जनमें इच्छाकी निवृत्ति नहीं होती भोजन बनानेकी विद्यासे, भोजनेच्छाकी निवृत्ति नहीं होती क्योंकि भोजन मूर्त पदार्थ है उससे तो जब पेट भर जायेगा तभी निवृत्ति होगी. इसी तरह श्रवणेच्छाकी निवृत्ति तो श्रवणसे ही होती है. भोज्य पक्ष तथा कथा रसमें यह भेद है कि भोज्यपदार्थ मूर्त है कथा रस अमूर्त. इस कथामें एक विशेषता यह भी है कि रसके जानने वाले इससे कभी निवृत्त नहीं होते रसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह निवृत्त नहीं होने देता. फिर यह रस तो परात्पर है. एक बात यह भी है कि उस रसका आविर्भाव अधिकारीमें उसके अधिकारानुसार होता है. जैसे जैसे अज्ञान निवृत्त हो जाता है वैसे वैसे भगवत्रसका आस्वाद होने लगता है जैसे जैसे ज्वर उतरता जाता है वैसे वैसे अन्न स्वादु लगने लगता है.

प्रथम जब भगवत्कथा रस प्राप्त होता है, तब अविद्यासे व्याप्त होनेके कारण जीवको रसास्वाद अल्पप्रमाणमें होता है तदनन्तर, इस तरह प्रथम श्रवणसे अमुक अंशमें अविद्याकी निवृत्ति होने पर द्वितीय बार सुननेसे पूर्वापेक्षया अधिक रसास्वाद होता है इस तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक रसास्वाद होता है. जो जीव सर्वतः मुक्त है उसको रसका सर्वोत्तम अनुभव आस्वाद होता है.

भगवत्कथा श्रवण करने वालेको पहिले वाक्य समुदायमें भगवान्की प्रतीति होती है फिर, प्रत्येक वाक्यमें, तदनन्तर, प्रत्येक पदमें भी भगवत्प्रतीति होने लगती है. 'पद' शब्दका अर्थ है 'पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदम् प्रकृति

प्रत्ययश्च' जिससे अर्थ जाना जाये, उसे पद कहते हैं. इसलिये प्रकृति तथा प्रत्ययसे भी अर्थ ज्ञान होता है. अर्थात् प्रकृति तथा प्रत्यय एक अक्षर रूप भी होते हैं इसलिये, प्रकृति तथा प्रत्यय सहित प्रत्येक अक्षर भगवान्का ही वर्णन करते हैं. प्रत्येक अक्षरकी अर्थरूपता ही भगवद्रूपता है अर्थात् प्रत्येक अक्षरकी अर्थरूपता द्वारा भगवान्का ही ज्ञान जब होने लगेगा, तब भगवान् अतिरसप्रद हो जायेंगे ।।१९।।

हमें विशेष रूपसे कृष्णावतारकी कथा सुननी है इस अभिप्रायसे कहते हैं कि:

कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ।।२०।।

श्लोकार्थ: गूढ कपटसे मनुष्यरूप धारण करनेवाले, भगवान् श्रीकृष्ण केशवने बलराम सहित जो यथार्थतः अलौकिक पराक्रम किये हैं जिनको मनुष्य नहीं कर सकता उनका आप हमें श्रवण कराइये ।।२०।।

सुबोधिनी: भगवान्के पराक्रम प्रसिद्ध हैं इसलिये 'किल' शब्दका प्रयोग किया गया है. अवस्था तथा साधन आदिके अभावमें भी, पूतनाहनन आदि पराक्रम करनेके कारण, उनकी यहां आश्चर्यपूर्वक प्रसिद्धिका कथन किया गया है. इसलिये, कृष्णावतारके पराक्रम वस्तुतः अलौकिक हैं, विशेष बात यह है कि एक ही स्थानमें एक ही समयमें, आवेश तथा अवतारूपमें एक साथ ही भगवान् अपने पराक्रम नहीं दिखाते हैं यहां तो 'रामेण सह' आवेश तथा अवतार दोनों स्वरूपोंमें पराक्रम करना कहा है. और, भगवान्ने अपने सभी अवतारोंमें ब्रह्मा तथा शिवको सुख नहीं दिया है क्योंकि, ये दोनों ही गुणोंके अधिष्ठाता हैं, इसलिये, उनमें स्पर्धा आदि दोष होना सम्भव है. अन्य अवतारोंमें उनके भक्त रावण, हिरण्यकशिपु आदिको मारा है तथा उनका हित नहीं किया है.

इस कृष्णावतारमें वैसा नहीं है इसका निर्देश करनेकेलिये यहां 'केशव' पदका प्रयोग किया है अर्थात् जिससे ब्रह्मा तथा शिवको नित्य सुख मिलता हो, उसे 'केशव' कहते हैं अर्थात् इन दोनोंको आनन्द देने वाले श्रीकृष्ण ही हैं. अब, भगवान्के पराक्रमकी उत्कर्षता कहते हैं 'अतिमर्त्यानि' भगवान्के इन पराक्रमों को सुननेसे मर्त्य शरीरसे पुनः सम्बन्ध नहीं होता है. अथवा, भगवान्के ये पराक्रम मर्त्यका अतिक्रमण करने वाले हैं क्योंकि, भगवान् आनन्दमात्रकर, पाद, मुख

और उदर वाले हैं और इसीलिये साक्षात् भगवान् हैं, भगवदवतार नहीं हैं. यदि ऐसा है अर्थात् यदि भगवान् हैं तो फिर, उनमें यह शरीरकी प्रतीति क्यों होती है? इसका उत्तर यह है कि 'गूढः' वे लोकमें गुप्त हैं अर्थात् अपने सच्चिदानन्द रूपको प्रकाशित नहीं करते इसमें कारण यह है कि 'कपटमानुषः' कपटसे अर्थात् लोगोंकी बुद्धिको मोहित करनेकेलिये मनुष्य शरीरको ग्रहण किया और अपने स्वरूपकी मनुष्य रूपके समान प्रतीति कराते हैं. इसलिये, यह सिद्ध होता है कि आप, ऐसे भगवान्के पराक्रमोंको कहैं.

इस प्रकारकी भगवद्–लीलाओंको श्रवण करनेका हमें अधिकार है यह दो श्लोकों से कहते हैं:

कलिम् आगतम् आज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ।।२१।।

श्लोकार्थ: कलियुगको आया हुआ जानकर हम इस वैष्णव क्षेत्रमें दीर्घ सत्रानुष्ठान पूर्वक यहां बैठे हुये हैं, इसलिये हरि भगवान्की कथाश्रवण करने केलिये हमें अवकाश है.

सुबोधिनी: कलिमें सभी धर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है. अतः दूसरा कोई कार्य न होनेसे, सूतकमें जिस तरह अवकाश रहता है, उसी तरह कलिमें भी अन्य धर्मोंके अभावमें नित्य अवकाश ही रहता है. जहां तक धर्म करनेका अधिकार होता है वहां तक धर्म त्याग हो जानेके भयसे व्यग्रता रहती है और वेदोक्त कर्म करना संभव है. यदि धर्ममर्यादाका अतिक्रमण होता है तो पाप अधिक होनेसे, भगवत्कथामें रुचि ही निवृत्त हो जाती है. इसलिये यह कलि, विहित कर्मादिरूप जो प्रतिबन्धक हैं, उन सबका निवर्तक है, कलिमें धर्माधिकार नहीं है, इसलिये विहित कर्म नहीं किये जा सकते, इसलिये इस कलिके आगमनसे हम भगवत्कथामें सावकाश हैं.

अब अन्य किसी स्थानमें, या जहां कहीं यदि यह कथा सुनी जाती तो दैत्यों द्वारा बुद्धि नाशकी संभावना भी रहती और तब, "**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**"के अनुसार बुद्धि नाश होने पर सभी नष्ट हो जाता है. यहां ऐसा नहीं है यह स्थान क्षेत्र विष्णुसम्बन्धी है. इसीलिये यहां 'क्षेत्रे अस्मिन् वैष्णवे' पदका प्रयोग किया गया है. यह स्थान 'सत्रवेदि' भी है अतः यहां दैत्यसम्बन्ध भी नहीं है इसीका निर्देश यहां 'अस्मिन्' पदसे किया है. कलिकालमें तो स्मार्त धर्म करनेका अधिकार है,

तो फिर वैदिक कर्ममें अधिकार नहीं है यह कहनेकी क्या आवश्यकता है? तो कहते हैं कि हम दीर्घसत्र कर ही रहे हैं. वैदिक-प्रक्रिया यह है कि दीक्षितोंको अन्य कर्म नहीं करना चाहिये उसके समाप्त होने पर ही दूसरा कर्म करना चाहिये इसलिये हमने दीर्घसत्रका प्रारम्भ किया है तदनुसार हम अन्य कर्मोंसे सर्वथा सावकाश हैं यदि भगवत्कथा प्रारम्भकी जाती है तो यह हजार वर्ष वाला काल भी क्षणभर सा ज्ञात होने लगेगा इसीका संकेत 'कथायां सक्षणाः'से तथा 'सक्षणाः' इस 'क्षण' पदसे किया गया है. हम यहां अन्य किसी कार्यकेलिये सावकाश नहीं हैं किन्तु, हरि कथाकेलिये ही सावकाश हैं ।।२१।।

यहां वक्ताके अभावमें जो न्यूनता थी वह भी भगवान्ने पूर्ण कर दी यही कहते हैं कि:

त्वं नः संदर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।
कलिं सत्त्वहरं पुसां कर्णधार इवार्णवम् ।।२२।।

श्लोकार्थ: विवेक, धैर्य एवं ज्ञानको नष्ट करने वाले इस दुस्तर कलिको सम्पूर्ण रूपसे पार करनेकी इच्छा वाले हमको, निःशेष-समुद्र-संतीर्ण करने वालेको जिस तरह कर्णधार मिल जाता है, उसी तरह भगवान्ने आपकी प्राप्ति करा दी है.

सुबोधिनी: कथा रसको जानने वाले सर्व कर्ता भगवान्ने अथवा ब्रह्माने हमारे और हमारे अधीन ऐसे आपको प्राप्त कराया है. कथाके अभावमें यह कलि दुस्तर है. यदि यहां कहो कि कथा रहित भी ऋषिगण तो कलिको तीर्ण करनेमें समर्थ हैं. इसके अभावमें फिर, आप लोगोंकी विशेषता ही क्या? इसके उतरमें कथन है यह कलियुग 'सत्त्वहरम्' विवेक, धैर्य और ज्ञानको हर लेने वाला है. सत्त्वके नष्ट हो जाने पर, शेष बचे हुये रजोगुण और तमोगुणसे लय और विक्षेप ही होते हैं. इसलिये ऋषियोंका जा सर्वस्व विवेकादि है उसका नाश होने पर कलियुगको पार करना दुष्कर है उसे कोई पार नहीं कर सकेगा. इच्छित समयमें, इच्छित देशका सम्बन्ध नहीं होता, जैसे कि समुद्र पार करानेमें नाविक यदि न मिले वैसे, कलियुगमें भगवत्कथा कहने वाला नहीं हो, तब कलियुग कभी तीर्ण नहीं किया जा सकता ।।२२।।

एक बात यह कि पहिले हम धर्म करते हुये रहते थे अब, यहां आकर हम कथामें लग गये हमें यह समझाइये कि सम्प्रति धर्मकी क्या स्थिति है? इस तरह

यह छठा प्रश्न करते हैं:

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्म वर्मणि।
स्वां काष्ठाम् अधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ।।२३।।

श्लोकार्थ: योगेश्वर, ब्राह्मणोंके रक्षक और धर्मके कवच रूप भगवान् श्रीकृष्ण वैकुंठ पधार गये तब सम्प्रति धर्म किसकी शरणमें गया?.

सुबोधिनी: जब-जब धर्मका ह्रास होता है तब तब धर्मकी रक्षा करने भगवान् अवतार लेते हैं. भगवद्गीतामें भी यही कहा गया है ''**यदा यदा हि धर्मस्य**''. तदुपरांत ''योगद्वारा आत्माका साक्षात्कार करना ही उत्तमोत्तम लाभ है'' इस वाक्यसे योग भी धर्मका रक्षक कहा गया है ''**अयं हि परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्**''. इस योगके ईश्वर भी श्रीकृष्ण हैं. ब्राह्मण भी धर्मके रक्षक हैं ब्रह्मण्यरूप भी श्रीकृष्ण ही हैं. इसलिये योगके अवतार तथा ब्रह्मण्यरूप श्रीकृष्णके वैकुंठ गमन करने पर धर्मके संभावित शरण जो भगवान् हैं उनके अभावमें, धर्मका कोई संभावित स्थान ही नहीं रहा इसी तरह, धर्मके विना भगवद्विषयक बुद्धि होती ही नहीं, किन्तु हमारेमें भगवद्विषयक यह बुद्धि है. इससे ज्ञात होता है कि धर्म है ऐसी प्रतीति अवश्य होती है, तो फिर वह धर्म किसकी शरणमें गया? ऐसा प्रश्न होता है ।।२३।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके
हीनाधिकार प्रकरणका प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २

फल–साधनरूप तीन कर्मोंका निर्णय

द्वितीय अध्यायके प्रारम्भमें दो कारिकाओं द्वारा संगति तथा अध्यायका निरूपण किया गया है:

कथा–श्रवण–भावेन मनोरथ–महार्णवे ।
निमग्नान् सूतदानेन ह्युज्जहार ऋषीन् हरिः ।।का.१।।
फलसाधनरूपाणां निर्णयः कर्मणामपि ।
त्रयाणां वक्ष्यतेऽध्याये द्वितीयेऽन्यत्र शेषिणम् ।।का.२।।

कारिकार्थ : भगवत्कथाश्रवणमें प्रेम भावके कारण कथाश्रवणरूप अपने मनोरथके महासमुद्रमें डूबे हुये शौनकादि ऋषियोंको सूत पौराणिकका वक्ताके रूपमें उनको दान देकर भगवान् श्रीहरिने उद्धार किया इसका उल्लेख प्रथम अध्यायमें किया जा चुका है. प्रस्तुत द्वितीय अध्यायमें, फल और साधनके प्रकारोंका तथा कर्मका भी इन तीनोंका निर्णय किया जायेगा. तत्पश्चात् बाकी बचे हुये रामादि अवतारोंका उनके प्रयोजनका तथा अवतारी श्रीकृष्णका निरूपण तीसरे अध्यायमें किया जायेगा.

शौनकादि द्वारा इससे पूर्वमें पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देनेके पहिले सूत, यहां देवता और गुरुका नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हैं और यही बात श्रीव्यास निम्नश्लोकसे कहते हैं:

व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो स विप्रै रौमहर्षणिः।
प्रतिपूज्यवचस्तेषां प्रवक्तुम् उपचक्रमे ।।१।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार शौनकादि ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्मविषयक प्रश्नोंके पूछे जाने पर सूतने, उनके वचनोंकी प्रशंसा करके कहना प्रारम्भ किया.

सुबोधिनी: इस तरह विप्रोंने, सूतसे, पुरुषार्थसे सम्बन्धित ब्रह्म विषयक प्रश्नोंको पूछा. 'विप्रैः'में 'प्रा' धातुका भी अर्थ है पूर्ण करना 'वि' उपसर्ग है अर्थात् विशेष करके जो वक्ताको तथा स्वयंको भी भक्तिसे परिपूर्ण करता हो उसे 'विप्र' कहते हैं. तदनुसार विप्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर अवश्य देना ही चाहिये. 'रोमहर्षणिः' भक्तिके निरन्तर उद्रेकसे जिसके रोम रोममें हर्ष व्याप्त रहता

हो, उसको 'रोमहर्ष' कहते हैं रोमहर्षके पुत्र सूत-पौराणिक उग्रश्रवा भी निरन्तर भक्ति उद्रेक वाले हैं यही निर्देश करनेकेलिये इनको यहां रोमहर्षके पुत्र रौमहर्षणि ऐसा कहा गया है ऐसे रौमहर्षणिने शौनकादिकोंके वचनोंका अभिनन्दन किया अर्थात् उनके वचनोंकी सामान्यतया प्रशंसाकी, और यह प्रशंसा, प्रस्तुत क्रमके अनुरोधसे ग्रन्थके बाहर ही कि गयी है, क्योंकि अग्रिम प्रसंगमें जो प्रशंसा करेंगे, वह सामान्यरूपसे उत्तर देनेके उपरान्त ही करेंगे ऐसा समझना चाहिये. 'प्रवक्तुं' अर्थात् अपनी बुद्धिसे निर्धारित किये गये अर्थको तथा भागवतको कहना प्रारम्भ किया ।।१।।

आभासार्थ: भागवत-कथानारम्भसे पहिले देवता तथा गुरुको नमस्कार किया गया है तदनुसार प्रथम गुरुको, उनके ज्ञान और वैराग्यके निरूपक दो श्लोकों द्वारा नमस्कार करते हैं यहां प्रथम उनके वैराग्यका कथन किया जाता है:

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तम् अनुपेतम् अपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः तं सर्वभूत हृदयं मुनिम् आनतोऽस्मि ।।२।।

श्लोकार्थ: उपनयन संस्कारको प्राप्त किये बिना ही जिसके कर्म मात्र निवृत्त हो गये हैं और इसीलिये दुःसंगके भयसे वेग पूर्वक दूर दूर चले जाते हुये श्रीशुकको विरहसे कातर उनके पिताश्री व्यासने हे पुत्र! इस तरह पुकारते हुये जब बुलाया तब स्वयं ब्रह्म रूप होनेके कारण ब्रह्ममें अपनी तन्मयताके कारण श्रीशुकने उनको उत्तर नहीं दिया. किन्तु श्रीशुककी ओरसे शुकमें अपनी तन्मयताके कारण वृक्षोंने ही श्रीव्यासको उत्तर दिया ऐसे अन्तर्यामी रूपसे सबके हृदयको प्रेरणा देनेवाले ब्रह्मचिन्तन परायण श्रीव्यास-पुत्र श्रीशुकदेव मुनिको मैं सर्वतः प्रणाम करता हूं ।।२।।

सुबोधिनी: जिसमें जितना-जितना विराग उसको भागवतमें उतना-उतना ही अधिकार. वहां श्रीशुक तो पूर्वजन्मसे ही ज्ञानी थे. अतः उन्होंने योग्य देहके लिये विष्णुरूप व्याससे देह प्राप्त की. और इस तरह, ज्ञान तथा योग्य देहसे दोंनोंसे सम्पन्न होकर उन्हें यह विचार हुआ कि कहीं संगसे ज्ञान नष्ट हो जाय इस भयसे, और क्योंकि उनमें पूर्व जन्मके संस्कार भी दृढ थे, इसलिये वह यज्ञोपवीत संस्कार किये बिना ही सब कुछ छोडकर चले जा रहे हैं. और क्योंकि व्यास ज्ञान

देनेके अधिकारी हैं इसलिये वह देहादिधर्मोंसे युक्त हैं उन्हें देहादिका अध्यास है अतः उन्होंने सोचा कि शुकका इस तरह चले जाना सन्यासाश्रमके अनुरूप नहीं है किन्तु, संगभयसे गमन मात्र है तो वह भी अनुचित सा है और यही मानकर व्यासजी शुकको पीछे लिवालानेकेलिये उनके पीछे–पीछे जाने लगे (अर्थात् संग भयसे शुक जो चले जा रहे हैं वह उचित नहीं क्योंकि) हृदयमें भगवद्धर्मोंके प्रविष्ट होते ही भय निवृत्त हो जाता है. बलिष्ठको भय नहीं होता. और बल भगवान्का ही है. श्रीशुकके हृदयमें, भगवद्धर्मोंके प्रवेश होनेसे, संगादि भयको स्थान ही कहां? यदि यह कहो कि शुक क्रोधादिके वश होकर चले जा रहे हैं तो यह कथन भी सुसंगत नहीं. श्लोकके 'प्रव्रजन्तं' पदमें जो 'प्र' उपसर्ग है, उससे यह सूचित किया गया है कि शुकका यह 'गमन' वैराग्यसे है क्रोधादिसे नहीं (क्योंकि 'प्रव्रजन' वैराग्य होने पर ही किया जाता है ''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'' प्रव्रज्याको वैराग्य कहते हैं.)

व्यासजी श्रीशुकको जो पीछे लिवालाना चाहते हैं, उसका कारण यह है कि वह अभी यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत ही नहीं हुये. श्रीशुकके प्रव्रजनमें कारण यह है कि वह सभी कार्योंसे मुक्त हैं. कोई कर्तव्य शेष रहा हो तो उसके सम्पादनकेलिये यज्ञोपवीत संस्कारकी आवश्यकता होती है. जिसके देहकी उत्पत्ति विष्णुरूप व्याससे हुयी है ऐसे शुकको पुनः संस्कारकी अपेक्षा नहीं है. और इसीलिये वह यज्ञोपवीत संस्कारलिये विना ही चल दिये.

व्यासको मोह होनेका कारण है उनका 'द्वैपायन' होना. व्यासका जन्म स्थान द्वीप है. जिसके दोनों ओर जल हो उसको द्वीप कहते हैं. यमुनाके मध्यमें अर्थात् द्वीपमें जन्म होनेके कारण व्यास द्वैयायन कहलाते हैं. यदि यह कहो कि व्यास यमुनाके मध्यमें कैसे उत्पन्न हुये? तो कहते हैं कि पराशरने जब भगवान्का ध्यान किया, तब ही भगवान् ही व्यास रूपसे अवतीर्ण हुये. अतः भगवत् अवतार होनेके कारण उनकी उत्पत्ति यमुना जलके मध्यमें हो सकती है. ऐसे व्यासजीको, नारदका उपदेश प्राप्त होनेके पूर्व, अपने स्वरूपकी विस्मृति थी और इसीलिये वह विरहसे दीन हो गये थे. अपनी इसी दीनावस्थामें, शुकको, ''हे पुत्र! हे पुत्र!'' इस तरहसे पुकारने लगे. श्रीव्यासका कंठ पुत्र स्नेहसे रुद्ध हो गया था इसीलिये 'हे पुत्र'! इस सम्बोधनके अन्तमें प्लुतका उच्चारण नहीं कर सके यदि प्लुतका उच्चारण करते तो व्याकरणके नियमानुसार यहां 'पुत्र' तथा 'इति'में 'पुत्रेति' ऐसी

सन्धि नहीं होती (''दूराद्धूते च'' इस सूत्रानुसार दूरसे बुलानेमें 'हे पुत्र इस तरह यहां प्लुत होता है और ''प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'' इस सूत्रसे प्लुतके कारण 'पुत्र इति'में प्रकृतिभाव रहेगा 'पुत्रेति' इस तरह सन्धि नहींकी जा सकती) तदनुसार यहां 'प्लुत'के अभावमें 'पुत्रेति' ऐसी सन्धिकी गई है. श्रीधरस्वामीने अपने 'भागवत व्याख्यान'में इस 'पुत्रेति' सन्धिको 'आर्षत्वात् शुद्धः' आर्ष प्रयोगके कारण शुद्ध कहा है किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि 'विरहकातर' इस पदके तात्पर्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया.

यदि यह शंकाकी जाये कि 'तरवोऽभिनेदुः' वृक्षोंने प्रतिध्वनिरूपसे शुककी ओरसे श्रीव्यासको उत्तर दिया वह सुसंगत नहीं क्योंकि वृक्षोंसे युक्त प्रदेशमें 'प्रतिध्वनि' नहीं होती इसका समाधान यह है कि ''**स सर्वम् अभवत्**'' 'वह सब कुछ हो गया' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर उसके फलस्वरूप सर्वभावकी स्फूर्ति होने लगती है श्रीशुक ब्रह्मज्ञानसे सम्पन्न थे अतः यदि वे वृक्षरूप बन गये तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं. तदुपरांत, योगसे तो वृक्षोंमें भी प्रवेश सम्भव है अतः वृक्षोंसे भी उत्तर दान रूप प्रतिध्वनि युक्ति युक्त है.

यहां संदेह होता है कि ब्रह्मज्ञान तथा योग ये दोनों जैसे शुकमें है वैसे ही व्यासमें भी विद्यमान है तो फिर वृक्षोंने शुकमय होकर प्रत्युत्तर दिया या व्यासमय होकर. इसका स्पष्टीकरण यह है कि 'आजुहाव'में यद्यपि कर्ताकी अर्थात् व्यासकी प्रधानता है तथापि 'यत्' शब्दके कर्म प्रधान होनेसे 'तत्' शब्दसे कर्मका ही अर्थात् शुक्का ही ग्रहण किया जायेगा तदनुसार 'तन्मयतया' (तत् मयतया)का अर्थ है 'शुकमयतया' अर्थात् वृक्षोंके शुकमय होनेके कारण. तदुपरांत, विष्णुसे शुक तथा 'वृक्षों'की उत्पत्ति मानी गयी है. श्रुति भी शुक और वृक्ष इन दोनोंके एक ही उपादान कारणका विष्णुका समर्थन करती है ''**वैष्णवा वै वनस्पतयः**'' वनस्पतियां विष्णुसे उत्पन्न हुयीं. इस तरह शुक और वृक्षोंका उपादान कारण एक ही होनेसे 'तन्मय'का अर्थ यहां शुकमय होगा. व्यासमय नहीं. इससे यही सिद्ध होता है कि शुककी ओरसे वृक्षों द्वारा किया गया अभिनन्दन प्रतिध्वनि रूप था.

यहां ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि श्रीशुक चुपचाप मौन धारण किये हुये चले जा रहे थे श्रीशुक मुनि हैं, ब्रह्मात्मभावका मनन विचार करते हुये चले जा रहे हैं और इसीलिये श्रीव्यासको उत्तर नहीं दिया ऐसे श्रीशुकको, और क्योंकि वह

सर्वत्र विद्यमान हैं इसलिये सभी ओरसे सर्वतः, नमस्कार करता हूं ।।२।।

आभासार्थ: इस प्रकार ब्रह्मभावहोनेसे ज्ञानका तथा स्थानको त्यागकर चले जानेसे वैराग्यका इन दोनोंका निरूपण किया गया. तदनन्तर, श्रीशुकको भक्ति द्वारा जो भगवद् ज्ञान हुआ तथा उससे उनमें गुरुत्वरूप जो विशेषता आई उसका कथन करते हैं:

यः स्वानुभावम् अखिलश्रुतिसारमेकम् अध्यात्मदीपम् अतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुम् उपयामि गुरुं मुनीनाम् ।।३।।

श्लोकार्थ: मैं, उस व्यास पुत्र श्रीशुककी शरणमें जाता हूं जो मुनियोंके गुरु हैं, अपने चिन्तकोंको असाधारण प्रभावसे सम्पन्न करते हैं, श्रुतियोंके सार रूप हैं, घोर अन्धकारको तीर्ण करनेकी इच्छावालोंकेलिये ज्ञानके प्रदीप हैं तथा जिसने पुराणोंमें निगूढ रूपसे निहित श्रीभागवतको संसारी जीवों पर दया-पूर्वक प्रकट किया है ।।३।।

सुबोधिनी: श्रीशुकका, भगवद्धर्मोंके हृदयमें प्रविष्ट होनेसे, संगभय तो निवृत्त हो गया था. तदुपरांत, चिरकाल तक मनन करनेसे, भगवदावेश होने पर, श्रीशुक, व्यासजीके पास आये, और उस समय उनसे यथावत् भागवतका अध्ययन किया यह सहज समझा जा सकता है. तदनन्तर, भागवत-रसमें निमग्न श्रीशुक सर्वत्र मुनि महानुभावोंको भागवतका उपदेश देने लगे. इसीलिये श्रीशुक मुनियोंके गुरु कहे गये हैं 'गुरुं मुनीनाम्' उपदेष्टा ही गुरु होता है.

इस श्लोकमें, भागवतका स्वरूपतः उत्कर्ष बतानेकेलिये, यथाक्रम चार विशेषणों द्वारा उसकी प्रमेयरूपता, प्रमाणरूपता, असाधारणता तथा उत्तम साधनरूपताका प्रतिपादन किया गया है. (इन चारों विशेषणोंका निरूपण इस तरह किया गया है.)

१.स्वानुभावम्. भागवत भगवत्स्वरूप है इसलिये जिस तरह भगवान्का भक्तों पर उनकी अविद्या निवृत्तिके रूपमें असाधारण प्रभाव होता है, उसी तरह भागवतका मनन करने वालोंको भी यही असाधारण प्रभाव प्राप्त होता है. अर्थात् भागवतका भी उसके चिन्तकों पर अविद्या-निवृत्ति रूप असाधारण प्रभाव होता है. 'स्वानुभावम्'से यहां यही स्पष्ट किया गया है. और, भागवतकी यही प्रमेयरूपता है उसका यही स्वरूप सामर्थ्य है.

२.'अखिलश्रुतिसारम्'. भागवत सर्वश्रुतियोंका साररूप है. कर्मकाण्ड

तथा ज्ञानकाण्डमें जो कुछ भी कहा गया है वह सब भक्तिका अंग है, भक्ति प्राप्तिके साधनरूप है, तथा सभी श्रुतियोंके तात्पर्य विषयरूप भगवान्का प्रतिपादन, इस भागवतमें है. देव दैत्य आदिमें प्रवृत्त हुयीं श्रुतियोंका, उस-उस अभिप्रायको लेकर ही यदि अर्थ करेंगे तो यह भागवत, सर्वश्रुतियोंका साररूप नहीं माना जायेगा किन्तु, अवशेष श्रुतियोंका ही सार कहा जायेगा इस सम्भावनाको हटानेकेलिये ही यहां 'अखिल' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् यह भागवत सम्पूर्ण श्रुतियोंका साररूप है अमुक श्रुतियोंका ही सार इसमें है ऐसा नहीं है. सम्पूर्ण वेदोंका जो विषय है, यह भागवत उसीका निचोड है सर्ववेदोंका अर्थ रसरूप है. इस विशेषण द्वारा भागवतकी प्रमाणरूपताका प्रतिपादन किया गया है.

३.'एकम्'. यह भागवत अद्वितीय एक ही है. यह भागवतरस, असाधारण रस है इससे अधिक और कोई रस नहीं है. यदि यहां 'एक' पदका प्रयोग नहीं किया जाता तो भागवतमें भी रसान्तरकी सम्भावना होती तथा अन्य पुराणोंके सदृश ही यह भागवत भी माना जाता. अन्य पुराणोंमें तो रसान्तरोंका उल्लेख है. यथा, ''**सूत! त्वं पूजितो अस्माभिः सारात् सारं वदस्व नः**'' किन्तु, भागवत स्वयं सारका भी वेदोंके सारका भी सार है. इसके द्वारा भागवतकी असाधारणताका निरूपण किया गया है.

४.'अध्यात्मदीपम्'. भागवत, अध्यात्मदीप है बाहरके पदार्थोंका बोध दीपक द्वारा अथवा पुरुषों द्वारा कराया जा सकता है किन्तु, आत्माके भीतर, वाणीसे बोध करानेवाले विरले ही होते हैं. भागवतके अतिरिक्त ऐसा और कोई भी उपाय नहीं है जो गुरुके उपदेश विना तथा तप रूप साधनके विचारके विना ही सभीको आत्मसाक्षात्कार करा सके. जिस तरह घरमें दीपक रहने पर 'घट' आदिका ज्ञान सहज ही हो जाता है, वहां गुरु एवं अन्य पुरुष आदिकी अपेक्षा नहीं होती उसी तरह भागवत प्राप्त होने पर, आत्मसाक्षात्कारमें किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं रहती अहंता ममतारूप अविद्याके घोर अन्धकारको तिरनेकी इच्छा करनेवालेकेलिये यह भागवत, अध्यात्म-अंतरका दीप है. आत्मज्ञान होने पर, आत्मासे सम्बन्धित सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं क्योंकि यह अध्यात्मदीप (भागवत) आत्मसम्बन्धी सभी पदार्थोंको बोध करानेवाला है. इस चतुर्थ विशेषण द्वारा भागवतकी 'साधनोत्तमरूपता'का निरूपण किया गया है.

भागवतका प्रवचन श्रीशुकने मुनियोंकेलिये ही किया हो ऐसा नहीं है उन्होंने इस भागवतका उपदेश, दयापूर्वक परीक्षितकी सभामें संसारी जीवोंको भी दिया है. जैसे मलको दूर करनेसे, वस्त्र पात्र आदि मलसे निवृत्त होकर शुद्ध होते हैं शुद्ध होने पर उनका कार्यमें उपयोग होता है किन्तु, जो वस्त्रादि प्रथमसे ही शुद्ध हैं उनकी तो प्रत्येक कर्मोंमें योग्यता है ही. यहां संसारी जीव मलिन वस्त्रके समान हैं इनकी, मल–निवृत्तिपूर्वक शुद्धि होनेके पीछे ही, कर्ममें योग्यता प्राप्त होती है किन्तु शुद्ध वस्त्रकी तरह मुनियोंको शुद्धिकी आवश्यकता ही नहीं भागवतके प्रवचन उपदेशकी संसारी तथा मुनिमें यही विशेषता है.

यहां सूत पौराणिक, मायाशुककी शरणमें जानेका निर्देश नहीं कर रहे किन्तु व्यास पुत्र शुकदेवकी शरणमें जानेका कह रहे हैं. यदि श्लोकमें केवल 'शुक' पदका प्रयोग किया जाता तो उससे 'माया शुक' ग्रहण किया जा सकता था वह यहां न लिया जाये इसीलिये यहां 'व्यास–सूनुम' इस पदका प्रयोग किया गया है. श्लोकोक्त 'उपयामि' पदमें जो 'उप' उपसर्ग है उससे यह सूचित किया गया है कि शौनकादि ऋषियों द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देनेकेलिये मैं सूत पौराणिक अभी–भावनासे व्यासपुत्र श्रीशुकदेवके समीप आकर उनके वाक्यको सुनकर भागवत कहूंगा ।।३।।

आभास: इस तरह असाधारण मंगल करके, सम्प्रति सर्व साधारणके करने योग्य, मंगलाचरण करते हैं:

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयम् उदीरयेत् ।।४।।

श्लोकार्थ: नारायणको, नरमें उत्तम ऐसे नरोत्तमको, सरस्वती देवीको तथा श्रीव्यासको नमस्कार करके, भगवत्कथादिका जयका प्रारम्भ करना चाहिये ।।४।।

जयो नाम पुराणादिः कृष्णद्वैपायनेरितः।
अष्टादशपुराणानि भारतं तत् प्रकीर्तितम् ।।का.।।
नारायणो व्यास इति वाच्य–वक्तृस्वरूपकः।
एक एव परो ह्यात्मा आदावन्ते निवेशितः।।का.।।
उपसाधको नरश्चोक्तः चकाराद् गुरुतापि च।
अवश्यम् एवकारेण सूत्रात्मा च नरोत्तमः।।का.।।

देवी भाग्यात्मिका नणां वाक्यरूपा सरस्वती।
सर्वे ते भगवद्रूपाः तस्माद् नम्या हि ते सदा ।।का.।।

कारिकार्थः यहां व्यासजी द्वारा कहे गये अष्टादश पुराण तथा महाभारतका नाम 'जय' है. यहां वाच्य नारायण ही वक्ता व्यास हैं जो सबसे पर हैं. उसी एक आत्माको परमात्मरूप नारायण व्यासको इस श्लोकके आदिमें और अन्तमें स्थापित किया गया है. अर्थात् इस मंगलाचरणके प्रारम्भमें नारायणका तथा अन्तमें व्यासका निर्देश (स्थापन विस्तार) है. नर इनका उपसाधक है, साधन करनेवाला है. श्लोकस्थ 'चकार'से इसके गौरव महिमाका निर्देश किया गया है. सूत्ररूप 'नर' यहां 'उत्तम' है, 'नरोत्तम' है. यहां 'चैव'में 'एव'कारका 'अवश्य' यही अर्थ किया गया है. यहां सरस्वतीसे वाणीरूपा–वाक्यरूपा सरस्वतीका तथा 'देवी' पदसे मनुष्योंकी भाग्यात्मिका देवीका ग्रहण किया गया है. ये सभी भगवद्रूप हैं. अतः प्रत्येक सर्वदा नमन करने योग्य हैं.

सुबोधिनीः 'नारायणं नमस्कृत्य' इस श्लोकसे यदि स्वयं सूतजी प्रणाम करते हैं तब तो 'देवीं सरस्वतीं व्यासं' यह पाठ उचित है और यदि व्यास जी प्रणाम करते हैं तब 'देवीं सरस्वतीं चैव' अथवा 'वापि' ऐसा पाठ उचित होगा ऐसी स्थितिमें यहां सरस्वतीके निकट 'च'कारसे इस श्लोकके वक्ताका ग्रहण किया जायेगा. दोनों प्रकारके ही पाठ मिलते हैं अतः लोक व्यवस्थाके अनुसार यहां 'व्यासं' तथा 'चैव' ये दोनों ही पाठ समुचित समझना चाहिये. अर्थात् यदि व्यासजी द्वारा नमस्कार किया जाता हो तो वहां 'व्यास' पदका प्रयोग नहीं हो सकता और यदि सूतजी वक्ता हों तो फिर इस पाठमें कोई आपत्ति नहीं.

आभासः शौनकादिकसे पूछे गये प्रश्नोंका अभिनन्दन करके, अब सूतजी उन प्रश्नोंके निर्धारित अर्थको कहते हैं:

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमंगलम् ।
यत् कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ।।५।।

श्लोकार्थः सूतजी ने कहा है मुनियों! आपने, मुझसे, लोककेलिये मंगलरूप बहुत अच्छा प्रश्न किया है क्योंकि आपने तो आनन्दरूप कृष्णविषयक वह प्रश्न किया है जिससे आत्मा अत्यन्त प्रसन्न होती है ।।५।।

सुबोधिनीः कृष्ण ही फल है. सर्व प्राणियोंको, इस लोक तथा परलोकका फल देनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं. भक्ति, मुक्ति लीलायें उसीकी हैं

अवतारूप तथा धर्म रक्षक भी वही हैं अतः पूर्वोक्त छहों प्रश्नोंका अर्थ श्रीकृष्ण ही हैं. दूसरे प्रश्नमें, जो अन्तःकरण प्रसादरूप द्वितीय फल है वह मुनियोंको ही प्राप्त होता है हे मुनियों! आप लोगोंने मुनि होनेके कारण मनन द्वारा सम्पूर्ण अर्थोंका निधार कर लिया है. यद्यपि जिस विषयमें पूछा जाता है उसी विषयका उत्तर देना चाहिये, तथापि जो कुछ भी पूछा गया है वह सब श्रेष्ठ है आप द्वारा कृष्ण विषयक प्रश्न पूछा गया है यह ही लोकोंकेलिये मंगलरूप है, और इसीसे आत्मरूप कृष्ण प्रसन्न होते हैं. भगवान् तथा उनके धर्मोंका आवेश होने पर, अन्तःकरणमें भी प्रसन्नता होती है. यह आपके प्रश्नोंका सामान्य उत्तर है. अन्य शास्त्रोंके अनुसार तो श्रवणके अनन्तर मनन, निदिध्यासन करने पर कार्यसिद्धि होती है, किन्तु यहां भागवतमें यह कार्यसिद्धि तो प्रश्नमात्रसे ही हो जाती है अतः कृष्णसम्बन्धी प्रश्नमें ही सब शास्त्रोंकी समाप्ति है अर्थात् अन्य शास्त्रोंमें कहे गये जो साधन हैं उनके अनुष्ठानसे जो कार्यसिद्धि होती है वह सब यहां भागवतमें कृष्ण सम्बन्धी प्रश्नके पूछने मात्रसे सम्पन्न हो जाती है ।।५।।

आभास: प्रथम श्लोकमें जो कुछ सामान्यरूपसे कहा गया है, उसीको विशेषरूपसे अग्रिम सत्रह श्लोकोंसे कहते हैं. आत्मप्रसन्नता रूप फल तथा धर्मरूप साधन इन दोनोंको एक करके अपने अधिकारानुसार सत्रह श्लोकोंसे शास्त्रके अर्थका निरूपण करते हैं. यहां भगवान्का साक्षात्कार करना फल है. साधनोंकी परम्परामें प्रथम साधन धर्म है तथा अन्तिम भगवान्का अनुग्रह है. यह अनुग्रह सभी साधनोंमें खण्डशः कहा गया है प्रत्येक साधनमें अल्प अल्प अंशमें कहा गया है, अर्थात् प्रत्येक साधनमें भगवद्-अनुग्रहकी अमुक मात्रा अनिवार्य है. भगवद्-अनुग्रहसे ही जीवकी साधनमें प्रवृत्ति होती है. इस तरह साधनोंकी परम्पराके अन्तमें भगवान्का महान् अनुग्रह होने पर, भगवान् अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं. इस साधन परम्परामें भक्ति तीन प्रकारकी है तथा ज्ञान भी तीन प्रकारका है. रुचि, श्रवण कीर्तनादि तथा प्रेम इस तरह भक्ति त्रिविध है आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान तथा भगवद्ज्ञान. इस तरह ज्ञान भी त्रिविध है धर्म तथा वैराग्य साधन हैं. उस साधन परम्परामें धर्म और वैराग्यके, यथा-योग्य प्रमाणमें, निवेशनका निरूपण किया गया है. यहां प्रथम, इसी साधन परम्पराकी एक शृंखलाका दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं.

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।।६।।

श्लोकार्थ: मनुष्योंका सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे अधोक्षजमें (इन्द्रियजन्य ज्ञानसे जो अतीत है उसमें) ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति उत्पन्न हो जिससे आत्मरूप भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हो जायें।।६।।

सुबोधिनी: धर्म साधन है भक्ति उसका फल है. शास्त्रविहित जो श्रवणादि धर्म हैं वे साक्षात् भक्तिको उत्पन्न करते हैं, भक्तिके साधक हैं. स्नान आदि धर्मसे प्रथम अदृष्ट उत्पन्न होता है और अदृष्टसे भक्ति रूप फल मिलता है. किन्तु श्रवणादि धर्मसे साक्षात् फल सिद्धि तत्काल प्राप्त होती है और यहां बीचमें अदृष्ट जैसी किसी वस्तुके उपस्थित होनेकी कोई सम्भावना भी नहीं रहती. यदि स्नानादि धर्ममें कोई अन्य साधनका प्रवेश हो जाये तो फलमें अनियमितता भी (अनिश्चितता) सम्भव है. इसलिये प्रथम स्नानादि धर्मोंका निर्णय किया जाता है. श्रवणादि तथा स्नानादि धर्मोंमें प्रमाणकी समानता होने पर भी श्रवण-कीर्तनादि धर्मोंमें, फलकी सुलभताके कारण अपेक्षाकृत विशेषता है. इसीलिये मनुष्योंका निश्चित रूपसे उत्कृष्ट धर्म वही है जिससे भगवान्में श्रद्धारूप भक्ति उत्पन्न हो जाये. स्वर्गादिके साधक जो धर्म बताये गये हैं, उन यज्ञादि धर्मोंकी धर्मरूपता अथवा उत्तमरूपता संदिग्ध है. इसका विवेचन अग्रिम प्रसंगमें किया जायेगा. धर्ममें स्वतन्त्रताको सहायक माना गया है, इसीलिये धर्मकी विशेषता यहां 'पुंसां' पदसे स्पष्ट की गयी है. स्वतन्त्र पुरुष ही सहायक होते हैं क्योंकि धर्मका सुचारु संपादन स्वतन्त्र पुरुष ही कर सकता है. यहां 'पर-परत्व'का विधान श्रवणादि धर्मकेलिये किया गया है, अर्थात् श्रवणादि धर्म ही सब धर्मोंमें मुख्य श्रेष्ठ है. किसीके मतमें यहां 'परः' धर्मका विशेषण है. श्रीआचार्य-चरणने 'परः'को विधेय माना है. 'परः'को विधेय मानने पर उसका अर्थ यह होगा जिससे भगवान्में भक्ति हो वही धर्म 'परः' है.

भगवान्को यहां अधोक्षज कहा है क्योंकि भगवान् लौकिक इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं. इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान, प्रभुसे नीचे है अधः अक्षजम् ज्ञानम् यस्मात् इति. इसलिये इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान भगवान्को ग्रहण नहीं कर सकता लौकिक इन्द्रियोंसे जिन विषयोंका ज्ञान होता है उनमें तो कामादिसे ही रुचि उत्पन्न होती है वहां धर्मकी कोई आवश्यकता नहीं. धर्म तो बलिष्ठ पुरुषार्थ है. वह सभी अडचनोंको प्रतिबन्धोंको दूर करके अपेक्षित यथा आवश्यक साधनोंको

जुटा कर अन्तिम फलकी प्राप्ति करा देता है. वहां यदि भगवान्में यह रुचि साधनरूपसे अर्थात् फलकी आकांक्षासे उत्पन्न हुई हो तो वह धर्मरूप नहीं है. अथवा, यदि यह रुचि रूप भक्ति दुःसंगादिसे नष्ट हो जाती है तो भी वह धर्मरूप नहीं है. हेतु अर्थात् फलाकांक्षासे रहित अहैतुकी तथा रोगादिसे नष्ट न होनेवाली अप्रतिहत ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति जिससे उत्पन्न होती है वही धर्म 'उत्तम' कहलाता है. ऐसी भक्तिका फल है अन्तःकरणके साक्षी भगवान्का प्रसन्न होना. भगवान्की अत्यन्त प्रसन्नतामें ही जीवके अन्तःकरणकी प्रसन्नता है यहां इसीका निर्देश 'सुप्रसीदति'के 'सु' उपसर्ग द्वारा किया गया है.

आभासार्थ: भगवान्के प्रसन्न होने पर जीवका भगवान्में पर्यवसान होता है. अब भक्तिके विषयका और उसके प्रयोजनका विवेचन करते हैं:

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यद् अहैतुकम्।।७।।

श्लोकार्थ: वासुदेव भगवान्में निरन्तर किया गया भक्तियोग, शीघ्र ही वैराग्य एवं आत्मज्ञान उत्पन्न करता है और वह ज्ञान. अनुमानगम्य न होकर साक्षात्काररूप होता है.

सुबोधिनी: शुद्धसत्त्वरूप अन्तःकरणमें जिसका आविर्भाव होता है वह वासुदेव है 'सत्त्वं विशुद्ध' श्लोकमें इसी बातका निर्देश किया गया है. देवतान्तरविषयक ध्यानादिके भेदसे यह वासुदेव मूर्तिरूप अथवा अवतार रूप अन्य देवता भी हो सकता है किन्तु उनका यहां ग्रहण न किया जाये, इसीलिये उनको 'भगवति' ऐसा कहा गया है. जिसका तात्पर्य यह है कि यहां षडैश्वर्यसे युक्त भगवान् ही 'भजन'के विषय हैं अन्य अवतार रूप अथवा मूर्ति रूप नहीं. षडैश्वर्यसे युक्त भगवान्में ही भक्ति होनी चाहिये. श्लोकमें भक्तियोगके 'योग' पदसे यह कहा गया है कि 'केवल रुचि उत्पन्न हो जाना ही भक्ति नहीं है' किन्तु रुचि श्रवण तथा प्रेम इन तीनोंके योगसे 'भक्तियोग' बनता है. 'प्रयोजित'में 'प्र' उपसर्गका अर्थ है चिरकालसे निरन्तर किया गया (योजित). रुचि, श्रवणादि तथा प्रेमका उत्तम फल भगवत् प्रसाद कहा गया है. अर्थात् जहां जहां भक्तियोग वहां वहां भगवत् प्रसाद.

इस प्रकारका भक्तियोग, विषयोंके प्रति वैराग्यको तथा आत्मज्ञानको शीघ्र ही उत्पन्न करता है. यह आत्मज्ञान साक्षात्कार रूप होता है. अनुमानगम्य

नहीं और इसीका निर्देश श्लोकके 'अहैतुक' पदसे किया गया है. साक्षात्कारमें 'हेतु'की अपेक्षा नहीं होती. ऐसे भक्तियोगसे आनुमानिकज्ञानसे नहीं, स्वयं भगवान्‌से साक्षात्कार होता है ।।७।।

आभासार्थ: इस तरह धर्मसे प्रारम्भ करके ज्ञानपर्यन्तकी एक परम्पराका निरूपण करके सम्प्रति, इसी परम्पराका भी निर्णय करनेवाली द्वितीय परम्पराका विवेचन करनेकेलिये यहां यह कहते हैं कि जो धर्म, भक्तियोगको उत्पन्न नहीं करता, वह धर्म बाधक है, अन्तराय रूप है.

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रमएव हि केवलम् ।।८।।

श्लोकार्थ: जो धर्म भगवत् कथामें मनुष्योंकी रति प्रेम उत्पन्न नहीं करता, वह भली भांति अनुष्ठित किया गया भी केवल श्रमरूप ही है.

सुबोधिनी: धर्म यहां साधन है और कथामें रुचि साध्य है. स्वरूपमें उपकार करनेवाले धर्मका निरूपण आगे करेंगे. अदृष्ट द्वारा उपकार करनेवाले स्नान, यज्ञ आदि धर्मोंकी अच्छी तरह अनुष्ठान किया भी जाये तो भी उनके द्वारा कथामें रुचि उत्पन्न हो ही जायेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है. ऐसे धर्मकी निन्दा ही की गयी है. अच्छी तरह आचरित स्नानादि धर्म भगवत् कथामें रुचि उत्पन्न नहीं करते, अतः वे निन्द्य हैं.

श्लोकोक्त 'विष्वक्सेना'का अर्थ है चारों ओर सेना अथवा आज्ञा है जिसकी ऐसे भगवान्. भगवान्‌की सेना अथवा आज्ञा सर्वत्र है. भगवान्‌की कथामें प्रेम उत्पन्न नहीं करनेवाले धर्म, अन्यथा माने जाते हैं. 'कथासु'में सप्तमी विभक्ति द्वारा यह सूचित किया गया है कि भगवत् कथामें प्रासंगिक प्रेम न होकर स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये. 'कथासु'में बहुवचनसे यह तात्पर्य है कि भगवान्‌की कोई भी कथा हो उसमें प्रेम होना चाहिये. भगवत् कथामें वीर्य आदिके अभावका निर्देश 'कथा' पदसे किया गया है. धर्मके रति उत्पादक फलका संकेत 'यः' पदसे किया गया है. रतिका अर्थ है प्रीति. जिस धर्मसे भगवत् कथामें प्रीति न हो वह धर्म नहीं किन्तु श्रम मात्र है. मल्लोंको दण्ड बैठक आदि कसरत करनेके अभ्यासकी तरह स्नानादिक धर्म भी एक प्रकारका केवल अभ्यास है इससे किसी अन्य प्रकारके फलकी सम्भावना नहीं और यही निर्देश करनेकेलिये 'एव' शब्दका प्रयोग किया है. इससे अदृष्ट फल भी उत्पन्न नहीं

होता और यहां यही अर्थ 'हि' युक्त है. क्योंकि इस प्रकारके धर्ममें भगवत् कथामें प्रेमोत्पत्तिरूप फलका अभाव है. यहां यह शंका होती है कि व्यायाम आदि श्रम करनेसे जैसे मल्लादिमें बलकी वृद्धि देखी जाती है, वैसे ही यहां भी भगवत् कथामें प्रीति उत्पन्न न करनेवाले धर्ममें भी कोई लौकिक फल तो अवश्य होगा ही इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यहां तो केवल श्रम ही होता है क्योंकि ऐसे धर्मका कोई अन्य फल नहीं देखा गया. तदुपरांत ऐसे धर्म करनेवालेकी प्रतिष्ठा होती है तो यह भी बात नहीं है. सत्पुरुष ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठाका निरूपण भी नहीं करते. स्वर्गादिमें तो फलरूपता है ही नहीं इसका निरूपण अग्रिम प्रसंगमें किया जायेगा. इस तरह आवश्यक नित्य धर्म यदि भगवत् कथामें प्रीतिजनक न हो तो वह सब व्यर्थ है. पुत्रादिककी कामनासे किया जानेवाला धर्म धर्म ही नहीं है. क्योंकि पुत्रादि रूप कोई फल नहीं है. पुत्रादिरूप यह फल अविद्याका कार्य है अतः दुःखरूप है. किसी कामनासे किया गया धर्म रहनेकेलिये मकानकी भीत आदि निर्माण करनेकी तरह नैमित्तिक ही है.

ऐसी स्थितिमें, 'यजति' यज्ञ करता है, 'यजेत्' यज्ञ करना चाहिये. इनमें 'यजेत्' आदि विधि न होकर केवल अनुवाद रूप है (यज्ञ करनेकी जो विधि है उस तरह न करके केवल जो कुछ लिखा है उसको पढकर क्रिया करने जैसा है) चित्तशुद्धिके विना यज्ञादि धर्ममें अधिकार न होनेके कारण विपरीत कर्म करनेसे उस कर्ममें देवताका आगमन नहीं होता. वह अनुपस्थित ही रहता है. ऐसी स्थितिमें वह क्रिया और उसका फल एवं उसके साधन लौकिक ही होते हैं. तात्पर्य यह है कि बाह्यशुद्धिकी तरह आन्तर शुद्धि भी आवश्यक है और ऐसे नैमित्तिक स्नानादिक कर्मोंसे अन्तःशुद्धि न होनेके कारण वेदोक्त कर्मका अधिकार नहीं रहता. तदुपरांत वेदोक्त क्रियामें वाक्यके तात्पर्यज्ञानकी भी आवश्यकता है. इन सबके अभावमें विहित कर्म अन्यथा होंगे और देवताका अधिष्ठान भी नहीं होगा. सब क्रिया लौकिक हो जायेगी अतः वहां विधिका सम्बन्ध जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होगा. ''**अग्निष्टोमेन यजेत**''में जो तृतीया है वह औषधकी तरह कारणत्वमात्रकी बोधिका है अर्थात् लौकिक फलानु–सन्धानपूर्वक जो यज्ञ किये जाते हैं उनमें 'यजेत्' यज्ञ करनेकी विधि तो निरर्थक ही है. अतः जो कर्म लौकिक फल देता है तथा भगवत् कथाओंमें रति उत्पन्न नहीं करता हो वह 'धर्म' नहीं कहा जा सकता ।।८।।

आभासार्थ: यहां यह शंका होती है कि पुत्रादिक इच्छित फल भी पुरुषार्थरूप है तो इस फलकी सिद्धि करानेवाले यज्ञादि धर्म, धर्म क्यों नहीं कहे जा सकते ? इसके समाधानमें कथन है कि:

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।९।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ: मोक्षपर्यन्त फलकी प्राप्ति करानेवाले धर्मका फल अर्थ नहीं है, किन्तु मोक्ष है. धर्माचरणरूप फलकी सिद्धि देनेवाले अर्थसे कामोपभोग लाभ नहीं होता अर्थका फल धर्म है, काम नहीं. कामका लाभ इन्द्रियोंकी प्रीति नहीं है किन्तु जितने काम द्वारा जीवन निर्वाह हो सके उतने कामकी प्राप्ति करना ही कामका फल है. इसी तरह जीवनका लाभ भी कर्मों द्वारा अन्य पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेकेलिये नहीं है किन्तु तत्त्वजिज्ञासा है (तत्त्व जाननेकी इच्छाको बनाये रखने का है) ।।९-१०।।

सुबोधिनी: कोशमें अर्थ शब्दके पांच अर्थ हैं वाच्य (अभिधेय) धन, पुत्र पशु, पुत्र आदि (रैः), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति. यहां श्लोकमें शब्दका प्रकरण होनेसे, अभिधेय अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ नहीं लिया जा सकता. 'मशकार्थो धूमः'की भांति 'अर्थ' शब्दके पूर्व उपपद नहीं होनेसे निवृत्ति अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता. अब, धन पुत्र पशु आदि(रैः) तथा प्रयोजन ये दो अर्थ शेष रहते हैं इनमें (रैः)धन पुत्र पशु आदि धर्मके फल नहीं हो सकते क्योंकि जो विधि विहित हो उसको ही धर्म कहते हैं. धन, पुत्र, पशु आदिकी प्राप्तिकेलिये किया गया धर्म लौकिक है वह विधिसे सम्बन्धित नहीं है, अतः धनादि, धर्मका कार्य नहीं है. यदि लौकिकमें भी विधिका स्पर्श माना जाये तो 'औषधका सेवन करना चाहिये' 'भेषजं पिबेत्' दान लेना चाहिये 'प्रतिग्रहं गृह्णीयात्' आदि क्रियायें भी धर्म कहलायेंगी. यदि यह कहो कि इस प्रकारकी क्रियाओंमें अपूर्व उत्पन्न होता है तो फिर उनमें धर्मत्व क्यों न माना जाये. इसका उत्तर यह है कि भेषज-पानसे आरोग्य प्रतिग्रह आदिसे धनादिरूप प्रत्यक्ष दृष्ट फल मिलता है अतः यहां अदृष्ट अपूर्वकी कल्पना करना ही व्यर्थ है. यदि यह कहा जाये कि यज्ञादिसे कुछ कालके अनन्तर धन, पशु, पुत्रादि रूप फल मिलते हैं अतः वहां मध्यमें 'जब तक

धनादिरूप फल नहीं मिलता तब तक' अपूर्व अदृष्ट ही चाहिये तो फिर धन पुत्रादि देनेवाली क्रियाओंको धर्म परु न माननेमें क्या आपत्ति है?

यहां इस शंकाकी निवृत्तिकेलिये कहते हैं कि ये धन पुत्रादि अर्थ नहीं, वस्तुतः अनर्थ हैं क्योंकि इनमें आसक्त पुरुष अपना स्वयंका विनाश कर देता है. धर्म, अर्थका कारण कहा गया है अनर्थका नहीं अतः धन पुत्रादि प्राप्त करानेवाली क्रियाओंमें धर्मरूपता नहीं है और जिस प्रकार अन्यके मारणार्थ किये गये श्येनादि यज्ञ धर्मरूप नहीं हैं, उसी प्रकार धनादि अर्थके साधक कर्म, धर्म नहीं हैं और इसी तरह जो धर्म है वह धनादिके साधक नहीं हैं.

अब यदि 'अर्थ' शब्दका वस्तु अर्थ लें तो वह भी उचित नहीं. धर्म, परमार्थरूप, परम वस्तुरूप है, केवल वस्तुरूप नहीं. इसीलिये धन, पुत्र, पशु आदि वस्तुयें कभी परमार्थरूप नहीं हैं. 'अर्थ' शब्दका प्रयोजन अर्थ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता धर्मका प्रयोजन भगवान्से सम्बन्ध करानेका है जिससे भगवान्का सम्बन्ध हो वही प्रयोजन कहलाता है. 'प्रकर्षेण न युज्यते अनेन' यहां तो धनादि लौकिक प्रयोजन है, धर्मका प्रयोजन लौकिक उपलब्धि नहीं है.

यहां शंका होती है कि यदि यह सब कुछ ऐसा ही मान लिया जाये तो 'काम्येष्टि' पशुकाण्ड भी धर्म परक नहीं माना जायेगा. सम्पूर्ण वेद धर्मका मूल है "**वेदो अखिलो धर्ममूलम्**" इस कथनसे विरोध आयेगा. इसका समाधान यह है कि कहीं कहीं कर्मको धर्मरूप कहा है किन्तु यह गौणधर्म रूप ही है. लौकिक फलकी आसक्तिसे किये गये काम्य-कर्म, श्येनादि यज्ञकी तरह अनर्थ रूप होनेसे धर्मरूप नहीं हो सकते यही यागादि यदि बहिर्मुखको वैदिक क्रियाओंके सम्मुख करनेकेलिये किये जाते हों तो गौणधर्म रूप कहलाते हैं. धनादिके लिये आचरित क्रियायें लोकसंग्रह रूप होनेके कारण गौण धर्मरूप भी नहीं है. अतः धनादि लौकिक फल, धर्मकी उपलब्धि नहीं. धर्म, अर्थका साधक नहीं है. यदि धर्म द्रव्यादिकेलिये होता तो द्रव्यादिरूप पुरुषार्थसे निवृत्त तथा धर्मपरायण मुमुक्षु पुरुषका धर्म भी अर्थकेलिये ही होना चाहिये लेकिन ऐसा नहीं है. क्योंकि धनादिमें उनकी आसक्ति ही नहीं. मोक्षसम्बन्धी अथवा मोक्षपर्यन्त किये जानेवाले धर्मका फल अर्थ क्योंकर हो सकता है?

यहां यह शंका होती है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें पूर्वका पुरुषार्थ, उसके पीछेवाले पुरुषार्थका साधनरूप है तदनुसार धर्मसे अर्थ

सिद्ध होता है अर्थसे काम, और कामसे मोक्ष सिद्ध होता है. ''**धर्माद् अर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते**'' तथा ''**कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोः**'' इत्यादि उदाहरणोंसे भी यही प्रतिपादित किया गया है. काम, मोक्षका साधन है यथा ''**प्रजापतिरमृतम् आनन्द इत्युपस्थः**''. तो फिर, धर्मको अर्थका साधन माननेमें क्या आपत्ति है? इसका समाधान यह है कि 'नार्थस्य' अदृष्टसे दृष्ट बलवान है द्रव्यादि अर्थ द्वारा, होम दानादि रूप धर्म होते हैं और वह दिखाई देते हैं प्रत्यक्ष हैं, किन्तु धर्मसे जो अर्थ प्राप्ति होती है वह दिखाई नहीं देती, अदृष्ट है. धर्मसे धनादिकी उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी. इसीलिये अर्थका एक मात्र अन्तिम कार्य धर्म ही माना गया है. अर्थसे ही धर्म सिद्ध होता है तदनुसार किसी भी उपायसे अर्थकी प्राप्ति करके धर्म करना चाहिये किन्तु धर्मसे अर्थका सम्पादन नहीं करना चाहिये. ''**एष उ एव साधु कर्म कारयति**'' इस श्रुतिके अनुसार भगवान् जिसे उन्नत करना चाहते हैं उससे ही अच्छे धर्मरूप कर्म कराते हैं. इससे इतना सिद्ध है, भगवान्ही सब कार्योंमें प्रवृत्ति कराते हैं. अपूर्व द्वारा धर्म, अर्थका साधक है इस कथनका दृष्टसे विरोध होनेके कारण जैसे मीमांसक धर्मको अर्थका हेतु नहीं मानते, वैसे मुमुक्षुओंके लिये भी यह पक्ष अनादरणीय है, अर्थात् धर्मसे अर्थका सम्पादन मुमुक्षुओंको अभीष्ट नहीं है.

यदि अर्थसे ही धर्म सम्पादन होता है तो फिर यही क्यों न कहा जाये कि अर्थसे ही काम और मोक्ष भी सिद्ध होते हैं? यह कथन उचित नहीं है. अर्थसे काम सिद्ध नहीं किया जा सकता 'कामो लाभाय' विषय सुखका नाम काम है यह विषय सुख, इन्द्रियों और विषयके अधीन है. विषय सुख तभी मिल सकता है जब इन्द्रियां सशक्त हों और विषय उपस्थित हो. केवल अर्थसे विषय सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता. अतः यह कथन कि अर्थसे ही कामकी सिद्धि मिलती है, प्रत्यक्षसे विरुद्ध है.

इस कथनमें यह शंका होती है कि यद्यपि विषय सुख, इन्द्रियोंके ओर विषयके अधीन अवश्य है तथापि यहां, इन्द्रियांशमें भले ही अर्थका द्रव्यादिका उपयोग न हो किन्तु पुष्पमाला तथा चन्दनादि रूप विषयांशमें तो अर्थका उपयोग होगा ही.

इसका उत्तर यह है कि विषयसे यहां रूपादिका ग्रहण होता है, माला, चन्दनादिका नहीं. शंका यह कथन उचित है, भले ही अर्थको, कामका साक्षात्

कारण न माना जाये. किन्तु माला चन्दन वसनादिसे रूपादिके उत्कर्षका सम्पादन तो होता है अतः रूपके उत्कर्षका सम्पादक होनेसे अर्थको, काममें परम्परा रूप कारण क्यों न माना जाये?

समाधान इसका उत्तर यह है कि रूपादिका सम्पादन करनेवाला अर्थ नहीं है क्योंकि रूपादि तो स्वतः सिद्ध हैं. यहां यह विचार होता है कि अर्थ मनुष्यमें (अपनेमें) रहे हुए रूपादिके सम्पादनसे कामजनक है अथवा माला, चन्दनादिमें रहे हुए जो रूपादि हैं उनके सम्पादनसे कामजनक है? माला चन्दनादिमें अथवा अपनेमें रहे हुए रूपादिके सम्पादनसे यदि अर्थको कामजनक मानेगें तो प्रत्यक्षसे विरोध आयेगा क्योंकि पुष्प, चन्दन, वनितादिमें रहा हुआ जो गुण है, उसका उत्कर्ष साधक अर्थ नहीं देखा गया. यदि अन्यमें रहे हुए रूपादिके सम्पादनसे अर्थको कामजनक मानते हैं तो वहां यह विचार करना होगा कि क्या भोक्तामें रहनेवाले रूपादिका वह सम्पादक है अथवा भोग्यमें रहनेवाले रूपादिका? यदि अर्थको, भोक्ताके रूपादिका सम्पादन मानें तो वह उचित नहीं, क्योंकि अर्थके प्राप्त होने पर भी रूपादि नहीं रहते. अर्थ प्राप्ति होते हुए युद्ध आदिमें बाण आदिके लगनेसे रूपादि चले जाते हैं. प्रतिग्रह लेनेसे अर्थ प्राप्ति होने पर भी रूपादि नष्ट हो जाते हैं. यहां अर्थ प्राप्ति, रूपादि विषयकी विनाशिका होनेके कारण, कामका नाश करनेवाली मानी जायेगी. यदि यह मानें कि भोग्यनिष्ठ रूपादि सम्पादनमें अर्थकी आवश्यकता है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अपना अर्थ भोग्यके अधीन होनेसे रूपादिकी प्राप्ति होती है. इसका तात्पर्य यह है कि अर्थनाशके द्वारा विषय ही कामजनक होता है. अर्थके नाश होने पर काम मिलता है. वहां अर्थ विषयमें उत्कर्ष उत्पन्न करके कामजनक नहीं होता. इसलिये वैपरीत्य हुआ अर्थात् कभी एक जगह काम नाश है, कभी एक जगह अर्थनाश है.

यहां शंका होती है कि अपने अर्थके भोग्याधीन होने पर भी अर्थके द्वारा भोग्य स्त्री आदि रूप जो अर्थ हैं उसको स्वाधीन करनेसे स्त्री आदिसे उत्कृष्ट विषय सुखकी सिद्धि मिलती है. अर्थ, अतः, कामजनक होता ही है. अर्थात् स्त्रीरूप अर्थमें कामजनकता है, इससे अर्थ, कामजनक ही कहा जायेगा.

इसके समाधानमें कथन है कि यदि स्त्री आदि रूप अर्थका साधक होनेसे, धनको कामजनक माना जाये तो स्त्रीको पुत्ररूप अर्थ प्राप्त होने पर

स्त्रीरूपका नाश होते देखा गया है. इसलिये वहां विषय नाश होनेसे कामका नाश भी हो जाता है. ऐसी स्थितिमें वहां अर्थसे, धनसे काम सिद्धि न होकर कामका नाश ही समझा जायेगा. इस तरह अर्थ, कामका नाशक है, उसका साधन नहीं. इस वस्तु व्यत्याससे, अर्थसे अर्थकी ही प्राप्ति हुई, कामकी नहीं.

यहां शंका होती है कि जिसकी इच्छाकी जाती है वह विषय ही अर्थरूप है 'अर्थयते अभीप्स्यते' इति अर्थः अर्थात् स्त्री आदि विषय ही यहां अर्थरूप हैं और वह कामके साधक हैं. इसका उत्तर यह है कि अर्थका यह यौगिक अर्थ है रूढार्थ नहीं. योगसे रूढि बलवती है. इसलिये अर्थ शब्द स्त्री आदि विषयमें प्रसिद्ध नहीं है. द्रव्यको ही अर्थ कहते हैं. यदि अर्थको अर्थात् द्रव्यको 'परंपरया कामजनक' मानेगें तो फिर इसे धर्मजनक भी मानना होगा. ऐसी स्थितिमें अर्थके साधक कर, दण्ड, चोरी आदि सब धर्मजनक कहे जाने लगेगें. तात्पर्य यह है कि परंपरासे जिस तरह अर्थ, कामका साधक है, उसी तरह परंपरासे कर, दण्ड, चोरी आदि भी अर्थ सम्पादक होनेके कारण धर्मके साधक माने जायेगें. यह सब कथन असंगत है. लोकमें कहीं कहीं अर्थ और काममें साहचर्य देखा गया है इसलिये अर्थमें काम साधनता है. ऐसी प्रतीति होती है वस्तुतः अर्थ, कदापि कामका साधक नहीं है. यदि अर्थ ही कामका साधक होता तो अर्थवाले अतिकृपणमें भी कामकी प्राप्ति मानी जायेगी किन्तु अर्थ होते हुए भी कृपण उससे वंचित ही रहता है और जिनके पास अर्थ नहीं है ऐसे पशु आदिमें काम प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है. अतः यह कथन कि अर्थ कामका साधन है असंगत है. सन्यासीको, आत्मज्ञानीको, आत्मकाम, आप्तकाम कहा गया है, इसलिये भी यह मानना अनुचित है कि जहां अर्थ है वहां काम है. कृपणके पास अर्थ है किन्तु कामोपलब्धि नहीं है. आत्मज्ञानीके पास अर्थ नहीं है फिर भी आप्तकाम है. कृपणमें अन्वय-व्यभिचार है, ज्ञानीमें व्यतिरेक-व्यभिचार है.

कहीं कहीं अर्थ और कामका साहचर्य देखा गया है. तदनुसार इनमें परस्पर साध्य-साधनभावकी प्रतीति होती है. इसका संकेत श्लोकके 'हि' पदसे किया गया है.

अब यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे, अर्थको कामका साधन मान भी लिया तो भी यह विचार कर लेना चाहिये कि वह काम कितना और कैसा है? यदि 'काम' पदसे जीवननिर्वाह ही ग्रहण किया जाय तो ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त वह

स्वतः सिद्ध है. वहां अर्थकी कोई आवश्यकता नहीं. यदि कामको इन्द्रियप्रीति रूप मानें तो अग्निरूप होनेके कारण ''**न जातु कामः कामानाम्**'' इस वचनके अनुसार, जैसे घृतसे अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी तरह कामसे इन्द्रियोंकी तृप्ति कदापि सम्भव नहीं, अनुभवसे भी यही सिद्ध है. कामकी शान्तिके लिये काममें प्रवृत्त होने वाले भ्रान्त हैं. यदि विषयों को, इन्द्रियप्रीतिका कारण मानते हैं तो उसकी पूर्ति कभी नहीं होगी. विषयभोग (काम) इन्द्रियप्रीतिका हेतु नहीं होता.

यहां जो 'लाभ' पद है वह देहली–दीपक–न्यायसे श्लोकके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनोंसे अन्वित है. इसलिये चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेका क्रम यहां साधन–परंपराके अनुसार इस तरह है अर्थात् कामरूप विषयोंसे (अन्नादि पदार्थोंके सेवनसे) अर्थरूप जीवन सिद्ध होता है. जीवन रहने पर धर्म और ज्ञान होते हैं और इससे मोक्षकी प्राप्ति होती है, तदनुसार काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इस तरह पुरुषार्थका क्रम जानना चाहिये. इसी अभिप्रायसे 'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा' यह कहा गया है. जीवसे यहां जीवन समझना चाहिये. 'जीवनं जीवः'. अर्थात् जीवन तत्त्व जिज्ञासाका साधन है, जीवनका लाभ है 'तत्त्वविचार'. 'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा लाभः' 'लाभ' पद तत्त्वजिज्ञासासे अन्वित है. लौकिक कर्मोंसे साध्य जो काम और अर्थ है वह जीवनका लाभ नहीं है. धर्म केवल कर्मसे साध्य नहीं है, किन्तु श्रुतिबोधिक कर्मसे साध्य है. अथवा दैवगतिसे प्राप्त किया गया अर्थ भी जीवनके लाभके लिये नहीं है. इसका निर्देश यहां 'च'कारसे किया गया है ।।९–१०।।

आभासार्थः यहां सन्देह होता है कि तत्त्वजिज्ञासा इसमें तत्त्वसे बहुतसे तत्त्वोंकी जिज्ञासा समझना चाहिये अथवा केवल एक तत्त्वकी जिज्ञासा समझना चाहिये? 'तत्त्व' पदमें भी 'तस्य भावः तत्त्वम्' उसका भाव यह अर्थ लेना चाहिये. अथवा अनारोपित रूप. यहां यह सन्देह है. यदि यहां उसका भाव, यह अर्थ लेते हैं तो उसका भाव जैसी कोई वस्तु नहीं है. इस प्रकारका कोई तत्त्व नहीं है. यदि 'तेषां भावः' अनेकोंका स्वरूपभूत तत्त्व ऐसा समुदाय पक्ष मानें तो वह सभी अभ्रान्त पुरुषोंके ज्ञानका विषय हो जानेके कारण 'समग्र वस्तुएं ही तत्त्व' कही जाने लगेंगी. अब यदि तत्त्वजिज्ञासामें 'तत्त्वानां जिज्ञासा' इस विग्रहके अनुसार सांख्य शास्त्र द्वारा परिकल्पित तत्त्वोंका ग्रहण करें तो फिर उनमेंसे एक तत्त्वकी जिज्ञासाका भी विचार करना कठिन है. फिर अन्य तत्त्वोंकी जिज्ञासाका तो प्रश्न ही कहां? 'तत्त्वस्य जिज्ञासा' यदि ऐसा अर्थ करें तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि सभी शास्त्रोंका

एक ही समानतत्त्व नहीं है. शास्त्रोंका उसमें परस्पर विरोध है. इसलिये यहां 'तत्त्वजिज्ञासा'से क्या समझना चाहिये ? इस संदेहका उत्तर देते हैं.

वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानम् अद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते ।।११।।

श्लोकार्थ: ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इस तरह शब्दके भेदसे, पृथक्-पृथक् नामोंसे व्यवहृत जो एक ही ज्ञान है उसीको तत्त्वको जाननेवाले तत्त्व कहते हैं ।।११।।

सुबोधिनी: यद्यपि सभी अपने शास्त्रमें 'तत्त्ववेत्ता' नामसे प्रसिद्ध हैं तथापि प्रमाण बलके विचारसे सभीकेलिये एक मात्र योग्य आश्रय 'वेद' ही है तदनुसार वेदके अर्थको जाननेवाले ही तत्त्वके ज्ञाता हैं, यही स्वीकार करना चाहिये. तदनुसार यह कथन कि जो ऋषिलोग हैं उनमेंसे प्रत्येक ऋषि होनेके कारण वेदार्थका ज्ञाता माना जायेगा, यद्यपि यह सत्य है, तथापि परस्पर विरोध होनेके कारण इनमेंसे कतिपय ऋषिलोग ही वेदार्थके ज्ञाता हैं, सभी नहीं. इन ऋषियोंमेंसे वही तत्त्वके ज्ञाता कहे जायेंगे जो वेदकी श्रुतिओंका आदिसे अन्त तक ऐसा अर्थ करें कि उनसे अविरुद्ध हो. यहां यह नहीं मान लेना चाहिये कि इस प्रकारसे अर्थको जाननेवाला है ही नहीं, क्योंकि वेदरूप प्रमाणके विद्यमान होनेसे उसके जानकार भी होने ही चाहिये, और वे हैं ऋषि. उनका यह कथन है कि द्वैतनिवर्तक जो ज्ञान है वही तत्त्व है और तत्त्व-ज्ञान ही मोक्ष है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है. वेदोक्त इसी अद्वैत-तत्त्वको श्रुति-स्मृति तथा पुराणोंमें क्रमशः ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् शब्दसे कहा है ये शब्द भिन्न भिन्न होते हुए भी एक ही हैं ।।११।।

आभासार्थ: इस प्रकार तत्त्वपर्यन्त पदार्थोंका स्वरूप एवं क्रम बताकर सम्प्रति उससे क्या सिद्ध हुआ ? वह कहते हैं:

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया ।।१२।।

श्लोकार्थ: उस ब्रह्मतत्त्वमें श्रद्धावाले मुनिगण, ज्ञान-वैराग्य युक्त श्रवणसे उत्पन्न होनेवाली भक्ति द्वारा अपनी आत्मामें भगवान्से साक्षात्कार करते हैं ।।१२।।

सुबोधिनी: 'तच्छ्रद्दधाना'में 'तत्'का अर्थ उस कारणसे अथवा ब्रह्म लिया गया है वहां इस तरहके क्रमका निर्देश किया गया है कि जीवनका फल

तत्त्वजिज्ञासा है उस फलका पर्यवसान भगवत् साक्षात्कारमें होता है अर्थात् जीवनका भगवत्साक्षात्कार अंतिम फल है. यद्यपि विचार-पूर्वक प्रमाणसे शब्दके अर्थका निःसंदिग्ध ज्ञान हो जाता है तथापि अन्तःकरणके दोषसे भगवत् साक्षात्कार सिद्ध नहीं होता इसकेलिये प्रथम धर्माचरण करना चाहिये इससे अन्तःकरणके शुद्ध होने पर सत्प्रमाणरूप वेदादिमें श्रद्धा होती है तदनन्तर वेदके अर्थका मनन करना चाहिये तत्पश्चात् निदिध्यासन द्वारा (हृदयमें मननको स्थिर रखनेसे) साक्षात्कार जैसा ज्ञान होता है. फिर विषयोंमें वैराग्य होता है, तदनन्तर श्रवणादि साधनरूप भक्ति होती है. इसके पश्चात् परम-भक्तिका उदय होता है. तत्पश्चात् हृदयमें तथा बाहर भी सर्वत्र भगवत्साक्षात्कार होता है. यहां 'आत्मानम्' पदसे 'आत्मरूप भगवान् समझना चाहिये यहां उपर्युक्त क्रमानुसार जब तक साधन रहते हैं तब तक प्रभुका साक्षात्कार होता है श्लोकके 'ज्ञान' वैराग्य-युक्तया' में ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्ति कही गई है. अतः यहां ज्ञान-वैराग्य अप्रधान हैं और भक्ति मुख्य है. भक्तिकी स्थितिमें हेतुका निर्देश करते हैं कि 'श्रुतिगृहीतया' जैसे जैसे भगवद्गुणका श्रवण किया जायेगा वैसे वैसे भक्तिका उदय होता जायेगा. तदनन्तर सब कुछ सम्पन्न हो जाता है ।।१२।।

आभासार्थः इस तरह दूसरे प्रकारसे ज्ञान कहा. यहां इस ज्ञानसे, धर्मका जो सम्बन्ध है, उसका निरूपण करते हैं.

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ।।१३।।

श्लोकार्थः इसलिये है ब्राह्मणोंमे श्रेष्ठ शौनकादि वर्णाश्रम विभागके अनुसार मनुष्यों द्वारा अच्छी तरह आचरित जो धर्म है उसकी उत्तम सिद्धि है भगवान्का प्रसन्न होना ।।१३।।

सुबोधिनीः प्रथम प्रकारके ज्ञानमें सामान्य धर्मकी साधनताका निरूपण किया गया. अब दूसरे प्रकारके ज्ञानमें विशेष धर्मकी साधनताका विवेचन करते हैं. क्योंकि भगवत्कृपाके विना न तो अन्तःकरण शुद्ध होता है और न रुचि ही उत्पन्न होती है इसलिये धर्मका मुख्य फल है 'भगवत्प्रसाद'. इस प्रकारका धर्माचरण वही कर सकते हैं जिनका शरीर उपनिषदोक्त पञ्चाग्नि-विद्याके संस्कारसे सुसंस्कृत हो गया है अथवा? भगवान् जब धर्म-पोषणकी इच्छा करते हैं, तब भी ऐसा धर्माचरण होता है क्योंकि भगवद् इच्छा ही प्राणियोंको प्रेरित

करती है ''**ममैव कामो भूतानां**'' इस वाक्यसे भी यही कहा गया है. श्लोकमें 'पुम्भिः' मनुष्यों द्वारा अनुष्ठित धर्म इस कर्मणि प्रयोगसे यह सूचित किया गया है कि अनुष्ठानमें कर्म ही विकृत होता है, कर्ता नहीं. जैसे 'देवदत्तेन ओदनं पच्यते' यहां कर्मणि प्रयोगमें तन्दुल कर्मको ही क्रियाका, 'पच्यते'का, खिन्नता रूप फल प्राप्त होता है कर्ता रूप देवदत्तको नहीं. इसी तरह यहां उत्तम रूपसे अनुष्ठित किये गये धर्ममें ही उत्तमरूपताका फल होता है. धर्म ही उत्तम बनता है कर्ता उसकी प्रतिष्ठाका फल नहीं चाहता. इस तरह जब धर्म उत्तमतया अनुष्ठित होने पर उत्तमरूपतासे सम्पन्न होता है तब भगवत्कृपा प्रसाद होता है. यदि इस प्रकारसे धर्मका अनुष्ठान नहीं करके किसी कामनासे धर्म किया जाये तो वहां भगवत्प्रसाद न होकर, जो कर्ता चाहता है वही फल मिलता है. अर्थात् कामना रहित धर्मानुष्ठानसे धर्म ही अच्छा उत्तम बनता है. वहां कर्ताको लौकिक फल नहीं मिलता. इस तरह धर्माचरणसे कर्ताको भगवत्प्रसादरूप फल अवश्य प्राप्त होता है. यदि इस प्रकारसे कामना रहित धर्माचरण न किया जाये तो कर्मसे ही काम्य फल मिलता है भगवत्प्रसाद नहीं. 'द्विजश्रेष्ठाः' यहां 'श्रेष्ठ' पदसे यह सूचित किया गया है कि आप द्विजोंमें श्रेष्ठ हैं क्योंकि आपके तीन जन्म हुए हैं, प्रथम ब्राह्मणसे फिर यज्ञोपवीत संस्कारसे और फिर ज्ञानसहित भक्तिसे इस तरह त्रिप्रकारसे संस्कृत होनेके कारण आप त्रिजन्मा हैं. इसलिये आप द्वारा समाचरित कर्मसे भगवान् प्रसन्न रहेंगे. शम, दम, तप, शौच आदि वर्ण धर्म हैं अथवा कालयज्ञ (अग्निहोत्रादि) द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ आदि गीतामें कहे गये भी वर्ण धर्म हैं. गुरु सेवा आदि आश्रम धर्म हैं. यहां श्लोकोक्त 'वर्णाश्रमविभागशः'में जो 'शस्' प्रत्यय है उसका मंगल अर्थ है. इसके द्वारा अन्य धर्मका परधर्मका निवारण किया गया है सप्तम-स्कन्धोक्त विधर्म परधर्म आभास, उपमा तथा छल अधर्मकी इन पांच शाखाओंके दोषका निवारण किया गया है. अर्थात् स्वधर्मका पालन करें, परधर्मका नहीं. क्योंकि स्वधर्म ही मंगल कारक है ''**परधर्मो भयावहः विधर्मः परधर्मश्च**'' परधर्म विधर्म है, अमंगलकर है अतः उसका पालन नहीं करना चाहिये. 'स्वनुष्ठितस्य' काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र, देश तथा कर्म इन छहोंकी परिशुद्धि पूर्वक समझकर अनुष्ठान करना चाहिये तभी यह सम्यक् अनुष्ठान कहलायेगा. इस तरहसे अनुष्ठित ही धर्म कहलाता है अन्यथा अधर्म होता है. ऐसे धर्मकी संसिद्धि सम्यक् फल भगवद् परितोष है. ''धर्मो विश्वस्य जगतः

प्रतिष्ठा'' धर्मसे ही सम्पूर्ण जगत्की स्थिति है. इस श्रुतिके अनुसार यद्यपि धर्मके बहुतसे फल हैं तथापि यदि भगवान् उससे परितुष्ट होते हों तभी वह धर्म फल कहा जायेगा नहीं तो वह धर्म व्यर्थ है क्योंकि धर्म आदिका सब फल आत्माकेलिये है और सबकी आत्मा भगवान् हैं. तदनुसार ''**येषां न तुष्टो भगवान्**'' जिससे भगवान् प्रसन्न नहीं हुए उसका सब व्यर्थ है. अर्थात् जो आत्मरूप भगवान्को प्रसन्न करनेकेलिये धर्माचरण नहीं करता वह कृतघ्न है और कृतघ्न द्वारा आचरित धर्मका फल कुछ नहीं होता. यहां 'ह्यात्मतोषणं'में 'हि' अव्यय इसी आशयका निर्देश करता है ।।१३।।

आभासार्थ: यहां यह संदेह होता है कि बहुतसे लोग वर्णाश्रम विभागके अनुसार धर्माचरण करते हैं परन्तु उनमें गीता, भागवत आदि भगवद्-शास्त्रोक्त भक्ति नहीं देखी जाती. इससे ज्ञात होता है कि भगवान् उनसे सन्तुष्ट नहीं हुए. यदि भगवान् प्रसन्न होते तो भक्ति भी अवश्य होती अतः धर्माचरण करते हुए भी जब भक्तिरूप फल नहीं दिखाई देता तो फिर उनकी वर्णाश्रम धर्ममें निःसंदिग्ध प्रवृत्ति क्योंकर हो सकती है? इस संदेहके निराकरणार्थ यहां जिन धर्मोंके करनेसे भक्ति अवश्य होती है उन धर्मोंको विशेष रूपसे करना चाहिये, इसीके विवेचनार्थ कहते हैं:

तस्माद् एकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।१४।।

श्लोकार्थ: इसलिये एकाग्र मनसे व्यग्रता-रहित मनसे, भक्तोंके पति भगवान्का नित्य श्रवण, कीर्तन, ध्यान तथा पूजन करना चाहिये ।।१४।।

सुबोधिनी: वर्णाश्रम विभागके अनुसार धर्म करने पर भक्ति उत्पन्न होती है. ऐसा कोई नियम नहीं है इसलिये जिनसे भगवत्प्रसाद तथा भगवद्-भक्ति निःसंदेह प्राप्त होती है, ऐसे श्रवण, कीर्तनादि धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये. यदि यह कहा जाये कि विधि-विहित नहीं होनेसे श्रवणादि धर्म नहीं हैं तो यह उचित नहीं है. क्योंकि 'शृणुयात् श्रावयेत्' इत्यादि वाक्योंसे श्रवण-कीर्तन आदि भी विधि-बोधित होनेके कारण धर्म हैं.

'एकेन मनसा' व्यग्रता रहित मनसे यदि श्रवणादि किये जायें तो भक्ति अवश्य उत्पन्न होती है. वहां फलका कभी व्यभिचार नहीं होता. यही बात अग्रिम प्रसंगमें कहेंगे. अथवा 'एकेन' द्वारा श्रवणादिके अतिरिक्त अन्य धर्मके परित्याग

का निर्देश किया गया है. यहां श्रवण, जीवका नहीं, अपितु साक्षात् ब्रह्मका करना चाहिये, इसलिये 'भगवान्' शब्दका यहां प्रयोग किया गया है. वैष्णव-शास्त्रके अनुसार भी यही सूचित होता है और इसीलिये श्लोकमें 'सात्वतां पतिः'का प्रयोग किया गया है. 'सात्वतां पतिः' शुद्ध सत्त्वमें आविर्भूत होनेवाले भगवान्को सात्व कहते हैं. ऐसे भगवान् जिसमें स्थित हों उसको उस भक्तको सात्वत कहते हैं. यद्यपि यहां व्याकरणके नियमानुसार 'मतुप' प्रत्ययसे शुद्ध प्रयोग 'सात्ववत्' बनता है तथा इसकी षष्ठी सात्ववतः बहुवचनमें सात्ववतोः होती है परन्तु "**बहुलं छन्दसि**"(पाणि.सू.)के अनुसार यहां 'व'का लोप, भक्तोंकी अलौकिकताके निर्देशार्थ किया गया है. जिस प्रकार यह छान्दस प्रयोग व्याकरणके नियमोंसे ऊपर है उसी प्रकार भक्तगण भी लौकिकसे अतीत अलौकिक हैं. वस्तुतः यहां 'सात्वतां'का अर्थ वही है जो 'सात्ववतां'का है. दोनों पदोंका अर्थ एक ही है. भक्तोंके पति. जो सर्वस्व देकर भी स्वकीयकी रक्षा उसका निर्वाह करता है वही पति है. पति परम आनन्दका प्रदाता है. इसी अर्थमें भगवान् भक्तोंके पति हैं. और यदि वे हमारे भी पति बन जायें तब किसी भी प्रकारकी चिन्ताको अवकाश ही कहां? अथवा अपने पतिके गुणोंका श्रवण अत्यन्त सुलभ होनेके कारण यहां 'पति' शब्दका प्रयोग किया है क्योंकि अपने पतिसे सम्बन्धित बातें सभी सुनते हैं और सुनाते भी हैं. यहां धर्मका प्रकरण चल रहा है अतः यह श्रवण-कीर्तन-ध्यान तथा सेवा आदि धर्मरूप हैं तथा द्वितीय-स्कंधमें "**तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्**" आदिसे कहे गये श्रवण-कीर्तनादि भक्तिरूप हैं.

भगवद्-वाचक पदों और वाक्यों द्वारा भगवान्में शक्ति-तात्पर्यके निर्णयको श्रवण कहते हैं. शक्ति-तात्पर्यके निर्णयको कहना कीर्तन कहलाता है. अथवा जाने हुए भगवद्-गुणोंका स्वतः उच्चारण करते रहना कीर्तन है. 'कीर्तितव्यश्च' यहां 'च'कारसे श्रवण तथा कीर्तन दोनोंका ग्रहण किया गया है दोनों ही करते रहना चाहिये. विना श्रवणके कीर्तन तथा विना कीर्तनके श्रवण नहीं हो सकता क्योंकि दोनों एक दूसरेके निर्वाहक पूरक हैं और इस विषयमें अग्रिम प्रसंग पर हम कहेंगे. श्रवण तथा कीर्तन बाह्य इन्द्रियोंसे किये जाते हैं ध्यान तथा पूजन आन्तर इन्द्रियोंसे साध्य है. भगवान्में चितको स्थिर करनेका नाम ध्यान है. अथवा भगवन्मूर्तिका अनुसन्धान भी ध्यान है. 'पूज्यश्च' में 'च'कारसे बाह्य तथा आभ्यन्तर मानसी भेदसे दो प्रकारकी पूजा ग्रहणकी गई है. 'नित्यदा'से यह

बताया है कि अन्य कोई प्रकारकी आसक्ति न रखकर अथवा अन्य किसी भी कार्यमें संलग्न न रहकर सदा ध्यान तथा पूजन करते रहना चाहिये ।।।१४।।

आभासार्थ: ऐसा होते हुए भी यदि रुचि ही न हो तो फिर श्रवण-कीर्तनादि कैसे होंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि:

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम्।।१५।।

श्लोकार्थ: उस भगवान्की कथामें कौन प्रीति नहीं करेगा, जिसके ध्यानसे, जिसके ध्यानरूपी असिसे, खड्गसे सज्ज निपुण पुरुष कर्म तथा कर्मग्रन्थिके बन्धनको काट डालते हैं ।।१५।।

सुबोधिनी: अलौकिक पदार्थोंमें उनके माहात्म्य-श्रवणसे ही, सर्वत्र रुचि उत्पन्न होती है. यद्यपि भगवत्-शास्त्र इतना प्रसिद्ध नहीं है तथापि योग आदि प्रसिद्ध होनेके कारण भगवद्-ध्यान प्रसिद्ध है. भक्तिके अंगभूत योगके महत्त्वको बतानेकेलिये, ध्यानको यहां असि खड्ग कहा है अर्थात् भगवान्का ध्यान ही खड्ग है. यहां यह नहीं मानना चाहिये कि भगवद्-ध्यानरूप तलवारसे भगवत्प्रसाद प्राप्त किया जाता है किन्तु इस ध्यानरूप खड्गसे सुसज्ज व्यक्ति कर्मको काट डालनेमें समर्थ होते हैं. जब तक कर्म है, तब तक जन्म-मरणका उच्छेदन नहीं किया जा सकता. जब तक कर्मोंका भोग नहीं किया जायेगा तब तक उनका क्षय नहीं होगा. अब कर्मोंको भोगकर यदि उनका क्षय करें तो उनका उपभोग करते हुए पुनः दूसरे कर्म एकत्रित हो जाते हैं अतः कर्मोंका उच्छेदन अत्यन्त कठिन है फिर भी ध्यानसे यह सम्भव है. भगवान्का ध्यान करनेसे कर्मोंका छेदन हो जाता है इसलिये यहां 'छिन्दन्ति' ऐसा कहा है.

यहां शंका होती है कि केवल कर्मोंके छेदनसे क्या होगा? जब जीवभाव विद्यमान है तब केवल कर्मोंके न रहनेसे क्या फल होगा? इसका उत्तर यह है कि 'ग्रन्थिनिबन्धनम्' भगवान्की अविद्या नामक शक्ति द्वारा चिद् अचित् ग्रन्थिका तथा मोहग्रन्थिका निरन्तर निर्माण सम्बन्ध करानेवाले ये कर्म ही हैं. प्रथमसे ही वासनारूपसे विद्यमान जो चिद्-अचिद् अथवा मोहग्रन्थि है उसको कर्मने ही दृढ किया है इसलिये कर्मोंके नाश होने पर जीवभाव भी अपने आप निवृत्त हो जाता है.

यहां यह शंकाकी जाती है कि 'घुणाक्षर' न्यायके अनुसार जिस तरह

कीट द्वारा कर्तित बांस पर कभी कभी अप्रत्याशित रूपसे अक्षर उभर आते हैं ऐसा कभी विरल अवस्थामें ही घटित होता है उसी तरह कदाचित किसी एक व्यक्तिका कर्म छेदन हो गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इसी प्रकारसे सभीके कर्मोंकी निवृत्ति हो जायेगी. इस शंकाके समाधानमें यह कथन है कि यहां 'घुणाक्षर' न्याय जो कादाचित्क है, लागू नहीं पडता यहां तो भगवद्–ध्यानसे सभी व्यक्तियोंकी कर्मग्रन्थि निवृत्त हो जाती है और इसीलिये यहां 'कोविदाः' इस बहुवचनान्त पदका प्रयोग किया गया है.

'कोविदाः' पदसे यह सूचित होता है कि यहां ध्यानमें निपुणता अपेक्षित है यदि ध्यानमें निपुणता न हो तो किसी फलकी कामनासे किये गये उस ध्यानका योग सुलभ किसी अणिमा महिमा जैसी सिद्धिमें विनियोग हो सकता है. तदनुसार योगसुलभ सिद्धियोंकी अपेक्षा न रखकर जो व्यक्ति ज्ञानसे अविद्याको ही निवृत्त करते हैं वही कोविद निपुण कहलाते हैं. यहां केवल ध्यानका अपने आपमें कोई माहात्म्य नहीं है, क्योंकि विषयोंका ध्यान नितांत बंधनकारक है. ध्यानका महत्त्व भगवद्माहात्म्यसे है अर्थात् भगवद्ध्यानमें ही ध्यानका माहात्म्य है, हर किसीके ध्यानमें नहीं जहां भगवद्ध्यानरूपधर्मसे ही कर्म बंधन विच्छिन्न हो जाते हैं. वहां भगवत्कथाओं द्वारा तो वही भगवान् हृदयमें निरन्तर निवास करते हैं. ध्यानसे भी उत्तम इस प्रकारकी कथामें कौन प्रीति नहीं करेगा? जो कथामें प्रीति नहीं रखते उनको कथाके माहात्म्यका जरा भी ज्ञान नहीं है।।१५।।

आभासार्थः इस तरह भगवत्तोष–पर्यंत भगवत्कथा–श्रवणादिरूप धर्म परंपरा द्वारा, द्वितीयप्रकारकी भक्तिका निरूपण किया गया. इस प्रकार मध्यमें ज्ञान और भक्तिका विवेचन करके संप्रति ''शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य'' इत्यादिसे अग्रिम सात श्लोकोंमें उत्तम ज्ञान और भक्तिका निरूपण करते हैं:

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्याद् महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ।।१६।।

श्लोकार्थः हे विप्रो! पवित्र तीर्थोंका सेवन करनेसे, तथा भक्तोंकी परिचर्यापूर्वक उनमें तथा उनके धर्मोंमें श्रद्धा रखनेवाले श्रवणेच्छुकोंको वासुदेवकी कथामें प्रीति रुचि होती है ।।१६।।

सुबोधिनीः इस श्लोकमें उन फलोन्मुख साधनोंका निरूपण है जिनमें फलाभावकी शंका ही नहीं जिनसे निश्चय फल सिद्धि होती है. भक्तिमें वैराग्य ही

कारण है जिसका क्रम इस प्रकार है प्रथम घरके त्यागपूर्वक तीर्थाटन करना अन्यथा अर्थात् ऐसा न करनेसे महापुरुषोंकी सेवामें उद्वेग संभव है. फिर महापुरुषोंकी संगति होती है, तदनन्तर उनकी सेवा करनेका तथा उनसे भगवत्कथा श्रवणका सहज अवसर मिलता है. फिर कथामें रुचि उत्पन्न होती है, फिर कथामें तथा उन भगवदीयोंमें श्रद्धाका उदय होता है. इस तरह भक्तिके स्वरूपमें उपकारक ऐसे धर्माचरणसे अव्यभिचारिणी अनन्य केवल भगवत्कथाकी ही श्रवणेच्छा जन्म लेती है. इस तरह वैराग्य, महत्संग, सेवा, भगवत्कथा श्रवण आदि पूर्व पूर्वमें आचरित साधनोंके दृढ होनेसे आगे आगेके उत्तरोत्तर साधन भी स्थिर होते जाते हैं. उनकी निवृत्ति कभी संभव नहीं है. अर्थात् इस प्रकारके अधिकारकी प्राप्ति दुर्लभ है. यहां 'वासुदेव' पदसे यह कहा गया है कि चित्तके शुद्ध सत्वसे युक्त होते ही उसमें भगवान्का आविर्भाव होता है तथा इस तरह आविर्भूत भगवान्की कथाके श्रवणसे तत्काल चित्तमें प्रसन्नताका उदय होता है. श्लोकस्थ 'महत्सेवया'में 'महत्' पदसे भगवदाश्रित भक्तोंका ग्रहण किया गया है और ऐसे भगवदीयोंके आश्रयसे अथवा उनकी परिचर्या करनेसे, किरात, हूण, अन्त्यज आदिका भी अंगीकार हो जाता है.

'पुण्यतीर्थनिषेवणात्' यहां 'पुण्यतीर्थ' पदसे पुण्यरूप जो तीर्थ है, उनका ग्रहण किया है, जैसे कुरुक्षेत्र, गंगा आदि. इनके जलका देवताकी तरह सेवन करनेसे अथवा कभी भी उनकी अवहेलना न करनेसे, भगवत्कथामें रुचि उत्पन्न होती है ।।१६।।

आभासार्थ: इसके अनन्तर क्या होता है? उसको कहते हैं :

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ।।१७।।

श्लोकार्थ: जिनके श्रवण और कीर्तन पुण्यरूप हैं तथा जो सत्पुरुषोंके मित्र हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कथाका श्रवण करनेवालोंके हृदयमें रहते हुए उनके (भक्तोंके) पापोंको विदीर्ण कर देते हैं ।।१७।।

सुबोधिनी: अनुवाद इस प्रकारके साधनोंसे भगवत्कथा श्रवण करनेकी इच्छाके एक बार उत्पन्न हो जाने पर वह कभी निवृत्त नहीं होती और इसीका निर्देश करनेकेलिये 'शृण्वतां'में वर्तमानकालके सूचक 'शत्' प्रत्ययका प्रयोग किया गया है क्योंकि यह श्रवणक्रिया निरतंर वर्तमान ही रहती है. स्वकथाका

अर्थ है, भगवत्स्वरूपात्मक कथा स्वरूपभूत कथा. स्वकथाका अर्थ 'भगवान्‌की कथा' करें तो यहां भगवान्‌की स्वतंत्रता होनेसे वे श्रोताके हृदयमें प्रवेश करें या न भी करें, ऐसी अनिश्चिततासे फलकी संभावना नहीं रहती, फल मिले भी, न भी मिले, अनिष्टकी निवृत्तिमें संशय ही बना रहेगा. तदुपरांत भगवान्‌की कथा इस अर्थसे यह भी सूचित होता है कि कथाका स्वयंमें कोई महत्व नहीं. भगवान्‌से सम्बन्धित होनेके कारण उसका महत्व है. अतः स्वकथाका अर्थ है स्वरूपभूत कथा. यहां कथाका अपना स्वतंत्र माहात्म्य होनेसे भगवान् उस कथाके अधीन रहते हुए सबके अभद्रोंका नाश कर देते हैं. इससे यह स्पष्ट होता है कि कथामें और भगवान्‌में कोई भेद नहीं दोनों एक ही हैं.

भगवान्‌को वशमें करनेवाली इस प्रकारकी कथाओंका बाहुल्य कृष्णावतारमें ही है, तदुपरांत कृष्णावतार मुख्यतः भक्तियोगके विधानार्थ ही है. यह सूचित करनेकेलिये यहां 'कृष्ण' पद कहा है. निरंतर उत्पन्न होते रहनेवाले जिन पापोंकी निवृत्तिमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती, उन पापोंकी निवृत्ति भगवत्कथाके केवल श्रवण कीर्तनसे ही हो जाती है. शुद्ध हृदयमें ही भगवान् प्रवेश करते है 'पुण्यश्रवणकीर्तनः'से यही अभिप्राय है. आशय यह है कि श्रोता तथा वक्ताके दोष युक्त होते हुए भी श्रवण कीर्तन कभी दोष युक्त नहीं होते, पुण्यरूप ही रहते हैं. क्योंकि श्रवण कीर्तन भगवान्‌की तरह ही अपहत–पाप्मा पुण्यरूप ही है. श्रवण कीर्तनके होते हुए पाप रहते ही नहीं. सूर्योदयकी संभावनासे ही जिस प्रकार अंधकारकी निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार श्रवण कीर्तनकी संभावना होते ही पापकी निवृत्ति हो जाती है. बहिःस्थित भगवान्‌का हृदयके भीतर कार्य करना असंभव है. यदि इच्छा मात्रसे हृदयमें भी भगवान् पाप निवृत्ति कर दें तो भगवान्‌ने ही यह पाप निवृत्तिकी है, ऐसी प्रतीति न होनेके कारण भगवत्भजनमें कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, जब तक प्रत्यक्ष संभव हो तब तक अप्रत्यक्षकी कल्पना करना उचित नहीं. सर्वत्र अन्तःस्थित रहनेके कारण भगवान्‌को पाप मिटानेमें किसी प्रकारका क्लेश भी नहीं करना पडता. इसलिये हृदयमें स्थित भगवान् ही भगवत्कथा श्रवण संभावनामें ही पापोंकी निवृत्ति कर देते हैं हृदयमें बाहरके भी कितने ही पदार्थ होते हैं. कई पदार्थ अन्तःस्थित ही हैं. इनमें जिन पदार्थोंके विस्मरणकी संभावना हो उनको वहीं स्थित समझना यहां तो भगवान् अन्तःस्थित हैं अतः उनके विस्मरणकी संभावना ही नहीं और इसलिये

यहां हृदयके भीतर स्थित भगवान् 'अन्तःस्थितः' यह पद कहा है. तदनुसार अन्तःस्थित भगवान् पापका नाश कर देते हैं यह कथन उचित है. यहां 'अभद्र' पदसे काम, अविद्या और कर्मलिये गये हैं, पाप नहीं लिया गया क्योंकि पाप तो श्रवण कीर्तनकी संभावनामें ही निवृत्त हो चुका होता है. हृदय-स्थित भगवान् स्वभक्तके काम, अविद्या, कर्म आदिको विशेषरूपसे मंथन करके इतना शिथिल बना देते हैं कि जलमें विषकी तरह इनका पुनः मिलन आगमन नहीं हो सकता (अर्थात् जिस तरह भगवान्ने समुद्रको मथकर उसको इतना निर्विष कर दिया कि विष पुनः समुद्रमें नहीं मिल सकता, उसी तरह भगवान् स्वकीय भक्तकी अविद्यादिको मथकर एक बार जब दूर कर देते हैं तब वह फिर कभी भी भक्तमें अपनी स्थिति नहीं कर सकते.)

'शुश्रूषो श्रद्दधानस्य' इस सोलहवें श्लोकसे कही गई साधन-परंपरा रूप प्रथम शृंखला स्वसाध्य अर्थात् भक्त साध्य है तथा 'शृण्वतां स्वकथाः' श्लोकसे कही गई कामादिकी निवृत्तिरूप द्वितीय शृंखला भगवत्साध्य है. इन दोनों शृंखलाओंके सिद्ध होने पर 'नष्टप्रायेष्वभद्रेषु' इस श्लोकसे कही गई तृतीय शृंखलाका सम्बन्ध भक्तसे है वह भक्तमें होती है. इस तरह यहां पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंसे १६,१७,१८ से यथाक्रम तीनों शृंखलायें बतायी गयी हैं. जब तक काम, अविद्या तथा कर्म शिथिल नहीं होते, तब तक भक्तिका उदय नहीं होता.

यहां शंका करते हैं, कामादिको शिथिल करनेमें भगवान्का क्या हेतु है उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'सुहृत्सतां' भगवान् सत्पुरुषोंके सुहृद हैं, अर्थात् उनके साथ कार्य करते हैं. 'सुहृत्-सहकार्यकर्ता' भगवान् सत्पुरुषोंके मित्र हैं. श्रवणादिके उपदेश पूर्वक भगवदीय सुहृदों द्वारा प्रथम परंपराके सिद्ध किये जाने पर 'शृण्वतां स्वकथां'से कही गई द्वितीय परंपराको यदि भगवान् सिद्ध पूर्ण नहीं करते तो मैत्री भंगका प्रसंग उपस्थित हो जाता है ।।१७।।

आभासार्थ: कामादिके शिथिल होने पर जो फल होता है उसे कहते हैं:

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्त्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।।१८।।

श्लोकार्थ: कामादि अभद्रोंके नष्टप्राय हो जाने पर नित्य ही भगवत्कथा सुननेसे भगवद्भक्तोंकी सेवा उनकी कथासे उत्तमश्लोक भगवान्में स्थिर भक्ति होती है ।।१८।।

सुबोधिनी: कामादि शिथिल हो जाते हैं किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं होता. कहीं कहीं उनकी सत्ता प्रतीत होती है. जैसे भगवत्कथा श्रवणमें, आग्रहके रूपमें, श्रवणादिमें विघ्न आने पर, क्रोधके रूपमें, सत्संग आदिमें, लोभके रूपमें, इस तरह अमुक रूपमें कामादि सत्ताकी प्रतीतिका निर्देश करनेकेलिये 'नष्टप्रायेषु'में 'प्राय' शब्द कहा है. यहां यह आग्रह क्रोध लोभमें आदि स्वरूपसे लौकिक कामादिरूप नहीं है तथापि उनमें भगवद्–सम्बन्धी कामादिकी प्रतीति मात्र होती है और उसीका निर्देश सुबोधिनीने 'इव' शब्दसे किया है. यहां 'इव' श्लोकस्थ 'प्रायः'का तात्पर्यार्थ रूप है. इसलिये यहां भगवत्सम्बन्धी ये कामादि विघ्नरूप नहीं होनेके कारण कथाका श्रवण नित्य होता है और भगवद्भक्तोंका तथा उनके उपदेशका सेवन भी निरंतर होता रहता है इसीका निर्देश यहां 'नित्यं' पदसे किया गया है. इससे पूर्व तो कथाका श्रवण मात्र किया जाता था किन्तु संप्रति श्रोता मात्र श्रवण ही नहीं करता किन्तु भगवत्कथाका भगवद्भक्तोंका तथा उनके उपदेशका देवताकी तरह समादर भी करता है. यहां 'सेवा' पदका यही तात्पर्य है. इस तरह भगवत्कथा करते रहनेसे भगवान्के प्रति (उत्तरोत्तर) परम प्रेम उत्पन्न होता है. अर्थात् भगवान्में नैष्ठिकी भक्ति होती है. यहां सर्वत्र 'भगवान्' शब्दसे शुद्ध परब्रह्मलिये गये हैं. भगवान् उत्तमश्लोक हैं उत्तमैः श्लोक्यते, उत्तमपुरुष भगवान्की स्तुति करते हैं. इसलिये उनकी संगति करनेसे, स्तुति श्रवणका लाभ मिलता है. परिणामतः भक्तिभावमें अभिवृद्धि होती है. भगवान् उत्तमकीर्तिवाले हैं 'उत्तमाः श्लोकाः यस्य' इति इस प्रकार विग्रह करनेसे यह अर्थ निकलता है कि केवल भगवान्में ही भक्ति नहीं होती, किन्तु सत्पुरुषों और कथा सहित भगवान्में भक्ति होती है इस तरह भक्ति उत्पन्न होने पर भक्तजन सत्पुरुषोंका एवं कथाका त्याग कभी नहीं करते. महान् विघ्न आने पर भी स्थिर रहनेका नाम निष्ठा है. इस प्रकारकी निष्ठाको प्राप्त नैष्ठिकी भक्ति जब उत्पन्न होती है तब भक्तको काल, कर्म स्वभाव आदिसे उत्पन्न उपद्रवोंकी स्फूर्ति लेश मात्र भी नहीं होती ऐसा तात्पर्य है ।।१८।।

आभासार्थ: यहां तक इतना प्रयत्न पुरुषको करना पडता है इससे आगे जो कुछ घटित होता है वह स्वयं ही हो जाता है और इसीका निरूपण तीन श्लोकोंसे करते हैं:

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।

चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ।।१९।।

श्लोकार्थ: तब रजोगुण तथा तमोगुणके धर्म जो काम–लोभ आदि हैं उनसे अनाविद्धचित्त, सत्वमें स्थित होता हुआ प्रसन्न हो जाता है ।।१९।।

सुबोधिनी: चित्तका स्वरूप त्रिगुणात्मक है. भगवद् भक्तिसे चित्तके इस स्वरूपकी निवृत्ति हो जाती है. चित्तका त्रिगुणात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है. जब तक चित्तमें सत्त्व, रज और तम गुण रहते हैं तब तक ये गुण अपना अपना कार्य करते रहते हैं और तब तक हृदय भगवान्के योग्य आसन नहीं बनता. चित्तमें स्थित काम, लोभके कारणभूत रजोगुण तथा तमोगुण जब पुनः सत्वरूपतामें परिणत हो जाते हैं तब भगवान् हृदयको अपना आसन बनाते हैं, जिस तरह स्पर्श मणिके स्पर्शसे ताम्र, लोभ तथा स्वर्णका पात्र, केवल स्वर्णमय बन जाता है उसी तरह भक्तिके स्पर्श मात्रसे त्रिगुणात्मक चित्त संपूर्णतया सत्त्वरूप हो जाता है. चित्त जब भक्तिके स्पर्शसे केवल सत्त्वमय बन जाता है तब रजोगुणके तथा तमोगुणके जो काम–क्रोधादि तथा काम–लोभादि भाव हैं तथा जो सत्त्वमिश्रित भाव हैं, इसी तरह यहां चकारसे ग्रहण किये गये अन्यप्रकारके भी जो मिश्र भाव हैं और जिनका तटस्थ रूपसे निर्देश किया गया है वे सभी निवृत्त हो जाते हैं. रजोगुण तथा तमोगुणके जो सर्वविदित मोहादिभाव हैं उनकी सत्ता नष्ट हो जाती है. भक्तिके स्पर्शसे रजोगुण तथा तमोगुणरूप गृहके नष्ट हो जाने पर इनके मोह आदि धर्म, घरबार बिनाके हो जाते हैं मोहादिके निवासस्थान रजोगुण तथा तमोगुण ही जब नहीं रहते तो फिर घर बिना ये मोहादि कहां रहेंगे? अर्थात् 'न भवन्ति' नहीं रहेंगे और इसीसे श्लोकके पूर्वार्धमें 'भवन्ति' क्रियाका सम्बन्ध नहीं है.

यहां यह शंका होती है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आगन्तुक धर्म होते हुए भी पूर्वकी वासनाके विद्यमान होनेके कारण चित्तसे पुनः सम्बद्ध क्यों नहीं हो सकते? इसके समाधानमें कहते हैं कि ''चेत एतैरनाविद्धं'' ये काम क्रोध आदि सूत्र रूप हैं तथा मूलभूत रजोगुण तमोगुण सूई रूप हैं. मूल गुणभूत सूचीके बिना सूत्र काम क्रोध आदि चित्त वेधन करनेमें असमर्थ हैं अर्थात् चित्तसे पुनः सम्बन्ध नहीं कर सकते इन भावोंसे अनाविद्ध चित्त स्थित हो जाता है. तब लयावस्थाको प्राप्त होते हुए भी उस चित्तमें निरंतर उत्पन्न होनेवाली भक्तिके अनुरोधसे भक्तिके स्थानभूत सत्त्वके लिये भगवान्का आवेश होता है और इस आवेशसे चित्त प्रसन्न रहता है. ऐसे प्रसादसे सम्पन्न चित्त द्वारा कार्य करनेवालोंको उनकी कार्य सिद्धिमें

हेतु भूत प्रकाश विशेषकी प्राप्ति होती है. प्रसाद वह प्रकाश विशेष है जो प्रसादसे युक्त जीवोंकी कार्य सिद्धिमें हेतु बनता है ।।१९।।

आभासार्थ: चित्त प्रसादसे जो फल मिलता है उसे कहते हैं:

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ।।२०।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार प्रसन्न मनवाले मुक्त संगको भगवद भक्तिके योगसे भगवानका तत्त्व अर्थात् करामलकवत् ज्ञान हो जाता है।।२०।।

सुबोधिनी: पूर्वोक्त प्रकारके अनुसार स्थिर साधनोंकी परंपरासे प्रसन्न हो गया है मन जिसका 'एवं प्रसन्न मनसः' मन जब सत्त्वात्मक बन जाता है तब सर्ववस्तुओंका तत्त्वज्ञान हो जाता है ''**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्**'' किन्तु भगवत्–स्वरूपका ज्ञान नहीं होता क्योंकि भगवान् गुणातीत हैं अतः सत्त्वगुणका कार्य जो ज्ञान है उससे भगवान् गम्य नहीं हैं. इसलिये यहां 'भगवद्भक्तियोगतः' यह कहा गया है. अन्तःकरणकी प्रसन्नता भक्तिसे होती है और भक्तिसे ही भगवान्के स्वरूपका ज्ञान होता है. ''भक्त्या मामभिजानाति'' वाक्यका यही अभिप्राय है कि भगवान्का स्वरूप जैसा है और जितना है उसका ज्ञान भक्तिसे ही संभव है. गीताके ''**यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः**''से जो बात कही गई है वही प्रस्तुत श्लोकके 'तत्त्व' पदसे स्पष्टकी गई है. विज्ञानमें 'वि' पद उस ज्ञान विशेषकेलिये प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा 'करामलकवत् ज्ञान'के समान ही ज्ञानकी निष्पत्ति हो जाये. भगवत्स्वरूपके ज्ञानमें संन्यास भी अंश रूपमें अपेक्षित है इसी अभिप्रायसे श्लोकमें 'मुक्तसंग' ऐसा कहा है. उसे ही यह ज्ञान होता है जो भीतर तथा बाहर 'संग'से विषयोंसे मुक्त है विषयोंसे आविष्ट चित्तवालेसे भगवान् विष्णुका आवेश बहुत दूर रहता है इस न्यायके अनुसार विषयोंके परित्यागके बिना संन्यासके बिना भगवदावेश नहीं होता और भगवद्–आवेशके बिना भगवत्साक्षात्कार नहीं होता. इसीलिये भगवत्साक्षात्कारमें संन्यास कारण माना गया है ।।२०।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्का सर्वथा ज्ञान होने पर जो फल होता है वह कहते हैं:

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।।२१।।

श्लोकार्थ: ईश्वर ही मेरी आत्मा है, ऐसा अनुभव करनेवालेके हृदयकी

ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सभी संशयोंका छेदन हो जाता है और उसके कर्मोका भी क्षय हो जाता है।।२१।।

सुबोधिनी: चिद् और अचिद् ग्रन्थियां अविद्यासे होती हैं इसकी निवृत्ति भगवद्ज्ञानसे हो जाती है. ''**यस्मिन् ज्ञाते सर्वम् इदं ज्ञातं भवति**'' इसके अनुसार भगवान्के जान लेने पर यह सभी वस्तु यथार्थ रूपसे ज्ञात हो जाती हैं. जब सभी पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सर्व संदेह निवृत्त हो जाते हैं और कर्म बीजोंका पुनः प्ररोह नहीं होता. मिथ्या ज्ञानरूपी जलसे सिंचित आत्मभूमि. (अन्तःकरण)में कर्म बीज अंकुरित होता है, उगता है. अर्थात् कर्मोंका नाश नहीं होता. और जब ज्ञानरूपी धूपसे जिसका जल निःशेष रूपसे सुखा दिया गया है ऐसे ऊषर भूमिरूप अन्तःकरणमें कर्म बीजोंका प्ररोहण नहीं होता, कर्म बीज नष्ट हो जाते हैं. यह सब कुछ सामान्य ज्ञानसे ऐसे वैसे उपार्जित ज्ञानसे, नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्म मेरी आत्मा है इस प्रकारके ऐक्यानुभवसे सिद्ध होता है और यही बात ''दृष्ट एवात्मनीश्वरे'' इस पंक्तिसे कही गई है. भगवान् ही मेरी आत्मा है. ऐसा अनुभव होने पर ही इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है अन्यथा नहीं ही और इसी अभिप्रायसे श्लोकमें निश्चयात्मक 'एव'का प्रयोग किया गया है. यहां यह कहा जा सकता है जिस तरह विद्यासे, अविद्याका उपमर्द होता है, उसी तरह अविद्यासे विद्याका भी उपमर्द हो सकता है. ऐसी आशंकामें यह कथन है कि ब्रह्म ही मेरी आत्मा है ऐसा न समझने पर ऐश्वर्य आदि भगवद्धर्म तिरोहित हो जाते हैं, तब अविद्यासे बंध और विपरीत ज्ञान होते हैं. 'ब्रह्म मेरी आत्मा है' ऐसा अनुभव होने पर ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकट होते हैं तथा बंध और विपरीत ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं. ईश्वर मेरी आत्मा है ऐसा न मानने पर उत्पन्न हुई चिद् अचिद् ग्रंथि रहती है तथा भगवान्को आत्मा मानने पर यह ग्रंथि निवृत्त हो जाती है. देहेन्द्रिय आदिको आत्मा मान लेने पर यह भी आत्मग्रंथि नहीं मिटती. यदि देहेन्द्रिय आदिमें ईश्वरत्वका ज्ञान नहीं होता तो भी उससे आत्माको संसारकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उसे यह ज्ञान हो चुका है कि 'आत्मा ही भगवान् है' ।।२१।।

आभासार्थ: इस तरह सर्व प्रकरणके अर्थका निरूपण करके 'पुरुष–प्रयत्न पर्यवसान कहां होता है?' यह संदेह होने पर प्रयत्न विषयमें कहते हैं:

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्।।२२।।

श्लोकार्थ: इसलिए शब्दके तात्पर्यको जाननेवाले कविलोग परमहर्षके साथ अन्त:करणको प्रसन्न करनेवाली भगवान् वासुदेवकी भक्ति करते हैं।।२२।।

सुबोधिनी: शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरणमें आविर्भूत भगवान्में परम प्रेम करना चाहिये और इसीमें पुरुष प्रयत्नका पर्यवसान है. इससे भगवद्प्रसाद अथवा अन्तःकरणमें भगवत्साक्षात्कार रूप फल मिलता है 'वै'का अर्थ है निश्चय पूर्वक सूतको इस बातका निश्चय है.

'कवयः' अर्थात् शब्दके तात्पर्यको जाननेवाले कवि लोग जिन्हें शब्दबलविचारसे ही उपर्युक्त अर्थका ज्ञान है. शब्द तात्पर्यके ज्ञाताको ही शब्दबल-विवेकसे इस प्रकारके अर्थका निश्चय होता है. इतना ही नहीं भक्तिके साधन सुख रूप हैं, ज्ञान और कर्मके साधनोंकी तरह क्लेशप्रद नहीं हैं इसलिये भी कविलोग सदा भक्ति करते हैं अर्थात् क्षण क्षणमें भक्ति करते हैं और इस तरह प्रतिक्षण भगवान्के आविर्भावसे परम हर्ष उत्पन्न होता है. सत्वगुणसे आविर्भूत सत्वमूर्ति भगवान् यहां भक्तिके विषय हैं. भक्ति ज्ञानकी जननी है, शब्द-बलका विचार तथा पुरुष प्रयत्न भक्तिमें साधन रूप है. इस सबमें सम्पन्न व्यक्तिका भक्तिमें प्रथमाधिकार माना जाता है ।।२२।।

आभासार्थ: पूर्व श्लोक ''अतो वै कवयो नित्यम''में, सत्त्वमूर्ति भगवान्को भक्तिका विषय कहा है. यहां संदेह होता है कि सत्त्वगुण मूर्ति भगवान्की ही भक्ति करनी चाहिए यह क्या कोई नियम है? रजोगुण मूर्ति ब्रह्मामें तथा तमोगुण मूर्ति शिवमें भी भक्ति करनेसे इनकी ब्रह्मरूपताके कारण ज्ञान सिद्ध होता है. तदनुसार विष्णु भक्तिकी तरह शिव भक्ति भी ज्ञानकी साधिका है. क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीनोंमें ही ब्रह्मकी तुल्य रूपता है. ऐसी आशंकामें यहां ''सत्त्वं रजस्तम'' इत्यादि पांच श्लोकोंसे निर्णय देते हैं.

सत्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरि-विरञ्चि-हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः।।२३।।

श्लोकार्थ: सत्त्व, रज और तम ये प्रकृतिके गुण हैं. इनसे युक्त एक परब्रह्म पर:पुरुष ही यहां जगतकी स्थिति, उत्पति और संहारकेलिए हरि ब्रह्मा और शिव नाम संज्ञा-धारण करता है किन्तु उनमें मनुष्योंको शुभ फल सत्त्वगुण मूर्ति विष्णु हरिसे ही प्राप्त होता है।।२३।।

सुबोधिनी: यहां उक्त संदेह उचित नहीं है. इसको स्पष्ट करनेकेलिये

यहां श्रीसुबोधिनीमें 'ब्रह्मणोऽपि'में 'अपि' शब्द कहा है. ब्रह्ममें गुण विशेषका अभाव होने पर भी गुणरूप उपाधिकी विशेषताके कारण फलमें विशेषता वैशिष्ट्य रहती है. अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और शिव यद्यपि समानरूपसे परब्रह्म हैं तथापि सत्त्व, रज तथा तमकी उपाधिसे युक्त होनेके कारण फलमें विशेषता है. ये देवता गुणोंके अंगभूत नहीं हैं तथापि गुणोंसे युक्त होनेके कारण उन उन गुणोंकी उपाधिवाले देवताओंकी सेवा पूजासे फलमें तारतम्य होता है. अमुक माध्व वैष्णवोंके मतकी तरह यहां चैतन्य स्वरूप भिन्न नहीं है. अर्थात् माध्व वैष्णव मतमें ब्रह्मा तथा शिवमें जीवत्व मानते हैं किन्तु यहां जीवत्व नहीं माना गया.

सत्व, रज तम ये गुण परब्रह्मके नहीं हैं यदि ये गुण ब्रह्मके माने जायें तो ऊंचे नीचे गुणोंको उत्पन्न करनेके कारण ब्रह्मका स्वरूप भी विलक्षण हो जायेगा. यदि कार्यवश वह इन गुणोंको धारण करता है तो कोई दोष नहीं आता जैसे एक ही व्यक्ति स्नान, भोजन, अन्तःपुरका कार्य करता है तो भी उसमें भिन्नता नहीं आती, उसी तरह इन गुणोंको किसी कार्यकेलिये धारण करनेसे ब्रह्ममें कोई वैलक्षण्य नहीं आता. यहां चैतन्य स्वरूपको भिन्न पृथक् माननेवाले शंका करते हैं कि शरीरमें रहनेवाला पुरुष त्रिगुणसे युक्त है, इसलिये इन गुणोंकी प्रेरणाके अनुसार उन उन कार्योंको करना संभव है. इसके उत्तरमें यह कथन है कि यदि यह मान लिया जावे, तो इन गुणोंको प्रेरणा देनेवाले अन्य गुण भी मानने पडेंगे और फिर इन अन्य गुणोंको प्रेरणा देनेवाले अन्य गुणोंको मानने पडेंगे ऐसी अवस्थामें अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा. इसलिये यह तो कहना ही होगा कि कहीं सहज गुणोंका सम्बन्ध है. यदि सहज गुणोंका सम्बन्ध मानलें तो फिर स्वरूप भी भिन्न हो जायेगा अर्थात् एक तरफ सहज गुणोंका सम्बन्ध तथा दूसरी तरफ निर्गुण स्वरूप ये दोनों पृथक्-पृथक् हो जायेंगे इस शंकाके उत्तरमें यहां यह जानलेना चाहिये कि इस विषयमें बहुतसे वादियोंने अपने अपने मतका भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिपादन किया है. सांख्यमतानुयायी प्रकृतिका पुरुषसे नित्य सम्बन्ध मानते हैं. प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः पुरुष निर्गुण हो ही नहीं सकता. पुरुषमें कर्तव्य आदि धर्म, प्रकृतिके सम्बन्धसे प्रतीत होते हैं. वस्तुतः पुरुषमें कर्तव्य नहीं हैं इसी पुरुषको सांख्यमतानुयायी ईश्वर मानते हैं. पातंजल और मायावादी कहते हैं कि प्रकृतिका पुरुषसे सम्बन्ध है ही नहीं. प्रकृतिका सम्बन्ध कामसे प्रतीत होता है. इस भ्रांत प्रतीतिसे ही ब्रह्ममें कर्तव्य आदिका आरोप किया जाता है.

भागवत सिद्धांत है कि प्रकृति सम्बन्ध बिना ही भगवान्में सहज कर्तव्य है. इसी शुद्ध ब्रह्मसे कुछ न्यून, इसीका रूप अक्षर ब्रह्म है और यह अक्षर ब्रह्म ही प्रकृति पुरुष विभेदसे द्विरूपताको प्राप्त होता है. जैसे मौलिक शरीरके निर्माणमें पंचमहाभूत अपेक्षित होते हैं, किन्तु पंचमहाभूतके निर्माणमें पंचमहाभूतकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्राकृत जगत्के निर्माणमें कारणरूपसे प्रकृतिकी अपेक्षा है किन्तु प्रकृतिके निर्माणमें स्वयं प्रकृति कभी कारणरूप नहीं होती और इसीसे स्वरूपमें भेदकी तथा दोनोंकी सम्भावना ही नहीं है. इस जगत्की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलयकेलिये तीनों गुणोंको ग्रहण करनेवाला परपुरुष एक ब्रह्म ही है. जैसे एक ही द्वन्द्व समास, समाहारद्वन्द्व और इतरेतरद्वन्द्व कहा जाता है उसी तरह वह एक परः पुरुष ब्रह्म ही विष्णु ब्रह्मा तथा शिव तीनों नाम धारण करता है. इसीका निर्देश यहां 'हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः'से किया गया है. 'हरिविरञ्चिहर' यहां समाहारद्वन्द्व है और ''सुपां सुलुग''(पाणि.सू.) इति लुक् सूत्रके अनुसार 'सु'का लोप हो गया है अथवा द्वन्द्व समासके अन्तमें आनेवाले 'इति' शब्दका सर्वत्र सम्बन्ध होता है (हरीति, विरंचीति, हरेति इस तरह 'इति' शब्द यहां प्रत्येक संज्ञाके साथ सम्बन्धित है.) यहां प्रत्येक संज्ञा (नाम) स्वरूपमात्रका परिचय कराती है इसलिये व्याकरणके नियमानुसार अर्थवत्व न होनेसे 'हरिविरंचि हरेति'में प्रत्यय नहीं लगाया गया जैसे देवदत्तेति संज्ञा कही जाती है. यहां 'इति' शब्द प्रकारार्थ भी है इसलिये यहां एक ही ब्रह्मकी इन तीनों संज्ञाओंके अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी संज्ञायें हैं. यहां 'इति' शब्दसे यह भी सूचित किया गया है.

ब्रह्मने यद्यपि सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंको घट निर्माणमें दण्डकी तरह साधनरूपसे करणसे ग्रहण किये हैं तथापि निरंतर ग्रहण करनेसे ये ही गुण उसके उपाधिरूप हो गये हैं. अर्थात् यही ब्रह्म, सत्वगुणोपाधिक विष्णु, रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा तथा तमोगुणोपाधिक शिव कहा जाने लगा. तदनुसार जिस उपाधिविशिष्ट देवताका भजन करनेमें आयेगा उस देवताकी उपाधि विशेषमें ही भजनका पर्यवसान होगा. इसीलिये सत्वगुणोपाधि विष्णु ही सेव्य हैं, इस तरह यहां कहा गया है ''श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः''

वहां निर्णय इस प्रकार है कि सेवकके सेव्य जिस रूपको देखता है अपनेलिये भी उसी रूपका सम्पादन करता है, अर्थात् विष्णुकी भक्ति करनेवालेका रूप विष्णुके गुणानुरूप होगा, इसी तरह ब्रह्मा अथवा शिवकी भक्ति

करनेवालेका रूप ब्रह्मा अथवा शिवके गुणानुरूप होगा. भगवान् 'अपहत-पाप्मा' है इसलिये जीव द्वारा आचरित ये भजनादि साधन यद्यपि भगवान्को अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं हैं फिर भी जीवको तो वे अन्यथा कर ही देते हैं अर्थात् सेवकके रूपको बदल देते हैं. अतः अपने जिस रूपसे अथवा उसकी प्रसन्नताकेलिये आचरित जिस साधनसे अन्यथा भाव न हो, अपना रूप अन्यथा न हो, ऐसे रूपवाले ईश्वरकी अथवा सत्वगुणोपाधि युक्त विष्णुकी सेवा करना ही उचित है. इस प्रकारकी स्थितिमें अपने स्वरूपनाशकी शंका नहीं रहती. क्योंकि सत्वगुणोपाधिक विष्णु, स्थितिकी रक्षा करेंगे, उसका नाश नहीं होने देंगे.

जहां सेवककी बुद्धि यदि सेव्य देवताकी गुणरूप उपाधिमें पर्यवसित न होती हो तो वहां कभी की गई सेवामें भी कोई दोष अथवा चिन्ता नहीं है. आशय यह है कि मैं सत्वगुणोपाधिक विष्णुकी अथवा रजोगुणोपाधिक ब्रह्माकी अथवा तमोगुणोपाधिक शिवकी उपासना करता हूं ऐसी भावनासे जहां सेवाकी जाती हो तो वहां स्वरूप हानिकी संभावना हो सकती है, किन्तु सेवककी बुद्धि जहां किसी उपाधिविशिष्ट सेव्यको लेकर सेवा करनेकी नहीं होती तो वह कहीं भी किसीकी भी सेवा कर सकता है. वहां उसके स्वरूपमें हानिकी संभावना नहीं होती. जैसे ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र ब्रह्मज्ञानपूर्वक सेवा करता है किन्तु उसका स्वरूप अन्यथा नहीं होता जो सेवक देवताकी जिस जिस रूपमें उपासना करता है उसकी बुद्धि भी उस उस रूपकी हो जाती है. ''तं यथा यथोपासते'' इस श्रुतिका भी यही निर्णय है. कल्याणकारी शुभ फल 'सत्वतनु' विष्णुकी उपासनासे सिद्ध होता है. अन्यसे नहीं श्लोकस्थ 'खलु' शब्द सम्मतिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. यह सम्मति युक्ति रहित निरूपित की गई है.

श्लोकस्थ 'सत्वतनोः'में 'तनु' शब्द द्वारा सत्वोपाधिकी दृढता स्थिरता बताई गई है 'नृणां' यह शुभ फल साधारण जीवोंको मिलता है और जो निरंतर सेवा करनेवाले विशिष्ट जीव हैं वे सत्त्वोपाधिक देवतामें मिल जाते हैं और इस तरह सत्वगुणोपाधिसे समन्वित हो जाते हैं और जब उसके सेव्य स्वरूपकी उपाधि निवृत्त हो जाती है तब उसमें सायुज्य भावसे स्थिर उसके भक्तकी उपाधि भी निवृत्त हो जाती है. अतः यह सब कुछ सुसंगत है ।।२३।।

आभासार्थ: ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीनों ही स्वरूपसे एक हैं, तथापि अपनी-अपनी गुणोपाधिसे युक्त होनेके कारण उनकी सेवाके फलमें तारतम्य है

यह बात गूढ है. अत: द्रष्टान्तसे कहते हैं.

पार्थिवाद् दारुणो धूमः तस्माद् अग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्म दर्शनम्।।२४।।

श्लोकार्थ: जो प्रवृत्ति तथा प्रकाशसे रहित है, ऐसे पार्थिव काष्ठसे धुंआ उत्तम है क्योंकि उसमें प्रवृत्ति है और धूमसे त्रयीमय वैदिक कर्म प्रधान अग्नि श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें प्रवृत्ति और प्रकाश दोनों ही हैं. उसी तरह तमोगुणसे रजोगुण श्रेष्ठ है और उससे भी अग्निके समान प्रकाशमय सत्त्वगुण श्रेष्ठ है जिससे ब्रह्मका अनुभव होता है।।२४।।

सुबोधिनी: जिसे प्रकाशकी अपेक्षा होती है वह तेजको ढूंढता है वहां भी अग्निसाध्य कार्योंके लिये अग्निकी अपेक्षा है और लोकमें यह अग्नि काष्ठमें मिलती है और ये लकडियां पृथिवी प्रकृतिकी हैं उनका पूर्वरूप पृथिवीसे सम्बन्धित अतएव वृक्षरूपता है. वृक्षका छेदन और शोषण करनेसे काष्ठ बनता है. काष्ठमें जलांश धूमको उत्पन्न करता है. यदि तेजका अंश होगा तो यह अग्नि उत्पन्न करेगा. अग्निमें भी अलौकिक अग्नि उत्पन्न होती है जिसका प्रयोग अग्निहोत्रादि वैदिक कर्ममें होता है, इस अग्निका सम्बन्ध देवताओंसे होनेके कारण यह वेद प्रतिपाद्य है. लोकमें भी कालान्तरमें जब अग्नि प्राप्त करनेकी इच्छा होती है तब गीले वृक्षोंसे काष्ठ संग्रह किया जाता है. वही काष्ठ यहां 'पार्थिव' शब्दसे कहा गया है. ''पार्थिवाद् दारुणोधूमः'' में अधूमः ऐसी सन्धि भी होती है अतः प्रथम जिसमें धूम न निकले ऐसे शुष्क काष्ठका संग्रह होता है फिर उससे जलती हुई अग्निका संग्रह होता है फिर इससे लोकान्तरमें प्रकाश करनेवाली वैदिक अग्नि 'त्रयीमयः' बनती है. अग्निका प्रथम रूप मृत्पिण्ड काष्ठ है और अन्तिम स्वरूप आहवनीय वैदिक अग्नि है.

अथवा कच्चे घटमें जलांश होता है उस घटको लकडी, अग्निका आधार बनाती है अर्थात् घटका सम्बन्ध प्रथम लकडीसे होता है फिर धूम उसे सुखाता है और अग्नि उसे पकाती है. इस प्रकार वह अग्निही काष्ठ, धूम और अग्नि अपनी इस उपाधियोंसे उसका घटका अनेक प्रकारसे उपकार करती है. उसी प्रकार ब्रह्म भी तमोगुणसे लौकिक भोगका, रजोगुणसे कर्मका और सत्वगुणसे ज्ञानका सम्पादन करता है. यहां 'यद्' ब्रह्मसे वृक्षरूपता बताई गई है. तमोरूप ब्रह्मसे रजोरूप ब्रह्म उत्तम है और उससे भी उत्तम सत्त्वरूप ब्रह्म है जो

ज्ञानरूप है जिससे ब्रह्मका दर्शन अर्थात् अनुभव होता है. तमसे रज, इसलिये उत्तम है कि वह सत्त्व अर्थात् ज्ञानरूप कार्यके अधिक निकट है जैसे काष्ठकी अपेक्षा धूम अग्निके अधिक पास है इसलिये उत्तम है. यह उत्तरोत्तर उत्तमा दूरी और सामीप्यके न्यायसे समझी गयी है. इसलिये तमोगुणोपाधि, रजोगुणोपाधि, और सत्वगुणोपाधिसे युक्त होनेके कारण इनके कार्यमें भी विलक्षणता है अर्थात् ये पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं. पूर्व श्लोकमें ब्रह्मादि देवताओंको त्रैविध्य जीवनरूपसे बताया गया था किन्तु प्रस्तुत श्लोकमें यही त्रैविध्य ब्रह्मके रूपमें निरूपित किया गया है, यहां यह इतनी विशेषता है ।।२४।।

आभासार्थ: सत्ययुगसे चली आती हुई सत्त्वगुणोपाधिककी सेवामें सदाचारका प्रमाण देते हैं:

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तम् अधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तान् इह ।।२५।।

श्लोकार्थ: पहले सत्ययुगमें ज्ञानी मुनियोंने विशुद्ध सत्त्वरूप अधोक्षज (इन्द्रियजन्य ज्ञानसे अतीत) भगवान्की सेवाकी जिससे उन्होंने तो उत्तमफल प्राप्त किया ही, किन्तु उनके मार्ग पर चलनेवाले आज भी इसी जन्ममें कल्याणको, जीवानन्दको प्राप्त करते हैं।।२५।।

सुबोधिनी: पहलेके मुनियोंने आत्माकेलिये भजन किया अर्थात् उन्होंने अधोक्षज भगवान्की ही सेवा की है. यहां 'भेजिरे' आत्मनेपद है और बहुवचनमें है इससे ज्ञात होता है कि यह आचरण किसी एक तक ही सीमित नहीं था अपितु बहुतेरोंका यही आचरण रहा. तदुपरांत इस भजनका फल आत्मगामी है अर्थात् जो भगवान् सर्वके आत्मरूप हैं उनका भजन किया. यह सेवा (भजन) उन्होंनेकी जिनमें दोषका सर्वथा अभाव था, इसीका निर्देश करनेकेलिये यहां 'मुनयः' शब्दका प्रयोग किया गया है. पदार्थका मनन पर्यन्त अनुष्ठान करनेसे जिसमें सत्त्व प्रतिष्ठित हो गया है उनको मुनि कहते हैं, अर्थात् सत्त्वयुक्त, मननशील मुनियोंने ऐसा भजन किया है.

श्लोकस्थ 'अथ'का यह अभिप्राय है कि अज्ञान अवस्थामें उन्होंने भजन नहीं किया है किन्तु ज्ञानी होकर उन्होंने अधोक्षज भगवान्को भजा है. 'अग्रे'का अर्थ है सत्ययुगमें ''पुराकृतयुगे'' इस वाक्यके अनुसार 'अग्रे'का यहां यही अर्थ ग्रहण किया गया है.

ब्रह्मरूपता एवं अलौकिकता बतानेकेलिये यहां 'भगवान्' तथा 'अधोक्षज' ऐसे दो पदोंका प्रयोग किया गया है अर्थात् प्रभु षड् ऐश्वर्यसे युक्त हैं तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रभुसे नीचे ही रहता है अर्थात् प्रभु इन्द्रियजन्य ज्ञानसे अतीत हैं 'भगवन्तम् अधोक्षजम्'. विष्णुमें सत्त्वगुणोपाधिकी मुख्यताका निर्देश करनेकेलिये उनको यहां सत्त्वरूप कहा है. 'सत्त्व' अर्थात् यहां 'सत्त्व' शब्द भगवान्का समानाधिकरणसे विशेषण है. यह सत्त्वगुण ब्रह्मादिमें भी विद्यमान है तो क्या वे मुनिगण उनका भजन करते थे? इस संदेहकी निवृत्तिकेलिये यहां 'विशुद्ध' पदका प्रयोग हुआ है अर्थात् (विशुद्ध) शुद्धसत्त्ववाले भगवान्का ही भजन करते थे. मिश्रसत्त्ववाले ब्रह्मादिकका नहीं. ऐसे विशुद्ध सत्त्ववालेकी सेवासे किस फलकी प्राप्ति होती है. ऐसी जिज्ञासाके उत्तरमें कहते हैं विशुद्धसत्त्वरूप भगवान्की सेवाफलका तो कहना ही क्या? इनके सेवकोंको तो उत्कृष्ट फल मिलता ही है. किन्तु ऐसे सेवकोंकी सेवा करनेवाले भी मुक्त हो जाते हैं ''कल्पन्ते ये नु तानिह'' अर्थात् सत्त्वरूप भगवान्की सेवा करने वालोंके सेवक अथवा उनके मार्ग पर चलनेवाले सभी व्यक्ति कल्याणकी, जीवस्वरूपानन्दकी प्राप्ति करते हैं और यह फल भी उन्हें इसी जन्ममें मिल जाता है, जन्मान्तरमें नहीं. इसलिये शीघ्र ही शुभ फलकी साधक होनेके कारण सत्त्वरूपकी ही सेवा करनी चाहिये, इस प्रकारसे कहा गया है ।।२५।।

आभासार्थ: सम्प्रति रजोरूप तथा तमोरूप ब्रह्मके स्वरूपको उसके सेवक भजन तथा फलके भेद पूर्वक विवेचन करते हुए 'मुमुक्षवः' श्लोकसे सत्त्वरूप ब्रह्मका स्वरूप पुन: बताते हैं. अथवा कालकी प्रधानतासे सत्ययुगमें सत्त्वरूप ब्रह्मकी सेवा भले ही की जाती हो, किन्तु त्रेता-द्वापर तथा कलियुगमें इसका भजन (सेवा) कैसे हो सकता है. इस आशंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं:

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीन् अथ।
नारायणकला: शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ।।२६।।

श्लोकार्थ: मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुष घोररूप रुद्रादि देवताओंको छोडकर नारायणके जो ज्ञान क्रिया शक्तिरूप जो शांत अवतार हैं उनका असूया रहित होकर भजन करते हैं।।२६।।

सुबोधिनी: सत्त्वगुणका फल मोक्ष है. मोक्ष ज्ञानसे होता है. ज्ञान शांत अन्तःकरणसे सिद्ध होता है. परन्तु जिसका भजन किया जाता है उसीका ध्यान

करना चाहिये तदनुसार घोररूपका ध्यान करनेमें चित्त भी घोररूपवाला अशान्त बन जाता है इसलिये स्वरूपमें अभेद होने पर भी सत्त्वमूर्तिके घोररूपको तथा घोररूप देवताओंको छोडकर प्रथमसे ही जो व्यक्ति मोक्षको साधन बनाकर कुलाचारसे अथवा श्रद्धासे परंपरागत राजस तामस रूपोंका भजन करते हैं वे भी राजसिक तथा तामसिक स्वरूपका ज्ञान होने पर उनके भजनको छोडकर ब्रह्मांडके भीतर रहनेवाले पुरुष रूप नारायणके धर्मावतार रूप जो ज्ञान शक्तिरुप मत्स्यादि अवतार हैं उनका तथा क्रियाशक्तिरूप रामादि अवतारोंका दूसरे अवतारोंमें दोषबुद्धि न रखते हुए भजन करते हैं परन्तु इनका यह भजन भक्तिमार्गीय भजन नहीं होता है. इन मत्स्यादिरूप और रामादिरूप अवतारोंका भजन किसी पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिये विहित धर्म मार्गके अनुसार किया जाता है. जो देवता निःसन्दिग्ध शांत स्वरूपवाले हैं उन्हींका भजन पुरुषार्थ सिद्धिकेलिये करते हैं. नृसिंहादिरूपका नहीं करते. किन्तु भक्तिमार्गमें तो प्रयोजनकी गौणताके कारण तथा भजनीय विषयकी प्रधानताके कारण प्रभुके सर्वरूप, एक ही स्वरूपमें, भजन करने योग्य हैं ।।२६।।

आभासार्थः अब रजोगुण तथा तमोगुण रूपमें भजन सामग्रीका स्वरूप बताते हैं:

रजस्तमः–प्रकृतयः समशीलान् भजन्ति वै।
पितृ–भूत–प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ।।२७।।

श्लोकार्थ: धन, ऐश्वर्य तथा सन्ततिकी कामनावाले रजोगुण तमोगुण प्रकृतिके जीव अपने समान स्वभाववाले पितृ, भूत, प्रजेश आदिका भजन करते हैं।।२७।।

सुबोधिनी: शरीर, गुण और स्वभावके भेदसे गुण तीन प्रकारके होते हैं इन स्वाभाविक गुणोंका उल्लंघन कभी नहीं किया जा सकता. शरीररूप जो गुण हैं वे मूढदशामें ही बलवान् होते हैं. गुण (धर्म)रूप जो गुण हैं वे संगसे तथा शास्त्रोंके श्रवणादिसे बढते हैं तथा नष्ट होते हैं इनमें जो विवेकशील होते हैं वे सत्संग तथा सत्शास्त्रको जानकर भी अपने अपने राजस तामस स्वभावके अनुसार उसी प्रकारके राजस तामसका ही भजन करते हैं. भजन सख्यपर्यंत माना गया है. अर्थात् समान स्वभाव तथा समानशीलका ही भजन किया जाता है. सख्य, स्व समानमें ही होता है. ''**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**''. राजस–

स्वभाववाले, राजस देवताओंका और तामस स्वभाववाले तामस देवताओंका भजन करते हैं. इन तमोगुण रजोगुणवाले देवताओंका परिकर भी वैसा ही है. इस बातका निर्देश करनेकेलिये यहां पितृभूतप्रजा और उनके स्वामी काल, शिव और ब्रह्मा जिनमें मुख्य हैं ऐसे क्षुद्र देवताओंका उल्लेख किया गया है ऐसे देवताओंका भजन राजस तामस जीव करते हैं.

श्राद्ध आदिसे पितरों तथा शक्तिको भजनेसे फलरूपसे धनकी प्राप्ति होती है. भूतेश महादेवके भजनेसे ऐश्वर्यरूप फलकी तथा प्रजेश ब्रह्माके भजनसे संततिरूप फल मिलता है. वहां भी ईप्सित फलकी प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि ऐसे फलके प्रदाता तामस हैं ।।२७।।

आभासार्थ: इस तरह सत्त्वमूर्तिके भजनका युक्तिपूर्वक उपपादन करके सत्त्वमूर्तिमें ही प्रमाण और साधनोंकी समाप्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण प्रमाण तथा सम्पूर्ण साधन सत्त्वमूर्तिकी प्राप्तिकेलिए ही हैं. सर्व प्रमाणगम्य भी वही है और सर्व साधनोंसे प्राप्तव्य भी वही है इसीका प्रतिपादन ''वासुदेवपरा वेदा:'' इत्यादि श्लोकद्वयसे किया जाता है:

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखा: ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपरा: क्रिया:।।२८।।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तप:।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गति:।।२९।।

श्लोकार्थ: वेद, वेदार्थरूप यज्ञ, योग, स्नानादिक क्रियाएं ज्ञान, तप, आचार और स्वर्ग ये सब वासुदेव परक हैं।।२८-२९।।

सुबोधिनी: सत्त्वगुण ही दोषोंसे मुक्त है ऐसा ज्ञान प्रथमाधिकारमें मुख्य है क्योंकि प्रथमाधिकारी युक्तिको ही प्रधानता देता है, तदनुसार जितने भी प्रमाण और साधन हैं वे सभी सत्त्वोपाधिरूप हैं. इनमें वेद सात्त्विक प्रमाण है. यज्ञ भी सात्त्विक है. योग-स्नानादिक क्रियायें, ज्ञान, तप, शिष्टाचार और स्वर्ग ये सब सात्त्विक हैं. इसलिये सत्त्वगुणके अतिरिक्त राजस तथा तामस गुणकी प्रधानताका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र प्रमाणभूत नहीं हैं. क्योंकि वे राजस और तामस हैं. साधनोंकेलिये भी यही नियम है अर्थात् जो साधन राजस तामस हैं वे प्रमाणभूत नहीं हैं. इसलिये सर्वत्र सर्वमें सात्त्विकभाव करना चाहिये और यही जीवका प्रथमाधिकार माना गया है. तात्पर्य यह है कि प्रथमाधिकार वेद, यज्ञ, योग, तप आदिमें सर्वत्र सात्त्विक

रखता है. उपरोक्त यही वेदादि मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारीकेलिये अन्य प्रकारसे कहे गये हैं. आशय यह है कि उपर्युक्त वेद, यज्ञ, योग, तप स्नानादि क्रियायें ज्ञान आदि अन्तःकरणकी शुद्धि करते हैं तथा सुखरूप फलको देते हैं इसलिये इसमें सात्त्विक गुणमयता है. सुख, सात्त्विकरूप है इसलिये शुद्ध अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाला ब्रह्मानन्द भी सात्त्विकरूप है. श्रुति, सांख्य, योग, पशुपति, वैष्णव ये पांच शास्त्र मुख्य हैं. धर्मशास्त्र इन सबका अंग भूत है.

यहां यह भागवत वैष्णवशास्त्र है. पशुपति शास्त्र तो केवल परमतका उपन्यास करनेकेलिये ही कहा गया है, इसलिये जितना भाग ग्रहण करने योग्य है उतना ही भाग प्रमाण है किन्तु समग्र प्रमाण नहीं है. इनमें वेद, सांख्य, योग, तथा धर्मशास्त्रोंकी जब तक एकवाक्यता नहीं होती, तब तक वैष्णव शास्त्रोंमें दृढता नहीं आती इसलिये वेद, सांख्य, योग तथा धर्मशास्त्रोंकी एकवाक्यताका निरूपण किया गया है. इनमें प्रथम वेद वेदका अर्थरूप यज्ञ, योगशास्त्र, योगशास्त्रसे कहे गये यम नियमादि, सांख्य (ज्ञान) शास्त्र तथा सांख्य शास्त्रमें कहा गया परम साधनरूप तप, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रमें कही गई उत्तम गति, इन सभीका वासुदेव भगवान्में ही तात्पर्य है. ये सब वासुदेवपरायण हैं ।।२८-२९।।

आभासार्थ: इस तरह युक्ति पूर्वक भगवत् साक्षात्काररूप कल्याणकारी फलके स्वरूपका तथा भागवतसे लेकर भगवत्कथा-रति पर्यन्त भगवत्प्रसादकी प्राप्ति करानेवाले साधनके स्वरूपका निर्णय किया. शौनकने प्रथम अध्यायमें छह प्रश्न पूछे थे उनमें तृतीय प्रश्नसे श्रीकृष्णके अवतारका प्रयोजन पूछा गया था, किन्तु सूत पौराणिक तथा शौनकादिक-का प्रथमाधिकार होनेसे उनको ऐसा ज्ञान है कि कृष्णावतार अन्य अवतारके समान ही है, इसलिए यहां कृष्णावतारकी चर्चा न करके तृतीय अध्यायमें अवतारोंकी कथा कहेंगे तथा अवतारका प्रयोजन भी कहेंगे. तदनन्तर चतुर्थ प्रश्नसे श्रीकृष्णके उदारचरित्रोंको कहिए यह पूछा गया था उसका उत्तर यहां ''स एवेदं ससर्जाग्रे'' आदि पांच श्लोकोंसे देते हैं:

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवान् आत्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः।।३०।।

श्लोकार्थ: इसी निर्गुण सर्व समर्थ भगवान्ने गुणमयी तथा ऊंचे नीचे रूपवाली प्रतिकृति रूप इस सृष्टिको अपनी सर्वभवन सामर्थ्यरूपा मायासे सर्व प्रथम उत्पन्न किया।।३०।।

सुबोधिनी: इन पांच श्लोकोंमेंसे ''स एवेदं ससर्जाग्रे''में सृष्टि लीलाका ''तया विलसितेष्वेषु''में प्रवेश लीलाका ''यथा ह्यवहितो वह्निः''में नानात्व-लीलाका ''असौ गुणमयी''में भोगलीला तथा ''भावयत्येष''में रक्षणलीलाका निरूपण है. सगुण और निर्गुणमें कोई अंतर नहीं है. यह बतानेकेलिये यथाक्रम पांच श्लोकोंसे पांच लीलाओंका निरूपण किया गया है. 'स एवम्' पदसे यह तात्पर्य है कि सृष्टि निर्गुणसे ही होती है क्योंकि प्रथम सृष्टिमें निर्गुणसे गुणोंकी सृष्टि बताई गई है. रजोमिश्रित तीन गुणोंसे भी सृष्टि होती है. तमसे मिश्रित तीन गुणोंसे संहार होता है तथा सत्त्वमिश्रित तीन गुणोंसे पालन होता है. गुणोंके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेशके शुद्ध रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण यथाक्रम शरीररूप है.

यहां संपूर्ण दृश्यमान जगत् कार्य है. आकाशादि भी कार्य हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं अतः ये नित्य नहीं हैं यह सर्व प्रथम सृष्टि है 'अग्रे' शब्दसे इसीका बोध किया गया है. ''**एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**'' प्राण, मन, सर्व इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी ये सब भगवान्से साक्षात् उत्पन्न होनेवाली सर्वप्रथम अग्रे सृष्टि है. सृष्टिके अन्य बहुतसे भेद हैं जिनका निरूपण तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थमें किया गया है. वैष्णवशास्त्रोंमें ही इस प्राथमिक सृष्टिका निरूपण हुआ है जिसमें मायाको इसका निमित्तकारण बताया है.

वेदोंमें तो स्वधर्म, स्वशक्ति तथा काल, कर्म, स्वभावकी सृष्टि ही प्रथम सृष्टि कही गई है. इसलिये अनंत गुण पूर्ण भगवान्ने ही अपनी सर्वभवन-सामर्थ्यरूप मायासे इस आत्मरूप जगत्को उत्पन्न किया है.

यह माया सद्-असद्की अर्थात् ऊंचे नीचे सभीकी प्रतिकृतिरूप है. यही मायाका स्वरूप है. इस मायामें अपना संयोजन करके इसे अपना अधिष्ठान बनाकर अपने आपको ही प्रकट करते हुए भगवान् ही जगत् रूपमें उत्पन्न होते हैं. जैसे स्वर्णकार सांचेमें ढालकर प्रतिमा आदि सुगमतासे बना लेता है उसी तरह माया भी एक सांचा है जिसमें सद्-असद् ऊंचे नीचे पदार्थ ढाले जाकर निर्माण किये जाते हैं, इस प्रकार सृष्टिका निर्माण सुगम बन जाता है. माया ऊंचे नीचे सभीकी प्रतिकृतिरूप है. मायाका यही स्वरूप है जिसका निर्देश 'सदसद्रूपया' पदसे किया गया है. यह माया भगवान्के पास ही रहती है. निद्रा भी भगवान्की

शक्ति है यह निद्राशक्ति जीवको सुषुप्ति दशामें भगवान्‌के पास ले जाती है. यहां जीव माया पर्यन्त गमन काल तक स्वप्नावस्थामें तथा भगवत्पर्यन्त गमनकाल तक निद्रित दशामें रहता है. यही निद्रा जीवको पुनः अपनी पूर्वावस्थामें ले आती है. विद्याशक्ति जीवको भगवान्‌के निकट अवश्य ले जाती है किन्तु निद्राशक्तिकी तरह वह जीवको पुनः पूर्वावस्थामें नहीं लाती है. इस प्रकार भगवान्‌की अनंत शक्तियां हैं.

वेदमतानुसार वो मायारूप साधनका अवलम्बन किये बिना ही भगवान् स्वयं ही अपने आपको जगत् रूप बनाते हैं, ऐसा कहा जाता है. इसलिये घडे गये, ढाले गये पात्रकी तरह वैदिक तथा पौराणिक जगत्‌में भेद है वस्तुतः ये दोनों ही भगवद्‌रूप हैं.

जगत् मिथ्या है, यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है. श्लोकोक्त 'च'कारसे सृष्टिके और भी प्रकार हैं यह निर्देश किया गया है. 'असौ' पद प्रत्यक्षका निर्देशक है. यहां भगवद्‌धर्मके निरूपणसे हृदयमें स्फुरित भगवान्‌को मानो बाहर ही देख रहे हों इस तरह सूतजी अंगुलीसे निर्देश कर रहे हैं अनंतगुणवाले भगवान्‌के स्पर्शसे माया भी उसी प्रकारकी आकृतिमयी तथा गुणमयी हो जाती है तथा गुणोंके उत्तम मध्यम तथा हीन भेदों द्वारा यह माया, सत्त्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी नामोंसे जानी जाती है मायाकृत स्पर्शसे भगवान्‌में गुणरूपता अथवा आकृतिरूपता नहीं आती. इसीका निर्देश यहां 'अगुणाः' पदसे किया गया है. भगवान् प्राकृतगुणोंसे रहित हैं मायाके स्पर्शसे सगुण नहीं हैं.

यहां शंका होती है भगवान्‌के स्पर्शसे माया तो गुणमयी हो गई किन्तु मायामें प्रविष्ट होकर तथा जगद्रूप होकर भी भगवान् निर्गुण ही रहे यह कैसे इसका समाधान यह है कि भगवान् विभुः अर्थात् सर्वसमर्थ हैं वह मायाको सगुण बताते हुए भी स्वयं निर्गुण ही रह सकते हैं ।।३०।।

आभासार्थः इस तरह भगवान्‌के सत् रूपसे जड-जगत्‌की उत्पत्ति कहकर उसी भगवान्‌के आनन्दरूपसे अन्तर्यामीकी सृष्टिको कहते हैं:

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः।।३१।।

श्लोकार्थः भगवान्‌की अपनी इस माया शक्ति द्वारा आकारको प्राप्त करके विचित्र प्रकारसे प्रकाशमान इन देव मनुष्योंकी देहोंमें पंचमहाभूतोंमें तथा

गुणोंमें अन्तयार्मी रूपसे अन्त:प्रविष्ट होकर वह भगवान् सर्वत्र प्रकाश करते हैं और मानों (वह भगवान्) गुणवान्की तरह प्रतीत होते हैं. भगवान् स्वयं सर्वज्ञ अन्तर्यामी रूपसे अन्दर प्रवेश करके जीवको उसके विविध कार्योंमें प्रेरित करते हैं और उसमें विविध ज्ञानका स्फुरण करते हैं. इस प्रकार भगवान् अन्तर्यामी रूपसे सर्वत्र विज्ञान द्वारा प्रकाशमान होते हैं।।३१।।

सुबोधिनी: प्रतिकृति सांचारूप होनेसे माया आकारकी समर्पक है. इस मायासे आकारसमर्पण द्वारा मानो चित्रितसे गुणात्मक देवादि देहोंमें तथा पंचमहाभूतोंमें दृश्यमान गुणोंमें प्रविष्ट वह अन्तर्यामी भगवान् गुणवान्की तरह प्रतीत होता है. वस्तुतः वह प्राकृत गुणोंसे रहित है, क्योंकि उन-उन गुणोंकी प्रकृति अमुक-अमुक जगह ही उसके द्वारा होती है. खदिरके अंगारकी लालिमाकी तरह भीतर प्रविष्ट वही अन्तर्यामी भगवान् सामान्य जीवोंमें प्रकाशित (यत् किञ्चित्) होता है (यहां आभाति के आङ्-प्रत्ययका ईषद् यत्किञ्चित् अर्थ है.) विशिष्ट जीवोंमें अयोगोलकमें प्रविष्ट अग्निके समान इसी अन्तर्यामी भगवान्की बाहर भी स्फूर्ति होती है चारों और स्फूर्ति होती है. चिदंश जीव तथा सदंश जडमें ज्ञानशक्तिका जिस तरह तिरोभाव देखा जाता है, उसी तरह आनन्दांश अन्तर्यामीमें भी ज्ञानशक्तिका तिरोभाव होना चाहिये. इस शंकाका उत्तर देते हैं कि अन्तर्यामी विज्ञानसे प्रकाशित हैं, 'विज्ञानेन विजृम्भितम्'. यहां सर्व जीवोंको सर्वत्र प्रेरित करनेवाला विविध ज्ञानयुक्त जो अन्तर्यामी है वह कार्यमें आविष्ट होनेसे उस उस ज्ञानका प्रकाशक भी है अर्थात् वह अन्तर्यामी ज्ञानयुक्त भी है और उन उन जीवोंको उन उन कार्योंमें प्रवृत्त भी करता है प्रेरक भी वही है और नियामक भी वही है ।।३१।।

आभासार्थ: इस प्रकार अन्तर्यामी भावका अर्थात् अन्तर्यामी रूपसे जगत् प्रवेश लीलाका निरूपण करके जीव भावका विवेचन करते हुए प्रभुकी अनेक भवन लीलाको कहते हैं. अर्थात् जिसमें एक होते हुए भी भगवान् बहुरूप धारण करते हैं ऐसी भगवल्लीलाका प्रतिपादन करते हैं.

यथा ह्यवहितो वह्निः दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ।।३२।।

श्लोकार्थ: अपने उत्पत्तिस्थल अनेकों काष्ठोंमें छिपा हुआ एक ही अग्नि अनेक जैसा प्रतीत होता है. उसी तरह पंचमहाभूत और उनसे उत्पन्न हुए पदार्थोंमें

जीव रूपसे प्रविष्ट वह विश्वात्मा भगवान् ही अनेककी तरह प्रतीत होता है।।३२।।

सुबोधिनी: ''**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः**''(ब्रह्मसू.१।४।२२) ब्रह्मसूत्रमें आचार्य काशकृत्स्नके मतानुसार यहां प्रतिपादन किया गया गया है इस मतानुसार किसी भी रूपमें अवस्थिति करनेवाले भगवान् ही जीव हैं जीव भगवान्का रूप है. काष्ठमें जैसे अग्नि है उसी तरह पंचमहाभूतोंमें तथा उनसे उत्पन्न भौतिक पदार्थोंमें वह विश्वात्मा भगवान् जीवरूपमें स्थित है. वह ईश्वर एक है. उन उन उपाधियोंके कारण भेद प्रतीत होता है किन्तु भेद प्रमाणित नहीं है. उपाधि रहित जीव स्वतः भगवान्से विलक्षण नहीं है. केवल विभिन्न शरीररूप उपाधिके भेदसे ही वह विलक्षण बन गया है. जिस प्रकार मन्थन किये बिना काष्ठमें अग्निकी प्रतीति नहीं होती, उसी तरह योगके बिना अन्तःकरणमें जीवकी प्रतीति नहीं होती. जिस प्रकार हाथ पैर आदि अवयव शरीरसे भिन्न नहीं हैं उसी तरह महाकाष्ठमें सर्वत्र एकरूपसे विद्यमान अग्नि जहां मंथन किया जाता है वहां ही मंथन स्थानमें प्रकट होता है. इसी प्रकार जीव भगवान्का अंश होनेसे उससे भिन्न नहीं हैं. तथापि भेदकी जो प्रतीति होती है वह प्रामाणिक नहीं है. जैसे एक ही विशालकाष्ठमें सर्वत्र एक ही अग्नि है वैसे अनेकों काष्ठोंमें भी वह अग्नि एक ही है, यही व्यवस्था जीवोंकी है. इसी तरह सर्वदेहोंमें तथा सर्वपंचमहाभूतोंमें गुह्यरूपसे तिरोधानतया जो समवस्थित है वह जीव है यहां 'हि' अव्ययका यही अर्थ है. यहां काष्ठके दृष्टांतसे यह सिद्ध होता है कि जिस काष्ठमें अग्नि प्रकट है उसी काष्ठमें वह प्रकाशमान रहता है. जडमें चिदंशका तिरोभाव होनेसे वहां जीवका प्रकाश नहीं है. वह जीव योगसे अथवा ज्ञानसे जड, चेतन सबमें प्रकट हो सकता है. इसलिये जैसे अग्निका उत्पत्तिस्थान काष्ठ है उसी तरह जीवके प्रकट होनेका स्थान समग्र पंचमहाभूत हैं उनमें काष्ठमें अग्निके समान एक ही जीव पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है. और यह जीव विश्वात्मा है अर्थात् समग्र विश्वका यह एक ही स्वरूप है. और इसीलिये श्लोकमें भी 'विश्वात्मा' इस तरह एक वचनका ही प्रयोग किया गया है, क्योंकि एक ही जगत्की आत्मा अनेक कैसे हो सकती है? किन्तु उपाधिके भेदसे मानो पृथक्-पृथक् हो ऐसा प्रतीत होता है. 'भूतेषु च' में 'च'कारका अर्थ है पंचमहाभूतोंसे बने हुए शरीर आदिमें भी वह पृथक्-पृथक् दिखाई देता है. यह जीव (पुरुष) है. अर्थात् सर्वत्र ब्रह्माण्डमें वह ब्रह्माण्ड

विग्रहवाला पुरुष एक ही अपने आप प्रकाशित है 'स्वराट्'. इस ब्रह्माण्डके पंचमहाभूत और इनसे उत्पन्न संपूर्ण भौतिक-पदार्थ इसके अवयव रूप हैं. ये समग्र पदार्थ पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं तथा यह पुरुष अनेक नहीं है. एक ही है. जिस तरह हाथ पैर आदिमें विविध प्रकारकी विभिन्नता दिखाई देती है फिर भी शरीरमें स्थित जीवका कोई भेद नहीं है. इसी तरह समग्र ब्रह्माण्डमें विराट्पुरुषका भेद नहीं है. इसलिए सर्वत्र ब्रह्माण्डमें छिपा हुआ एक ही विराट् पुरुष विश्वात्मा भगवान् जब नानारूपमें प्रतीत होता है तब वह जीव कहलाता है ।।३२।।

आभासार्थ: वही विश्वात्मा भगवान् जीवरूपसे लीला करता है उसीको कहते हैं:

असौ गुणमयैर्भावैः भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान्।।३३।।

श्लोकार्थ: वही विश्वात्मा भगवान् सदंशसे निर्मित पंचमहाभूत पंचतन्मात्रा इन्द्रिय समूह तथा अन्तःकरण द्वारा बनायी गयी सृष्टिमें प्रविष्ट होकर देव, तिर्यक, नर आदि प्राणीयोंमें (पुरुषार्थ-चतुष्टयका) भोग करता है।।३३।।

सुबोधिनी: अन्तःकरण इन्द्रियां, पंचतन्मात्रायें तथा पंचमहाभूत इस तरह भगवान्के सदंशसे यह चार प्रकारकी सृष्टि है. ये अन्तःकरण आदि गुणमय अर्थात् त्रिगुणात्मक कहलाते हैं. गुण भगवान्के अंश हैं इसलिये यह चतुर्विध सृष्टि भगवान्की अंशरूप है. अन्तःकरण आदिसे निर्मित देवता, पक्षी तथा मनुष्योंमें प्रविष्ट भगवान् अनाध्यासतया स्थित होकर विषयोंका उपभोग करता है अर्थात् भोग करता हूं इस प्रकारके अध्यास (भ्रम)से रहित होकर विषयोंका उपभोग करता है विषयोंको अपने स्वाधीन करता है. भोग क्या है? यह इससे आगे स्पष्ट किया जायेगा. इस इतने निरूपणसे भोगसृष्टिका भेद कहा गया है. साक्षात् सृष्टिके भोगका निरूपण इससे पूर्व कर चुके हैं.

स्वयं भगवान् ही सृष्टि रूप बन जाते हैं और मायाको कारण बनाकर सृष्टि बनाते हैं. इन दोनोंका ही निरूपण किया जा चुका है. यहां 'स्वनिर्मितेषु'का अर्थ तीन प्रकारसे किया जा सकता है स्वस्मिन् निर्मितेषु १.अपनेमें बनाई गई सृष्टिमें, स्वार्थं निर्मितेषु २.अपने लिये बनाई गई सृष्टिमें, स्वेन निर्मितेषु ३.अपनेसे निर्मित सृष्टिमें इस प्रकारके अर्थसे ईश्वरमें कर्त्तव्य आता है. अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंचमहाभूत आदिका भगवान् करण भी हैं और कर्ता भी हैं.

गुण तीन हैं: सत्त्व, रजस् और तमस्. ऊपर कहे गये अन्तःकरण आदिमें अन्तःकरण सात्त्विक है, इन्द्रियां सात्त्विक-राजस हैं, रूप-रस आदि तन्मात्रायें राजस-तामस हैं और पंचमहाभूत तामस हैं.

धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये सृष्टिका चार प्रकारसे भेद कहा है. अर्थात् देहसे धर्म होता है, तन्मात्राओंसे अर्थ सिद्ध होता है, इन्द्रियोंसे काम सिद्ध होता है और अन्तःकरणसे मोक्ष सिद्ध होता है. जीवको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंमें से किसी एकमें जब दृढ अध्यास हो जाता है तब अवशिष्ट तीनों उसके अंग बन जाते हैं. 'तद्गुणान्' इसलिये चारों प्रकारके पुरुषार्थोंको वह भगवान् जीव रूपसे भोगता है ।।३३।।

आभासार्थ: इस प्रकार भोगलीलाका उपपादन करके, भोग सिद्धिके संपादनार्थ पालन लीलाका वर्णन करते हैं:

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देव-तिर्यङ्-नरादिषु।।३४।।

श्लोकार्थ: यह भगवान् देव, पशु-पक्षी तथा मनुष्यादिमें लीलावतार धारण करके जीवके पीछे-पीछे रहते हुए भिन्न-भिन्न प्रकृतिके प्राणियोंमें प्रीति रखते हैं तथा जीवसे अभिन्न रहकर यही भगवान् लोककी सर्वदा चिन्ता रखते हुए उनकेदु:ख दूर करते हुए उनका पालन करते हैं. भगवान् अपने विभिन्न अवतार-चरित्रों द्वारा सर्व लोकको मुक्तिका दान करनेकेलिए उनको सात्विकतासे सम्पन्न करते हैं।।३४।।

सुबोधिनी: जीवरूपसे अभिन्न यह भगवान् ही लोकका पालन करता है. पालन करनेमें सत्त्वगुण ही साधनरूप है. 'लोक'शब्दसे यहां समग्र भुवन तथा मनुष्य दोनों ग्रहण किये गये हैं. अथवा भगवान् इन जीवोंको सत्त्व युक्त बनाते हैं. लोकोंका पालन करनेमें और सत्त्व युक्त बनानेमें हेतु यह है कि अवतारों द्वारा दैत्योंका वध करके सब लोकोंका पालन करते हैं अथवा अपने विभिन्न अवतारोंसे विभिन्न लीलाएं करके सर्व लोंकोंकी मुक्तिकेलिये उनको सत्त्व युक्त करते हैं. तात्पर्य यह है कि सत्त्व गुणको ग्रहण करके भगवान् जो अवतार धारण करते हैं उन अवतारोंसे दैत्योंका संहार करके सबका रक्षण करते हैं अथवा ऐसे चरित्र करते हैं जिससे अन्य प्राणी भी यदि उन चरित्रोंकी भावना करें तो वे भी सत्त्व युक्त बन कर मुक्त हो जाते हैं.

यहां शंका होती है कि सत्त्व मात्रसे मुक्ति कैसे मिल सकती है? अथवा अवतारोंसे पालन कैसे संभव है? इसके उत्तरमें कहते हैं: 'लोकभावनः' अर्थात् लोकैः भावनं यस्य सर्व लोक इसकी भावना करते हैं. इस तरहकी यह भावना करना मुक्तिका प्रकार है. इस तरह भावना करनेसे मुक्ति मिल जाती है. अर्थात् अवतारोंकी अनुपस्थितिमें भी भावना करनेसे ही सर्व अनिष्टकी निवृत्ति होती है और अनिष्टकी निवृत्तिरूपमें पालन होता है. अथवा सर्वलोकोंकी चिन्ताके कारण उनके दुख दूर करनेकेलिये अवतार धारण करके उनका पालन करते हैं.

यहां शंका होती है मत्स्यादि तामस प्रकृतिके अवतारोंमें भगवान् कैसे लीला कर सकते हैं. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अनुरतः' अभिप्राय यह है कि जीव अनेक प्रकारके हैं. किसी सत्त्वावतारमें, किसीकी रजोगुणावतारमें और किसीकी तमोगुणावतारमें आसक्ति होती है. अतः उनकी आसक्ति (रति)के अनुसार सात्त्विक राजस तथा तामसमें भगवान् अवतार लेते हैं. विना लोक रतिके भगवान् ऐसा शरीर धारण नहीं करते. लोकोंकी अनुरक्ति देखकर भगवान् स्वयं भी तदनुरक्ति अनुसार उसी रूपमें रत हो जाते हैं, उसी रूपमें अवतरित होते हैं.

देव, तिर्यङ् तथा नर ये सात्त्विक, राजस तथा तामस हैं ''देव तिर्यङ्नरादिषु''में जो 'आदि' पद है उससे सात्त्विकादिके मिश्र भेद लिये गये हैं. जैसे सात्त्विक तामस. राजस तामस, राजस सात्त्विक इत्यादि इत्यादि. इन मिश्र भेदोंके लेनेसे देव-तिर्यङ्नरादिमें अनुरक्त अन्य सभीमें भी भगवान्के अवतार होते हैं यह समझ लेना चाहिये. इसीका निर्देश करनेकेलिये अग्रिम प्रसंगोंमें भगवान्के अवतार असंख्य हैं ''**अवतारा ह्यसंख्येयाः**'' ऐसा कहा गया है.

देवताओंमें वामन, तिर्यङ्में मत्स्यादि, मनुष्योंमें राम आदि तथा मिश्रोंमें नृसिंह आदि अवतार हैं. नृसिंह अवतार मनुष्य तथा सिंहाकृतिका होनेके कारण मिश्रावतार है ।।३४।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके
हीनाधिकार प्रकरणका द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ३

भगवान्‌के अवतार

निरूपिताः पञ्च लीलाः फलसाधननिर्णये ।
तृतीये त्ववशिष्टानाम् अवतारार्थधर्मिणाम् ।।कारि.१।।
कृष्णावतारकार्यं हि न सूतो ज्ञातवान् स्फुटम् ।
अतः साधारणं प्रोक्तं निर्णयश्च तथाधिकः ।
षट्प्रश्नपूरणं तेन वस्तुतः पञ्चपूरणम्।।कारि.२।।

कारिकार्थः दूसरे अध्यायमें फलसाधनके निर्णयमें सृष्टिप्रवेश, नानात्व, भोग और रक्षा इन पांच लीलाओंका वर्णन किया जा चुका है. इस तृतीय अध्यायमें, बाकीके बचे हुए अवतारोंका पुरुषार्थोंका तथा सर्वप्रार्थनीय धर्मी श्रीकृष्णका निर्णय किया जायेगा. सूतजी कृष्ण अवतारके कार्यको स्पष्टतया नहीं जानते थे. इसलिए इस अध्यायमें 'असौ'इत्यादि श्लोकसे उनका साधारण रूपसे ही वर्णन किया है, और 'देवतिर्यङ्नरादिषु'से विशेष रूपमें निर्णय कहा है. इस तरह छहों प्रश्नोंके उत्तर संपूर्ण हो जाते हैं. किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो पांच प्रश्नोंके ही उत्तर पूर्ण हुए हैं. क्योंकि अग्रिम कुन्तिकी स्तुतिमें श्रीकृष्णावतारका निरूपण बराबर नहीं हुआ है.

''अब हमें भगवान्‌के अवतारोंकी कथा कहिये'' ''**आख्या हि हरेर्धीमन् अवतारकथाः शुभाः**'' इस प्रकार अवतारके विषयमें पृथक् प्रश्न किया गया है. इसलिए इस तृतीय अध्यायमें पृथक्तया ही ''**जगृहे पौरुषं रूपम्**'' आदि श्लोकोंसे अवतारोंका निरूपण करते हैं.

उतरनेका नाम 'अवतार' है, अर्थात् व्यापिवैकुण्ठसे (अक्षर ब्रह्मसे) भगवान्‌का इस प्रपंचमें अवतरण (आगमन) ही अवतार है. यद्यपि अक्षर, काल, कार्य, स्वभाव एवं तत्त्वोंमें भी भगवान्‌का अवतरण है फिर भी उसमें 'द्वैतरूपता' है अतः यह अवतार नहीं माना जा सकता अथवा इच्छानुसार लीला करनेवाले हरिकी अवतार कथा कहो इस प्रश्नमें अवतार सम्बन्धी विशेष प्रश्न किया गया है इसलिए अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव इत्यादि अवतार नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनका स्वेच्छासे लीला करनेका वर्णन नहीं है अतः जिनकी स्वेच्छा रूपसे लीला है, उन्हींका अवतार रूपसे वर्णन है.

भूतलीला साक्षात् तथा परंपरा भेदसे दो प्रकारकी है. ''**एतस्माद् जायते प्राण: मन: सर्वेन्द्रियाणि च**'' इत्यादिसे कही गयी ब्रह्मसे ही सृष्टि साक्षात् भूतलीला है और ''**तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाश: संभूत:**'' अर्थात् भगवान्से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी–इस क्रमसे कही गयी सृष्टि परंपरा भूतलीला है.

भौतिकलीला दो प्रकारकी है. एक ब्रह्माण्डको विराट्को उत्पन्न करके, की जानेवाली और दूसरी ब्रह्माण्डको उत्पन्न किए बिना ही की जानेवाली. इनमें जहां ब्रह्माण्डको उत्पन्न करके भौतिक लीलाकी जाती है वहां निर्माण पक्षमें भी, जिस तरह किसी कल्पमें दशरथ पुत्रोंमें कोई अवतार था कोई अवतार नहीं भी था (क्योंकि महाभारतके सभापर्वमें 'दाशरथि: राम' ऐसा कहकर यह सूचित किया है कि किसी कल्पमें रामका अवतार रूपमें निरूपण नहीं है) उसी तरह विश्वको उत्पन्न करनेवालोंका गर्भरूप जो विराट् है उनका कभी ब्रह्म शरीरसे और कभी जीव शरीरसे निरूपण किया गया है. जहां विराट्को ब्रह्म शरीर माना है वहां विराट्में रहनेवालोंकी मुक्ति सुलभ है और जहां विराट्को जीव शरीर माना है वहां मुक्ति सुलभ नहीं है. अर्थात् विराट्को यदि जीव शरीर मानते हैं, तब उस विराट्की उपासना करनेवाले सभी जीवोपासक होंगे तथा कृष्णावतारके अतिरिक्त जितने भी अवतार हैं ''**एतन्नानावताराणां**''के अनुसार जीव शरीर विराट् ही उनका निधान होगा इसलिए ऐसी उपासनासे मुक्ति सुलभ नहीं होगी. यदि ब्रह्माण्डको ब्रह्म शरीर मानते हैं तब उपासक उस ब्रह्माण्डकी विराट्की भगवान्के रूपमें उपासना करेगा और क्योंकि उन सब अवतारोंका स्थान ब्रह्म है, इसलिए वह उपासक, ब्रह्मका उपासक होगा. अत: उसकी मुक्ति सुलभ होगी.

इसलिए प्रथम पांच श्लोकोंसे पुरूषावतारको कहते हैं:

सूत: उवाच

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभि:।
सम्भूतं षोडशकलम् आदौ लोकसिसृक्षया।।१।।

श्लोकार्थ: लोकोंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे, महदादिसे उत्पन्न सोलह कलारूप विराट् पुरुषके रूपको भगवान्ने धारण किया।।१।।

सुबोधिनी: पुरुषरूपको धारण कर सके ऐसा कोई अधिकारी जीव ब्रह्मादि नहीं था. इसलिये भगवान् स्वयं पुरुष बने, भगवान्के तीन रूप हैं, जो

पुरुषसे कहे गये हैं १.महत्तत्वको पैदा करने वाला २.ब्रह्माण्डमें स्थित और ३.सब प्राणियोंमें रहनेवाला. जहां 'पुरा आस्ते' ऐसा विग्रह है "**व्यत्ययो बहुलं छन्दसि**" (पाणि.सू.) वहां 'आ'कारको 'उ'कार होकर, 'पुरुष' ऐसा शब्द बनता है. इस व्युत्पत्तिसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्को शरीराध्यास नहीं है क्योंकि भगवान् शरीर सम्बन्ध हुआ उससे पूर्व थे. 'पुरे वसति' 'इस व्युत्पत्तिमें, व्याकरणके नियमानुसार, 'व'कारका, सम्प्रसारण होनेसे 'ष' होकर पुरुष' शब्द बनता है. 'पुरा आस्ते' तथा 'पुर उषति' ये दोनों व्युत्पत्तियां बृहदारण्यकसे सिद्ध हैं वहां "**स यत् पूर्वोस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मादुच्यते पुरुष इति**" अर्थात् इस सबके पूर्व रहनेवाला और पापोंको जलानेवाला वह ब्रह्म है इसलिये वही 'पुरुष' कहलाता है. और 'पुरि वसति' इसका भाव मधु ब्राह्मणमें 'पुरुः पुरुष आविशत्' स्पष्ट किया गया है. यहां 'पुरि वसति' ऐसा विग्रह करने पर शरीररूपी पुरमें रहनेवाला जीव ऐसा अर्थ भी निष्पन्न होता है. (किन्तु यह अर्थ यहां ग्रहण नहीं किया गया है) पुरको जलानेवाला तथा पहिले रहनेवाला, इन दोनों पक्षोंमें 'भगवान्' ही ग्रहण किये गये हैं. 'पुरं उषति' इस द्वितीय व्याख्याका यहां यह अभिप्राय होता है कि तप्त लोह पिंडमें अग्निकी तरह प्रविष्ट भगवान् ब्रह्माण्डके भीतर ही रहते हुए ब्रह्माण्डमेंसे ही उत्पन्न होनेके कारण सर्वको मुक्ति प्रदान करनेकेलिये सभीका निर्माण करते हैं. यह ब्रह्माण्ड पुरुषकी आकृतिरूप है, पुरुष जैसा है, पुरुष नहीं क्योंकि मूल श्लोकमें 'पौरुष–पुरुष' सम्बन्धी शब्दका प्रयोग किया गया है. क्योंकि यह ब्रह्माण्ड मेरे रहनेका उत्तम स्थान है "**ममायतनम् उत्तमम्**" इस तरहके कथनसे भी यही अभिप्राय स्पष्ट किया गया है. शुद्धसत्त्वरूप शरीरकी तरह, तत्त्वोंसे बने हुए इस पुरुष शरीरको भगवान्ने धारण किया है किसी अन्य अधिकारीने नहीं और यही निर्देश करनेकेलिये यहां 'भगवान्' शब्दका प्रयोग किया गया है.

जलमें बीजसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माण्डसे यह ब्रह्माण्ड विलक्षण है इस बातको 'महदादिभिः' इससे कहा गया है अर्थात् महत्तत्व, अहंकार, रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इन तन्मात्राओंका तथा एकादश इन्द्रियां और पंचमहाभूतोंका इस तरह कुल मिलाकर २३ संख्याका यह प्राकृत समुदाय है, जिससे यह ब्रह्माण्ड बना है. इस सृष्टिमें स्वयं भगवान् प्रकृति और पुरुष बने अतः भगवान्के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं था यही प्रथम आद्य सृष्टि है. इसके अनन्तर दूसरी

तीसरी सृष्टियोंका जो निर्माण किया गया उनमें ब्रह्मा आदि अधिकारी पुरुष सुलभ थे अतः इनसे ही सृष्टियोंका निर्माण हुआ ब्रह्मा आदि प्रथम सृष्टिमें सुलभ नहीं थे इसलिये स्वयं भगवान् ही इस सृष्टिके अधिकारी रूप बने.

सृष्टिके निर्माण करनेकी इच्छासे यह पुरुषावतार हुआ 'लोकसिसृक्षया' इस पुरुषावतारका यही प्रयोजन था. सृष्टियां लोक भगवान्के उदरमें थीं लोकोंका निर्माण और उनकी उदरमें स्थिति ये दोनों ही कार्य जिस तरहसे सम्पादित हो सके, उनको उसी तरह संपादित करनेकेलिये भगवान्ने ब्रह्माण्ड देहको धारण किया. ब्रह्माण्ड देह धारण करने पर उसी देहमें सृष्टि तथा स्थिति दोनों रहेंगी ।।१।।

आभासार्थः यदि भगवान् पूर्वोक्त–ब्रह्माण्ड देहको धारण नहीं करते तो उसमें कौनसी आपत्ति थी और भगवान्का किस स्वरूपसे कर्तृत्व है. इसको स्पष्ट करनेकेलिए कहते हैं कि:

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभीह्रदाम्बुजाद् आसीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः।।२।।

श्लोकार्थः समुद्रके जल पर लेटे हुए समाधिरूप निद्रामें लीन भगवान्के नाभि रूप ह्रदमेंसे उत्पन्न कमलसे जगत्का निमार्ण करनेवालोंके पति ब्रह्माजी प्रकट हुए।।२।।

सुबोधिनीः भगवान्का यह शयन ब्रह्माके दिनकी समाप्तिमें होनेवाले नैमित्तिक प्रलयकालका शयन नहीं है किन्तु वैष्णवतन्त्रमें कहे गये चतुर्मूर्तिकी सृष्टिके कारणरूप नारायणका यहां शयन है. इसीका निर्देश ''**आसीद् उदारगुण–वारिधि**'' इस पंक्तिमें किया गया है अर्थात् उदार गुणोंके समुद्ररूप नारायण अपने उदरमें रहनेवाले जीवोंका निर्माण करते हैं.

भगवद् उदरमें स्थित सायुज्यप्राप्त जीवोंको सृष्टि निर्माणके समयमें बाहर निकाल कर विमुख करना उपयुक्त? है अर्थात् जैसे सायुज्य सृष्टिवाला जीव भगवान्में लीन हो जानेके पश्चात् फिर जन्म नहीं लेता उसी तरह इन जीवोंका भी भगवद् उदरसे बहिर्निष्काशन युक्त नहीं होगा इसीलिये भगवान् ब्रह्माण्डरूप द्वितीय कोशको पैदाकर फिर उसी ब्रह्माण्डमें सबको उत्पन्न करते हैं.

यहां शंका करते हैं कि शयन करते हुए भगवान्को शयनका परित्याग करके सृष्टिका निर्माण करनेमें बडा क्लेश होगा. इसके उत्तरमें कहते हैं कि शयन करते हुए भगवान्से ही यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है और यही बात ''अम्भसि

शयानस्य''से कही गई है अर्थात् भगवान् सो रहे थे और सोये हुए भगवान्ने ही यह सब उत्पन्न किया. श्लोकस्थ 'अम्भसि' पदसे यह सूचित किया गया है कि शय्या शीतल और कोमल है जलमें रहनेवाली शेषशय्या शीतल और कोमल ही होगी.

यहां शंका करते हैं कि शयन उसीको कहते हैं जिसमें स्वरूपकी विस्मृति होती है. और मायाके अथवा भगवान्के पास गमन होता है, किन्तु यह दोनों ही भगवान्के शयनमें संभव नहीं. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'योगनिद्राम्' वास्तवमें भगवान् निद्रा नहीं ले रहे हैं किन्तु योगभूत (समाधिरूप) जो निद्रा है वह भगवान्की कोई एक शक्ति है जो जीवोंका क्लेश दूर करती है तथा जीवोंको भगवान्के पास ले जाती है अर्थात् योग जैसे गुप्त जीवको प्रकट कर देता है उसी तरह भगवान्की यह योग निद्रा भी जीवको सुषुप्ति दशामें भगवत्सम्बन्धी आनन्दका प्रकट अनुभव करा देती है यह निद्रा अल्प है. इसलिये भगवान् इसको अपने स्वरूपमें चारों ओर फैलाकर विशाल तथा कार्य क्षम बनाते हैं. सृष्टिके उपयोगार्थ प्रकट करते हैं. अर्थात् आनन्दकेलिये तथा योगकेलिये प्रयत्न करनेवाले लोग ही, सृष्टि पैदा करते हैं. और यही भगवान्के विषयमें भी कहा जा सकता है. इसीका निर्देश ''नाभिह्रदाम्बुजादासीद्'' इस पदमें किया गया है.

यह जगत् उदरमें स्थित था यह निर्देश करनेकेलिये यहां 'नाभि' पदका प्रयोग किया गया है. ह्रद स्थित कमल कभी सूखता नहीं नाभिकेलिये 'ह्रद' शब्दके प्रयोग द्वारा यहां यही सूचित होता है. 'कमल' यहां त्रिलोकरूप है. इससे भगवान्का माहात्म्य भी सूचित किया गया है. भगवान्की ऐसी महिमा है कि जिनकी नाभिसे अंकुरित कमल भी त्रिलोकरूप है. 'ब्रह्मा' पदका तात्पर्य है कि यह सृष्टि भगवान्का प्रथम ही कार्य है. अर्थात् 'ब्रह्मा' भगवान्का प्रथम कार्यरूप है इसीलिये वह 'ब्रह्मा' कहा जाता है यहां 'ब्रह्मा'का पुंल्लिंगमें प्रयोग यह निर्देश करता है कि वह इस जगत्का स्वतंत्र रूपसे कर्ता है. तदनन्तर ब्रह्मासे विश्वको उत्पन्न करन वाले मरीचि आदि उत्पन्न हुए. ब्रह्मा इन मरीचि आदिको आज्ञा देनेवाला है. इसलिये ब्रह्माको यहां 'विश्वसृजां पतिः'' मरीचि आदिका पति कहा है. 'पति' शब्दसे यह सूचित होता है कि इनकेलिये ब्रह्माकी आज्ञा अवश्य पालनी है. इसका सारांश यह है कि जिसने पुरुषरूप धारण किया उसी भगवान्के नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है ।।२।।

आभासार्थ: इससे यह कहा गया है कि शयन करते हुए भगवान्से ही सभी लोक उत्पन्न हुए हैं इन लोकोंके स्थानका निर्देश करनेकेलिए यहां 'लोक' शब्दका अर्थ 'भुवन' किया गया है. 'भुवन जड है' यह स्वत: उत्पन्न नहीं हो सकते, और भगवान् भी निद्रित हैं इसलिए वे भी उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि पूर्वोक्त पुरुष शरीरके स्थूल अवयव ही भुवन रूपमें परिणित हो गए इसी तथ्यको निम्न श्लोकसे कहते हैं:

यस्यावयवसंस्थानै: कल्पितो लोकविस्तर:।

तद् वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वम् ऊर्जितम्।।३।।

श्लोकार्थ: जिस पुरुषरूप भगवान्के चरणारविन्द आदि अवयवोंसे यह विस्तृत भुवन जन लोक बना वही विशुद्ध सत्त्वरूप तथा सर्व कार्योंको करनेमें उन्मुख भगवान्का स्वरूप है।।३।।

सुबोधिनी: युक्तिसे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्का विराट् देह वृक्ष भावमें अथवा जरायु भावमें है. यदि वृक्षभाव अर्थ किया जाता है तो बीज पूर्वभाव, वृक्ष मध्यभाव तथा फल उत्तरभाव है यदि जरायु भाव ऐसा अर्थ किया जाता है तो बीज पूर्वभाव है, जरायु मध्य भाव है तथा देह उत्तरभाव है. वास्तवमें यह विराट् देह, बीजरूप तथा सर्वगतिवाला है. विराट्के जिन जिन अवयवोंसे जो जो लोक बने हैं उनका उल्लेख "**पातालमेतस्य हि पादमूलं**" इत्यादिसे आगे करेंगे.

विराट् देहमें लोकोंका निर्माण किये जाने पर लोक छोटे ही पैदा हुये होंगे ऐसी आशंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'लोकविस्तर:', ये लोक बहुत विस्तृतरूपमें बने हैं. यहां 'लोक' शब्द भुवन एवं जन इन दोनों ही अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है. अर्थात् भुवन और जन दोनोंका ही निर्माण हुआ इस प्रकार यहां भुवन तथा जन इन दोनोंका निर्माण ही अवतारका प्रयोजन है यह कहकर दूसरे ब्रह्माण्डोंकी तरह यह ब्रह्माण्ड भी केवल जड ही होगा? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड जड नहीं है, अवताररूप है. इससे पूर्व कहा गया, ब्रह्माण्डरूप वास्तवमें भगवान्का ही रूप है, दूसरा नहीं. यहां 'वै' पदसे यह निर्देश किया गया है कि भगवान्की यह ब्रह्माण्डरूपता प्रमाणसे उत्पत्तिसे सिद्ध है.

यहां यह शंका होती है कि भगवान्का तो कोई प्राकृतरूप है ही नहीं, भगवान् तो शुद्ध सत्त्वात्मक हैं. तो, फिर, यह ब्रह्माण्ड भगवान्का देह कैसे हुआ? इसका समाधान यह है कि यह ब्रह्माण्डरूप देह भी शुद्ध सत्त्वात्मक ही है. भगवान्

शांत, निष्क्रिय नहीं हैं, अपितु सर्व कार्य करनेमें उन्मुख हैं यह बात 'ऊर्जितम्' पदसे सूचितकी गई है. हर्ष सुलभ उत्फुल्लताको 'ऊर्ज' कहते हैं. यद्यपि रजोगुणके विना यह विराट् देह कार्य करनेमें उन्मुख नहीं हो सकता, किन्तु, रजोगुणके बिना भी, भगवान्के आवेशसे यह विराट् देह संपूर्ण कार्य सम्पादनार्थ उन्मुख होता है ।।३।।

आभासार्थ: शंका होती है कि ब्रह्माण्डको भगवान्ने साधन रूपसे स्वीकार किया है और ऐसा संभव है तो फिर, भगवान्ने इसका एकान्ततया देह रूपसे ही क्यों स्वीकार किया? इसके उत्तरमें कहते है कि:

पश्यन्त्यदो रूपम् अदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षि–नासिकं सहस्रमौल्यम्बर–कुण्डलोल्लसत्।।४।।

श्लोकार्थ: जो अपरिमित पैर, जंघाएं, भुजाएं एवं मुखोंसे अद्भुत है और जिसके अनन्तों मस्तकोंमें अनन्तों कान, आंख और नासिकाएं है और जो अनन्तों मुकुट, वस्त्र और कुण्डलोंसे अत्यन्त शोभा युक्त है ऐसे इस ब्रह्माण्ड रूपको योगिगण विशाल ज्ञान दृष्टिसे देखते हैं प्रत्यक्ष करते हैं।।४।।

सुबोधिनी: योगियोंको योगसुलभ ज्ञान (धर्म) द्वारा साक्षात्कार होता है. यह साक्षात्कार ही भगवद् अवतारमें प्रमाण है. यह जगत् प्राकृत नेत्रोंसे ही देखा जाता है. किन्तु परोक्षरूपसे प्रसिद्ध भगवान्का यह रूप प्राकृत नहीं है. यह रूप पृथिवी आदिकी तरह जड नहीं है. इसी तरह योगियोंको भी इसके दर्शन सदा नहीं होते. किन्तु महान् ज्ञानदृष्टिसे ही अदभ्रचक्षुषा दर्शन होते हैं. यह जगत् भगवान्का प्रतिकृतिरूप है. अतः वेदप्रतिपाद्य भगवान्से सम्बन्ध होने पर, यह विराट् देह जगत् भी श्रुतिसे प्रतिपादित 'विश्वतश्चक्षु' इस रूपकी तरह ध्यान करने योग्य है. इसीका निर्देश 'सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्'से किया गया है. 'सहस्र'का यहां 'अपरिमित' अर्थ होता है अर्थात् उस विराट्के अपरिमित पैर ऊरू भुजा आनन आदि हैं. 'अनेकवक्त्रनयनम्' इत्यादि वाक्योंसे गीतामें प्रतिपादित रूपकी तरह यह विराट्, अनेकों पैर ऊरू भुजा तथा मुखोंसे युक्त अत्यंत अद्भुत है. पाद ऊरू भुजा और मुख इनमें क्रियाशक्ति अधिक होती है. इसलिये यहां ये चारों अंग क्रियाशक्तिरूपसे कहे गये हैं. तात्पर्य यह है कि पैरसे गमन ऊरूसे सृष्टि भुजाओंसे कार्य और मुखसे परिभाषण रूप क्रियायें होती हैं. तदनंतर ज्ञानशक्ति–प्रधान इन्द्रियोंका वर्णन करते हैं इन विराट्के '**सहस्रमूर्द्ध–श्रवणाक्षि–नासिकं**'

अपरिमित मस्तकोंमें अपरिमित कर्ण, नेत्र और नासिकाएं हैं. यह तीनों इन्द्रियां दो दो हैं. अतः दो–दो देवतावाली ये इन्द्रियां ज्ञानके अंगरूपसे बाहर प्रसिद्ध हैं. रसनेन्द्रिय भीतर होती हैं. अतः 'आनन'पदसे ही उसका ग्रहण हो जाता है. त्वचा एक ही है अनेक नहीं क्योंकि त्वचासे एक ही रूपमें सर्वत्र स्पर्शकी उपलब्धि होती है. तात्पर्य यह है कि पैर और भुजामें त्वचा है. किन्तु ये दानों पृथक्–पृथक् नहीं, एक ही है. क्योंकि पैर भुजा आदिमें सर्वत्र एक प्रकारसे स्पर्शानुभूति होती है. अतः त्वचा एक ही है.

अब भगवान्के परिकरका वर्णन करते हैं अपरिमित मुकुट वस्त्र तथा कुण्डलोंसे यह विराट् रूप भगवान् उल्लसित अत्यंत शोभायुक्त हैं. इन मुकुट आदि परिकरका 'सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत्' इत्यादि पंक्तिमें अवरोह प्रकारसे ऊपरसे नीचे यथाक्रम निर्देश किया गया है इन परिकरोंमें प्रथम मुकुटके दर्शन होते हैं. फिर आभरणोंके दर्शन होते हैं, तदनंतर कुण्डलोंके होते हैं. इसलिये उपरोक्त क्रमसे ही इनका यहां निरूपण किया गया है ।।४।।

आभासार्थः शंका करते हैं. कि ''**वाचं धेनुम् उपासीत**'' वाणीकी कामधेनुके रूपमें उपासना करनी चाहिए इस वाक्यमें जैसे उपासनाकेलिए वाणीको, कामधेनुके रूपमें बताया है, इसी प्रकार यदि जगत्का ध्यान, भगवद् रूपमें संभव हो सकता है तो फिर, विराट् पुरुष एकान्ततया अवतार रूप ही है. विराट् पुरुषका अवतार, अवतार ही है. यह कैसे कह सकते हैं? इसके समाधानमें यह कथन है कि:

एतद् नानावताराणां निधानं बीजम् अव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देव–तिर्यङ्–नरादयः ।।५।।

श्लोकार्थः यह विराट् पुरुष, विविध अवतारोंका निवास स्थान रूप है. तथा इनके उद्गमका कारण है, इसीके अंश रूप ब्रह्मा और ब्रह्माके अंश रूप मरीचि आदिसे देवता पक्षी और मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं।।५।।

सुबोधिनीः इसका यह अर्थ है कि अवतारोंका मूल भगवान् हैं. अथवा मूलका अवतरण ही इन अवतारोंका मूल है तत्त्वोंसे निर्मित होनेके कारण ये अवतार भगवान् नहीं हैं यह विराट् पुरुष यदि अवताररूप न हों तो वह अन्य अवतारोंका मूल भी नहीं हो सकता और इससे उत्पन्न होनेवाले अन्य अवतारोंका उत्कर्ष भी नहीं होगा. अतः (विराट्) पुरुषके अवतार होनेमें तो कोई संदेह नहीं है

यह पुरुषावतार मत्स्यादि नाना अवतारोंका स्थान है. और इन सभीके उद्‌गमका कारण होनेसे बीज रूप भी है. अंकुर उत्पन्न होने पर जैसे बीज नष्ट हो जाता है. वैसे यह नष्ट नहीं होता, क्योंकि यह अविनाशी रूप बीज है. अर्थात् अंकुर उत्पन्न होने पर भी नष्ट नहीं होता,

ऊपर कहे गये सूचित अवतारके प्रयोजनको यहां विस्तारसे कहते हैं. 'यस्यांशांशेन' यहां अंशांशेनके दो अर्थ है. जिस पुरुषावतारके अंश ब्रह्मा हैं. और ब्रह्माके अंश रूप मरीचि आदि हैं. अथवा इस पंक्तिके दूसरे 'अंश' शब्दसे ब्रह्माके जघन आदि भी ग्रहण किये जा सकते हैं. क्योंकि इन अंगांशोंसे भी सृष्टिकी उत्पत्ति कही गयी है. तात्पर्य यह है कि अंशांश मरीचि आदि हैं उनसे देव, पक्षी, मनुष्यादिकी सृष्टि हुई देवता सत्त्वप्रधान हैं मनुष्य रजोगुणप्रधान हैं तथा पक्षी तमोगुणप्रधान हैं ।।५।।

आभासार्थः इस प्रकार पुरुषावतारका वर्णन करके इसके ही अंशसे उत्पन्न होनेवाले तथा इसके तुल्य ही प्रकृतिवाले अवतारोंका कथन २१ श्लोकोंसे कहते हैं:

अग्रिम सब श्लोकोंमें अवतारका नाम और वह अवतार किसलिये हुआ उसका प्रयोजन कहा जाता है. आवेश और अवतार इन दोनोंमें भगवान्‌का अवतरण समानरूपसे है इसलिये, आवेश तथा अवतार इन दोनोंका ही सामान्यरूपसे निरूपण किया गया है.

सत्त्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः सङ्क्रमः स्मृतः ।
अशुद्ध-शुद्धभेदेन शरीराणाम् अतो द्विधा ।
कार्यकाले सङ्क्रमणम् आवेशः सर्वदा परम्।।का.।।

कारिकार्थः सत्त्व रूप शरीरोंमें ब्रह्मके संक्रमण-आगमनको अवतार कहते हैं. शरीरोंके अशुद्ध तथा शुद्धसे यह संक्रमण दो प्रकारका है. किसी कार्य विशेषके समयमें संक्रमणको आवेश कहते हैं. सर्वदाकेलिए संक्रमणको अवतार कहते हैं. शुद्ध सत्त्व जिसमें हो वह शुद्ध और जिस सत्त्वमें रज-तम सम्मिलित हों वह अशुद्ध इस तरह इन भेंदोसे शरीर दो प्रकारके कहे गए हैं.

प्रकाशकार श्रीपुरुषोतमजीने यहां 'अशुद्ध-शुद्ध मानेन' ऐसा पाठ माना है तदनुसार इसका अर्थ होगा अशुद्ध-शुद्ध भावसे शरीर दो प्रकारके हैं इसलिए अवतार भी दो प्रकारके हैं कार्य करनेके समय संक्रमण आवेश हैं और सर्वदा

स्थितिकेलिए संक्रमण अवतार कहलाता है. कारिकामें 'परम्' शब्दका अर्थ है दूसरा अवतार.

यहां तो आवेश और अवतारका सामान्य रूपसे निरूपण किया है विशेष रूपसे अर्थात् आवेश है, और यह अवतार है इस प्रकार नहीं कहा अत: दोनोंका निश्चय कैसे होगा? अत: कहते हैं कि इसका निर्णय वैष्णवतंत्रमें निरूपित किया गया है.

क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्या चावतारं करोत्यजः ।
वाराहादिस्वरूपेषु बलकार्यं जनार्दनः।।का.।।
दत्त–व्यासादिरूपेषु ज्ञानकार्यं तथा प्रभुः ।

कारिकार्थ: भगवान् जनार्दन जो अजन्मा है क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिसे अवतीर्ण होते हैं. वराह आदिके रूपमें भगवान्ने बलका कार्य किया है इसलिए ये क्रियाशक्तिके अवतार हैं.

दत्तात्रेय, व्यास, कपिल आदिके रूपोमें भगवान्ने ज्ञानका कर्म किया है इसलिए ये ज्ञानशक्तिके अवतार हैं. बाह्य दु:ख मिटानेकेलिए क्रियाशक्तिसे और आन्तर दु:ख मिटानेकेलिए भगवान् ज्ञान शक्तिसे अवतार लेते हैं.

मत्स्य–कूर्म–वराहाश्च सिंह–वामन–भार्गवाः।।का.।।
राघवः कृष्णबुद्धौ च कृष्णद्वैपायनस्तथा ।
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः।।का.।।
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ।
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान्।।का.।।
तथैव वडवावक्त्रः कल्की धन्वन्तरिः प्रभुः ।
इत्याद्याः केवलो विष्णुर्न विशेषोऽत्र कश्चन।।का.।।

मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, कृष्ण, द्वैपायन, कपिल, दत्त, ऋषभ, रुचिपुत्र, यज्ञ, नारायण, हरि जिसने साम्बकी प्राप्तिकेलिए तपश्चर्याकी वह कृष्ण, मनु, महिदास, हंस, मोहिनी, हयग्रीव, वडवावक्त्र, कल्कि, धन्वतरि इत्यादि केवल विष्णु हैं. किसीमें यह कोई विशेषता नहीं सभी समान हैं. इन कारिकाओंमें जहां एक ही नाम दो बार आया है, वहां उनमें भगवान्का विशेष संक्रमण समझना चाहिये.

श्री–ब्रह्म–रुद्र–शेषाश्च वीन्द्रेन्द्रः काम एव च ।

कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः।।का.।।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ।
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।।का.।।
कश्यपः सनकाद्याश्च ब्रह्माद्याश्चैव देवताः ।
भरतः कार्त्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः।।का.।।
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ।
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्राश्चानिरुद्धतः।।का.।।
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ।
इहोक्तिरविशेषेण सामान्यत इति स्फुटम् ।।का.।।

लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र, शेष, गरुड, इन्द्र, कामदेव, कामपुत्र, अनिरुद्ध, सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, धर्म तथा इनकी भार्या दक्षादि और मनु, मनुपुत्र, ऋषि नारद, पर्वत, कश्यप, सनकादि ब्रह्मादि देवता, भरत, सहस्त्रार्जुन, चक्रवति पृथुराजा, गय, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, रोहिणीपुत्र बलराम, रुक्मिणिपुत्र प्रद्युम्न, अनिरुद्ध उनके पुत्र, नर–अवतार–अर्जुन इत्यादि भगवान्के विशेषावेशी हैं अर्थात् इनमें भगवान्का विशेष आवेश है.

यहां 'विशेषावेशिन'में 'विशेष' पद इसलिए दिया है कि साधारण आवेश तो सूत आदिमें भी हो सकता है उनका यहां ग्रहण न कर लिया जावे.

यहां इन सभीमें भगवान्का संक्रमण समान रूपमें है इसलिए ये सभी सामान्य रूपसे कह दिये गए हैं इनमें कोई अंशावतार हैं और कोई कलावतार हैं.

कौमार, आर्ष, प्राजापत्य और मानव ये सर्ग विशेषोंके नाम हैं.

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गम् आश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यम् अखण्डितम्।।६।।

श्लोकार्थः वही पुरुषावतार अथवा भगवान् नारायण, प्रथम सृष्टिमें सनत्कुमार रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने ब्राह्मण स्वरूपमें लोकमें दुश्चर ऐसे अखंड ब्रह्मचर्यका पालन किया।।६।।

सुबोधिनीः पहले ब्रह्मादिसे सनकादि हुए उनमें भगवान्का आवेश है. उनका सनक सनंदन इत्यादि रूप धारण करनेका प्रयोजन है ब्रह्मचर्यका पालन करना. इन्द्रियोंसे युक्त होनेके कारण जीवसे ब्रह्मचर्यका पालन नहीं हो सकता. जब तक भूखको उत्पन्न करनेवाली अग्नि है तब तक भूखका सहन करना

अशक्य है. भूखको शान्त करनेका उपाय करना ही पडता है इसी तरह बीजकी आधारभूत कामाग्निके विषयमें समझना चाहिये. भूखको शान्त करनेके लिये जैसे भोजन आवश्यक है, उसी तरह कामको शान्त करनेकेलिये, स्त्रियोंके साथ वार्तालाप आदि है. अन्न द्वारा जैसे क्षुधाकी निवृत्ति द्वारा तृप्ति होती है उसी तरह स्त्री सेवनसे बीजकी आधारभूत कामाग्निकी शान्तिसे तृप्ति होती है. इसलिये इन्द्रियवान् जीवकेलिये ब्रह्मचर्य संभावित नहीं है. स्त्रियोंका मनसे भी स्मरण किये बिना, वीर्यको धारण करनेवाला ब्रह्मचारी कहलाता है. इस प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन वही कर सकता है जिसमें भगवान्का आवेश हो. इसीलिये, प्रथम सनत्कुमारका अवतार है. यही भगवान् नारायण हैं. ब्रह्मचर्यका स्वरूप बतानेकेलिये प्रभुने प्रथम सनत्कुमारका रूप धारण किया. बीजके ऊपर जल सिंचनसे, जिस तरह यह वृद्धिगत होता हुआ वृक्ष बनता है, उसी तरह स्त्रियां जो जलरूप हैं उनसे जब बीज बढता है तब वह उत्तरोत्तर यौवनको प्राप्त होता है. स्त्रीरूप जलसे सम्बन्धके अभावमें सनत्कुमारोंमें सदा कुमारावस्था ही रही जिससे कामदेव तुच्छ किया गया हो उसे कुमार कहते हैं अर्थात् कामदेवका प्रभाव उस पर कुछ भी असर नहीं करता. अतः लोकमें इस प्रकार अखंड ब्रह्मचर्य पालन करना प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि उसका यहां प्रतिक्षण नाश सम्भव है ।।६।।

द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन् उपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ।।७।।

श्लोकार्थः इस प्रपंचका विस्तारसे निर्माण करनेकेलिए रसातलमें स्थित पृथिवीका उद्धरण करनेवाले यज्ञेश भगवान्ने वराहका शरीर धारण किया यह भगवान्का दूसरा अवतार है।।७।।

सुबोधिनीः स्वर्ग आदि कर्म भूमि नहीं है इसलिये वहां यदि जगत्का निर्माण किया जाता तो इस प्रपंचका अत्यधिक विस्तार नहीं होता, इसलिये भगवान् वराहने भूमिका उद्धार किया तदनुसार इस द्वितीय अवतारका निरूपण करते हैं इन अवतारोंका विचार द्वितीयस्कंधके ७वें अध्यायमें करेंगे, यहां तो संक्षेपमें (उद्देश्यमात्रसे) निरूपण है. सब कल्पोंका जो आधिदैविक रूप है जो जिसका तृतीय स्कंधके त्रयोदशाध्यायमें निरूपण किया गया है. उस आदिवराह कल्पमें, वराहके जन्मदिवस पर निर्मित पृथिवीको जो रसातलमें चली गयी थी, उसे वराह अवतारने उद्धृत किया. इसीका निर्देश 'रसातलगतां महीम्' पदमें

किया गया है. यहां इस श्लोकमें पुरुषावतारसे वराहका प्रादुर्भाव बताया गया है और तृतीय स्कंधमें ब्रह्मासे बताया है इस विरोधका परिहार आगे तृतीय स्कंधके त्रयोदशाध्यायमें करेंगे.

अस्तु पृथिवीका उद्धार करनेकेलिये भगवान्ने सूकर देह धारण किया. यह वराह अवतार, पुरुषावतार नहीं है, यज्ञके अधिष्ठातृ धर्मरूप भगवान्का अवतार है क्योंकि यज्ञादि क्रियायें यज्ञाधिष्ठातृ धर्म रूप भगवन् मूलक हैं.

यहां क्रम प्राप्त द्वितीय अवतार नारदजीका है तो फिर वराहको द्वितीय अवतार कैसे कहा? इसके समाधानमें कहते हैं कि श्रीधरस्वामीके मतानुसार यहां 'प्रथम द्वितीय' शब्द (सएव प्रथमं द्वितीयंतु भवायास्य) केवल निर्देशक है क्रम बतानेवाले नहीं किन्तु यह मत ठीक नहीं है. वस्तुतः यहां 'प्रथम द्वितीय' शब्द किसी दूसरे ही तात्पर्यसे हैं और वह यह है कि यह वराह अवतार मन्यु क्रोधरूप है जैसा कि ''पशूनां वा एष मन्युर्यद् वराहः'' पशुओंमें जो क्रोध है वह वराह है इस श्रुतिके अनुसार यह वराह भगवान् मन्यु रूप है. यही वराहारूप भगवान् अश्वमेध आदि यज्ञोंके रूपसे क्षत्रियोंमें स्थित हो गया है इसलिये क्षत्रियोंमें क्रोधकी मात्रा अधिक है और क्योंकि ब्राह्मणसे दूसरा वर्ण क्षत्रिय है इसलिये इसे यहां द्वितीय कहा है ।।७।।

तृतीयम् ऋषिसर्गञ्च देवर्षित्वम् उपेत्य सः।
तन्त्रं सात्त्वतम् आचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः।।८।।

श्लोकार्थः उस विराट् भगवान्ने ऋषियोंमें प्रादुर्भूत होकर नारदरूप तृतीय अवतारको धारण किया तथा पंचरात्र-तंत्रको कहा जिसके अनुसार कर्म करनेसे कर्म बन्धन कभी नहीं होता।।८।।

सुबोधिनीः नारदमें भगवान्का आवेश है इसलिये वे विशेषावतार हैं. वे ऋषि हैं. मन्त्रदृष्टाको ऋषि कहते हैं, वे कर्मके अंग भूत हैं अर्थात् प्रथम श्लोकमें कर्मरूप यज्ञका निरूपण हुआ है और मन्त्रदृष्टा ऋषि कर्मके अंगभूत हैं इसलिये नारदको तीसरा अवतार कहा गया है. अथवा द्रव्यदेवता और मन्त्र यहां 'मन्त्र' क्रमसे तृतीय है इसलिये मन्त्रदृष्टा होनेसे नारद तीसरे अवतार हुए. वह पुरुषावतार ही प्रथम, ऋषिसर्गको प्राप्त करके सनक-सनंदन आदि रूप बना किन्तु सनक-सनन्दन आदि रूप यह ऋषि सर्ग मुख्य तथा ज्ञानी होनेके कारण कर्मका अंगभूत नहीं था, इसलिये तदन्तर वह विराट् पुरुष ही देवर्षि सर्गको नारदरूपको प्राप्त कर

उसमें आविष्ट हुआ तथा पंचरात्र रूप जो वैष्णवतंत्र है और जिसमें भगवद्सेवाका निरूपण है उसका उपदेश दिया. भगवत्सेवाका निरूपण भगवान् ही कर सकते हैं अन्य नहीं इसलिये, भगवान् नारदजीमें आविष्ट हुए.

सेवामें, सम्पूर्ण कर्म सेवाके अंगभूत बन जाते हैं इसलिये वे कर्म बंधक नहीं होते. अर्थात् कर्मोंकी निष्कर्मता हो जाती है. यहां सेवाकी ही मुख्यता होती है, कर्मोंकी नहीं. सेवा भगवद्भक्तिरूप है अतः यह भक्ति भगवद्रूप होनेके कारण सभीको कर्म बंधनसे मुक्त रखती है ।।८।।

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।
भूत्वात्मोपशमोपेतम् अकरोद् दुश्चरं तपः।।९।।

श्लोकार्थ: धर्मकी अंशभूत (स्त्रीरूप) श्रद्धा आदि पत्नियोंमें मूर्ति नामक स्त्रीसे चतुर्थ अवतार नर नारायण हुआ इन्होंने आत्माकी शान्तिसे युक्त दुश्चरतप किया।।९।।

सुबोधिनी: नर और नारायण, चतुर्थाश्रम धर्मके प्रतिपादक होनेके कारण चतुर्थावतार कहे गये हैं. अथवा ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा तथा उपसम–में क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रमके धर्म हैं. ''अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'' इस श्रुतिके अनुसार, पत्नी, मनुष्यका अर्धभाग है, इसलिये श्रद्धा आदि जो धर्मकी पत्नियां हैं वे धर्मकला अर्थात् धर्मका अंशरूप कही गई हैं इन श्रद्धा आदिके उत्पन्न होनेपर, पीछे मूर्तिभूत जो धर्म है उसीका रूप जो मूर्तिनामकी स्त्री थी उससे नर–नारायण भगवान् हुए. धर्म तो वेदमूलक है, और ऋषियोंका वेदसे सम्बन्ध रहता है, इसलिये मूर्ति नामकी स्त्रीसे ऋषिरूपमें नर–नारायण उत्पन्न हुए.

परमहंसोंका धर्म दो प्रकारका है एक तो भक्तियुक्त और दूसरा वैराग्य युक्त और अन्यत्र यह कहा गया है कि सहस्रकवचका वध करनेकेलिये नर–नारायण उत्पन्न हुए. किन्तु श्रीमद्भागवतमें तो पारमहंस्य धर्मके उपदेशार्थ दोनों ही अवतारका कथन है. नारायण अवतार है और नरमें भगवान्का आवेश है. 'आत्मोपशमम्'से यह सूचित किया गया है कि नर–नारायण द्वारा किया गया लय, ज्ञान सहित था यहां 'आत्मोपशमम्' शब्द ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. क्योंकि अन्तःकरणकी शान्ति ज्ञानरूप कही गई है अथवा आत्माकी शान्ति, ज्ञानसाध्य है.

तप सर्वत्र क्रोध सहित माना गया है शान्ति युक्त तप लोकमें दुर्लभ है इसलिये यहां तपकेलिये 'दुश्चरं' शब्द प्रयुक्त हुआ है अर्थात् नर–नारायणने तप करते हुए कामोद्बोधक अप्सराओंके आने पर भी क्रोध नहीं किया इसीलिये इनके तपको दुश्चर कहा ऐसा तप किसी अन्यने नहीं किया.

यहां नर–नारायण दोनों एक ही अवतार हैं, भिन्न–भिन्न नहीं. अतः दोनोंकी कृति एकसमान एक अवतारके रूपमें ही है ।।९।।

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ।।१०।।

श्लोकार्थ: पांचवा अवतार सिद्धोंके स्वामी कपिलका है, जिसने कालसे नष्ट हुए तत्त्व समूहके निर्णयरूप सांख्य शास्त्रका उपदेश आसुरी ऋषिको दिया।।१०।।

सुबोधिनी: सांख्यज्ञान, वेदज्ञानके अनन्तर होता है. वेदोक्त ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम, धर्मोंके अनन्तर सांख्यका ज्ञान होता है इसलिये कपिलको पांचवा अवतार कहा है. पहिले पुराणोंमें, सांख्यज्ञान बतलाया गया था किन्तु उन पुराणोंका प्रचार न होनेसे एवं उनमें सांख्यके साथ योगादिके मिल जानेसे एवं सांख्यज्ञानके अंगभूत सन्यासके वास्तविकरूपसे न रहनेसे यह सांख्यज्ञान कालसे नष्ट हो गया था. कपिलसे प्रवर्तित यह सांख्यज्ञान पुनः कालसे नष्ट नहीं होगा. इसका निर्देश 'सिद्धेशः' शब्दसे किया गया है. सिद्धिसे युक्तको सिद्ध कहते हैं, और कपिल उनके स्वामी ईश हैं. कपिल जैसोंकी मनः सिद्धिसे ही सांख्यज्ञान पुनः लुप्त नहीं हुआ. कपिलदेवने आसुरी ऋषिको सांख्यज्ञानका उपदेश दिया. 'कपिल'शब्दका अर्थ है ''कपीन् विषयात्मकान् लाति'' विषयासक्त पापयोनि–वाले स्त्री शूद्रादिका हित करनेवालेको कपिल कहते हैं. यह सांख्यज्ञान, स्त्री शूद्र आदि सबको दिया जा सकता है इसलिये सांख्यज्ञानके प्रवर्तकका नाम 'कपिल' कहा गया है. श्लोकस्थ 'आसुरी' पदसे आसुरी नामके ऋषिलिये गये हैं.

जिसमें तत्त्वोंकी संख्या हो उसे सांख्य कहते हैं. सांख्यशास्त्रने तत्त्वोंकी संकरताको मिटानेकेलिये उनकी पृथक्–पृथक् संख्यामें विभाजन किया है. इनमें कितने ही समानधर्मवाले हैं, और कितने ही विरुद्ध धर्मवाले. इस संख्याके फलस्वरूप तत्त्वोंके समूहका विशेषरूपसे निर्णय हो जाता है. संक्षेपमें तत्त्वोंके समूहका विशेषरूपसे निर्णय करनेवाला शास्त्र सांख्य कहलाता है ।।१०।।

आभासार्थ: ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा, उपशम, सांख्य तथा योग इस प्रकार छठा योग है. इसलिए योगके प्रर्वतक अवतारका निरूपण करते हैं:

षष्ठम् अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान्।।११।।

श्लोकार्थ: छठे अवतारमें अत्रि पत्नी अनसूया द्वारा पुत्र रूपसे प्रार्थित भगवान् दत्तात्रेय रूपसे प्रकट हुए, इन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदिको योग पुरस्सर आत्मविद्या कही।।११।।

सुबोधिनी: भगवान्ने सोचा कि अनसूयाने आप जैसा पुत्र हो इस बहानेसे मुझे मांगा है, इसलिये अनीर्ष्या पूर्वक भगवान् दत्तात्रेयके रूपमें प्रकट हुए अथवा अत्रिने उनको चाहा और अनुसूयासे उन्होंने जन्म लिया. पुराणोंमें अनसूया द्वारा तथा अत्रि द्वारा भी भगवान्को पुत्रत्वेन चाहा जाना कहा गया है इसलिये यहां दोनों ही पक्षलिये गये हैं. आन्वीक्षिकीका अर्थात् योगपुरःसर आत्मविद्याका इन दत्तात्रेय भगवान्ने अलर्क नामक राजाको उपदेश किया था किन्तु वह राजस प्रकृतिका था इसलिये ''शास्त्रमें उसकी निष्ठा रहेगी या नहीं'' इस संदेहसे उसी आत्मविद्याको दत्तात्रेयने प्रह्लाद आदिको कही. प्रह्लाद तो भक्त होनेके कारण इस विद्याका अधिकारी था ।।११।।

१.अनसूया पदके दो अर्थ हैं एक तो ईर्ष्या रहित और दूसरा अनसूया माता.

आभासार्थ: इस प्रकार ब्राह्मणोंका छ: प्रकारसे वर्णन हुआ है क्योंकि ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा, उपशम, सांख्यज्ञान तथा योग ये छ: कर्म ब्राह्मणमें प्रसिद्ध हैं. यद्यपि सातवें श्लोकमें वर्णित वराह अवतार क्रोधरूप होनेसे क्षत्रियोंमें परिगणित होना चाहिये, परन्तु ब्रह्माजीसे प्रकट होनेके कारण इस अवतारको भी ब्राह्मणोंमें गिन लिया गया है.

शत्रुजय, धर्मनिष्ठा और प्रजापालन ये तीन कर्म क्षत्रियमें रहते हैं, इसलिए अग्रिम तीन श्लोकोंसे यज्ञ, ऋषभ और पृथूरूप अवतारोंका वर्णन किया जाता है. पहले ब्राह्मणोंका वर्णन हुआ अब क्षत्रियोंका वर्णन होगा, इस भिन्न क्रमको बतानेकेलिए 'तत:' शब्दका प्रयोग किया गया है.

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैर् अपात्स्वायम्भुवान्तरम् ।।१२।।

श्लोकार्थ: इसके पश्चात् सातवें अवतारमें रुचिसे आकूति नामकी

स्त्रीमें यज्ञ भगवान् हुए, जिसने याम आदि देवताओंके गण सहित स्वायंभुव मुनिकी रक्षाकी।।१२।।

सुबोधिनी: आकूति स्वायम्भुव मनुकी पुत्री थी. यज्ञ भगवान् यद्यपि रुचि नामक प्रजापतिसे आकूतिमें उत्पन्न हुए थे, तथापि स्वायम्भुव मुनिने पुत्रीका पुत्र होनेके कारण अपने यहां रख लिया था. मनुने अपनी पुत्री आकूतिको देनेके समय रुचिसे यह स्वीकार करा लिया था कि उसके जो सन्तान होगी उसे मैं रखलूंगा इस तरह मनु द्वारा पुत्रको ले लेनेका तात्पर्य यह है कि यज्ञ तो ब्राह्मण करते हैं और फल मिलता है क्षत्रियोंको. यहां भी यज्ञावतार रूचि नामक ब्राह्मणके यहां पैदा हुए और उसे ले लिया स्वायम्भुव मनुने अतः फल प्राप्त हुआ मनुको जो क्षत्रिय थे स्वायम्भुव मनु, यज्ञ भगवान्को अपने पृष्ठ रक्षक बना कर तपश्चर्यामें लग गये. तब इन्हीं यज्ञ भगवान्ने याम आदि जो प्रथम मन्वन्तरके चार प्रकारके देवता हैं, उनके साथ, उस मन्वन्तरका पालन किया. यही इस अवतारका प्रयोजन था. प्रियव्रत आदि कल्पान्तरमें राजा बने. यज्ञ भगवान्के समय वे समर्थ नहीं थे. इसका आगे प्रतिपादन किया जायेगा ।।१२।।

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्।।१३।।

श्लोकार्थ: अष्टम अवतारमें तो सभी आश्रमोंसे वन्दनीय धीरोंके पारमहंस्य रूप मार्गको दिखाते हुए नाभिसे मेरुदेवीमें ऋषभावतार हुए।।१३।।

सुबोधिनी: देश और कालके स्वस्थ होने पर सभी आश्रमोंके धर्म भी स्वस्थ रहते हैं. यज्ञावतारके प्रथम सुरक्षा पूर्वक देश और कालको स्वस्थ बना दिया था इसलिये यज्ञावतारके अनन्तर वृषभदेवका वर्णन किया गया है.

अवतारोंकेलिये पहिले जो एक, दो, तीन क्रम चला आ रहा है उसी क्रमसे यहां भी अष्टम आदि क्रम समझना चाहिये.

मेरुदेवी अर्थात् मेरूकी पुत्री. श्लोकस्थ 'मेरुदेव्यांतु' पदमें 'तु'का तात्पर्य है कि यह पुत्र माताके समान नहीं था. अथवा बुद्धावतारकी तरह ये वेद विरुद्ध नहीं चले. 'तु' पदका यह भी तात्पर्य होता है. यह ऋषभावतार, गुणावतार विष्णुका अवतार है इसी अभिप्रायको यहां 'उरूक्रमः' बहुत पराक्रमवाले पदसे स्पष्ट किया गया है.

ऋषभदेवजी द्वारा निरूपित संन्यासधर्ममें धैर्यको मुख्य साधन माना है.

यह आश्रम अन्तिम होनेके कारण, सर्व आश्रमोंसे वन्दनीय है. ऋषभदेवजीका आचरण निवृत्तिमार्गकी पराकाष्ठा है. अन्त्याश्रम होनेके कारण यहां पाखंडकी संभावना नहीं करनी चाहिये. इसीका निर्देश 'नमस्कृतम्' पदसे किया गया है. पाखंड धर्म कदापि नमस्करणीय नहीं होता. यह अवतार मेरूकी पुत्रीमें नाभिसे हुआ है. इस अवतारने सर्व आश्रमोंसे नमस्करणीय धीरोंके मार्गको बताया ।।१३।।

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः।
दुग्धेमामोषधीर्विप्राः तेनायं स उशत्तमः।।१४।।

श्लोकार्थः हे ब्राह्मणों! उस विराट् पुरुष भगवान्ने नवम अवतारमें पृथु सम्बन्धी शरीरको धारण किया. उसने पृथ्वीसे ओषधि रूप सभी वस्तुओंका दोहन किया, इसलिए यह भगवान् परम् रमणीय है।।१४।।

सुबोधिनीः पृथुने अवतार लिया ऐसा न कहकर पृथु सम्बन्धी देहको धारण किया. इस कथनका यह आशय है कि पृथु आवेशावतार है. यह पुरुष ही था क्योंकि श्लोकमें 'सः' इस पुंल्लिङ्गवाची सर्वनामका प्रयोग किया गया है.

'श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञां' राजाओंकेलिये प्रजा पालन करना ही कल्याणरूप है इसलिये, तथा भगवान् सबकी आत्मा है, अतः सर्वहितकारी धर्म पृथु राजामें है. यह धर्म ऋषभदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्मसे भी उत्तम है इसलिये पृथुराजा भगवान्का नवम अवतार है.

जब यह अवतार ऊपर कहे गये धर्मोंसे सब हितकारी आत्मधर्मका संस्थापक है, तो यह वेन जैसे दुष्ट राजासे क्योंकर पैदा हुआ? इस शंकाका यहां उत्तर देते हैं कि 'ऋषिभिर्याचितः' ऋषियोंसे प्रार्थना किये गये भगवान् साक्षात् पृथुरूपमें अवतरित न होकर, पृथके शरीरमें आविष्ट हुए इन्होंने इस पृथिवीसे ओषधियां आदि सभी वस्तुओंका दोहन किया. 'इमां' शब्दसे यहां पृथिवीका ग्रहण किया गया है. 'दुह्' धातु द्विकर्मक है पृथिवी तथा ओषधि दोनों ही उसके कर्म हैं और यह दोनों ही कर्म अभीष्ट हैं. इस प्रकार सभी द्विकर्मक धातुओंमें समझना चाहिये. यहां 'दुग्धेमाम्'में जो 'दुग्धा' पद है वह अदुग्धके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. अलौकिक घटनाका निर्देश करनेकेलिये यहां 'दुग्धा' यह छान्दस प्रयोग किया गया है पृथिवीसे ओषधियोंका इस प्रकारसे दोहन अलौकिक है. छान्दस प्रयोग होनेसे 'दुग्धा'में अट् अभाव आदि कार्य हुए इसलिये, 'अदुग्ध'की जगह

पर 'दुग्धा'का प्रयोग किया गया है यहां 'दोग्धा' ऐसा पाठ भी मिलता है. यहां 'विप्राः' पद सम्बोधन है इसका अभिप्राय है तुमने भी ज्ञानका बहुत दोहन करके, उससे सबको विशेषरूपसे परिपूर्ण कर दिया है क्योंकि 'विशेषेण पूरकाः विप्राः' इस अभिप्रायसे यहां 'विप्राः'का प्रयोग किया गया है.

पृथु अवतारका कार्य ही दोहन करना है यह कार्य जीव साध्य नहीं है. इसी कारण पृथु–नारायणका आवेशी है, अर्थात् पुरुषका आवेशावतार है. इस अवतारकी विशेषता यह है कि यह परम रमणीय उशत्तम है. अर्थात् इस प्रकारका सर्वोपकारक अवतार, अन्य अवतारोंमें भी दुर्लभ होता है. इसलिय इसे अतिकमनीय कहा गया है ।।१४।।

आभासार्थ: इस तरह ''तत: सप्तम आकूत्यां'' आदि तीन श्लोकोंसे क्षत्रिय भाववाले तीन अवतारोंका निरूपण करके, वैश्य भाववाले चार अवतारोंका ''रूपं स जगृहे'' आदि तीन श्लोकोंसे वर्णन करते हैं:

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तररसम्प्लवे।
नाव्यारोप्य महीमय्याम् अपाद् वैवस्वतं मनुम्।।१५।।

श्लोकार्थ: चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें होनेवाले प्रलयमें इस विराट् पुरुषने मत्स्यका रूप धारण किया, तथा पृथ्वीरूप नावमें बैठाकर वैवस्वत मनु सत्यव्रत राजाकी रक्षा की।।१५।।

सुबोधिनी: वंचना पूर्वक कार्य सिद्ध करना वह वैश्यका लक्षण है, क्योंकि ''सत्यानृतं तु वाणिज्यम्'' जिसमें सत्य और झूंठ हो उसको वाणिज्य वणिक् व्यवहार कहते हैं तदनुसार, यहां अवतारमें मत्स्यका रूप तो वंचक है किन्तु उसके वचन वंचना करनेवाले नहीं हैं. वैश्यमें इससे विपरीत है. वैश्यका रूप वंचक नहीं होता किन्तु उसके वचन वंचक होते हैं. इस तरह यहां इस मत्स्यावतारमें सत्य भी है अनृत भी है. चाक्षुष मन्वन्तरके बाद प्रलय नहीं हो सकता, इसलिये इस प्रलयको, जिसमें मत्स्यावतारका उपदेश हुआ, इसे श्रीधरस्वामी आदि मायिक कहते हैं. इसका अभिप्राय यह है कि कल्पके समाप्त होने पर दैनन्दिन प्रलय होता है. चौदह मनु पूरे हो जानेपर कल्पकी समाप्ति होती है. चाक्षुष मनु छठा है. इसलिये चाक्षुष मन्वन्तरके बाद प्रलय नहीं हो सकता इसलिये श्रीधरस्वामी आदि इस प्रलयको मायिक बताते हैं.

परन्तु कई क्रम हैं. इसलिये स्वायंभुवमनु प्रत्येक कल्पमें क्रम नियमसे

चतुर्दश ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है. क्योंकि अधिकारियोंके भक्त होनेसे उनकी मुक्ति सम्भव है, इसलिये कदाचित् चाक्षुष ही चतुर्दश हो सकता है और तदनन्तर प्रलय सम्भव है. सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे कल्प तीन प्रकारके हैं. ऐसी स्थितिमें राजसमें पांच, तामसमें पांच तथा सात्त्विकमें चार मनु होते हैं. इस तरह चाक्षुषमनु चतुर्दश हो सकता है. बहुतसे वाक्योंके अनुरोधसे, तथा चाक्षुषमनुके चतुर्दश होनेमें युक्तिके संभव होनेसे भी चाक्षुषमनु चतुर्दश हो सकता है और तदनन्तर प्रलय भी हो सकता है. ऐसी स्थितिमें इस प्रलयको मायिक मानना उचित नहीं.

''मार्कण्डेयको जिस तरह मायिक प्रलय दिखाई दिया था, उसी तरह, यहां भी मायिक प्रलय है'' श्रीधरस्वामी आदिका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि मार्कण्डेयके समयका जो प्रलय है उसकेलिये तो शब्दतः यह कहा गया है कि वह प्रलय मायासे दिखलाया गया है. किन्तु चाक्षुषमन्वन्तरके बाद होनेवाले प्रलयको मायिक बतानेवाला कोई शब्द नहीं है. अतः यह प्रलय मायिक नहीं है.

पृथ्वी देवता रूप है इसलिये वह नौका रूप बन सकती है. उस पृथ्वीरूप नौकामें बैठकर मत्स्यावतारने वैवस्वतमनुकी रक्षा की. वह सत्यव्रत राजा दूसरे मन्वन्तरमें विवस्वान्से पैदा हुआ है. इस मन्वन्तरमें वह अधिकारी हो गया. इसलिये भी यह प्रलय मायिक नहीं है. इस मन्वन्तरका धर्म, भक्तका परिपालन था ।।१५।।

आभासार्थ: श्लोकमें जो वैवस्वत-मनु कहा है उसका तात्पर्य वह है कि जिसको मत्स्यावतारने प्रलयमें उपदेश दिया था उसका नाम तो सत्यव्रत था, परन्तु भविष्यमें वह वैवस्वतमनु बना. इसलिये भविष्यमें होनेवाली संज्ञाको लेकर यहां वैवस्वतमनु कहा.

सुरासुराणाम् उदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ।।१६।।

श्लोकार्थ: एकादशावतारमें उसी विराट् पुरुषने देवता और दैत्योंके समुद्र मन्थन करनेके समय कच्छपरूप बनकर मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया।।१६।।

सुबोधिनी: 'क्लेश भाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः' भगवान्ने देवतओंसे कहा था कि दैत्योंको क्लेश होगा और तुम्हें फल मिलेगा. इस प्रकार,

अमृत मन्थनकेलिये कपटसे ही प्रवृत्त हुए इसलिये उन्होंने वंचकका कार्य किया उस वंचकका हित करनेवाला कूर्मावतार था इसलिये इस कूर्मावतारकी भी वैश्य भावमें गणना हुई. मत्स्यावतार पूर्वकल्पका है, इसलिये यहां मत्स्यावतारके अनन्तर कूर्मावतार कहा गया है. इसमें क्रम बाधक नहीं है. समुद्र मन्थनके समयमें भगवान्ने पहले सर्पका मुंह पकडकर मत्स्यावतारसे अधिक वंचना की. यहां वंचनाकी अधिकताके कारण कूर्मावतार एकादश अवतार है. इसी तरह अग्रिम संख्याके विषयमें भी समझ लेना चाहिये. समुद्रको मथनेवाले देवता और दैत्योंके मंथन साधन मंदराचलको भगवान्ने अपनी पीठ पर कच्छप रूपसे धारण किया. पृथ्वी न होते हुए भी जलमें ही इस तरह बडे पर्वतको धारण करना सामान्य कच्छपका कार्य नहीं है, अवतार साध्य है. इसलिये यह कच्छप अवतार है. कच्छपकी पीठ तो फिसलनी होती है, उस पर मन्दराचल कैसे स्थिर किया जा सका? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'विभुः' वह भगवान् सर्व समर्थ है ।।१६।।

आभासार्थः एक ही धन्वन्तरिके दो रूप बताते हैं:

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च।

अपाययत् सुरान् अन्यान् मोहिन्यामोहयत् स्त्रिया।।१७।।

श्लोकार्थः धन्वन्तरि ही बारहवां एवं तेरहवां अवतार है. धन्वन्तरि रूपसे अमृत लाए तथा मोहिनी स्त्री रूपसे दैत्योंको मोहित करके, देवताओंको उसका पान कराया।।१७।।

सुबोधिनीः यहां 'द्वादशमं त्रयोदशमं'की जगह 'द्वादशम् एवं त्रयोदशम्' होना चाहिये था किन्तु छन्दके आग्रहसे 'मट्' आदेश किया गया है. तदनुसार 'द्वादशमम् त्रयोदशमम्' प्रयोग हुए हैं. अथवा द्वादशमें त्रयोदशमें जो समा जाता हो इस अर्थमें भी ये प्रयोग हो सकते हैं.

इस श्लोकमें धन्वन्तरि अवतारका कोई प्रयोजन नहीं बताया गया है, किन्तु 'धन्वन्तरि' पदसे ही आयुर्वेद प्रवर्तनका कार्य स्पष्ट है. इसलिये, प्रयोजनको अलग नहीं कहा. आयुर्वेद तो जीवकेलिये है, वह अवतारका प्रयोजन न होनेसे, उस प्रयोजनको यहां स्पष्ट नहीं कहा है. यहां एक ही अवतार बारहवां तथा तेरहवां कैसे हो सकता है. इस संदेहकी निवृत्तिकेलिये मूलमें 'एवम्' पदका प्रयोग किया गया है. धन्वन्तरि पुरुष अवतार है तथा मोहिनी स्त्री अवतार है. अतः परस्पर इस विरोधका निवारण 'च' पदसे किया गया है. धन्वन्तरिका अर्थ है

धन्वन्तरि सम्बन्धी रूप. अमृतका पान देवताओंने किया है, अतः उसका पान करना यह भगवान्का कार्य नहीं. इसलिये, भगवान् यहां कर्ता हैं. देवगण कर्म हैं. यहां 'पा'धातुका 'अपाययत्' ऐसा 'ण्यन्त' प्रयोग है, जिसका अर्थ होता है पान कराया भगवान्ने किसका पान कराया? अमृतका. इस तरह मूलमें 'अमृत' पद नहीं है. तथापि अर्थसे प्राप्त होता है. 'अपाययत्' यहां अमृतपान करानेका जो चरित्र है वह तेरहवें अवतारका कार्य है. उसने अपने स्त्रीरूपसे असुरोंको मोहित किया. वास्तवमें मोहिनीका जो रूप था, वह स्त्रीरूप नहीं था. भगवान् स्त्रीरूपसे ही वहां सबको दिखाई नहीं दे रहे थे देवताओंने तो भगवान्के रूपमें ही उनके दर्शन किये स्त्रीरूपमें नहीं. यदि देवताओंको भी भगवान्के स्त्रीरूपमें दर्शन हो जाते तो स्त्री तो राहुको दण्ड देनेमें समर्थ नहीं हो सकती, अतः ऐसी स्थितिमें यह राहु है ऐसी सूचना चंद्र और सूर्य द्वारा भगवान्को नहीं दी जाती. इसलिये दैत्योंको जो स्त्रीरूप दिखाई दिया इससे मानना होगा कि वह वस्तुतः धन्वन्तरिका ही रूप था. और देवताओंको यही रूप दिखाई दिया स्त्रीरूप नहीं. भगवान्ने अपनी सामर्थ्यसे ही दैत्योंको अपने अन्यरूपको बताया. जो धन्वन्तरि भगवान् अमृत कलश हाथमें लेकर निकले थे उन्हींका दैत्योंने अन्यरूपसे स्त्रीरूपसे दर्शन किया इसलिये मोहिनीरूपसे इसी अवतारको त्रयोदश भी कहा. दैत्योंने, धन्वन्तरिसे इस रूपको भिन्नरूपसे दिखाया इसलिये त्रयोदश संख्यामें विरोध नहीं आता. यहां भी दैत्योंकी वंचनाकी गई है. अतः ये भी वैश्य भावके ही अवतार हैं ।।१७।।

आभासार्थः इस प्रकार मत्स्य कूर्म, धन्वन्तरि और मोहिनी इन चारों अवतारोंका निरूपण करके पुनः उत्तम प्रकारसे अवतार परम्पराका निरूपण करनेकेलिए नारायणकी तरह 'नृसिंह' भी साक्षात् भगवानऊके ही अवतार हैं यह निरूपण करते हैं:

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद् दैत्येन्द्रम् ऊर्ज्जितम्।
ददार करजैरूरावेरकान् कटकृद्यथा ।।१८।।

श्लोकार्थः चौदहवां नृसिंह रूप धारण करके, भगवान्ने अपने हाथके नखोंसे बलिष्ठ हिरण्यकशिपुको जंघापर पटककर, उसी तरह चीर डाला जिस तरह चटाई बुननेवाला एरकाको एरासे चीरता है।।१८।।

सुबोधिनीः यह पुष्टिमार्ग अनुग्रह मार्ग है. अतः पहलेके अवतारोंसे इनमें विशेषता है. पूर्वका क्रम ही इच्छित होनेके कारण, नृसिंह यहां चौदहवां अवतार

है. नृसिंहसे सम्बन्धित स्वरूप नारसिंह कहलाता है. मनुष्य और सिंह इस द्विरूपतासे अलौकिक होनेके कारण इस अवतारमें पुष्टिरूपता है. क्योंकि पुष्टिमें लौकिकता नहीं है. इस अवतारमें भगवान्ने भक्तिको ही प्रधानता दी है क्योंकि पूर्व जन्ममें, पार्षद रूपमें रहनेसे जो हिरण्यकशिपु आत्मीय था. उसे दैत्येन्द्रको नष्ट कर दिया और उसके पुत्र दैत्यकी भगवद्भक्त होनेके कारण रक्षा की. यह सब कुछ भक्तिकी प्रधानता स्थापितकरने केलिये ही भगवान्ने किया. 'दैत्येन्द्रम' 'इन्द्र' पदसे वह मारने योग्य नहीं था फिर भी उसे मारा, यह निर्देश किया गया है. ब्रह्माकी सृष्टिमें उसका वध किसीसे भी सम्भव नहीं था. वह इतना बलिष्ठ था कि अपने बलके मदसे उसने मर्यादा तोड डाली. इसलिये उसका वध किया गया. उसे ब्रह्माका वरदान था कि शस्त्रसे किसी मनुष्य अथवा पशुसे भी नहीं मर सकता. ब्रह्माजीके वरदानको सत्य करनेकेलिये भगवान्ने उसे नखोंसे चीर डाला. उसे यह भी वरदान था कि वह न पृथ्वी पर मरेगा और न ही अन्तरिक्षमें. अतः भगवान्ने उसे अपने जंघाओंपर पटक कर मार डाला उसको नखोंसे उसी तरह चीर डाला, जिस तरह चटाई बुननेवाला एरका नामके तृणको चीरता है. चटाई बनानेवाला दूसरोंके हितकेलिये तृणको चीरता है. इस दृष्टान्तसे यह सूचित होता है कि इसका वध लोक हितार्थ किया गया है ।।१८।।

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागाद् अध्वरं बलेः।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम्।।१९।।

श्लोकार्थः भगवान् पन्द्रहवां वामनरूप बनाकर तीन पद मरू (भूमि)की याचनाके बहाने, बलिसे स्वर्गको वापिस लेनेकी इच्छासे बलिके यज्ञमें गए।।१९।।

सुबोधिनीः इस प्रकार भक्तिमार्गमें नव अवतारोंका आगे निरूपण करते हुए इनमें प्रह्लादके रक्षक प्रथम नृसिंह अवतार मुख्य है अतः मूलरूपसे उसका निरूपण किया गया. तदनन्तर ब्राह्मणभावसे तीनका क्षत्रिय भावसे भी तीनका तथा वैश्य भावसे एकका निरूपण किया जायेगा. फिर अग्रिम कल्कि अवतार है. कलिके अन्तमें सकल साधनोंके अभावमें भी अपने अंग-राग और सुगन्धके संसर्ग मात्रसे. कल्कि अवतारने पुनः सत्ययुगका प्रारम्भ कर दिया, इसलिये इसे मूल अवतार माना गया है. इसका आगे एक श्लोकसे वर्णन है. इस प्रकार नृसिंहसे लेकर कल्कि पर्यन्त भक्तिमार्गमें नव अवतार हैं.

जो भक्ति मूल अवतार नृसिंहसे प्रारम्भ होकर बीचके अंशावतार मात्रमें पर्यवसित हो जाती है वह भक्ति निवृत्त नहीं होती, किन्तु मूल अवतारूप कल्किमें वही भक्ति उसी स्थितिमें आ जाती है. भगवत्स्वरूपमें सायुज्यकी प्राप्ति होनेपर और इस तरह सेव्य सेवक भानके निवृत्त हो जानेके पीछे भी भगवान्‌की सामर्थ्यसे (भगवत्स्वरूपसे बाहर आकर) वह भक्त पुनः सेवा कार्य प्रारम्भ कर देता है इसी तरह कलियुगमें सर्व साधनोंकी निवृत्ति होनेके उपरांत भी, भगवान्‌के अंग–रागकी सुगन्धसे सम्बन्ध होते ही पुनः सत्ययुगका प्रारम्भ हुआ. यह सामर्थ्य मूल रूपका है इसीलिये कल्कि मूल अवतार रूप है. कल्कि अग्रिम आरम्भका मूल है इसीसे वह मूलावतार कहा गया है.

ब्रह्मचारी वामनरूप पन्द्रहवां अवतार है जिनका जन्म अदितिमें कश्यपसे हुआ. वामन नहीं होते हुए भी वामन रूप धरकर भगवान् बलिके यज्ञमें गये. भक्त इन्द्रके हितार्थ अपने ऐश्वर्यादि धर्मोंको अन्यथा कर दिये अर्थात् अपने बृहत् रूपको, लघु बना लिया, ऐश्वर्य आदिको छिपाकर याचक बन गये अतः पूर्वोक्त नृसिंह आदि चौदह अवतारोंसे इस अवतारमें यह विशेषता है.

यहां 'प्रत्यादित्सु'का यह तात्पर्य है कि बलिको भगवान्‌की इच्छासे ही स्वर्गादि प्राप्त हुए थे, उसको पुनः वापिससे लेनेकी इच्छासे ही बलिके यज्ञमें गये. यह लोक और परलोक आपके तीन पदमें आये हुए हैं. वहां यज्ञमें पधारनेमें पदत्रयकी याचनारूप आपका जो इच्छित प्रयोजन था उसका निरूपण इस श्लोकके उत्तरार्धमें बताया गया है और कश्यपके यहां प्रकट होकर बलिके यज्ञमें पधारने ही से अवतारका चरित्र है ।।१९।।

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्राम् अकरोन् महीम्।।२०।।

श्लोकार्थः सोलहवें अवतारमें ब्राह्मण द्रोही राजाओंको देखकर कुपित हुए परशुरामने पृथ्वी इक्कीस बार क्षत्रिय रहित कर दी।।२०।।

व्याख्यार्थः (यहां 'षोडशमे' इस पदमें 'मट्'का प्रयोग छान्दस है.) क्षत्रियोंमें उत्पन्न परशुराम सोलहवां अवतार है. सात प्रकारसे क्षत्रियोंको मार देनेसे क्षत्रियोंका बीज नहीं रहा. फिर ब्राह्मणसे क्षत्रिय स्त्रियोंमे पैदा होनेपर क्षत्रिय जातिका विस्तार हुआ. उनका फिर सात प्रकारसे नाश किया. इस प्रकार इक्कीस प्रकारसे पृथ्वीको क्षत्रिय रहित कर दी. वधमें क्षत्रियोंके निमित्तमात्र होते हुए भी

इक्कीस प्रकारसे क्षत्रियोंके हनन द्वारा ब्राह्मणोंकी रक्षा करना ही इस अवतारका प्रयोजन था ।।२०।।

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः।।२१।।

श्लोकार्थः सत्रहवें अवतारमें पराशरसे सत्यवतीसे उत्पन्न वेदव्यासने अल्प धारणा शक्तिवाले मनुष्योंको देखकर, वेदरूप वृक्षकी अनेक शाखाएं की।।२१।।

सुबोधिनीः उपरिचर वसुसे मत्स्य गर्भोत्पन्न दास कन्या सत्यवतीमें पराशरसे उत्पन्न व्यासजी सत्रहवें अवतार हुए. प्रकृतमें ब्राह्मण भावके ये तीसरे अवतार हैं पहिले वामन, दूसरे परशुराम और तीसरे वेदव्यास.

वेद वृक्ष है यह पूर्वमें निरूपित किया जा चुका है. उत्तरकांड जिसका मस्तक रूप है. ऐसे अनन्त मूर्तिवाले यज्ञ भगवान्की एक मूर्ति, जितने वेद भागसे प्रतिपादितकी गई वही एक शाखा कहलाई. इसी प्रकार अन्य शाखाओंको समझना चाहिये अर्थात् वे भी यज्ञरूप भगवान्को किसी एक ही मूर्तिका प्रतिपादन करती है.

ब्राह्मणको यद्यपि सम्पूर्ण वेद पढना चाहिये तथापि प्रमेय बलसे (पूर्वकांड प्रतिपादित यज्ञ तथा उत्तरकांड प्रतिपादित ब्रह्मरूप जो प्रमेय है उसको युक्ति मुक्ति दायकरूप बलका) विचार करनेसे एक ही मूर्ति सर्व मूर्ति रूप है अर्थात् एक मूर्तिसे ही सर्व मूर्तियोंका फल मिल सकता है. तदनुसार मंद बुद्धिवाले पुरुषके लिये वेदाध्ययन भी हो जाय और भगवद् भक्तिकेलिये बाकीका समय भी मिल जाये इसलिये वेदव्यासने वेदकी शाखाएं बना दी. अभिप्राय यह है कि यदि सम्पूर्ण वेदका अध्ययन किया जायेगा तो उसे भगवद्भक्तिकेलिये समय नहीं मिलेगा अतः मानव अति उत्कृष्ट फलसे वंचित रहेंगे इसीलिये वेदव्यासने वेदको अलग अलग विभाग शाखारूपमें कर दिये ।।२१।।

नरदेवत्वम् आपन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ।।२२।।

श्लोकार्थः इससे आगे देवताओंका कार्य करनेकी इच्छासे नरदेवत्व-राजत्वको प्राप्त श्रीरामचन्द्रने समुद्र-निग्रह आदि पराक्रम किए।।२२।।

सुबोधिनीः उपरोक्त अवतारोंसे भिन्न क्रम बतानेकेलिये क्षत्रिय भावसे

रामचन्द्र आदि तीन स्वरूपोंका निरूपण करनेकेलिये 'अतः परम्' कहा गया है. प्रथम ब्राह्मण भावका क्रम कहा यहां क्षत्रिय भावके क्रमको कहनेकी इच्छा है. यहां यद्यपि सोम सूर्य वंशके रूपमें दो ही क्षत्रिय भाववाले अवतार कहने चाहिये, फिर भी क्षत्रिय भाववाले तीन अवतारोंका निरूपण कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि चन्द्रके दो भेद हैं एक वृद्धिरूप दूसरा क्षयरूप तथा सूर्यका तीसरा है ही इस तरह यह तीन प्रक्रम हैं तदनुसार क्षत्रिय भाववाले तीन अवतार कहे गये हैं. नर-देवता अर्थात् श्रीरामचन्द्र राजा हैं. रावणवध रूप देवताओंका कार्य करने भगवान् रामके रूपमें आये हैं इस अवतारका चरित्र है समुद्र निग्रह आदि 'समुद्र-निग्रहादीन्'में आदि थे मरुस्थली कर देना, परशुरामको जीतना तथा बालिका वध करना ग्रहण किये गये हैं ।।२२।।

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।
रामकृष्णाविति भुवो भगवान् अहरद् भरम् ।।२३।।

श्लोकार्थः उन्नीसवें तथा बीसवें अवतारमें वृष्णि यदुवंशमें राम और कृष्ण इस रूपमें दो जन्म ग्रहणकर भगवान्ने भूमिके भारको हटाया।।२३।।

सुबोधिनीः अवतार वर्णनके श्लोकोंमें यह अठारहवां श्लोक है. यहां बलराममें भगवान्के आवेशका वर्णन है. उन्नीसवां बलरामका अवतार है और बीसवां कृष्णका अवतार है. यहां 'विंशतितमे' पदमें 'त'कारका लोप करके 'विंशतिमे' पदका प्रयोग छान्दस है, छन्दके आग्रहसे यहां 'त'कारका लोप किया गया है. चन्द्रमा वास्तवमें एक है इसलिये एक श्लोकमें ही राम कृष्ण दोनों अवतारोंका निरूपण किया गया. यहां 'वाष्र्ण्येषु' की जगह 'वृष्णिषु' कहा गया है जिसकी सिद्धि इस प्रकार है ''**ञ्यादयस्तद्राजा**''(पाणि.सू.५।३।१९) इस सूत्रसे प्रत्ययकी तद्राज संज्ञा हो गई और ''**तद्राजस्य बहुषु...**''(पाणि.सू.२।४।६२) इत्यादि सूत्रसे प्रत्ययका लोप होने पर 'वृष्णिषु' पद बन गया.

यहां चारों अवतारोंका (नारायणके अंशका, केशका सुतपावृष्णिपर प्रसन्न भगवान्का और कृष्णका) स्थान कृष्णमें हैं. तात्पर्य यह है कि यहां एक रूप ही बहुरूपमें विवक्षित है और बलराम तो एक ही (पृथक्) माने गये हैं. इस तरह पांच अवतार हुए. जन्म दो के हुए इसलिये श्लोकमें 'जन्मनी' द्विवचनान्त दिया है. लोकमें भी, इसीलिये, दो नाम प्रसिद्ध हुए एक राम दूसरा कृष्ण. अवतार लेनेका विशेष कार्य तो भगवान्ने ही किया इसीका निर्देश ''भगवानहरद्भरम्''

पदसे किया है अर्थात् लोकमें सामान्य रूपसे प्रसिद्ध भूभार हरणरूप अवतार कार्य, भगवान्‌से ही सम्पादित हुआ है वैसे तो इस अवतारका असाधारण कार्य सर्वोद्धार करना ही है ।।२३।।

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।२४।।

श्लोकार्थः उसके पश्चात् कलियुगके प्रवृत होनेपर देव शत्रुओंको सम्मोहित करनेकेलिए जिन पुत्र बुद्ध नामका अवतार कीकट देशमें होगा।।२४।।

सुबोधिनी: यहां 'ततः' भिन्न उपक्रमका सूचक है अर्थात् अब वैश्य भावके अवतारका वर्णन किया जाता है. कलियुगके भलीभांति प्रवृत्त हो जानेपर अर्थात् कलि धर्मका प्रचार होनेपर देवताओंके दोषी जो दैत्य राक्षस थे वे वैदिकोंमें भी उत्पन्न हो गये थे उनका वेदाध्ययन छुडानेकेलिये कीकट देशमें गया प्रदेशमें, जिन अथवा अजिनका पुत्र बुद्ध बुद्धावतार हुआ ।।२४।।

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः।।२५।।

श्लोकार्थः इसके अनन्तर यह भगवान् कलियुग और सत्ययुगकी संधिमें अथवा कलियुगके अन्तमें राजाओंके चौर प्रायः होनेपर, विष्णुयशा नामक ब्राह्मणके यहां कल्कि नामसे जगत्के पतिरूपमें प्रकट होंगे।।२५।।

सुबोधिनी: यहां 'अथ' पद महान् भिन्न क्रमका निर्देश करता है. कूर्मावतारसे लेकर बुद्धावतार पर्यन्त जितने भी अवतार हैं वे विराट् पुरुषके अवतार नहीं हैं 'असौ' यह कल्कि तो विराट् पुरुषका अवतार है. यहां कूर्म आदि कूर्मका अवतार है जिसका वर्णन "**हिरण्मयेपि भगवान् निवसति कूर्मतुनं बिभ्राणः**"(भाग.पुरा.५।१८।२९) इत्यादिसे किया गया है. धन्वन्तरि विष्णुका अवतार है, नृसिंह कालका तथा वामन विष्णुका अवतार है. वैश्वानरका अवतार परशुराम है. व्यास, विष्णुका ज्ञानावतार है. वासुदेवका अवतार राम है, संकर्षणका बलराम है और वासुदेवादि चारों व्यूहका अवतार कृष्ण हैं, वासुदेवका अवतार बुद्ध हैं. इस प्रकार ये अवतार समझे जाते हैं.

कलियुगकी समाप्ति और सत्यका प्रवेश, इसके मध्यके समयको यहां 'संध्या' शब्दसे कहा गया है अथवा संध्याका अर्थ यहां कलिका अन्त भी किया जा सकता है. इस युग सन्धिमें राजाओंका अस्तित्व नहीं रहेगा, भूमि शून्य प्रायः

हो जायेगी, और जो राजा बचेंगे वो चोर हो जायेंगे. 'किन्तु विष्णुभक्तिके प्रतिपादक ब्राह्मणोंकी संगतिसे कुछेक चोर नहीं भी होंगे.' यहां 'दस्युप्रायेषु'में 'प्रायः' शब्द इसी अर्थमें ग्रहण किया गया है, इसीलिये शंभल ग्राममें विष्णुयशा नामका वैष्णव रहेगा. उसके घरमें, पत्नीमें कल्कि अवतार प्रकट होगा. 'जगत्पतिः' पदसे अवतारका प्रयोजन बताया गया है. जगत्के क्षीण हो जानेपर पुनः उसका उद्भव करनेवाला यह अवतार होगा ।।२५।।

आभासार्थः अवतार इतने ही नहीं असंख्य हैं यही कहते हैं:

अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः।।२६।।

श्लोकार्थः हे द्विजों! अक्षय जलवाले सरोवरसे जैसे छोटे-छोटे प्रवाह नहरें निकलते हैं उसी तरह सत्त्वनिधि होनेसे भगवान्के अवतार असंख्य हैं।।२६।।

सुबोधिनीः भगवान्के असंख्यों अवतार होनेमें हेतु है भगवान्का सत्त्वनिधि होना क्योंकि उन अवतारोंके पालनमें तथा उद्भव आदिमें सत्त्व आवश्यक है अवतार असंख्य हैं इसमें सम्मति लेनेके लिये यहां 'द्विजाः' इस सम्बोधन पदका प्रयोग किया गया है. 'आप लोग द्विज हैं अर्थात् चिरंतन ऋषि होनेसे आपने तो अनेकों अवतार देखें हैं''. अवतारोंके स्वरूपको अक्षय जल जैसा कहा है 'यथाविदासिनः' जिससे अनेकों छोटे छोटे प्रवाह निःसरित होते हैं इस प्रकारके ये क्षुद्र प्रवाह कुल्याः दक्षिणमें प्रसिद्ध हैं. इसी तरह सत्त्वके अक्षयनिधि रूप भगवान्से अनेकों अवतारोंका उद्भव होता रहता है ।।२६।।

आभासार्थः सबका सामान्यसे स्वरूप, प्रकृति और फल 'ऋषया' आदि दो श्लोकोंसे कहते हैं

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः।।२७।।
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे।।२८।।

श्लोकार्थः अर्यमा आदि ऋषिगण, मनु, देव, मनुपुत्र तथा अन्य अत्यन्त पराक्रमी ये सब तथा प्रजापति, मरीचि आदि सहित सभी भगवान् धर्मावेशी हैं अर्थात् इन सबमें भगवान्के एश्वर्यादि धर्मोका आवेश है. पूर्वोक्त सनत्कुमार आदिमें तो कोई अंशावतार है तो कोई कलावतार है. कृष्णतो स्वयं भगवान् ही

हैं. ये सब अवतार युग-युगमें दैत्योंसे व्याकुल जगत्को सुख देते हैं।।२७-२८।।

सुबोधिनी: अर्यमा आदि ऋषि, स्वायम्भुव आदि मनु, वसु आदि देवता, प्रियव्रत आदि मनुके पुत्र और अन्य भी जो महापराक्रमी हैं ये सब रक्षाकी इच्छावाले भगवान् विष्णुके ऐश्वर्य, वीर्य आदिके आवेशवाले हैं इसलिये धर्मावेशी अवतार हैं इसी तरह प्रजापति सहित मरीचि आदि भी धर्मावेशी अवतार हैं. श्लोकस्थ 'हरेरेव'में 'एव'कारसे यह अर्थ है कि ये सब अवतार अन्यके नहीं किन्तु हरिके ही हैं. यहां 'स्मृताः'का अर्थ है इस तरह ऋषियोंको स्मरण है अर्थात् ये वास्तवमें हरिके ही अवतार हैं इसमें ऋषियोंकी यह स्मृति ही प्रमाण है.

पूर्वमें कहे गये सनत्कुमार आदिमें कोई अंशावतार है तो कोई आवेशावतार है कलावतार है. ''एते चांशकलाः''में 'च'कारसे अन्य अवतारों का भी ग्रहण होता है. यहां अनुक्त अवतार 'च'कारसे ग्रहण किये गये हैं. ये सब अवतार ब्रह्माण्डमूर्ति नारायण पुरुषके या तो अंशावतार हैं या कला आवेश अवतार हैं.

जहां भगवान्की महाशक्तिका आविर्भाव हो वह अंशावतार है और जहां अल्पशक्तिका आविर्भाव हो उसे कला या विभूतिका अवतार समझना चाहिये. कलाका अर्थ है आवेश.

यहां ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयं''में 'तु' यह निर्देश करता है कि कृष्ण इस प्रकारका अवतार नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त पुरुष आदि जिसके अंश हैं वह भगवान् कृष्ण हैं.

सामान्यतः अवतारोंका प्रयोजन कहते हैं कि जैसे प्रत्येक कल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं उसी तरह दैत्यादिसे व्याकुल जगत्को सुख देनेकेलिये प्रत्येक युगमें अवतार होते हैं.

ऊपर असंख्य अवतार बताये हैं जिससे यह सूचित होता है कि प्रयोजनके अनुसार सर्वत्र भगवान्का अवतार होता रहता है ''यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्'' आदिसे इसी बातको कहा है ।।२७-२८।।

आभासार्थ: ''कृष्णावतारका प्रयोजन जो नहीं कहा उसमें मेरे अज्ञानका दोष नहीं है, किन्तु अवतार ही दुर्ज्ञेय है'' इसी बातको कहते हैं

जन्म गुह्यं भगवतो य एतत् प्रयतः शुचिः।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते।।२९।।

श्लोकार्थः भगवान् कृष्णका प्रादुर्भाव गोप्य है. सामान्य रूपसे कहे गए इस अवतारको सावधान और शुद्ध होकर सायं प्रातः वर्णन भी करे तो भी दुःख समुदाय छूट जाता है. श्रद्धासे यदि कहे तो मुक्त ही हो जाता है।।२९।।

सुबोधिनीः भगवान् कृष्णका जन्म गोप्य है. उसको प्रकटरूपसे नहीं कहना चाहिये क्योंकि जीवकी तरह कर्म वश आपका प्राकट्य नहीं है. ऐसी स्थितिमें जीवोंका विस्तार कैसे होगा? ऐसी आशंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'य एतत्' हमसे सामान्यतया निरूपित इस अवतारका जो कोई सावधान व शुद्ध होकर प्रेम पूर्वक सायं प्रातः स्तोत्र पाठ करे तो वह दुःख समुदायसे विशेषतया मुक्त हो जाता है. श्रीकृष्णावतारके जन्मका रहस्य ज्ञान न होने पर भी उनके केवल प्रादुर्भावको कहनेसे ही सम्पूर्ण दुःख निवृत्त हो जाते हैं. फिर यदि श्रद्धासे उनका उच्चारण करें तो वह मुक्त ही हो जाता है ।।२९।।

आभासार्थः इस प्रकार पुरुषावतारको अपने अंशावतार एवं परिकर सहित निरूपण करके 'एतद्रूपम्' आदि पांच श्लोकोंसे उसका विचार करते हैं:

एतद् रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि।।३०।।

श्लोकार्थः चैतन्यस्वरूप रूप रहित भगवान्के माया-गुण-अन्य जो महतत्त्वादि हैं, उन्होंने अपने शरीरमें इस ब्रह्माण्ड रूप देहको बनाया है।।३०।।

सुबोधिनीः यह ब्रह्माण्डात्मक देह भगवान्की देह है. सत्त्वोपाधियुक्त ब्रह्मका ही यह शरीर है. शरीरके बिना आत्माको अन्यत्र उपलब्धि नहीं हो सकती.

''**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्**''(ब्रह्मसू.) इस न्यायसे वह ब्रह्म स्वतः रूपवान् नहीं है क्योंकि वह चैतन्यरूप है 'चिदात्मनः'. जड ही रूपवाला होता है. केवल चैतन्य अमूर्त होनेसे उसका रूप नहीं होता इसीका निर्देश यहां 'हि' शब्दसे किया गया है.

शंका करते हैं कि यदि ऐसा हो तो ब्रह्मका ब्रह्माण्ड शरीर कैसे कहा गया?

इसका उत्तर यह है कि 'मायागुणैर्विरचितम्' वैष्णवतन्त्रमें आधिदैविक भगवान्की शक्ति माया है. उसीके सत्त्व रजस् और तमस् ये गुण हैं इनसे महत्तत्त्वादि पैदा हुये हैं. इन महत्तत्त्वादिने अपने शरीरमें ही भगवान्के शरीरको

प्रादुर्भूत किया है. यह ब्रह्माण्ड भगवत् शरीर है इसमें भगवान् रहते हैं. इसलिये भजनीय कहे गये हैं.

तदनन्तर महत्तत्त्वादि पर कृपापूर्वक इनमेंसे निहित भगवान् यहां प्रकट हुए हैं तहां लोहके गोलकमें अग्निकी तरह सन्निहित भगवान् ब्रह्माण्डमें रहते हैं यह जानना चाहिये. 'रूपम्'का अर्थ यहां शरीर है. इससे आधिदैविकवाद ग्रहण किया गया है. जिसे विशिष्टाद्वैत भी कहते हैं. ''**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्**'' (ब्रह्मसू.)का अर्थ यह है कि यह विश्व सब व्यवहारोंका विषय होनेसे रूपवान् है तथा ब्रह्मका अंश एवं कार्य है. ब्रह्म कारण एवं अंशी है इसलिये इस विश्वसे उस ब्रह्मका विलक्षण होना युक्ति युक्त है.

शंका करते हैं कि ब्रह्म कारण है इसलिये विश्वसे वह विलक्षण नहीं हो सकता फिर आप उसे विलक्षण कैसे कहते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'तत्प्रधानत्वात्' यहां ब्रह्मका प्रकरण है इसलिये, वह प्रधान है. उस ब्रह्ममें वहां प्रशासनादि धर्म बताये गये हैं जो जड जीवके धर्म नहीं हो सकते.

इस श्लोकमें शरीरका प्रकरण है इसलिये 'रूप' पदसे यहां शरीर लिया गया है यह सब सूतजीके अधिकारानुसार 'एकदेशी' मत कहा गया है. वस्तुतः ब्रह्म ही सब कुछ है. सूतजी यहां यह कह रहे हैं कि ब्रह्ममें स्वतः रूप नहीं है क्योंकि वह चैतन्य है ।।३०।।

आभासार्थः शंका करते हैं कि विराट् देह जडरूप है इसमें ब्रह्मकी प्रतीति कैसे हो सकती है? यदि जडरूप इस शरीरमें ब्रह्मका लोह गोलकमें अग्निकी भांति प्रवेश मानते हो तो चेतनताकी प्रतीति होनी चाहिए. यह शरीर दृश्य एवं जड होनेसे, इसमें भगवान्का आवेश नहीं है तो फिर यह ब्रह्मका शरीर कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वम् आरोपितम् अबुद्धिभिः।।३१।।

श्लोकार्थः जैसे अज्ञानी लोग अदृश्य आकाशमें मेघ समुदायको आरोपित करते हैं अथवा वायुमें पृथ्वीके रजकणोंका आरोप करते हैं उसी प्रकार द्रष्टारूप जो विराट् पुरुष है, उसमें दृश्यत्व जडत्व आरोपित करते हैं।।३१।।

सुबोधिनीः ब्रह्माण्डरूप शरीरसे युक्त यह भगवान् दृष्टा है. वह देवदत्तकी तरह सब कुछ देखता है. यद्यपि यह ब्रह्माण्ड शरीर भी दृश्य है तथापि

दृष्टा जो भगवान् हैं उससे व्याप्त है. लोकमें दृश्य वही कहलाता है जो दृष्टासे अतिरिक्त हो अर्थात् लोकमें वही पदार्थ देखा जा सकता है जो दृष्टा न हो. वहां जो महापुरुष हैं, वे इस ब्रह्माण्ड शरीरमें लोह गोलकमें अग्निकी तरह भगवान्को देखते हैं और जो मूढ पुरुष हैं वे दृष्टारूप भगवान्में दृश्यत्वका आरोप करते हैं.

यहां शंका करते हैं कि अन्यमें, अन्य धर्मोंका आरोप कैसे हो सकता है? अर्थात् अदृश्य भगवान्में दृश्यत्वका आरोप कैसे सम्भव है? इसका उत्तर दृष्टान्त सहित देते हैं कि वास्तवमें आकाश अदृश्य है तो फिर आकाशमें मेघ दृश्य है यह प्रतीति कैसे हो सकती है? जिनके मतमें आकाश दृश्य माना गया है उनके मतमें भी आकाशमें मेघ नहीं माने जाते. किन्तु वायुमें ही मेघ माने जाते हैं तात्पर्य यह है कि जैसे अदृश्य आकाशमें तदाधारत्वेन मेघोंका आरोप किया जाता है उसी तरह ब्रह्मका शरीर जो ब्रह्माण्ड है उसमें दृश्यत्व जडत्व आरोपित है.

जैसे मेघ देखनेवाले पुरुषोंको आकाशके धर्म अवकाशकी प्रतीति नहीं होती है उसी तरह ये ब्रह्माण्ड शरीर प्राकृत है इस प्रकार जो देखनेवाले हैं उनको भी इस ब्रह्माण्ड शरीरमें चेतनताकी प्रतीति नहीं होती. ऐसी स्थितिमें इनके अज्ञानमात्रसे भगवान् इस शरीरमें आविष्ट नहीं हैं? यह कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् 'आकाश अदृश्य है, उसके धर्म, दृश्य मेघमें आरोपित होते हैं और सिद्धान्तमें, भगवान् अदृश्य है, उसमें ब्रह्माण्ड दिखाई देता है और उसके धर्मका ब्रह्माण्डके धर्मका भगवान्में आरोप होता है' इस प्रकारके निरूपणसे दृष्टान्तमें विषमता आती है क्योंकि दृष्टान्तमें अदृश्यका धर्म दृश्यमें और दार्ष्टान्तमें दृश्यका धर्म, अदृश्यमें आरोपित है. इस तरह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तमें समानता नहीं होनेसे यह दृष्टान्त बराबर नहीं इसलिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं.

''रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले'' वायु सबके मतमें अदृश्य है उसमें दृश्य पृथ्वीकी जो रज है, वह आरोपित है. जब आंधी चलती है तब उसमें वायुवाली रजकी प्रतीति होनेसे, उसे सभी वायुकी रज है ऐसा भ्रांतिसे मानते हैं. वास्तवमें तो वहां पार्थिव पृथ्वी सम्बन्धित रज है. इस तरह यहां अदृश्यमें दृश्यका धर्म आरोपित है इसी तरह ब्रह्माण्डमें भी दृश्यत्वका आरोप है.

''वाणीकी कामधेनु रूपसे उपासना करनी चाहिये'' इसी तरह यहां भी भगवान्की ब्रह्माण्ड रूपसे उपासना करनी चाहिये. यदि इस अभिप्रायसे भगवान्में ब्रह्माण्ड आरोपित होता तो ''द्रष्टरि दृश्यमारोपितम्'' ऐसा कहते अर्थात् यहां

दृश्यत्वादि–धर्म विशिष्ट शरीर ब्रह्ममें आरोपित है' ऐसा व्याख्यान अर्थ अभिप्रेत नहीं है.

यदि यह ब्रह्माण्ड शरीर आरोपित होता (और जो कि वास्तवमें आरोपित नहीं है) तो योगीको वह प्रत्यक्ष कभी नहीं हो सकता. इसलिये यह प्रत्यक्षादि धर्मक शरीर ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें आरोपित है ऐसा कहना असंगत है. ब्रह्मसे अतिरिक्त इस ब्रह्माण्ड शरीरको मानकर उसमें दृश्यत्व जडत्वकी कल्पना करना उचित नही है क्योंकि ब्रह्माण्ड शरीर भी ब्रह्मका रूप ही है ।।३१।।

आभासार्थ: इस प्रकार प्रपंचमें जडत्वबुद्धि भ्रांतिमात्र है, भगवद्बुद्धि मुख्य है ऐसा ''यथा नभसि'' इत्यादिमें निरूपण किया गया. ''जीवमें भी भगवद् बुद्धि करना मुख्य है, जीवबुद्धि करना मुख्य नहीं है'' इसी बातको कहते हैं कि:

अतः परं यद् अव्यक्तम् अव्यूढगुणबृंहितम् ।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यत् पुनर्भवः।।३२।।

श्लोकार्थ: ब्रह्माण्ड शरीरसे दूसरा जो सूक्ष्म है, जो कर–चरण आदि आकार विशेषमें अपरिणत–स्वाभाविक गुणोंसे व्याप्त है, जो अदृश्य होनेसे जड नहीं है और वेदादिमें उस रूपमें अश्रुत होनेसे भगवद्रूप नहीं है वह जीव है, जिसके मानने पर बार बार जन्म–मरण हुआ करते हैं।।३२।।

सुबोधिनी: पूर्वोक्त श्लोकमें ब्रह्माण्ड शरीरका निरूपण किया गया है, अब इस शरीरसे सूक्ष्म, सर्व इन्द्रियोंका अविषय तथा अव्यक्त इस अपर पर्यायवाला तत्त्व है जो कर चरण आदि आकार विशेषमें अपरिणत–स्वाभाविक गुणोंसे व्याप्त है. ऐसा तत्त्व है अवश्य, तो वह कौन है? ऐसी आकांक्षाके उत्तरमें कहते हैं कि वह जीव है. क्योंकि जीव, जड और भगवान्से अतिरिक्त कोई चतुर्थ पदार्थ ही नहीं है. तथापि, वह जीवरूप ही है ऐसा क्योंकर मान लिया जाये? इसका उत्तर है कि ''अदृष्टाश्रुत–वस्तुत्वात्'' यदि वह जीव जड होता तो जडकी तरह दृश्य होता. यदि वह जीव भगवद्रूप होता तो वेद आदिमें उसका उल्लेख होता. 'शशशृंगकी तरह वह जीव असत् है' यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी सत्तासे ही तो चेष्टा आदि होते हैं. तदनुसार चेष्टा आदिसे वह अनुमेय वस्तु है. इस तरह जब वह न जड ही हो सकता है और न भगवान् ही, तब इससे जो शेष रहा वह जीव ही है वह जीव ही हो सकता है.

कोई श्रीधरस्वामी आदि लिंगदेहमें जीव व्यवहार होता है अर्थात्

जीवको उपाधिरूप लिंग शरीर मानते हैं किन्तु यह उपयुक्त मत नहीं है यह 'प्राप्ताप्राप्त विवेक'से विरुद्ध पडता है. अर्थात् यह भगवान्का प्रकरण है तदनुसार यहां भगवान्का वर्णन प्राप्त है, जीवका वर्णन उपक्रांत नहीं है इसलिये अप्राप्त है. भगवान्के अतिरिक्त जीवके न होनेसे यह लिंग देह किसकी उपाधि होगी? यह प्रश्न उपस्थित होता है. अतः यह कहना युक्त होगा कि लिंग शरीरमें जीवका प्रयोग नहीं है क्योंकि ब्रह्मके अंशसे लिंग शरीरका सम्बन्ध अनुचित है इसलिये लिंग शरीरसे पृथक् यह जीव है.

यदि 'जीव' शब्दसे लिंग शरीर लिया जाये तो ''**तमुत्क्रामन्तं प्राणान् उत्क्रामति**'' इस श्रुतिमें जीवके अनन्तर लिंग शरीरका निकलना कहा गया है. अतः यह स्पष्ट है कि लिंग शरीर अलग है और जीव अलग है. लिंग शरीरसे अलग जीव मानते हैं तो पुनर्जन्म भी सिद्ध उत्पन्न हो सकता है. पुराण और लोकमें ऐसा सुना गया है कि पहले यह जीव देव था और इस समय मनुष्य बन गया इसलिये पुनर्जन्म होता है. जीवको लिंग देहसे अतिरिक्त माने बिना पुनर्जन्म सुसंगत नहीं हो सकता. अस्तु यह सूक्ष्म जीव भगवान्का ही उपाधि विशेष है अर्थात् भगवान्से पोषित यह जीव कोई पदार्थ है ऐसा मानना चाहिये ।।३२।।

आभासार्थ: यदि ऐसा है तो फिर इससे क्या सिद्ध हुआ? वहां कहते हैं:

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद् ब्रह्मदर्शनम्।।३३।।

श्लोकार्थ: अविद्यासे आत्माके स्थानमें प्रतीत होनेवाले ये स्थूल सूक्ष्म (जड जीव) ब्रह्मानुभव होनेपर नहीं रहते. ऐसी स्थितिमें सर्वत्र ब्रह्म-प्रतीति रहती है, जड-जीव प्रतीति नहीं रहती।।३३।।

सुबोधिनी: वस्तुतः सभी भगवान् ही हैं न जड है, न जीव है. जड और जीवकी प्रतीति अविद्यासे है. अविद्यासे आत्मामें यह प्रतीति होती है. ब्रह्म रूप अधिष्ठानमें यह स्थूल, जड, और सूक्ष्म जीव है ऐसा ज्ञान ब्रह्मका अनुभव होनेपर नहीं रहता. सर्वत्र ब्रह्मानुभव होकर बिना जड जीवकी अलग रूपसे प्रतीति होती है और जब सर्वत्र ब्रह्मानुभव हो जाता है तब सर्वत्र ब्रह्म प्रतीति होती है. यहां 'इति' शब्द हेत्वर्थक है. जब यह जड है, यह जीव है, ऐसी भेद प्रतीति नहीं होती तब ही ब्रह्मानुभव होता है ऐसी स्थितिमें सर्वत्र ब्रह्मकी प्रतीति हो जाती है और जड जीवकी प्रतीति नहीं रहती ।।३३।।

आभासार्थ: इस तरह ब्रह्मकी प्रतीति होनेसे क्या ? और जड जीवकी यह प्रतीति कब निवृत्त होती है ? इन दोनोंका निरूपण करते हैं

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।

सम्पन्न एवेति विदुः महिम्नि स्वे महीयते।।३४।।

श्लोकार्थ: सर्वज्ञ भगवान्की यह देवता रूप माया जब प्रवृत्ति रूपसे अर्थात् अविद्या रूपसे नहीं रहती किन्तु जब वह विद्यारूप बन जाती है तब यह जीव ब्रह्म रूपताको प्राप्त होता हुआ अपने परमानन्द रूपमें स्थित होकर पूजित होता है ।।३४।।

सुबोधिनी: यह माया सर्वज्ञ भगवान्की सम्बन्धिनी है तथा देवता रूप मानी जाती है. वह जब अपनी प्रवृत्तिरूप पूर्वावस्थासे उपरत हो जाती है तब उसकी सत्ता नहीं रहती यह नहीं कह सकते, किन्तु वह माया पूर्वावस्थासे उपरत होनेपर विद्या रूपमें परिणत हो जाती है. ऐसी स्थितिमें जीवको स्वरूप लाभ हो जाता है.

जब वह प्रवृत्तिरूप रहती है तब माया कहलाती है, जब निवृत्ति रूप होती है तब विद्या कहलाती है यह विशेष है. विद्यारूपमें परिणत होनेपर, जड जीव बुद्धि नहीं रहती तब वह जीव अपने परमानन्द स्वरूपको प्राप्त करके पूजित हो जाता है स्वराज्य करता है. इस प्रकार सब जड जीव हरिका रूप ही है यह निर्देश करनेके लिये, परिकर सहित पुरुषावतारका वर्णन किया ।।३४।।

आभासार्थ: इसी तरह अन्य अवतारमें भी समझना चाहिये. पुरुषोतम भगवान् कृष्णमें जन्म कर्मका निरूपण उसकी भगवत् रूपताका ज्ञान करानेकेलिए किया गया है इसीको कहते हैं कि:

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च।

वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः।।३५।।

श्लोकार्थ: इस तरह हृदयके पति, अजन्मा और अकर्माके जन्म और कर्म वेदमें भी गुह्य ही हैं. विवेकी लोगोंने उसका इसी रूपसे वर्णन किया है।।३५।।

सुबोधिनी: यहां शंका करते हैं कि उपदेश तथा अतिदेशमें क्या भेद है ? इसका उत्तर देते हैं कि पहले जो कहा जाता है वह उपदेश है तथा जो बात अन्यत्र प्रसिद्ध है उसे किसी कारणवश अन्यत्र कह देना अतिदेश है. पुरुषावतारके जन्म

आदिका कथन उपदेश है और ''एवं जन्मानि कर्माणि''से पुरुषावतारमें प्रसिद्ध जो जन्मादि हैं, उनका पुरुषोत्तम भगवान्में कहना अतिदेश है.

अजन्मा भगवान्के जन्म, अकर्ता भगवान्के कर्म, ये सब बातें ब्रह्ममें सम्भव हैं क्योंकि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय हैं. इस प्रकार विरुद्ध धर्माश्रयता बतानेसे भगवान्का माहात्म्य सिद्ध होता है जिसका निर्देश ''**एतावान् अस्य महिमा**'' आदिसे श्रुतिमें किया गया है. विद्वान भी भगवान्के विरुद्ध धर्माश्रयत्वका निरूपण करते हैं.

यहां प्रश्न होता है कि भगवान्में विरुद्ध धर्मोंकी अविरोधपूर्वक प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर है कि 'वेद गुह्यानि' वेदमें भी जन्म और कर्मका वर्णन गुप्त रूपसे ही किया गया है वेदमें भी इनका रहस्य प्रकट नहीं किया गया है जिससे भ्रांत पुरुषोंको भगवान् विरुद्धकी तरह प्रतीत होते हैं. वस्तुतः भगवान् तो सर्व प्रकारके रूप धारण करनेमें समर्थ हैं. ब्रह्ममें किसी भी प्रकारका विरोध ही नहीं है. तदुपरांत भगवान् 'हृत्पति' हैं. सबके हृदयोंके प्रेरक वही हैं. प्रेरणा रूप धर्म विशेषसे ब्रह्म भी अनेक प्रकारका हो जाता है. जहां जिस तरह अनेक प्रकारसे प्रेरणा करता है वहां उस तरह अनेक प्रकारका हो जाता है ।।३५।।

आभासार्थ: विवेकी लोग अजन्मा, अकर्ता भगवान्के जन्म कर्म कैसे निरूपण करते हैं? और भगवान्की कौन सी लीलाएं हैं? भगवान्का क्या स्वरूप है? और वह कैसे जाना जा सकता है? इसको निम्नांकित तीन श्लोकोंसे कहते हैं. वस्तुत: यहां 'सूत जानासि भद्रन्ते' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है:

स वा इदं विश्वम् अमोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः।।३६।।

श्लोकार्थ: जिसकी लीला अव्यर्थ है ऐसे भगवान् पुरुषोतम इस विश्वका निर्माण करते हैं, रक्षा करते हैं और संहार करते हैं किन्तु, तत्सुलभ हर्ष-मोह आदिसे आलिप्त रहते हैं, प्राणियोंमें अन्तर्हित हैं अत: स्वतन्त्र हैं. छहों इन्द्रियोंके रसरूपादि विषयोंके सारभूत रसका वे स्वयं ही अनुभव करते हैं।।३६।।

सुबोधिनी: विषयोंके वे पुरुषोत्तम निश्चय पूर्वक इस विश्वको उत्पन्न करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं और इसका संहार करते हैं. काल, कर्म, स्वभाव आदिके प्रेरक भगवान् हैं. वे स्वतंत्र नहीं हैं इसलिये वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि स्वतंत्र रूपसे नहीं कर सकते.

'इदं विश्वम्' यह विश्व अर्थात् यह जगत्, अक्षर काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुषसे बनाया गया है. इस तरह अनेक प्रकारसे जगत्के निर्माणका निरूपण किया गया है, किन्तु वस्तुतः इस जगत्का निर्माण भगवान् ही करते हैं, क्योंकि उनकी लीला अमोघ सफल कही गई है.

केवल अक्षर, काल आदिसे जगत्का निर्माण हो और यदि स्वतंत्र जो भगवान् हैं उनकी इच्छा न हो, तो काल, कर्म, स्वभाव आदिकी जगत् निर्माण क्रिया व्यर्थ रहेगी सफल नहीं होगी. जगत् निर्माण कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण उनमें निर्माण कार्योचित स्फूर्तिका अभाव ही रहता है. भगवान्को इसमें कोई क्लेश नहीं होता क्योंकि, इनका यह निर्माण कार्य लीलारूप है. लीलामें आभास नहीं होता तदुपरांत यह जगत् उनका भोग्य है अथवा भगवान् जगत्को चावलोंकी तरह उत्पन्न करता है, रक्षा करता है तथा उसको खा भी जाता है. जगत् भगवान्का भक्षण कहा गया है ''**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः**'' अक्षर काल कर्म स्वभाव भगवान्के भृत्य हैं. भगवान्की प्रेरणानुसार कार्य करते हैं अतः जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहारमें अप्रयोजक हैं.

यदि कहो कि जीव भी तो भोक्ता है तो फिर क्या भगवान् भी जीवोंके समान हैं? तो उत्तर देते हैं कि नहीं, विश्व निर्माण सुलभ जो गुण दोष रूप मोह हर्ष आदि हैं वे भगवान्में नहीं हैं इसलिये जीवसे उनमें वैलक्षण्य है. श्लोकमें 'अस्मिन्' पदसे यह अभिप्राय है कि ''सूतजी इस विषयमें अपना अनुभव कह रहे हैं. अर्थात् इसमें भगवान् असंग रूपसे रहते हैं, इसमें आसक्त नहीं होते. पंचमहाभूतोंमें और स्वांशरूप जीवमें भी भगवान् आसक्त नहीं हैं. इस प्रकार भगवान् जीव और जडमें अनासक्त ही हैं यह कहा गया है.''

शंका करते हैं कि सर्वत्र कार्य और कारण प्रत्यक्ष देखे जाते हैं किन्तु भगवान् तो दिखाई देते नहीं, तो अदृष्ट भगवान् इस विश्वका निर्माण करते हैं यह कैसे माना जा सकता है? क्योंकि जब तक दृष्टसे काम चल सकता हो तब तक अदृष्ट भगवान्को कारण मानना उचित नहीं है. इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् विश्वमें छिपे हुए हैं इसलिये दिखाई नहीं देते, स्वतंत्र होनेसे उनके दर्शन सम्भव नहीं हैं. जो दृष्ट होते हैं वे परतन्त्र होते हैं. भगवान् परतन्त्र नहीं हैं इसलिये दृष्ट भी नहीं हैं.

जब वह भगवान् सर्वत्र छिपा हुआ एवं सर्वत्र प्रविष्ट रहता हुआ सब

कुछ करता है, तब जीवकी तरह जीवके साथ ही वह भी भोग करता है तो फिर भगवान्‌में भी दोष आजायेगा वह भी जीव तुल्य हो जायेगा. यदि भगवान् विषयोंका पहले ही भोग कर लें तो फिर कुछ भी शेष न रहने पर जीव उसका भोग करेगा? इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'षाड्वर्गिकं जिघ्रति' छः इन्द्रियोंके जो विषय हैं उनको भगवान् सूंघता मात्र है. जीव इन्द्रियोंसे भोग करता है. अर्थात् जीवकृत भोग इन्द्रिय साध्य है और इन्द्रियां विषयगत धर्मोंका ही ग्रहण करती हैं, धर्मीको नहीं. जीवकृत भोगमें गन्धादिसे रहित विषयोंका ग्रहण नहीं हो सकता. धर्म रहित धर्मी और धर्मी रहित धर्म तो भगवान्‌के ही भोग्य हैं. तात्पर्य यह है कि जीव, धर्म रहित धर्मीका ग्रहण नहीं कर सकते. भगवान् केवल धर्मको भी ग्रहण कर सकते हैं और केवल धर्मीका भी, रूपादि गंधादिको ग्रहण कर सकते हैं. जीव धर्मीके बिना केवल धर्मोंका पृथक् रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता. जीव इन्द्रियोंके द्वारा क्षणमात्रकेलिये धर्मको कुछ अंशका सम्बन्ध करता है. जीव अपनी इन्द्रियोंसे विषयोंके सभी अंशोंका भोग नहीं कर सकता. शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध इन पांचों विषयोंका सर्वांशमें भोग तो भगवान् साध्य ही है.

भगवान् धर्मोंको ही ग्रहण करते हैं. लोकमें केवल धर्मका ग्रहण करना यह तो सुगंधमें ही सम्भव है और सुगंधका ग्रहण घ्राणेन्द्रिय ही कर सकती है इसलिये श्लोकमें केवल धर्मबोधक 'जिघ्रति' पद दिया गया है. जीवकी छहों इन्द्रियोंमें (कर्ण, नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, मन) प्रत्येक इन्द्रिय पंचपर्वा अविद्यासे (देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास तथा स्वरूप विस्मृति) व्याप्त है इसलिये प्रत्येक इन्द्रियके पांच पांच भेद होते हैं. तदनुसार छह इन्द्रियोंके तीस भेद हुए. इस तरह इन तीस भेदोंके विषय भी अट्ठाईस तत्त्व, स्वयं भगवान् तथा भक्ति इस तरह कुल मिलाकर तीस हैं. इन तीस भेदोंके सारभूत रसोंका स्वयं भगवान् ही अनुभव करते हैं. मनसे ग्राह्य जो ज्ञान है, उस सहित चक्षु आदिसे ग्राह्य जो रूपादि हैं वे जीवको सर्वरूपमें सर्वांशमें प्राप्त नहीं होते. ज्ञान सहित रूप रस गंध शब्द स्पर्श –ये जीवको सर्वरूपमें नहीं मिलते किन्तु उसके अमुक भाग ही एकदेश रूपमें किसी तरह प्राप्त होते हैं. भगवान्‌में यह नहीं है क्योंकि भगवान् 'षड्गुणेशः' छहों गुणोंके ईश हैं. ईश होनेसे भगवान् नियामक हैं और ये समस्तविषय उनके अधीन हैं इसलिये इनका सर्वांशमें भोग भगवान् ही कर सकते हैं.

इस श्लोकमें भगवान्का वर्णन और उनकी लीला प्रतिपादितकी गई है और भगवान् सारभूत रसका भोग करते हैं यह प्रयोजन भी कहा गया है ।।३६।।

आभासार्थ: इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म विचारपूर्वक पदार्थका निरूपण किया गया. वस्तुत: भगवान् यथार्थ रूपमें नहीं जाने जा सकते और जो जाननेका अभिमान रखते हैं 'अविज्ञातं विजानताम्' उनकेलिए वह परमेश्वर अविज्ञातम् अविज्ञात है. इसी बातको कहते हैं:

न चास्य कश्चिद् निपुणेन धातुरवैति जन्तु: कुमनीष ऊती:।
नामानि रूपाणि मनोवचोभि: सन्तन्वतो नटचर्याम् इवाज्ञ:।।३७।।

श्लोकार्थ: मन और वचनके साथ नाम और रूपोंका विस्तार करनेवाले सबके उत्पादक इस भगवान्की लीलाको निपुण प्रमाणोंसे ब्रह्मा भी नहीं जानता तब जिस तरह अज्ञानी मनुष्य नटकी चर्याको नहीं समझ सकता उसी तरह तुच्छ बुद्धिवाला कोई भी जन्तु भगवान्की लीलाको कैसे समझ सकता है?।।३७।।

सुबोधिनी: अभिप्राय यह है कि रसका आस्वादन तो भगवान् ही करते हैं. इस तरह पूर्वोक्त श्लोकमें कह चुके हैं. ये रस स्वतः आधार तथा अधिकारीके भेदसे उत्तम तथा हीन होते हैं. जैसे जल मधुर होते हुए भी खारी जमीनमें खारा हो जाता है इस तरह आधारके भेदसे रसमें भेद होता है स्वतः उत्तम आम्र आदि हैं और ककडी आदि हीन हैं इस तरह स्वतः भेदसे रसमें भेद होता है. इसी तरह कीटादिसे दूषित अन्न अधिकारी भेदसे उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट समझे जाते हैं. उन रसोंका भगवान् अनुभव करते हैं या नहीं इसमें सन्देह है.

सर्ववस्तुओंमें, रसरूपमें भगवान् ही प्रविष्ट हैं इसलिये भगवान्केलिये रसोंकी उत्तमता और हीनता नहीं है. इसलिये भगवान् सभी रसोंका अनुभव करते हैं यह प्रथम कोटि है.

सर्व रूप भी वही है ऐसी स्थितिमें वे रसका अनुभव नहीं करते यह द्वितीय कोटि है. अर्थात् भगवान् रूपान्तरमें रसका अनुभव करते हैं. अपने स्वरूपमें नहीं करते. वेदमें कहा है कि ''यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः''. जिसकेलिये ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ओदन रूप है. भगवान् इसका भक्षण काल रूपसे करते हैं अपने रूपसे नहीं.

इस तरह निरूपण करते हुए सूतजीके हृदयमें भक्ति प्राचुर्यसे भगवान्का आविर्भाव होनेसे मानो भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए कहते हैं 'अस्य' इस

भगवान् कृष्णकी लीलाको कोई नहीं जान सकता.

'कश्चित्' अर्थात् ब्रह्मा भी अपनी निपुण कुशल इन्द्रियोंसे भगवान्की लीलाको नहीं जान सकते क्योंकि भगवान् उनके भी उत्पादक हैं. भगवान्की लीलाओंको भगवान्ने किस प्रयोजनकेलिये, किस प्रकार इस सृष्टिको उत्पन्न किया इनको जब ब्रह्मा भी नहीं जान सकते हैं तब और कोई कैसे जान सकता है? और वहां भी जीव तो तुच्छ है तथा कृमि तुल्य है. अतः उसमें तर्क करनेकी भी शक्ति नहीं है. भगवान्की ये क्रियायें स्वाभाविकी नहीं किन्तु लीलारूप हैं. श्लोकमें 'ऊतीः' यह जो निपात दिया गया है वह यह निर्देश करता है कि लीलाओंके अवान्तर भेदोंका परिज्ञान किसीको भी नहीं है. क्योंकि ''ऊतियूति'' (पाणि.सू.) इस सूत्रसे 'ऊति' शब्दको निपातनात् सिद्ध किया गया है. इसमें प्रकृति प्रत्यय विशेषका परिज्ञान नहीं कराया गया है. इसी प्रकार यहां भी 'ऊतीः' पदसे भगवान्की अवान्तर लीलाओंका ज्ञान किसीको भी नहीं है यह बताया है. मन और वाणी सहित नामात्मक वेदों तथा रूपात्मक विषयोंको बनानेवाले भगवान्की लीलाको कौन जान सका है? अर्थात् जब वेद भी भगवान्की लीलाओंको नहीं जान पाते तब औरोंकी तो फिर सामर्थ्य ही कहां?

अर्वाचीनत्व, जन्तुत्व, कुमनीषत्व और अज्ञत्व जीवमें ये चार महारोग हैं. जीव इनसे ग्रस्त होनेके कारण भगवान्की लीलाओंको नहीं जानते. भगवान्के सब कार्य नटके समान हैं. जैसे नटको बराबर नहीं पहचाना जा सकता क्योंकि उसका अन्यथा रूपमें भी भान होता है उसी तरह भगवान्की लीलाओंको कोई नहीं जानता. प्रमाण बलसे परिज्ञान सम्भव है किन्तु प्रमाण भी भगवान्का निरूपण बराबर नहीं कर पाते.

यहां 'प्रमाण' शब्दसे इन्द्रियां और वेद दोनों हीलिये गये हैं. इन्द्रियोंके व्यामोहकेलिये ही नटकी प्रवृत्ति होती है इसीका निर्देश 'नटचर्याम्' शब्दसे किया गया है.

जीव अत्यन्त अज्ञानी है. पुष्टि अनुग्रह मार्गको वह नहीं जानता. जो पुष्टिमार्गीय है वही भगवान्के स्वरूपका तथा उनकी लीलाओंका ज्ञान कर सकता है. भगवान् किस प्रकार और किसलिये लीला करते हैं, किस प्रकार और किसलिये आघ्राण करते हैं? इसको पुष्टिमार्गीय जीव ही जान सकता है अन्य नहीं. अभिप्राय यह है कि इसका अनुभव तभी होता है जब भगवान् स्वयं जीवपर

अनुग्रह करते हैं ।।३७।।

आभासार्थ: जीव जब भगवान्की लीलाको नहीं जान पाता है तब उसका निस्तार कैसे होगा? इस आशंका पर कहते हैं:

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।३८।।

श्लोकार्थ: उस महापराक्रमी चक्रपाणि विधाता परमात्माकी पदवीको नहीं जान सकता है जो निष्कपट सेवासे उनके चरण-कमलकी सुगन्धका निरन्तर सेवन करता है।।३८।।

सुबोधिनी: यहां 'धातु'का अर्थ है सबका कारण रूप भगवान् वह भगवान् तो ज्ञात ही नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप नहीं जाना जा सकता. विधाता होनेसे उसका ज्ञान न होते हुए भी उनके कार्योंसे अनुमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि कार्य लौकिक है. भगवान्के मार्गका भक्तिमार्गका ज्ञान होनेपर, हृदयमें भगवान्का आगमन होता है. इस आगमनसे उनके साथ रहनेवाले कार्योंका सत्त्वज्ञान हो सकता है. कार्योंका तत्त्वज्ञान होनेपर, भगवान्का ज्ञान होता है इसलिये भक्तिमार्गको जानना चाहिये. अर्थात् मन आदिमें भगवान्का आविर्भाव होनेपर उसकी प्राप्ति हो सकती है. लौकिक वैदिक प्रमाणोंसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह सभी प्रमाणोंसे अतीत है.

कदाचित् अशक्तिके कारण भगवान् मन्द गतिसे चलेंगे तो लौकिक वैदिकवाले उनको जान सकेंगे ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि भगवान्के पराक्रम दुरन्त हैं उनमें कभी असक्ति नहीं आती. उनके पराक्रमकी समाप्ति कभी भी नहीं होती, 'दुरन्तवीर्यस्य' उनके पराक्रमका अंत तो प्रलयकालमें ही होता है क्योंकि जब वे अपने पराक्रमको स्थगित कर देते हैं तब तो प्रलय हो जाता है और प्रलयमें तो फिर उनको जाननेवाला ही नहीं रहता. तदनुसार प्रलयमें तथा सृष्टिकालमें भी उनको कोई भी इदमित्थतया जान नहीं सकता कालकी तरह भगवान्का ज्ञान सम्भव है यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि कालचक्रको भी भगवान्ने अपने हाथमें ले रखा है. अर्थात् भगवान्ने कालको भी स्थिर किया हुआ है. वस्तुतः तो कालका ज्ञान होना भी कठिन है. अथवा यह सम्पूर्ण जगत् ही रथरूप है. चक्र रथके नीचे होता है, इस चक्रको भगवान्ने अपने हाथसे रोक रखा है. इस रथ चक्रकी गति, हाथके चलानेसे ही होती है और वह

रथ भगवद् हस्तके आधार पर है अतः वह भगवान् रथमें बैठनेवालोंसे कैसे जाना जा सकता है. ''भगवान्के अनुवर्तन (भजन)से ही उसका ज्ञान हो सकता है.'' इसीका निर्देश ''यो अमायया''से किया गया है. चिरकालसे निरन्तर चलती आ रही सेवामें भी किसी प्रकारकी मायाका नहीं रहना, उसके ज्ञानमें हेतु है. अर्थात् बिना किसी कामनाके चिरकाल तक निरन्तर सेवा करनेसे भगवान्का ज्ञान हो सकता है. लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले सभी जीव भगवान्का भजन किसी कामना विशेषसे ही करते हैं. ऐसी सेवा करनेसे भगवान् हमको यह फल देगा.'' इस प्रकारकी बुद्धिसे वे जीव भगवान्से (सेवाकी एवजमें) पदार्थोंको लेनेके लिये मानो भगवान्की वंचनाकेलिये प्रयत्न करते हैं. किन्तु भगवान् तो उनसे भी अधिक चतुर हैं. अतः भगवान्के सामने किसी प्रकारकी माया नहीं करना चाहिये. ''मायाका त्याग करना चाहिये.'' अर्थात् सेवा करते हुए किसी प्रकारकी कामना नहीं करनी चाहिये. यहां स्वयुक्तिविचार, मायाका पर्याय है. सतत्का अर्थ है निरन्तर. सेवामें भगवान्की अनुवृत्ति, दीर्घकालीन तथा आदर सहित होनी चाहिये. भगवान्के मार्गको जाननेमें भगवान्के चरणका परिज्ञान कारण है. 'तत्पाादसरोज गन्धम्' चरण ही कमल है उसकी सुगन्ध. भगवान् शयन करते हों और उनके चरणकमलके संवाहन समयमें उनके ऊर्ध्वमुख चरणको सूंघनेमें गन्धका अनुभव होता है. ''जिनके हृदयमें भगवान् स्वच्छन्दतया शयन करते हैं. उनकी बाह्य इन्द्रियां चरणारविन्दकी गन्धसे आकृष्ट होकर हृदयमें प्रवेश करती हैं. इन्द्रियां अन्तर्मुख हो जाती हैं. ऐसे व्यक्ति ही भगवन्मार्गको जानते हैं. यह ज्ञानपक्ष है, क्योंकि यहां ज्ञानी लोग भगवान्का हृदयमें ध्यान करते हैं. भक्ति पक्षमें तो भगवान्का चरण ही भक्तिमार्ग है. भक्तिमार्गरूप वह चरण विशुद्ध अन्तःकरणमें आविर्भूत कमल है अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरणमें जब भक्ति समुदित होती है तब वही भक्ति कमल है, भक्तिमें स्थित सत्त? ही गन्ध है अथवा यहां 'गंध' पद प्रेमके अर्थमें भी ग्रहण किया जा सकता है. उस गंधका सेवन अर्थात् उसकी निरन्तर अनुवृत्ति करते रहना चाहिये ।।३८।।

आभासार्थः इस प्रकार प्रासंगिक बात कहकर अब भिन्न उपक्रमसे प्रस्तुत प्रसंगको कहते हैं:

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद् वासुदेवे–ऽखिल–लोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकम् आत्मभावं न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः।।३९।।

श्लोकार्थ: आप भगवान् हैं और धन्य हैं क्योंकि अखिल लोकके नाथ, सबके आत्मरूप भगवान् वासुदेवको अपनी आत्मा समझकर उसमें प्रेम कर रहे हैं जिससे इस संसाररूपी उग्र चक्रमें पुन: पतन नहीं होता।।३९।।

सुबोधिनी: आप लोगोंके प्रश्नसे ऐसा ज्ञात होता है कि आप भगवन्निष्ठ हैं. इस प्रपंचमें आप लोग भगवत्स्वरूप हैं क्योंकि ''यो यत् श्रद्धः सएव सः'' ऐसा गीतामें कहा है. जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वैसा ही हो जाता है. आप भगवान्में श्रद्धा भक्ति रखनेवाले हैं, इसलिये आप भी भगवान् ही हैं.

'धन्याः'का तात्पर्य है कि धन रूप जो भगवद्भक्ति अथवा ज्ञान है उसके आप योग्य हैं. मैं हीन हूं, उस हीनके मुखसे भी अनवसरको भी अवसर बनाकर परमादर पूर्वक श्रवण करना यह प्रकार जो आपने अपनाया है यही धन्यताका सूचक है.

यहां 'वासुदेव'पदसे यह सूचित किया गया है कि आप अन्य देवताओं का भजन नहीं करते. वह वासुदेव अखिललोकका स्वामी है. 'अखिललोकनाथे' तथा 'सर्वात्मके' इन पदोंसे यह अभिप्राय है कि आप लोग भगवान्को सर्वेश्वर तथा वेदान्त वेद जानकर भजन करते हैं. यहां 'अखिल-लोकनाथे'से सर्वेश्वरता तथा 'सर्वात्मके'से वेदान्तवेद्यताका अर्थ लिया गया है. भगवान् सबकी आत्मा हैं, यह वेदान्तमें ही प्रतिपादित किया गया है. इस प्रकार माहात्म्यज्ञानकेलिये और सुदृढ स्नेहकेलिये दो विशेषण कहे गये हैं. सर्वेश्वरत्वसे माहात्म्यज्ञानका तथा सर्वात्मकतासे सुदृढ स्नेहका निर्देश किया गया है. आत्मासे ही सबका सुदृढ स्नेह होता है. तदनुसार सर्वके आत्मरूप भगवान्में सबका सुदृढ स्नेह होना सहज है.

श्लोकस्थ 'आत्मभावम्'में जो 'आत्म'पद है वह ब्रह्ममें रुचि हो इसलिये प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आप लोग आत्माको देव समझकर प्रेम करते हैं इसलिये आप धन्य हैं. आपका इस प्रकारके भगवान्में प्रेम है इसका फल यही है कि इस महा-आवर्त (भंवर) रूपकालसे होनेवाले संसारचक्रमें फिर पतन नहीं होता. इस देह धारणकी समाप्ति तक जो कुछ होना है सो हो जाये, देहपात होनेपर इस उग्र संसारमें आप पुनः नहीं गिरेंगे. यहां मूल श्लोकमें 'भूयः' पद है और सुबोधिनीमें 'भूयः'की जगह 'पुनः' पद दिया है. दोनोंका एक ही अर्थ है. अतः कोई भिन्न अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है. यहां 'उग्र' पदसे यह तात्पर्य है कि यह संसारचक्र उग्र है अतः इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये. उग्र होनेसे अनुपेक्षणीय है।।३९।।

आभसार्थ: यह अभिप्राय कहांसे उद्धृत किया? इस आशंकाका समाधान करते हैं:

इदं 'भागवतं' नाम पुराणं वेदसम्मितम्।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषिः।।४०।।

श्लोकार्थ: वेदतुल्य प्रसिद्ध भागवत् पुराणको जिसमें उत्तम श्लोक भगवान्के चरित्र हैं, भगवान् वेदव्यासने बनाया।।४०।।

सुबोधिनी: जहां सब कुछ भगवान्से सम्बन्धित हो उसीका नाम भागवत है. भागवत यह नाम प्रसिद्ध है. 'पुराणम्'का अर्थ है पुरातन अथवा 'पुराण' शब्द पुराणत्वके अर्थमें लिया गया है. अर्थात् श्रीमद्भागवतमें पुराणत्व है और वेदके तुल्य है. मतान्तरोंमें जैसे वेदसे विरोध आता है वैसा विरोध यहां नहीं है. पुरुषोत्तम रूप वस्तुके निरूपणार्थ जो कथा प्रासंगिक रूपमें कही गई है वह भी पुरुषोत्तमकी ही कथा है इसीका निर्देश 'उत्तमश्लोक ईरितम्'से किया गया है अर्थात् भागवतमें 'उत्तमश्लोक' भगवान्के चरित्र ही वर्णित हैं.

श्लोकस्थ 'ऋषि' पदका तात्पर्य यह है कि भगवान् वेदव्यासके होनेसे उन्होंने आर्ष ज्ञानसे भगवच्चरित्रोंका अनुभव करके उनका वर्णन किया है ।।४०।।

निःश्रेयसाय लोकानां धन्यं स्वस्त्ययनं महत्।
तद् इदं ग्राहयामास सुतम् आत्मवतां वरम्।।४१।।

श्लोकार्थ: लोकोंकी मुक्तिकेलिए इस ग्रन्थकी प्रवृत्ति हुई है. यह वैभवकी प्राप्ति करानेवाला कल्पा?रूप तथा स्वत: गुणसे और अर्थसे उत्तम है. अत: इस भागवतको जितेन्द्रिय, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र शुकाचार्यको व्यासजीने हृदयंगम कराया अर्थात् पढाया।।४१।।

सुबोधिनी: इस भागवत ग्रन्थकी प्रवृत्ति सबकी मुक्तिकेलिये है. इससे धन प्राप्ति तथा कल्याण दोनों ही मिलते हैं, क्योंकि सर्वमें निवास करनेवाली भक्तरूपी लक्ष्मीजी भागवतका श्रवण करती हैं. अतः इसके श्रवणसे धन प्राप्ति सहित भक्ति उत्पन्न होती है और भक्तिसे कल्याण मिलता है.

श्लोकमें आये हुए 'निःश्रेयसाय' 'धन्यं स्वस्त्ययनं' इन पदोंके अर्थ क्रमशः 'ग्रन्थप्रवृत्तिर्स्वमुक्तये' धन प्राप्ति तथा कल्याण है. यह भागवत स्वतः गुणसे तथा अर्थसे महान् है. यहां 'महत्' शब्दसे यही तात्पर्य है. सर्ववेद और

इतिहासोंका साररूप होनेसे भागवतका स्वतः उत्कर्ष है और वास्तविक वस्तुका प्रतिपादन करनेसे यह गुणसे महान् है. इसका अर्थ भगवान् हैं इसलिये अर्थसे भी उत्तम है.

सूतजी स्वयंको जिस परम्परा ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका उल्लेख करते हैं कि व्यासजीने शुकदेवजीको वेदकी तरह इस भागवतका अध्ययन कराया.

'सुतम्' पदका यह तात्पर्य है कि भागवतका ज्ञान गोप्य है, किन्तु व्यासजीने, शुकदेवजीको स्वपुत्र होनेके नाते, भागवतके गुप्त ज्ञानको बताया. भागवतको जाननेमें जितेन्द्रियता तथा ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता है क्योंकि, ये दोनों ही भागवतके अंग हैं. ये दोनों जितना अधिक मात्रामें होंगे, उसको भागवत उतना ही अधिक फल देगा. इसलिये शुकदेवको यहां 'आत्मवतां वरम्' कहा है. जिन शुकदेवजीको भागवतका ज्ञान दिया गया है वे जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ थे. जितेन्द्रिय और ब्रह्मज्ञानी आत्मवान् कहलाते हैं और उनमें शुकदेवजी उत्तम हैं, इसलिये इनमें जितेन्द्रिय ज्ञानकी उत्कर्षता है ।।४१।।

आभासार्थः दूसरे प्रमाणोंके विचारकी कोई आवश्यकता नहीं, इसी बातको कहते हैं कि:

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
स च संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम्।
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः।।४२।।

श्लोकार्थः इस भागवतमें संपूर्ण वेदों और इतिहासोंके सार-सारको लेकर उद्धृत किया है, इस भागवतको गंगातटपर परम ऋषियोंके मध्यमें बैठे हुए आमरणान्त अनशन करनेवाले परीक्षितको श्रीशुकदेवजीने सुनाया।।४२।।

सुबोधिनीः ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यकेलिये वेद हैं. स्त्री, शूद्रोंके उद्धारार्थ इतिहास है. वेद और इतिहासका इस श्रीमद्भागवतमें सार उद्धृत किया गया है इसलिये यह भागवत सर्वोद्धारक, त्रैवर्गिक और स्त्री-शूद्रादिक सभीका उद्धार है, सबका सार होनेसे यहां दूसरे प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है. अब भागवत सुननेकी परंपरा कहते हैं कि श्रीशुकदेवजीने यह भागवत राजा परीक्षितको सुनाया. आमरणान्त अन्न त्याग करके राजा गंगाके किनारे बैठा है इससे देशकी उत्तमता बताई गई है. राजा परं ऋषियोंकी मण्डलीसे घिरा हुआ है, इससे राजाको सत्संग है यह बताया गया है ।।४२।।

आभासार्थः 'धर्म किसकी शरणमें गया?' इस षष्ठ प्रश्नका उत्तर देते हैं:

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशाम् एष पुराणार्कोऽधुनोदितः।।४३।।

श्लोकार्थः धर्म, ज्ञान आदिके साथ जब कृष्ण अपने धाम पधार गए, तब कलिरूप अंधकारसे रुद्ध दृष्टिवालोंको प्रकाश प्रदान करनेकेलिए इस समय यह भगवतरूपी सूर्य उदित हुआ है।।४३।।

सुबोधिनीः धर्म भगवान्के साथ ही चला गया क्योंकि भगवान् कृष्ण, धर्म-ज्ञान आदिके साथ अपने धाममें चले गये. यदि धर्म यहां ही रहता तो यह चिन्ता होती कि धर्म किसकी शरणमें गया?

यह कलि अंधकारके तुल्य है. इस अन्धकारसे जिसकी दृष्टिपर आवरण आ गया है, उनकी कलिरूप अन्धकारकी निवृत्तिकेलिये, यह भागवत पुराण रूप सूर्य इस समय उदित हुआ है जो स्वतः अन्ध हैं उनकेलिये नहीं. अर्थात् जो स्वतः अन्ध नहीं हैं किन्तु कलियुगने जिनको अन्ध बना दिया है अर्थात् जो स्वतः दुष्ट नहीं हैं उनको पुनः धर्मादिका ज्ञान करानेकेलिये उसे कलिरूप अन्धकारको हटानेकेलिये भागवत पुराण रूप सूर्य इस समय समुदित हुआ है. वही प्रकट हुआ कहलाता है जो वर्तमान तो है किन्तु दिखाई नहीं देता, छिपा हुआ है और फिर सामने उपस्थित होता है अर्थात् श्रीभागवत ज्ञान नित्य है ।।४४।।

आभासार्थः सूतजी अपनेको जो भागवत ज्ञानकी प्राप्ति हुई है उसका प्रकार कहते हैं:

तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेभूरितेजसः।
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति।।४४।।

श्लोकार्थः हे विप्रो! वहां सभामें भागवतका कीर्तन करते हुए परम ज्ञान प्रकाशसे युक्त श्रीशुकदेवजीसे उनके अनुग्रहसे उस सभामें बैठकर, मैंने इस भागवतको जाना है. मैंने इसका जैसा अध्ययन किया है उसे मैं मेरी मतिके अनुसार आपको सुनाता हूं.

सुबोधिनीः सूतजीने यहां शौनकादि ऋषियोंको 'विप्राः' शब्दसे सम्बोधित किया है. इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि शुकदेवजी विप्र हैं. अतः प्रथम इन्होंने भगवद् रसको पूर्ण किया. अब पुनः स्मरणपूर्वक आप लोग भगवद्

रसको पूर्ण कर रहे हैं.

'विप्रर्षि'में जो 'ऋषि' शब्द है उससे यह निर्देश किया गया है कि शुकदेवजी ब्राह्मणोंमें अलौकिक ब्राह्मण थे. यहां जो 'भूरितेजसः' पद है उससे यह तात्पर्य है कि शुकदेवजीने भागवतका असंदिग्ध अर्थ कहा और आगे उसका प्रकाश भी हुआ क्योंकि शुकदेवजीमें ज्ञानका सर्वाधिक प्रकाश था. ब्रह्मवेता सर्वज्ञ होता है इसीका सूचक, शुकदेवजीमें तेज विशेष है.

फिर इस भागवतका सर्वतोमुखी प्रचार हुआ. भागवतका सभीने अध्ययन कियाा और मैंने भी अध्ययन किया. वहां सभामें जहां भागवतका उपदेश हो रहा था, मैंने इसे प्रासङ्गिक रूपमें नहीं सुना, किन्तु शुकदेवजीके अनुग्रहसे, मैंने उस सभामें इसे बैठकर सुना. अथवा श्लोकस्थ 'अनुग्रहात्'में ल्यब्लोपे पंचमी है. तदनुसार उसका यह अर्थ है कि शुकदेवजीके अनुग्रहको प्राप्त कर मैं वहां आसीन हुआ (बैठ गया). ऐसा मैं जिसे उपदेश द्वारा भागवत प्राप्त हुआ है तथा मैंने इसका जैसा अध्ययन किया है और जैसी मेरी बुद्धि है उसके अनुसार मैं आपको भागवत सुनाऊंगा.

जैसा पढा है 'यथाधीतम्' जैसी मेरी बुद्धि है 'यथामति' इन दो पदोंसे, सूतजीने अपनी अभिमान शून्यता दिखाई है. अर्थात् मैं जैसा कहूंगा, उससे भी अधिकअर्थ इसका हो सकता है. यहां यही निर्देश किया गया है ।।४४।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके
हीनाधिकार प्रकरणका तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ४

प्रकरण: श्रोता-वक्ताका मध्यमाधिकार(अ.४-६)

शुकदेवजीके वैराग्यका कारण और व्यासजीकी चिन्ता

एवं भागवतार्थस्य निर्धारः स्वाधिकारतः।
त्रिभिः कृतो द्वितीये तु त्रिभिस्त्याज्यसमत्वतः।।का.१।।
मध्याधिकारे यच्छास्त्रं तदत्र विनिरूप्यते।
नारदस्याधिकारित्वात् श्रोतुश्चिन्ताकुलत्वतः।।का.२।।
तत्राध्याये चतुर्थे तु व्यासचिन्ता निरूप्यते।
उत्तमप्रक्रियायाश्च वक्तुर्हेतुनिरूपणात्।।का.३।।

कारिकार्थ: हीन, मध्यम और उत्तम इन भेदोंसे अधिकारी तीन प्रकारके कहे गए हैं. इसीलिए प्रथम स्कन्धको अधिकार निर्णयानुसार तीन प्रकरणोंमें कहा गया है. प्रथम स्कन्धके पहले अध्यायसे तीसरे अध्याय तक प्रथम प्रकरण है. इस प्रकरणमें जिज्ञासा रखनेवाला, अमत्सरवाला और श्रवणमें आदर रखनेवाला, ये श्रोताके गुण हैं और जिसने भागवत सुनी हो, जिसमें चातुर्य हो, जो गुह्य ज्ञानवाला हो ये वक्ताके गुण हैं. इस प्रकारके गुण श्रोता एवं वक्तामें जहां देखे जावें वहां समझना चाहिए कि ये श्रोता और वक्ता अपने अधिकारानुसार हीन अधिकारीकी श्रेणीमें हैं. यहां प्रथम स्कन्धके पहले अध्यायमें श्रोताको जिज्ञासावाला और वक्ताको जिसने भागवत सुनी है ऐसा बताया गया है.

दूसरे अध्यायमें श्रोताको अमत्सरवाला और वक्ताको चातुर्ययुक्त बताया है.

तीसरे अध्यायमें श्रोताको श्रवणमें आदर रखनेवाला तथा वक्ताको गुह्य ज्ञानवाला बताया गया है. इसलिए प्रथम स्कन्धके इन तीनों अध्यायोंवाले प्रथम प्रकरणमें हीनाधिकारका निर्णय तीन अध्यायोंसे किया गया है. यानि उक्त तीनों अध्यायोंमें अपने अधिकारको आश्रय लेकर वक्ता और श्रोताओं द्वारा भागवतार्थका निर्धार किया गया है.

अब दूसरे प्रकरणमें मध्याधिकारका निरूपण है. इस प्रकरणमें भी प्रथम स्कन्धके चौथे, पांचवे और छठे अध्याय लिए गए हैं, क्योंकि जिस प्रकार प्रथम प्रकरणमें विहित धर्मोका त्याग बताया गया है उसी प्रकार यहां भी अदृष्टके द्वारा

उपकारी जो धर्म हैं उनके फलोंमें व्यतिचार होनेसे वे त्याज्य हैं यह बात कही गयी है. अदृष्ट द्वारसे उपकारी धर्मोंको त्याज्य बतानेसे दोनों प्रकरणोंमें समानता है, इसलिए इस प्रकरणमें भी तीन अध्याय ही लिए गए हैं.

इस दूसरे प्रकरणमें भगवत्कृपा, भगवदीयत्व और भगवत्व ये तीन गुण श्रोता और वक्तामें होने चाहिए यह बताया है. इनमेंसे एक एक गुणका एक एक अध्यायमें निरूपण है, इस तरह उक्त तीनों गुणोंवाले मध्याधिकारके निरूपणार्थ प्रति अध्याय एक एक गुणके निरूपक कुल तीन अध्याय हैं.

इस दूसरे प्रकरणमें नारदको अधिकारी और श्रोताको चिन्ताकुल बताया है. इसलिए ये मध्यमाधिकारी हैं. नारदादिमें वैराग्य नहीं होनेसे इन्हें मध्यम अधिकारीकी श्रेणीमें माना गया है. नारदमें ज्ञान तो पूर्ण रूपसे था पर वैराग्यका अभाव था सूतजीको शब्दतः ज्ञान था अर्थतः नहीं. शुक वैराग्य युक्त हैं और इन्हें शब्दतः और अर्थतः ज्ञान है. भगवदावेशकेलिए वैराग्य आवश्यक है, नहीं तो ज्ञानसे अहंकार हो जाता है इसलिए शुकदेवकी श्रेणी उत्तम है.

नारदने यद्यपि ब्रह्मासे भागवत सुनी है किन्तु प्रमाण बलसे प्रमेय बल बलवान होता है इसलिए भगवदिच्छासे नारदमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ.

नारं, नर समबन्धी ज्ञानको देते हैं इसलिए वे नारद कहे जाते हैं. इसलिए ज्ञान दानमें नारदका अधिकार है यह बात अध्यायकी समाप्तिपर स्पष्ट हो जायेगी. तो कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि नारदजीको उत्तमाधिकारी मानना चाहिए था किन्तु भगवदिच्छासे उनमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उक्त गुणोंके कारण उन्हें मध्यमाधिकारीकी श्रेणीमें ही लिया गया है.

चौथे अध्यायमें तो उतम प्रक्रियाके वक्ता शुकमें वैराग्यका होना कहा गया है।।१-३।।

आभासार्थः इस तरह पूर्व प्रकरणमें अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रार्थ (भागवतके अर्थ)का निरूपण किया. वहां मूलरूपसे भागवतको कहा गया है. ''जिस भागवतके सुननेमें सूतको इस प्रकारके भागवतार्थका ज्ञान हुआ, वही भागवत हमको भी सुनना चाहिए'' इसी अभिप्रायसे शौनक सूतजीसे पूछते हैं, यह बात व्यासजी कहते हैं:

व्यासः उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्।

वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत्।।१।।

श्लोकार्थः व्यासजीने कहा इस प्रकार कहते हुए सूतजी अच्छे रूपमें प्रशंसा कर दीर्घ सत्रारम्भ करनेवाले मुनियोंमें वृद्ध और ऋषिकुलके नियामक ऋग्वेदी शौनक बोले।।१।।

सुबोधिनीः सब जगह वक्ताकी वाक्य समाप्ति पर ही श्रोता प्रश्न करता है, किन्तु यहां शौनकादिमें अत्यन्त उत्कण्ठा जागृत होनेसे वक्ताका वाक्य समाप्त होनेसे पूर्व ही प्रश्न शुरु कर दिया गया है. संभावना मात्रसे पूछने पर भी सूतजी द्वारा मूल (रूपसे) भागवतार्थका निरूपण किया गया, इसलिये वक्तामें अत्यन्त श्रद्धा हो जानेसे सूतकी भली भांति स्तुति की. यह स्तुति किस रूपमेंकी इसका उल्लेख भागवतमें नहीं है, वह ग्रन्थसे बाहर है.

पहले तो आकांक्षाकी प्रबलता होनेसे सभी ऋषियोंने पूछा. किन्तु इस समय यह समझ कर कि इस पदार्थकी कुछ उत्कृष्टता है उसे मनन द्वारा निर्धारित करके तथा सहस्र संवत्सरमें भगवान्का अवतार निश्चित है इसलिये यह सत्र आरम्भ किया गया है. इसमें यदि सभी मिलकर पूछेंगें तो कोलाहल होनेसे श्रवण नहीं होगा. इसलिये सबने न पूछकर सबके सुनते हुए ऋषियोंके अन्तर्गत जो यज्ञ सम्बन्धी देवताके (भगवान्के) स्वरूपको जाननेवाले शौनक ऋषि हैं वे सूतजीसे पूछते हैं.

'वृद्ध'से तात्पर्य है शौनक ज्ञानवृद्ध हैं, ऋषिकुलके नियामक हैं. बुद्धिका निर्धार ज्ञानवृद्धमें ही होता है. फिर ये कुलाचार्य हैं. आगेसे आगे प्रचार करने केलिये कुलाचार्यके वचनमें विश्वास होता है. यही बात 'वृद्ध' और 'कुलपति' शब्दोंसे कही गई है. 'बह्वृचः' अर्थात् ये शौनक ऋग्वेदी हैं ।।१।।

आभासार्थः यहां चार प्रकारसे प्रश्न हैं १.भागवत विषयक २.कर्ताके विषयमें ३.वक्ताके विषयमें और ४.श्रोताके विषयमें. इनमेंसे प्रथम प्रश्न करते हैं:

शौनक उवाच

सूत! सूत! महाभाग! वद नो वदतां वर।
कथां भागवतीं पुण्यां यद् आह भगवान् शुकः।।२।।

श्लोकार्थः शौनकजीने कहा हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ बडभागी सूत! जिस कथाको भगवान् शुकने कहा उस धर्मरूप भागवतकी कथाको हमारे लिए कहें।।२।।

सुबोधिनी: सूत! सूत! इस प्रकार दो बार जो सम्बोधन है वह सूतके प्रति आदरका सूचक है. हे सूत, आप बडे भाग्यशाली हैं क्योंकि आपने भागवत सुन रखा है. इसी बातको बतानेकेलिये यहां 'महाभाग' यह सम्बोधन दिया गया है.

'नः' यह चतुर्थी पद है. इसलिये इसका अर्थ है कि हमारे लिये. तात्पर्य यह है कि हममें केवल श्रोताके धर्म ही नहीं हैं, किन्तु हमारेलिये भागवत प्रदान करें, इस अभिप्रायसे 'नः' यह सम्प्रदानार्थक चतुर्थ्यन्तका प्रयोग है. अर्थात् हम भागवतको पूर्ण रूपसे समझ जायें. आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं. 'वदतां वर'में समास इसलिये नहीं किया गया है कि "**न निर्धारणे**"(पाणि.सू.२।२।१०) यह सूत्र कहता है कि जब किसीके पृथक् निर्धारण करनेमें षष्ठी हो वहां समास नहीं होता है.

जिस कथाके सुननेपर आपने इस प्रकारके शास्त्रके अर्थको निरूपित किया है उसी कथाको हमारेलिये कहिये.

'पुण्यां'का अर्थ है धर्मरूप. यह कथा धर्मरूप है. जैसे यज्ञ विहित होनेसे धर्मरूप है उसी तरह विहित होनेसे यह कथा भी धर्मरूप है. इसमें हमारी श्रद्धा अधिक है, क्योंकि इस भागवतको श्रीशुकदेवजीने कहा है. 'शुकः' यह पद शुकदेवको जीवन्मुक्त तथा 'भगवान्' यह पद शुकको पूर्ण गुणयुक्त बतानेकेलिये प्रयुक्त हुए हैं. अर्थात् शुकदेव जीवन्मुक्त और पूर्ण गुणयुक्त हैं. अतः उनसे कही गई कथा अत्युत्कृष्ट है ।।२।।

आभासार्थ: अब कर्तृविषयक प्रश्न कहते हैं:

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः।।३।।

श्लोकार्थ: किस युगमें, किस स्थानमें, किस कारणसे यह भागवत कथा प्रवृत्त हुई है और किसके कहनेसे व्यास मुनिने इस संहिताको किया है?।।३।।

सुबोधिनी: कर्ता हमेशा परिकरकी अपेक्षा रखता है, इसलिये कर्ताके विषयमें प्रश्न करनेपर वहां उपयोगी जो परिकर हैं उसका भी प्रश्न हो जाता है. काल, देश और हेतु परिकर हैं और व्यासको जो प्रेरणा करनेवाला है वह भी परिकर है. इसीलिये काल, देश, हेतु और प्रयाजक कर्ता (प्रेरक) भी श्लोकमें कहे गये हैं किस काल किस देश और किस हेतुको लेकर यह भागवत प्रवृत्त हुई है, इस प्रकार श्लोकका सम्बन्ध है. किस युगमें यह प्रवृत्त हुई? किस स्थानमें यह प्रवृत्त हुई तथा किस कारणसे यह प्रवृत्त हुई?

भागवतकी प्रवृत्तिमें व्यासके चित्तकी व्यग्रता कारण है. चित्तकी व्यग्रता नहीं रहे इसलिये भागवतका निर्माण हुआ है यही इसका प्रयोजक हेतु है. भले ही किसीसे भी प्रेरणा हुई हो फिर भी प्रेरकने प्रेरणा क्यों की? किस कारणसे प्रेरणा हुई? इस प्रकार किस युग, किस देश और किस कारणसे यह भागवत प्रवृत्त हुई? इसकी प्रवृत्तिमें ये तीन प्रश्न होते हैं और ''किससे प्रेरित होकर व्यासने यह भागवत बनाया?'' ऐसा भागवतके करनेमें प्रेरक सम्बन्धी यह एक प्रश्न हुआ?

यहां व्यासके लिये 'मुनि' पद है. मनन करनेवाला ही मुनि होता है. ग्रन्थ निर्माण करनेपर मनन रुक जायेगा, तो फिर उनने यह संहिता किस प्रकार बनाई? ।।३।।

आभासार्थ: अब वक्तृ विषयक तीसरे प्रश्नको पांच श्लोकोंसे निरूपण करते हैं:

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते।।४।।

श्लोकार्थ: उस व्यासका पुत्र (शुकदेव) समाधिस्थ, सब जगह ब्रह्मको जाननेवाला, सांख्य प्रोक्त निर्विकल्प ज्ञानवाला, एकान्तमें रहनेकी बुद्धिवाला, निद्रा रहित और गुप्त रहनेवाला लोकमें मूढकी तरह मालूम हो रहा है।।४।।

सुबोधिनी: वक्ता शुकदेव उत्कृष्ट हैं, इसलिये अध्येयताको लेकर यहां सन्देह नहीं कहे गये हैं वे सन्देह आगे कहेंगे.

'महायोगी' पद वे शुकदेव समाधि स्थित रहते हैं इस बातको बताता है और 'महायोगी'का भाव यह भी है कि पहिले योग दुःखदायी भी होता है और बढ जानेपर वह सुख देनेवाला होता है. अर्थात् वे सुखकी स्थितिमें थे. जो समाधिस्थ हैं, ऐसे शुकका इस प्रकार कथा कहना युक्त नहीं है. वे शुकदेव ब्रह्मवेत्ता हैं, सभी जगह समानरूपसे ब्रह्मको जाननेवाले हैं. कथा कहना ऊंची नीची बुद्धिमें ही होता है. कहनेवाला अपनेको ऊंचा और सुनने वालेको नीचा समझता है. शुक ब्रह्मज्ञानी हैं, इनमें जब ऊंच-नीच भाव ही नहीं है तब इनके द्वारा प्रवचन क्योंकर हो सकता है? फिर शुकदेवको सांख्यमें कहा गया ज्ञान भी था, क्योंकि उनमें प्रकृति सम्बन्धी विकल्प नहीं था. वो विरक्त थे क्योंकि उनकी एकान्तमें रहनेकी बुद्धि है. एकान्तमें रहनेकी बुद्धि विरक्तकी ही होती है. वे निद्रा भी नहीं लेते थे. यदि निद्रा लें तो स्वप्नमें देखे गये जो अशुभ हैं उनको निवृत्तिकी भी अपेक्षा रखनी

होती है, किन्तु इनके उन्निद्र होनेसे उन्हें स्वप्न भी नहीं आते थे. इसलिये अनिष्टकी निवृत्तिकेलिये कोई उपाय भी नहीं करते थे और वे संगसे बहुत डरते थे इसलिये वे (शुकदेव) अप्रकट रहनेवाले हैं. लोकोंमें इसीलिये वे प्रसिद्ध भी नहीं हैं, किन्तु मूढकी तरह मालूम हो रहे हैं ।।४।।

आभासार्थ: जो सर्वदा असंप्रज्ञात समाधिमें रहता है उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता –इस बातको कहनेकेलिए उपाख्यान कहते हैं:

दृष्ट्वानुयान्तम् ऋषिम् आत्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद् वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति।
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः।।५।।

श्लोकार्थ: शुकके पीछे चलते हुए अनग्न व्यासको देखकर जलमें क्रीडा करनेवाली अप्सराओंने लज्जासे अपने वस्त्र पहिन लिए, जब कि नग्न शुकको देखकर उन्होंने अपने वस्त्र नहीं पहने थे. इस आश्चर्यको देखकर व्यासजीके पूछनेपर अप्सराओंने कहा कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, इस प्रकारकी तुम्हारी भेद बुद्धि है और शुकको बाहरी ज्ञान नहीं है।।५।।

सुबोधिनी: यहांकी कथा इस प्रकार है. कहीं सरोवरमें अप्सराऐं नग्न नहा रही थीं. इन स्त्रियोंने व्यासके पुत्र शुकको नंगा जाते हुए देखा फिर भी कोई लज्जा नहीं की, वे नग्न ही नहाती रहीं. किन्तु इन्हीं नग्न शुकदेवके पीछे पीछे इनके पिता व्यास चले आ रहे थे. यद्यपि व्यास कपडे पहने हुए थे तो भी इनको देखकर अप्सराओंने कपडे पहनलिये. तब व्यासको संदेह हुआ कि मुझ वृद्ध और अनग्नको देखकर इन अप्सराओंने वस्त्र पहनलिये और जवान पुत्र (शुक)को नग्न देखकर भी इन्होंने वस्त्र नहीं पहने. इस संदेहसे व्यासने इन स्त्रियोंसे पूछा. अप्सराओंने यह उत्तर दिया कि:

स्त्री और पुरुषका भेद आपको है आपके पुत्रको नहीं. यद्यपि शब्द अन्य ज्ञान और निःसन्दिग्ध भगवत्स्वरूप ज्ञान वेदव्यासको था तथापि वेदव्यासको बाहरी ज्ञान था, क्योंकि वे ज्ञान(उपदेश) देनेके अधिकारी थे. ''समाधिमें नित्य आरूढ रहनेसे शुकदेवजीको बाहरी ज्ञान नहीं था''. इसी बातको 'विविक्त-दृष्टेः'से कहा है. तो शुकदेवकी दृष्टि सर्वत्र ब्रह्मको ही देखनेवाली थी अर्थात् उनकी दृष्टि आत्मासे अतिरिक्त पदार्थका स्पर्श नहीं करती थी.

अस्तु १.महायोगिक २.समदृक् ३.निर्विकल्पक ४.एकान्तमतित्व ५.उन्निद्रत्व ६.गूढत्व ७.मूढकी भांति प्रतीत होना और आठवां विविक्तदृष्टित्व इस प्रकार कहे गये आठ गुण भगवत्कथा कहनेमें बाधक हैं तो इनके होते हुए भी शुकने कथा क्यों करवायी? ।।५।।

आभासार्थ: शुकदेव यद्यपि संन्यासीके धर्मका पालन करनेवाले थे. संन्यासीकेलिए लिखा है कि 'कीटवत् पर्यटेन्महीम्' कीटकी भांति पृथिवीपर भ्रमण करें. इस प्रकार संन्यासी जब भ्रमण करता है तो समाधिसे कदाचित् विरत भी हो सकता है इसी रूपमें शुकदेवको कुछ लोगोंने देखा और भागवत् कथा कहनेको आग्रह सहित प्रार्थनाकी, इसलिए उन्होंने कथा कही है ऐसा नहीं समझना चाहिए. क्योंकि ''वे महान् तत्त्वज्ञ थे'' इस प्रकारका ज्ञापक धर्म इनमें नहीं था. लोगोंको उनके इस धर्मकी प्रतीति होती ही नहीं थी. यही बात कहते हैं:

कथम् आलक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।
उन्मत्त–मूक–जडवद् विचरन् गजसाह्वये।।६।।

श्लोकार्थ: हस्तिनापुरमें आए हुए उन्मत्त, मूक और जडकी तरह फिरनेवाले उन शुकदेवको हस्तिनापुर वासियोंने कैसे पहिचाना?।।६।।

सुबोधिनी: हस्तिनापुरका जो देश है वह कुरुजाङ्गल कहलाता है. उस देशमें प्राप्त हुए और हस्तिनापुरमें विचरते हुए उन शुकाचार्यको कहा यह शुकदेव है ऐसा उस पुरमें रहने वालोंने कैसे समझा? क्योंकि पुरमें रहने वालोंकी बुद्धि ठीक नहीं होती है.

किसी व्यक्ति विशेषको तीन प्रकारसे जाना जा सकता है बाहरी स्थितरता आदिसे, वचनसे और सदाचारसे. ये तीनों बातें शुकदेवमें नहीं थीं. इस बातको 'उन्मत्तमूकजडवद्'से कहा है. उन्मत्त आदमीमें स्थिरता नहीं होती, मूक बोल नहीं सकता और जडसे सदाचार नहीं होता है. शुकदेव उन्मत्तकी तरह थे किसीसे कुछ बोलते नहीं थे और किसी प्रकारका कोई आचरण नहीं करते थे, इसलिये उनकी पहचान उक्त तीनों परिचायक लिङ्गोंसे नहीं की जा सकती थी. ऐसी स्थितिमें पुरवासी उन्हें ये शुक हैं ऐसा कैसे पहचान सके.

श्लोकस्थ 'गजसाह्वये'का यह तात्पर्य है कि हाथीके समान है नाम जिसका ऐसा जो हस्तिनापुर है उस ऐसे हस्तिनापुरमें रहनेवाले व्यक्ति हाथीकी तरह मत्त थे. ऐसे पुरवासी शुकको कैसे पहचान सकते थे?

उन्मत्त, मूक और जड की तरह होनेसे शुकदेवको मुझे कोई जान लेगा ऐसा भय नहीं था और हस्तिनापुर प्रदेशमें तीर्थ विशेष होनेसे वे घूमते घूमते वहां आये ।।६।।

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।
संवादः समभूत् तात! यत्रैषा सात्त्वती श्रुतिः।।७।।

श्लोकार्थः हे तात! पाण्डवोंके वंशमें पैदा होनेवाले राजर्षि परीक्षितका मुनि शुकदेवके साथ कैसे संवाद हुआ, जहां कि इस भागवत रूप वैष्णव वेदका प्रवचन हुआ।।७।।

सुबोधिनीः नगरमें किन्हींको यह शुकदेव है ऐसा ज्ञान भी हो सकता है, परन्तु राजाके साथ संवाद होना उचित नहीं है. राजा राजर्षि था, इसलिये आचारविहीन जैसे दीखनेवाले शुकाचार्यमें राजाको श्रद्धा कैसे हो सकती है? इसलिये राजा इनसे चलकर बातचीत नहीं कर सकता और शुकाचार्य मनन करनेवाले होनेसे सर्वज्ञ थे. सर्वज्ञ होनेसे वे जरूर यह समझ सकते थे कि राजाके यहां जानेसे मेरे साथ उनका संवाद होगा. इसलिये ऐसी सम्भावनामें शुकदेव स्वयं भी नहीं जा सकते थे. यदि राजासे बातचीतका सम्बन्ध हुआ तो वह बहुत समय तक चलता रहेगा. इसी बातको ''यत्रैषा सात्वती श्रुतिः''से कहा है. अर्थात् संवादमें वैष्णव वेद रूप भागवतका कथन किये जानेसे अधिक समय लगेगा ।।७।।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागः तीर्थीकुर्वन् तदाश्रमम् ।।८।।

श्लोकार्थः वह महाभाग शुकदेव गृहस्थोंके स्थानको तीर्थ बनाते हुए, गोदोहन पर्यन्त प्रतीक्षा करते हैं (रहते हैं)।।८।।

सुबोधिनीः राजाके साथ संवाद हुआ भी हो तो भी संन्यासीको गृहस्थीके घर गोदोहनसे अधिक समय तक ठहरना उचित नहीं है और गोदोहन मात्र भी संन्यासीका ठहरना अनुरक्तिसे नहीं होता. यदि वह अनुरागसे हो तो अधिक समय तक उनके रहनेकी सम्भावना हो सकती है, किन्तु ग्रहस्थोंके आश्रमको तीर्थ बनानेकेलिये ही वे वहां जाते हैं.

गृहमेधा वही कहलाते हैं घरमें जिनकी अत्यन्त प्रवृत्तिकी बुद्धि हो और ऐसे ही गृहस्थाश्रमी बाधमें संन्यास लेते हैं. यदि इस प्रकारके महात्मा उनके घरपर न जायें तो पूर्व दोषोंके रहनेसे संन्यास लेनेका उनको अधिकार नहीं होगा और

गृहस्थाश्रममें संग दोष भी रहेगा. इसलिये शुकाचार्य आदि परमहंस अतीर्थरूप जो गृहस्थाश्रम है उसको तीर्थ बनाते हैं तो अतिप्रवृत्ति (पूर्वदोष) और संग दोष ये दोनों दोष उनके चले जाते हैं. इसी बातको 'गोदोहनमात्रं'से कहा है. जिस प्रकार अग्निहोत्रमें काम आनेवाली सामग्री घी, दूध इत्यादि देनेकेलिये गौ उतने ही समय तक बन्धन सहन करती है, उसी प्रकार जो गौकी तरह जगत्से भिन्न है उनको भी गोदोहन मात्र तक रहकर उस बन्धनको सहन करना चाहिये. अर्थात् परमहंसको गृहस्थीके यहां उसको तीर्थ करनेकेलिये गोदोहनमात्र ठहरना चाहिये. यह अवस्था महाभाग्यसे प्राप्त होती है इसलिये श्लोकमें शुकदेवकेलिये 'महाभाग' कहा ।।८।।

आभासार्थ: चार श्लोकोंसे श्रोताके प्रश्नको कहते हैं:

अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम्।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः।।९।।

श्लोकार्थ: हे सूत! अभिमन्युके पुत्र परीक्षितको भगवद्भक्तोंमें उत्तम कहा है, इसलिए महान् आश्चर्यमें डालनेवाला उसका जन्म और कर्म आप हमारे लिए कहें।।९।।

सुबोधिनी: यहां परीक्षितको अभिमन्युके पुत्रके रूपमें कहा है. यह इसलिये कहा गया है कि पुत्रमें जब पिताके सम्बन्ध बताये जाते हैं तब पुत्रका महत्व सूचित होता है और माताका सम्बन्ध बतानेसे हीनता प्रतीत होती है. अर्थात् 'अमुक पिताका पुत्र' ऐसा यदि कहा जाये तो पुत्रका महत्त्व सूचित होता है और 'अमुक माताका पुत्र' ऐसा कहनेपर उसकी हीनता मालूम देती है. जैसे पार्थ, कौन्तेय इत्यादि. यही नियम सब जगह है और श्रीमद्भागवतमें भी है.

'अभिमन्यु'का अर्थ है: चारों ओर जिसका क्रोध है. बाहर क्रोध रखना क्षत्रियका धर्म है और भीतर क्रोध न रखना वैष्णवता है. अभिमन्युमें बाहर क्रोध था. वैष्णव होनेसे भीतर क्रोध नहीं था. इसी बातको 'अभिमन्यु' पद कहता है.

श्लोकमें 'सूत' यह सम्बोधन यह बताता है कि तुम्हारी(सूतकी) यह वृत्ति होनेसे तुम्हें परीक्षित राजाके जन्म-कर्मका पता है. यह अभिमन्युका पुत्र परीक्षित लौकिक बातोंको छोडकर केवल भगवान्में ही परायण था इसलिये महाभागवत था. महाभागवत वही है जिसके हृदयसे भगवान् कभी दूर न हों. अभिमन्युके पुत्र परीक्षितमें इस प्रकारके गुण होनेसे उसे महाभागवत कहा करते थे. लोकमें इसकी इसी रूपमें (महाभागवत रूपमें) प्रसिद्धि थी.

अभिमन्यु सुत पहले ही महाभागवत था भागवत सुननेसे उसमें जो विशेषता हुई उसको जाननेकेलिये पहले विशेष बात पूछते हैं कि जिस परीक्षितका जन्म आश्चर्यमें डालनेवाला है, क्योंकि वह गर्भसे मरा हुआ बाहर पडा और फिर वह जीवित हो गया. यही उसके जन्ममें आश्चर्यकी बात है. महाभारत आदिमें इसी तरहकी कथा है. इसलिये आश्चर्यमें डालनेवाले उसका जन्म और कलि आदिको दण्ड देना आदि उसकेकर्म हमसे कहो ।।९।।

आभासार्थ: ''वैष्णवको आमरण अनशन करके बैठना उचित नहीं है'' इस अभिप्रायसे कहते हैं कि:

स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः।
प्रायोपविष्टो गङ्गायाम् अनादृत्याधिराट् श्रियम्।।१०।।

श्लोकार्थ: पाण्डवोंके सम्मानको बढानेवाला वह सम्राट् परीक्षित राजाओंसे भी अधिक राजलक्ष्मीका परित्याग कर गंगाके तटपर आमरण अनशन लेकर किस लिए बैठा?।।१०।।

सुबोधिनी: परीक्षितमें लौकिक उत्कर्ष भी था क्योंकि वह चक्रवर्ती राजा था और पाण्डवोंके सम्मानको बढानेवाला था. अभिप्राय यह है कि पाण्डव बडे थे, इसलिये उनसे परीक्षितकी प्रतिष्ठा हो ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वह परीक्षित स्वतः ऐसा था जिससे पाण्डवोंकी प्रतिष्ठा बढी. अर्थात् वह पाण्डवोंके यशको बढानेवाला था.

गंगाके तीरपर बैठनेसे ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो जाती है तो फिर आमरण अनशनका नियम लेनेकी क्या आवश्यकता थी? पराजयकी शंका तो थी ही नहीं, क्योंकि राजाओंसे भी अधिक उसके घरमें लक्ष्मी थी जिसका उसने परित्याग किया था.

इस प्रकार लौकिक रीतिसे एवं वैष्णव होनेसे भी उसका अनशन करना उचित नहीं था ।।१०।।

आभासार्थ: लज्जा सबसे बडी होती है और विशेष रूपसे अपने आदमियोंके बीच तो फिर राजाओंके बीचमें राजा परीक्षितने आमरण अनशनका संकल्प कैसे किया. इसी अभिप्रायको लेकर कहते हैं कि:

नमन्ति यत् पादनिपीठम् आत्मनः शिवाय हानीय धनानि शत्रवः ।
कथं स वीरः श्रियम् अङ्ग! दुस्त्यजां युवैषतोत्स्रष्टुम् अहो सहासुभिः।।११।।

श्लोकार्थ: हे अंग! शत्रु भी जिसकी चरण चोकीको बहुतसा धन भेंट करते हुए अपने कल्याणकेलिए प्रणाम करते हैं. आश्चर्य है कि वीर होते हुए भी दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीको प्राणोंके साथही छोडनेकी इच्छा क्यों की?।।११।।

सुबोधिनी: यहां 'पादनिपीठम्'के दो अर्थ हैं. चरण चोकी अथवा पादुकायें. सभी देशोंमें रहनेवाले राजा लोग इनके सिंहासनके पास जाकर अपने अपराधोंको दूर करनेकेलिये बहुत सा धन लेकर नमस्कार करते हैं. 'ह' यहां आश्चर्य अर्थमें है. आश्चर्य होता है कि शत्रुभी अपने कल्याणकेलिये इनकी चरण चोकीको नमस्कार करते हैं.

राजा परीक्षितने इन राजा लोगोंके देशका अपहरण तो पहले ही कर लिया था जिससे वे राजा लोग स्वयं संकटमें पड गये और अपने देशकी पुनः प्राप्तिकेलिये बहुतसा धन परीक्षितको भेंट करते हैं. यह अर्थ(धन) परीक्षित केलिये पुरुषार्थ नहीं है एसी बात नहीं है. क्योंकि वह वीर है, वीर रसवालेको ऐसा धन अपेक्षित होता ही है, जिसमें वीर रस मौजूद है. उस वीर पुरुषका इस प्रकार अनशन करके मरना लज्जाकर है.

लोकमें देखा गया है कि धनकेलिये अथवा प्रायश्चित्तकेलिये आमरण अनशन करते हुए लोगोंको देखा है परन्तु राजा परीक्षित द्वारा सार्वभौम लक्ष्मीको छोड देनेसे उसका यह आमरण अनशन धनकेलिये नहीं हो सकता. यदि धनकेलिये ही यह अनशन होता तो वह इस असीम राज्य लक्ष्मीको कैसे छोडता.

फिर धनके साथ ही प्राणोंको छोडना कठिन है. यदि धनकी इच्छासे वह अनशन करने बैठता तो जब वह प्राण भी साथ ही साथ छोड रहा है ऐसी हालतमें उस धनको कौन भोगेगा? निश्चय ही लोकमें प्राणकी अपेक्षा धन दुस्त्यज होता है जैसा कि चोरोंमें देखा गया है. वे अपने प्राणोंकी भी आहुति देकर धन चाहते हैं तो राजा परीक्षितने जब राज लक्ष्मीका ही त्याग कर दिया तब उसने धनकी कामनासे ही आमरण अनशन किया ऐसा नहीं माना जा सकता.

फिर वह परीक्षित जवान था. ऐसी स्थितिमें राजलक्ष्मी त्यागकी इच्छा तक नहीं हो सकती, फिर भी उसने सार्वभौम लक्ष्मीको त्याग दिया यह बात सत्य है, इसलिये यहां आश्चर्य व्यक्त करनेवाला 'अहो' पद है ।।११।।

आभासार्थ: प्रायश्चित्त आदिसे परलोक साधनकेलिए वैष्णवको आमरण अनशन नहीं करना चाहिए किन्तु जीवन ही रखना चाहिए. यही कहते हैं:

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोक–परायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थम् असौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ।।१२।।

श्लोकार्थः जो मनुष्य उत्तम श्लोक भगवान्में परायण हैं वे सब लोकके कल्याणकेलिए लोकमें पुत्र पौत्रादिकी अभिवृद्धिकेलिए, ऐश्वर्यादि देनेकेलिए, जीते हैं अपने लिए नहीं. ऐसा होनेपर भी उस राजा परीक्षितने विरक्त होकर दूसरोंके आश्रयभूत अपने देहको किसकेलिए छोडा?।।१२।।

सुबोधिनीः उत्तम श्लोक भगवान् ही उत्कृष्ट आश्रय हैं जिनका ऐसे वैष्णवको प्रमादसे महापातकका सम्बन्ध हो भी जाये तो भी देह त्याग उचित नहीं है. वैष्णव महापातकका सम्बन्ध होनेसे स्वतः सेवा नहीं कर सकते तो भी पूछ कर दूसरे लोग तो सेवा कर सकते हैं, इसलिये उनका जीवित रहना सबकेलिये कल्याणकारी है. 'शिवाय' पदका अर्थ है शांत सुखकेलिये अर्थात् ऐसे वैष्णवोंका जीवित रहना लोगोंके शांत सुखकेलिये होता है और पुत्र पौत्रादिकी अभिवृद्धिकेलिये भी उनका जीवित रहना आवश्यक है. कहा है कि ''**अमोघवीर्या हि नृपाः**''(भाग.पुरा.४।१४।४२) तात्पर्य यह है कि राजाओंका वीर्य निष्फल नहीं जाता. उससे संतति अवश्य होती है. अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यकेलिये भी वे जीते हैं. क्योंकि अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य भगवत्सेवायें अपने आप प्राप्त हो जाते हैं. जैसा कि 'महापुरुषपूजायाः' इससे कहा है. इसलिये सबको पुरुषार्थ देनेवाले देहको छोडनेका यत्न करना उचित नहीं है. वैराग्यसे देहादिका परित्याग प्राणियोंकी शिक्षा और उनके हितकेलिये हो सकता है, जैसा कि 'अभयमभयं भूतेभ्यः'से कहा है. किन्तु वैष्णवोंकेलिये इससे विपरीत बात है इस अभिप्रायसे कहते हैं कि 'पराश्रयं निर्विद्य'. पुरुषार्थ लाभके लिये दूसरे जिसका आश्रय लें ऐसे शरीरको छोडना उचित नहीं है. राजधर्ममें जिस कारणसे वैराग्य होता है, राजाओंसे कर लेना दण्ड देना इत्यादि राजधर्म दारुण हैं. राजधर्म शत्रुओंको भय पैदा करनेवाला है इसलिये वह वैराग्यका कारण हो सकता है. ऐसी हालतमें भी वह किसीकेलिये ही वैराग्यका कारण हो सकता है. यदि इसी तरह वैराग्य होता है तो इस प्रकारके वैराग्यके कारणको छोड देना चाहिये, देहको नहीं. वैराग्य होनेपर दूसरोंको भय न हो इसलिये वैराग्य हो जाये तो शस्त्र संन्यास करना उचित है, देहका त्याग करना उचित नहीं है. क्योंकि यह कलेवर भक्ति रसका आविर्भावक है. इसी बातको 'कलेवरं' पदसे कहा है. 'कलेवरं' पदका यहां अर्थ है कि

अव्यक्त मधुर रसरूप जो भक्ति उसके आविर्भावमें है वह श्रेष्ठ कारण है, इस नाम निसक्तिसे वह अव्यक्त रसरूप भक्तिके आविर्भावमें कारण है. अन्य रस तो लोक वेदमें भी प्रसिद्ध हैं और भक्ति रस तो इस देहमें ही प्रकट होता है तो फिर ऐसे लाभदायक शरीरको राजा परीक्षितने क्यों छोडा? ।।१२।।

आभासार्थ: इस प्रकार चार प्रश्न कहकर, अब उपसंहार करते हैं:

तत् सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यद् इह किञ्चन।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातम् अन्यत्र छान्दसात्।।१३।।

श्लोकार्थ: यहां जो कुछ हमने आपसे पूछा है वह सब हमारे लिए कहें. क्योंकि वैदिक विषयसे अतिरिक्त वाणीसे कहे जानेवाले विषयोंमें आप पारंगत हैं, ऐसा मैं मानता हूं।।१३।।

सुबोधिनी: आगे आगेके प्रश्नसे पूर्व, पूर्वके प्रश्न दुर्बल नहीं हैं अर्थात् सभी प्रश्न समान हैं. अतः सभी प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिये. इसलिये श्लोकमें 'सर्वं' पद दिया है.

शौनक ऋषि, सूतकी शंकाकी सम्भावना करके कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि सूत होनेके कारण भागवतार्थमें ही मेरा परिचय है अन्यत्र नहीं, तो कहते हैं कि ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये. क्योंकि आप त्रैवर्णिक नहीं हैं इसलिये वेदमें आपका परिचय नहीं हो सकता किन्तु अन्य विषयोंमें आपको परिचय न हो, यह कभी नहीं हो सकता.

वैदिक विषयसे अतिरिक्त इतिहास पुराणादिकके विषयमें मैं आपको पारंगत समझता हूं ।।१३।।

आभासार्थ: शौनक ऋषिका भागवत विषयक जो पहला प्रश्न है, उसका उत्तर दूसरे स्कन्धोंमें है वक्तृविषयक और श्रोतृविषयक जो प्रश्न किये गए हैं उनका उत्तर प्रथम स्कन्धमें आनेवाले उत्तम प्रकरणमें है. यहां कर्तृविषयक दूसरा प्रश्न कारणभूत है इसलिए इस दूसरे प्रश्नका उत्तर सूतजी यहां देते हैं:

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्य्यये।
जातः पराशराद् योगी वासव्यां कलया हरेः।।१४।।

श्लोकार्थ: सूतजीने कहा सतयुगसे तीसरे द्वापरयुगके आरम्भमें पराशरसे वासवीमें भगवान्की ज्ञान कलासे भक्तियोगी व्यास प्रकट हुए।।१४।।

व्याख्यार्थ: भागवत निर्माणकेलिये ही मुख्यरूपसे व्यासका अवतार है, इसलिये प्रथम व्यासजीका जन्म कहते हैं. ब्रह्मकल्पके प्रथम मन्वन्तरके द्वापरकी पर्यावृत्तिमें अर्थात् द्वापरके परिवर्तनमें व्यासका जन्म हुआ. ऐसा भी कहते हैं कि अट्ठाईसवें द्वापरके अन्तमें व्यासका जन्म हुआ. पहला सतयुग जो है वह साधन सहित ज्ञानका समय है. उस समय (सतयुगमें) लोग ससाधन ज्ञानके अधिकारी थे, त्रेतामें कर्म करनेवाले हुए और द्वापर भक्तिका युग था. सतयुगमें और त्रेतामें धर्मके विषयमें कोई सन्देह नहीं था इसलिये उसमें होनेवाले जो धर्म हैं, वे भक्तिके उत्पादक थे और इन दोनों युगोंमें धर्म करनेसे भक्तिकेलिये अवकाश नहीं था. इसलिये सतयुग और त्रेतामें व्यासजीका जन्म नहीं हुआ.

द्वापरमें धर्मके श्रुति, स्मृति, उभय परक होनेसे धर्ममें सभीको सन्देह हुआ. इसलिये धर्मके ठीक रूपसे न हो सकनेके कारण भक्ति नहीं हो सकती थी. इसलिये व्यासजीने जन्म लेकर भक्तिका प्रतिपादन किया. पिता पराशर भक्त थे, विष्णुपुराण आदिमें इन्हें भक्त कहा गया है. मार्कण्डेयके नमस्कारमें वयोवृद्धके वचनसे यह सिद्ध होता है कि पराशर भक्त थे. उपरिचर जो था उसे भी मत्स्यपुराण में वैष्णव बताया है, इसलिये उसकी लडकी वासवी मत्स्य गर्भसे पैदा होनेपर भी उपरिचरमें जो वैष्णवता आदि थे वही वैष्णवता आदि धर्म वासवीमें भी रहे.

व्यासके अवतारका प्रयोजन कहते हैं 'योगी' अर्थात् भक्तियोगको उन्हें प्रकट करना था. व्यासजीमें यह भी विशेषता रही कि सब दुःखोंको हरण करनेवाले हरिकी ज्ञान कलासे वो प्रकट हुए थे. व्यास स्वयं भगवान्के ज्ञानके अवतार थे. व्यासके ज्ञानरूप होनेसे ज्ञान अपने आप प्रवृत्त हो गया और ज्ञानका प्रयोजन भक्ति होता है इसलिये उन्होंने ज्ञानरूपमें अवतीर्ण होकर भक्तिका प्रचार किया. अर्थात् भक्तिकी प्रवृत्तिकेलिये ही इनका अवतार है ऐसा कहा गया ।।१४।।

आभासार्थ: उस व्यासावतारके प्रासंगिक कार्यको कहते हैं

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।
विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले।।१५।।

श्लोकार्थ: किसी समय सरस्वती नदीमें स्नान, आचमनादि करके शुद्ध हुए वह व्यास सूर्योदय होनेपर एकान्त स्थानमें एकाकी बैठे।।१५।।

सुबोधिनी: व्यास भक्तिकेलिये ही अवतीर्ण हुए हैं, इसलिये कदाचित

कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों मार्गोंके नष्ट होनेपर उन्हें अपने ज्ञानकी विस्मृति हो गई. सरस्वतीके पवित्र जलमें आचमन स्नान आदि करनेसे उनमें फिरसे सर्वज्ञता आ गई और उनमें धर्मांश ही अभिव्यक्त हुआ तथा पापसे भी वे पराजित नहीं हुए यानि पाप युक्त नहीं हुए.

सरस्वतीके जलमें स्नानादि करनेसे ज्ञानकलारूप व्यासमें धार्मिक प्रवृत्ति ही अभिव्यक्त हुई. फिर अपने अवतारके प्रयोजनका विचार करते हुए व्यासजीने सबका हित करनेवाले भक्तिरूप धर्मका विचार किया इसी बातको 'विविक्त'से लेकर 'कृपया मुनिना कृतम्' तकसे कहा है.

मनमें व्यग्रता न हो, इसलिये व्यास एकाकी एकांतमें बैठे. वे पवित्र थे, इसलिये उनमें भौतिक दोष नहीं था. एकान्तमें बैठे थे, इसलिये वे दैविक दोषसे रहित थे और एकाकी बैठे थे, इसलिये उनमें आत्मीय दोष नहीं था. यही इस श्लोकसे कहा गया है.

'उदिते रविमण्डले' इससे यह बताया है कि सूर्योदयसे पहले ही नित्यकर्म आदि हो जाते हैं, इसलिये सूर्योदय होनेपर नित्यकर्मका समय भी नहीं था. अथवा 'उदिते रविमण्डले' पद पुण्य नक्षत्र और काल गुणोंको बतानेवाला है अभिप्राय यह है कि उस समय पुण्य नक्षत्र था और अच्छे गुणवाला काल था. ऐसे समयमें इन्होंने सब प्राणियोंके हित साधन करनेवाले धर्मका विचार किया ।।१५।।

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे।।१६।।

श्लोकार्थः कालको एवं हमारे अदृष्टको जाननेवाले ऋषि वेदव्यासने, प्रकृति आदिमें भी जिसका वेग है यानि प्रकृति आदिको भी जो अपने अधीन रखता है ऐसे कालसे तप, यश, स्वाध्याय और दान आदि जो चारों युगोंके धर्म हैं उनका प्रत्येक युगमें नाश देखकर उनके हितका विचार किया।।१६।।

सुबोधिनीः 'पर' जो काल कर्म स्वभाव हैं उनको और 'अवर' जो हम हैं इनके वेदव्यास ज्ञाता थे. अर्थात् जो बात मैं कहूंगा उसमें काल कर्म स्वभाव बाधक नहीं है, क्योंकि भक्ति सम्बन्धमें काल कर्म स्वभाव बाधक नहीं होते और हमारे अदृष्टको भी उन्होंने जाना. इसके बाद वे ऋषि बने. ऋषि वही होता है जो मन्त्र दृष्टा होता है. मन्त्रदृष्टा धर्म करनेवाला होता है. आशय यह है कि व्यासमें

धर्मांश ही प्रकट हुआ.

काल भगवान्का बडा अधिकारी है तथा सबका कर्ता और निमित्त कारण है. ऐसी स्थितिमें कालादिके बाधक होनेसे औरोंका प्रयास व्यर्थ होगा इसलिये कालनियामक जो भगवान् हैं उनका अवतार व्यास हुए यह बतानेकेलिए पहले कालकृत उपद्रव कहते हैं.

'अव्यक्त' शब्दका 'अक्षरब्रह्म' अर्थ लेते हैं तो यह अर्थ होता है कि अक्षर-ब्रह्मसे कालके प्रकट होनेसे जिसका वेग अधिक है. अथवा 'अव्यक्त'का अर्थ है प्रकृति, उस प्रकृतिमें भी जिसका वेग है. अभिप्राय यह है कि प्रकृति आदि भी कालके अधीन है. अथवा अक्षर-ब्रह्मकी ऐसा करनेमें सम्मति? है. अथवा अस्फुट है वेग जिसका यानि कालके वेगका पता नहीं चलता इसलिये इसका प्रतिकार नहीं हो सकता. इससे यह निरूपण किया गया कि भगवान्से अतिरिक्त जो भी है वह कालाधीन है अथवा कालके अनुकूल ही बर्ताव करनेवाले हैं. इसलिये उस कालसे चतुर्युगके धर्म जो तप, यज्ञ, स्वाध्याय, दानादि हैं उनका नाश होनेपर अथवा अनधिकारियोंमें तप आदिकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है किन्तु इसका नियत रूप है. इसी बातको 'युगे-युगे' पद कहता है. अर्थात् प्रतियुगमें नाश और अनधिकारियोंमें ऐसी प्रवृत्तिको व्यासजीने नियतरूपसे देखा और यह भी सब पृथिवी पर ही देखा, स्वर्गमें नहीं. ऐसा देखकर उनके हितका एकान्तमें अकेले बैठकर व्यासजीने चिन्तन किया.

१८वें श्लोकमें जो 'हितं दध्यौ' है उसी अर्थको लेकर इस श्लोकके अर्थकी समाप्ति होती है. 'हितं दध्यौ'का अन्वय यहांसे लगाना चाहिये ।।१६।।

आभासार्थ: कालसे धर्मका नाश कहकर पदार्थ-नाश भी कहते हैं:

भौतिकानां तु भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः।।१७।।
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद् दध्यौ हितम् अमोघदृक् ।। १८।।

श्लोकार्थ: कालकृत पञ्च महाभूतोंसे पैदा हुए हमारे शरीरादि एवं पञ्च महाभूत तथा स्वाध्याय आदि अथवा कृषि वृष्टि आदिकी शक्तिका ह्रास देखकर मनुष्योंको श्रद्धा, बल, विवेक एवं बुद्धिरहित तथा कम आयुवाले तथा भाग्यरहित देखकर, अमोघ दृष्टिवाले व्यासजीने, अपनी दिव्य चक्षुसे प्रत्येक वर्णोंका तथा

आश्रमोंका जिसमें हित हो, उसका ध्यान किया।।१७-१८।।

सुबोधिनी: कालकृत पञ्च महाभूतोंसे उत्पन्न हमारे जैसे जीवोंको और पञ्च महाभूतोंकी भी शक्ति नष्ट हो गई है. यहां 'च'कारसे पञ्चमहाभूतोंका ग्रहण किया गया है. इसी तरह स्वाध्याय आदिकी शक्तियोंका तथा कृषि वृष्टि आदिकी शक्तियोंका भी कालकृत ह्रास हो गया है. तदुपरांत धर्माचरण करनेवाले श्रद्धासे रहित हो गये हैं उनमें न तो रहा बल और न ही रहा विवेक. श्रद्धा रहित होनेसे चित्तका नाश हो गया, विवेक रहित होनेसे मनका नाश हुआ तथा 'दुर्मेधान्'पदसे बुद्धिका नाश हुआ अर्थात् चित्त-मन-बुद्धि-अहंकाररूप जो अन्तःकरण हैं उसमें प्रथम तीनका नाश होनेसे केवल अहंकार ही जीवमें दृढ मूल होकर बैठ गया और इसीलिये उनकी आयु भी क्षीण हो चली है इसीका निर्देश यहां 'ह्रसितायुषः' पदसे किया गया है यह सब देखकर श्रीव्यासने उनके हितका चिन्तन किया ।।१७।।

सुबोधिनी: कर्मसे ही भाग्योदय होता है ''कर्मणा हि भाग्यम् उत्पद्यते'' किन्तु कलियुगमें, काल, कर्म, कर्ता आदि अशुद्ध ही रहते हैं अर्थात् द्वापर तथा कलियुगमें, देश, काल, कर्ता, द्रव्य मन्त्र तथा कर्म ये छहों अशुद्ध ही रहते हैं अर्थात् द्वापर तथा कलियुगमें, देश, काल, कर्ता, द्रव्य, मन्त्र तथा कर्म ये छहों अशुद्ध दूषित होनेके कारण, कर्म, असफल असिद्ध ही रहते हैं जिससे जीव दुर्भागी हो जाता है. इस प्रकारकी परिस्थितिका ज्ञान, व्यासको अपने तर्कसे नहीं हुआ किन्तु अपनी ऋषि सुलभ दृष्टिसे आर्ष-दृष्टिसे यह सब कुछ जान लिया था और इसलिये इन जीवोंके कल्याणार्थ जिस जिस उपायकी आवश्यकता है उसका भी ज्ञान व्यासको हो गया पाखंड धर्म स्वतः उत्पन्न होने लगेंगे अतः इनसे दूर रहते हुए सर्व वर्णोंके आश्रमोंके तथा देश काल आदिके धर्मोंका हित किस तरह सम्पादित किया जाय इसका भी ध्यान व्यासने किया. इससे यह निर्देश किया गया है वर्ण आश्रम तथा देश कालादि धर्मोंसे अतिरिक्त अन्य सभी धर्म केवल पाखण्ड हैं. ये धर्म पाखण्ड रूप न बनें इसका ध्यान व्यासने किया. व्यास स्वयं सत्य संकल्प हैं अतः उनको प्राणीमात्रके हित तथा सत्यका विचार ही स्फुरित होता है इसीका निर्देश यहां 'अमोघदृग्' पदसे किया गया है ।।१८।।

आभासार्थ: यज्ञ ही प्रत्येक वर्ण तथा आश्रमका हितसाधक है, इसका निरूपण करते हैं:

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।।१९।।

श्लोकार्थ: जिसमें चार होता हैं ऐसा शुद्ध वैदिक कर्म प्रजाओंकेलिए (उपयोगी) जानकर यज्ञके विस्तारार्थ, एक वेदको चार प्रकारका किया, चार प्रकारसे विभक्त किया।।१९।।

सुबोधिनी: यहां शंका होती है कि कालकृत दोषोंके रहते हुए, कालके अधीन जो यज्ञ हैं वे किस प्रकार सबकेलिये उपकारक हो सकते हैं? तो कहते है कियज्ञादिका ज्ञान आर्ष ज्ञान है. इसलिये वहां युक्तिकी अपेक्षा नहीं है. युक्ति तो आधिदैविक काल तथा भौतिक काल सुलभ दोषोंको दूर करनेकेलिये है आधिदैविक काल अथवा कालके नियामक भगवान् विष्णु भौतिक कालकृत दोषोंको दूर करनेमें समर्थ हैं. 'वह काल विष्णुरूप और यज्ञरूप है'' इस तरहका कथन मिलता है. यज्ञ विष्णुरूप तथा कालरूप वेदसे सिद्ध है अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा वेद बलिष्ठ प्रमाण है इसलिये सब वेदोंकी एकवाक्यता बतानेकेलिये यज्ञके स्वरूपका निरूपण करते हैं कि, कर्म चातुर्होत्र है अर्थात् यज्ञ कर्ममें चार 'होता' रहते हैं अध्वर्यु, उद्गाता, होता तथा ब्रह्मा ये चारों यज्ञ कर्मके गणनायक हैं तथा होता कहलाते हैं. चातुर्हात्रका इस तरह व्याख्यान करनेसे तो मात्र सोमयज्ञका ही प्रतिपादन होगा, अग्निहोत्रादिका नहीं*.' ऐसी शंकामें इसका व्याख्यान दूसरी तरहसे करते हैं वैदिक कर्ममें दश होता, चार होता, पांच होता छह होता तथा सात होता ये पांचों प्रकारके होता होम करनेवाले, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम इन पांचों ही यज्ञ कर्मके मूल हैं तथा ब्राह्मण भागमें इनका चातुर्होतृत्व समझाया गया है. अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम ये पांच कर्म चातुर्होत्र माने जाते हैं. यह चातुर्होत्र कर्म वैदिक है, वेद प्रमाणसे सिद्ध है नित्य है, शुद्ध है, क्योंकि ये कालसे अस्पृष्ट है इनको कालका स्पर्श नहीं होता. शंका करते हैं कि कर्म, त्रिक्षण व स्थायी होते हैं तो फिर वे नित्य कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं ये कर्म कथन मात्रकेलिये हैं, वास्तवमें वे भगवत्स्वरूप हैं क्योंकि क्रियामें 'योग' प्रयोग भक्ति है. 'प्रजानां' जो प्रकर्ष रूपसे बारंबार उत्पन्न होते हैं, उनसे सम्बन्धित कर्ममें, वेद प्रमाण है, इसलिये यहां कर्मको 'वैदिक' कहा है. इन यज्ञोंके विस्तारकेलिये व्यासने वेदको चार प्रकारसे विभक्त किया. व्यासने यज्ञका विस्तार इस तरह किया कि जिससे

यज्ञके प्रकरणका भेद सरलतासे समझमें आ जाये तथा परस्परमें एक दूसरेमें मिश्रण न हो जाये अर्थात् अंश ?भेद व्यवस्था द्वारा व्यासने यज्ञका विस्तार किया. वस्तुतः मूल वेदका स्वरूप तो एक ही है किन्तु लोकहितार्थ विस्तृत तथा विभक्त हुआ. शंका करते हैं कि, अग्निहोत्रादि पांचों यज्ञोंका जब वेद प्रतिपादन करता है तो फिर वेदके ही पांच भेद होने चाहिये, चार ही कैसे? तो कहते हैं कि अग्निहोत्रादि पंचक अभिन्न हैं परन्तु आंशिक भेदसे वह चार विभागमें विभक्त किया गया है ।।१९।।

(टिप्पणी.*'चित्ति–स्रुक'से लेकर 'सामाध्वर्युः' पर्यन्त दश होतृ मन्त्र हैं. 'पृथिवी होता'से 'रूप वक्ता' पर्यन्त चार होतृ मन्त्र हैं 'अग्निर्होतासे 'उपवक्ता' पर्यन्त पांच, 'सूर्यं वै चक्षुः'से 'शरीरैः' पर्यन्त तथा 'वाग्होता'से 'जुहोमि' तक इस तरह दोनोंमें षड् और 'महाहविः'से 'उद्गाता' तक सप्त होतृ मन्त्र हैं.)

आभासार्थ: उन वेदोंके भेदोंको कहते हैं:

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।।२०।।

श्लोकार्थ: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अर्थववेद नामक चार वेदोंका उद्धार किया और उनके अपेक्षित धर्मका प्रतिपादन करनेवाले इतिहास पुराणको जो पञ्चम वेद कहलाता है, प्रकट किया।।२०।।

सुबोधिनी: ऋग्वेदसे होता, यजुर्वेदसे अध्वर्यु, सामवेदसे उद्गाता तथा अथर्ववेदसे ब्रह्मा कर्म करते हैं. उन उन कर्मोंके प्रतिपादक मन्त्रोंका तथा ब्राह्मणभागका जो खण्डशः विभाग हुआ वे ऋक्, यजुः, साम, एवं अथर्ववेद नामसे जाने गये तथा इनके अपेक्षित धर्मोंका इनको सहाय करनेवाले धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाला इतिहास पुराण पांचवां वेद कहा गया ।।२०।।

आभासार्थ: इस तरह विभक्त किये गए वेदोंको किस किसने धारण किये? इस विषयमें कहते हैं:

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।।२१।।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः।।२२।।

श्लोकार्थ: इनमें ऋग्वेद धारण करनेवाले पैलमुनि हुवे. सामवेदके गान

करनेवाले कवि जैमिनि थे और एक वैशंपायन ही यजुर्वेदमें पारंगत हुए. अंगिराओंमें दारुण सुमत मुनि अथर्ववेदके ज्ञाता हुए और मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास पुराणमें निपुण हुए।।२१-२२।।

सुबोधिनी: शंका करते हैं कि चोदना लक्षण धर्म है अर्थात् जिसमें विधि सम्बन्ध हो उसे धर्म कहते हैं. यजुर्वेदमें धर्मका प्रतिपादन है अतः उपर्युक्त श्लोकमें प्रथम यजुर्वेद क्यों नहीं लिया गया? पूर्व श्लोकमें दिया गया क्रम इस प्रकार है यथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद. प्रस्तुत श्लोकमें इससे भिन्न दिया है यथा ऋग्वेद, सामवेद, यर्जुवेद तथा अथर्व वेद. अतः विरोध आता है. इसका समाधान यह है कि ''आदित्यो वा एष तन्मंडलम्'' इसके अनुसार यहां 'ऋक्सामयजुः' इसी क्रमको अपनाया है अतः कोई विरोध नहीं आता श्लोकमें कहे गये पैल? आदि ऋषि हैं इन्होंने श्लोकोक्त क्रमसे वेदोंको धारण किये. अथर्ववेदमें आभिचारिक मारणप्रयोगोंका बाहुल्य है इसलिये इस वेदमें निष्णात सुमन्तु ऋषिको दारुण भयंकर कहा है यह मत अमुक टीकाकारोंका है. वस्तुतः इन मारण प्रयोगोंके उद्भावक सुमन्तु स्वभावसे ही परम दुष्ट थे इसीलिये इनको यहां 'दारुण' कहा गया है. और इसी हेतुसे कालान्तरमें इनका यज्ञोंमें प्रवेश रोक दिया गया. फिर भी वे मुनि थे इसलिये इनको वेदका अध्ययन कराया गया था और इसीलिये यहां मुनि रूपसे इनकी गणना की गई है. इतिहास पुराण इस पंचम वेदमें सर्व प्राणीमात्रका अधिकार है यह सूचित करनेकेलिये इस वेदका अध्ययन, मेरे पिता रोमहर्षणको कराया गया था तथा सर्वप्राणियोंके रोम रोमको भगवद्भक्ति भावसे हर्षान्वित करानेके कारण यथा नाम तथा गुण पूर्ण आचार्य हुए ।।२१-२२।।

आभासार्थ: इन पांचो ऋषियोंने अपने अपने वेदको खडश: पृथक्-पृथक् बहुत प्रकारसे विस्तृत किया यही कहते हैं:

त एनम् ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन् अनेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैः वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ।।२३।।

श्लोकार्थ: उन पैलादि ऋषियोंने अपने-अपने वेदका शिष्य-प्रशिष्य तथा उनके शिष्यों द्वारा अनेक शाखाओंके रूपमें विस्तार किया अतएव वे वेद शाखाओंवाले हुए।।२३।।

सुबोधिनी: उन ऋषियोंने अपने अपने वेदको अनेक प्रकारसे विभक्त अथवा विस्तृत किया. तदनंतर, उनके शिष्य, प्रशिष्य तथा उनके भी शिष्योंने

वेदोंका अनेकों शाखाओंके रूपमें विस्तार किया. ये सब ऋषि थे अतः वेदोंका विभाग करनेपर भी दोषी नहीं हुए ।।२३।।

आभासार्थ: बहुत प्रकारसे विभक्तकी गई शाखाओंमेंसे एक भी शाखा धारण नहीं की जा सकती इसी बातको कहते हैं:

त एव वेदा दुर्मेधैः धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः।।२४।।

श्लोकार्थ: बुद्धि रहित पुरुष यथावत् अर्थ ज्ञानसे रहित होते हुए भी इन्हीं वेदोंको धारणकर सकें इस विचारसे कृपण वत्सल व्यासजीने उनकी शाखा विभागसे व्यवस्था कर दी।।२४।।

सुबोधिनी: (श्रीव्यासने वेदोंके शाखा विभाग द्वारा उनको इतना सुगम बना दिया कि मन्द बुद्धिवाले भी उनका संधारण कर सकें) वेदोंके यथायोग्य अर्थ ज्ञानके अभावमें भी सामान्य पुरुष भी प्रतिशाख्यमें कहे गये. समानादिक लक्षणोंकी सहायतासे दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा आज भी जो वेदार्थको समझ सकते हैं, वह भी केवल वेदव्यासकृत शाखा विभागके कारणसे ही वेदव्यास भगवान्के ज्ञानावतार हैं इसलिये ''मूर्ख व्यक्ति पर्यन्त भी वेदका संधारण किया जा सके'' ऐसी भगवान्की इच्छाको वे जानते थे. तो फिर व्यासजीको ऐसा कार्य करना ही नहीं चाहिये था, क्योंकि कोई नियम नहीं रखनेवाले तथा वेदार्थको नहीं जाननेवाले यदि वेदको धारण करने लगेंगे तो वेद निर्वीर्य बन जायेंगे. इस पर कहते हैं कि व्यासजी महान् अधिकारी थे इसलिये उन्होंने ऐसा किया. यदि यह कहा जाये कि महान् अधिकारी होते हुए भी, उनकेलिये अन्यथा करना उचित नहीं था तो इसका उत्तर यह है कि व्यासजी कृपण वत्सल हैं अर्थात् व्यासजीने यह सोचा कि वेदका स्वाध्याय सर्वथा निष्पाप है. अतः मन्द बुद्धिवाले केवल स्वाध्यायसे भी कृतार्थ हो जायेंगे इसलिये प्रजापर दया पूर्वक वेदोंका विभाजन कर दिया ।।२४।।

आभासार्थ: स्त्री, शूद्र आदिके उद्धारका उपाय कहते हैं:

स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरः।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेद् इह।
इति भारतम् आख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।।२५।।

श्लोकार्थ: स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओं को वेद श्रवण करनेका अधिकार

नहीं है. वैदिक कर्मसे सिद्ध किये जानेवाले कल्याणमार्गके साधनोंसे ये लोग अनभिज्ञ तथा कर्म श्रेयसके विषयमें मूढ हैं(अर्थात यज्ञादि कर्मसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलसे ये लोग वंचित रहेंगे) इसलिए उनके कल्याणार्थ व्यासजीने कृपा करके महाभारत प्रकट किया जिससे वे भी धर्मादिके तत्त्वज्ञान पूर्वक उच्च फल प्राप्त कर सकें। २५।।

सुबोधिनी: यज्ञ द्वारा ही वेदमें स्त्रियोंका उपयोग होता है अर्थात् पत्नीके साथ यज्ञ किया जाता है इसलिये यज्ञमें स्त्रियोंका उपयोग यज्ञमें इस उपयोगके कारण उनको वेद श्रवणका अधिकार है. जो पति पुत्रादि रहित हैं उनका यज्ञमें उपयोग न होनेसे त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों)की स्त्रियोंको भी वेद श्रवणका निषेध है. क्योंकि ऐसी स्त्रियां यज्ञमें नहीं बैठ सकतीं. श्लोकमें 'स्त्री' पद, पति, पुत्रादिसे रहितकेलिये प्रयुक्त हुआ है. 'शूद्र' पदसे, यज्ञमें काम नहीं आनेवाले शूद्रलिये गये हैं. त्रैवर्णिकोंमें जो याज्ञिक हैं, उनके शूद्र सेवक उनका अन्न खानेसे यज्ञमें उपयोगी हैं अतः उनको आपाततः वेद श्रवण हो जाता है. श्लोकस्थ 'द्विजबन्धूनां'से कुण्डगोलक तथा संस्कार रहित व्यक्तिलिये गये हैं. पति रहते हुए, जारसे पैदा होनेवाली सन्तान कुण्ड कहलाती है तथा पतिकी मृत्युके पीछे, जारसे उत्पन्न सन्तान गोलक है. उनको वेद श्रवणका अधिकार नहीं है. 'गोचर' शब्द नित्य पुंल्लिङ्ग है, इसलिये यहां त्रयीका विशेषण होते हुए भी पुंल्लिङ्ग ही है. कोई कोई 'श्रुतिगोचरा' यह पाठ रखते हैं ऐसी स्थितिमें पुंल्लिङ्ग होते हुए भी 'गोचरा' शब्दको छान्दस् प्रयोग मान कर समाधान करते हैं. 'कर्मश्रेयसि मूढानां''का अर्थ यह है कि यज्ञादि कर्मके श्रेय रूप जो पुत्र स्वर्गादि हैं उनके साधनोंसे अनभिज्ञ व्यक्तिका श्रेय अन्य प्रकारसे सम्भव नहीं है अतः ऐसे व्यक्तियोंके कल्याणार्थ व्यासजीने महाभारत इतिहासकी रचना की.

श्लोकस्थ 'इह' पदका सुबोधिनीमें 'अस्मिन्नेवार्थे' यह अर्थ किया है इसका तात्पर्य है यह कि जिनको वेदत्रयी सुननेका अधिकार नहीं है उनके कल्याणार्थ व्यासजीने भारतकी रचनाका अन्यसे यह फल नहीं मिल सकता. इसमें यह शंका होती है कि अलौकिक प्रकारसे वेद साध्य फल भी अलौकिक है तो यह फल 'भारत'से कैसे मिल सकता है? इसका समाधान यह है कि मद्दोंके मतमें जैसे लौकिक क्रियारूप यज्ञका 'अपूर्व अदृष्टरूप' अलौकिक फल माना जाता है. वैसे ही पुराण एवं भारतमें सभीका अधिकार होनेसे वे लौकिक हैं किन्तु वेदोंके

व्याख्यान रूप होनेसे अलौकिक भी हैं. इस तरह भारतादि ग्रन्थोंमें लौकिकता एवं अलौकिकता दोनों होनेसे इनमें अर्थ लौकिकता ही माननी पडेगी जिससे सभीका कल्याण हो सकता है. इस अभिप्रायसे व्यासजीने जो किया उसीको कहते हैं 'इति भारतमाख्यानम्' भरतवंशमें उत्पन्न राजाओंका जिसमें वृत्तान्त हो वह भारत है. इसमें जो 'आख्यानम्' पद है उससे यह अभिप्राय है कि 'भारत' यह केवल ग्रन्थ नाम ही नहीं है, किन्तु उक्त विशेष अर्थको भी कहते हैं. भरत वंशके राजाओंका वृत्तान्त सुननेसे मायामोह नहीं हो सकता क्योंकि ''दौष्यन्तिरत्यगान् मायाम्'' (भाग.पुरा.९।२०।२७) अर्थात् भरतने मायाका अतिक्रमण कर लिया था इसलिये इसके आख्यान सुनने वालोंको माया मोह न होनेसे धर्मकी अलौकिकताका ज्ञान सुगम हो जायेगा इसी तथ्यको मनन पूर्वक विचार कर दूसरोंके दुखोंको मिटानेकी इच्छासे ही व्यासजीने 'भारत'की रचना की ।।२५।।

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद् हृदयं ततः।।२६।।
नातिप्रसीदद् हृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ।।२७।।

श्लोकार्थः हे ब्राह्मणों! इस प्रकार सर्वदा परोपकाररूप धर्म करते हुए भी जब उनका अन्तःकरण अत्यन्त सन्तुष्ट नहीं हुआ तो सरस्वती नदीके पवित्र तटपर एकान्तमें निर्णय करते हुए धर्मज्ञ व्यासजी मन ही मनमें इस प्रकार कहने लगे ।।२६-२७।।

सुबोधिनीः इस प्रकार श्रीव्यासका परोपकार रूप महान् धर्म वेदके व्याख्यानरूप भारतकी रचनासे सिद्ध हो गया. धर्मका फल अन्तःकरण परितोष है. सन्तोष रूप फलके अभावमें धर्म केवल श्रम रूप है यह पहिले कह चुके हैं. 'ऐसा धर्म दुःखका कारण है' यही कहनेकेलिये 'श्रमएव हि केवलम्' इस पूर्वोक्त कथनकी स्मृति कराते हुए श्लोकमें 'द्विजाः' इस सम्बोधनका प्रयोग किया गया है. अधीत पढेहुए को स्मरण रखना द्विज धर्म है. आप लोग द्विज हैं इसलिये 'श्रमएव हि केवलम्' यह हमारा पूर्वोक्त कथन आपको अवश्य याद सुख देता होगा. ज्ञान रहित धर्म, भले ही अन्तःकरणको सुख देनेवाला न हो किन्तु ज्ञान सहित धर्म तो ही है. यहां 'सर्वात्मकेनापि' 'सर्वत्र आत्मा है' इस प्रकारका आत्मज्ञान होते हुए भी व्यासजीके अन्तःकरणको परितोष नहीं हुआ यह

आश्चर्यकी बात है. इस तरह ज्ञानयुक्त अथवा दयायुक्त प्रत्येक प्रकारके धर्मानुष्ठानसे भी व्यासजीका अन्तःकरण प्रसन्न नहीं हुआ जो जिस कार्यपर नियुक्त किया गया है उसे उस कार्यके पूरा होनेपर सन्तोष मिलना चाहिये. किन्तु सन्तोष नहीं मिला. अतः वह कार्य निष्फल ही रहा. व्यासजीने सोचा कि इस प्रकारके धर्मके निरूपणसे जब मुझे भी वह फल नही मिला तो दूसरेको कैसे मिल सकेगा? एसी स्थितिमें मेरा परिश्रम व्यर्थ हुआ यह विचार होनेसे उनके मनमें अप्रसन्नता रही. व्यासजी भगवान्के ज्ञानावतार हैं. अतः उन्होंने जान लिया कि भगवान्की इच्छा कुछ और ही कार्य करानेकी है इससे उनको आश्वासन अवश्य हुआ किन्तु पूर्ण रूपेण नहीं हुआ. पूर्वोक्त ज्ञानोदयके समान ही मुझे फिर ज्ञान होगा इस निश्चयसे व्यासजी सरस्वतीके तटपर आसीन हो गये. सरस्वतीका तट पवित्र है अतः यहां पापका सम्बन्ध नहीं हो सकता. इस प्रकार पवित्र तटपर बैठकर अपनेलिये चिन्ता करने लगे तब तर्क करनेसे वह कुछ निर्णयपर आये. व्यासजी एकान्तमें बैठ गये जिससे धर्मादिकके विषयमें जाननेकी इच्छावालोंकी भीड वहां इकट्ठी न हो तथा जिससे चित्तमें व्यग्रता न हो इस बातको उन्होंने महाधिकारी होनेके नाते बराबर जान ली थी. श्लोकस्थ 'इदम्' द्वारा अग्रिम निरूपित किये जानेवाले प्रसंगका निर्देश किया गया है. 'धर्मवित्'का अर्थ है कि ''व्यासजी धर्मके मुख्य साधनको जानते हैं'' ।।२६-२७।।

आभासार्थः प्रथम, व्यासजी द्वारा अनुष्ठित धर्मका विचार 'धृतव्रतेन' आदि दो श्लोकोंसे करते हैं:

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ।।२८।।

श्लोकार्थः मैंने बह्मचर्यादि व्रतको धारण करके वेद, गुरु तथा अग्निका निष्कपट भावसे सम्मान किया है और उनका अनुशासन माना है अर्थात् शिष्योंको पढानेका धर्म भी मैंने किया है।।२८।।

सुबोधिनीः ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका और वेदोक्त नियमोंका मैंने पालन किया तथा वेद, गुरु और अग्नि इनका सम्मान किया. वेदोंमें कहे गये अर्थको जानकर मैंने उनका पालन किया, पालन करना ही सम्मान है. गुरुजनोंको भी मैंने प्रसन्न किये. उनको प्रसन्न करना ही उनका सम्मान है. अग्नियोंमें यथोचित आहुतियां दीं यही अग्निका सम्मान है. ईश्वरके समान, स्वयंके निर्धारित मार्गमें

ही लोगोंकी प्रवृत्ति करानेकेलिये अथवा पाखण्डी पुरुषोंकी तरह लोगोंकी वंचना करनेकेलिये मैंने इन धर्मोंका आचरण नहीं किया, किन्तु शुद्ध निष्कपट भावसे इन धर्मोंका आचरण किया है ।।२८।।

आभासार्थ: व्यासजीने महाभारतकी रचना धर्मकेलिए ही की है यही बात कहते हैं:

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादिः स्त्री–शूद्रादिभिरप्युत ।।२९।।

श्लोकार्थ: भारतकी रचनाके मिषसे, वेदके अर्थका प्रकाश लोकमें फैलाया है (यह भारत यद्यपि 'इतिहास' माना जाता है, किन्तु इसमें वस्तुत: वेदके अर्थका प्रतिपादन है) स्त्री, शूद्र आदि भी 'भारत'के माध्यमसे सुगमतापूर्वक धर्मादिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।।२९।।

सुबोधिनी: वस्तुतः भारताख्यान कल्पसूत्रोंकी तरह वेदार्थका ही प्रतिपादन करता है फिर भी इस 'भारत'को इतिहासकी ही जो संज्ञा दी गई है वह मिष व्याज मात्र है. यदि ऐसा न किया जाये और 'भारत'को साक्षात् वेदकी संज्ञा प्रदानकी जाये तो जो जैसे वेदादिमें स्त्री, शूद्रोंका अधिकार नहीं माना जाता वैसे ही 'भारत'में भी स्त्री, शूद्रोंका अधिकार नहीं रहता. इसीलिये भारतको व्यासजीने इतिहासके रूपमें प्रकट किया है. वेदमें प्रतिपादित धर्म, स्त्री, शूद्र आदि नहीं समझ सकते. किन्तु इस भारतमें जिस वेदार्थका प्रतिपादन किया गया है, उसे तो स्त्री, शूद्र आदि भी उपदेशके बिना ही सहज समझ सकते हैं. वेदार्थका प्रतिपादन होनेसे भारतमें अलौकिकता है और लौकिक धर्मका प्रतिपादन होनेसे लौकिकता है. इस तरह भारतमें निरूपित धर्म, अर्थ अलौकिक है ।।२९।।

आभासार्थ: इस तरह धर्मोंका निरूपण करनेपर भी धर्मका जो फल होना चाहिए वह नहीं हुआ, यही कहते हैं कि:

अथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः ।।३०।।

श्लोकार्थ: इस तरह धर्मानुष्ठान करनेपर भी मेरी आत्मा देहाभिमानसे मुक्त नहीं हुई. अत: मेरी आत्मा सर्वसमर्थ ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होती हुई भी मानो असम्पन्नसी, असम्पूर्णसी न हो, ऐसी अत्यन्त असत् प्रतीत होती है।।३०।।

सुबोधिनी: धर्मके आचरणसे तो केवल श्रम ही हुआ इस तरह स्मरण

होनेसे व्यासजी पश्चाताप करते हैं इसीका निर्देश 'बत' शब्दसे किया गया है. ब्राह्मण देहमें ही 'मैं ब्राह्मण हूं' ऐसी बुद्धि 'आत्मा'के प्रति होती है किन्तु अन्यके देहमें ऐसी बुद्धि नहीं होती. सत्त्वशुद्धि होनेपर ही कैवल्यकी स्फूर्त्ति होती है. सत्त्वशुद्धिके अभावमें ही देहादिकी उपाधिको लेकर आत्माओंका भेद माना जाता है, इसीलिये व्यासजीने 'मे दैह्यो ह्यात्मा' ऐसा कहा, इससे यह सिद्ध होता है कि उनका 'सर्वात्मभाव' तिरोहित हो गया है तदनुसार उन्हें आत्मप्रसादरूप फलकी प्राप्ति नहीं हुई. यहां शंका करते हैं कि देहको आत्मा मानने पर 'देह्य आत्मा'की 'देहात्मा'की स्फूर्ति होनी चाहिये, किन्तु व्यासजी तो योगी हैं. अतः उनमें 'देहात्मा'की स्फूर्तिका अभाव है, फिर भी उनको इस प्रकारकी देहात्माकी (मे दैह्यो ह्यात्मा) स्फूर्ति क्यों हुई? इसका समाधान यह है कि योगीका मनसे विशेष सम्बन्ध रहता है. अतः उनके भी यहां अर्थात् योगियोंके मतानुसार भी पुरुष भेद आत्माका भेद स्वीकार किया गया है और इसीसे व्यासजीको योगी होते हुए भी सर्वात्मभाव नहीं हुआ. श्रौत विचारके अनुसार देखा जाये तो मन अन्नांश है मानव जैसा अन्न खाता है वैसा मन होता है. अतः अन्नांशके भेदसे मनका भेद माना गया है. नैयायिक मतमें, आत्मासे भिन्न एवं अनेक मन माने गये हैं अतः मनकी उपाधिको लेकर आत्माका भेद माना गया है इसलिए 'दैह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है. अर्थात् देहाभिमानी आत्मा, मनोभिमानी आत्मा भिन्न भिन्न हैं इसलिये 'दैह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है. अथवा देहाध्यासवाला आत्मा भिन्न है और अध्यास रहित आत्मा भिन्न है. अथवा अयोगोलकमें जैसे अग्निका संक्रमण होता है उसी तरह आत्मा जिस जिस वृत्तिको स्वीकार करती है, उस उस वृत्तिके भेदसे यहां 'मे दैह्यो ह्यात्मा' ऐसा कहा गया है अर्थात् अयोगोलकमें अग्निकी तरह देहमें आत्माका संक्रमण होता है तो उस उस वृत्तिके भेदसे उस उस आत्माका भेद माना जानेके कारण 'मे दैह्यो ह्यात्मा' ऐसा कहा गया है. वही देहाभिमानी आत्मा देहाभिमानीसे अपनेसे सन्तुष्ट नहीं होता. इसी प्रकार इसी तरह योगीका मानस आत्मा मनोभिमानी आत्मासे सन्तुष्ट नहीं होता. जिस प्रकार देहाभिमानी देहके विषयोंको प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है वैसे ही अन्तःकरणाभिमानी–मनोभिमानी अपने विषयोंकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट होता है. आत्मा सर्व समर्थ है इसलिये उसे विषय प्राप्त है तथापि समस्त विषयोंको प्राप्त करके भी, मानो विषयोंको प्राप्त नही किये हो, इस तरह असम्पन्नकी तरह प्रतीत

होता है इसीका निर्देष 'इव'पदसे किया गया है. इस सन्धानरूप आत्मामें विरुद्ध धर्मोंका अवभास हो, इसका निर्देश 'ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः'से किया गया है अर्थात् यह आत्मा वास्तवमें ब्रह्मवर्चस्वी है. अर्थात् वेदोंके अध्ययन अध्यापन सुलभ ब्रह्मतेजसे मेरी आत्मा सम्पूर्ण है तथापि इसमें अत्यन्त न्यूनता असत्तमता प्रतीत होती रही है. अथवा 'ब्रह्मवर्चस्येन सत्तमः' ऐसा पाठान्तर लें तो उसका तात्पर्य होगा ''ब्रह्मतेजके कारण अत्युत्तम होते हुए भी, यह आत्मा मानो असम्पूर्ण है'' ऐसी प्रतीति होती है. वस्तुतः वैदिक बलसे ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती ही है और यही ब्राह्मणोंकेलिये एकान्त फल है, परन्तु इस प्रकारके ब्रह्मतेजसे समृद्ध होते हुए भी आत्मा मानो दरिद्रसी भासित हो रही है यह उचित नहीं, यहां व्यासजीका यही आशय दिखाई देता है ।।३०।।

आभासार्थः व्यासजीके इस असन्तोष रूप कार्यसे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका कोई कारण अवश्य है तदनुसार, इस कारण विचारके अनुसार योगज धर्मसे जो कारण स्फुरित हुआ उसे कहते हैं:

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः।।३१।।

श्लोकार्थः अथवा तो क्या मैंने भगवत्सम्बन्धी भागवत धर्मका निरूपण नहीं किया? ये भागवत धर्म ही परमहंस महात्माओंको प्रिय होते हैं, क्योंकि ये भागवत धर्म ही भगवान्से साक्षात्कारको सिद्ध कर देते हैं. वस्तुतः ये भागवत् धर्म ही श्रीभगवान्को प्रिय होते हैं।।३१।।

सुबोधिनीः भागवत धर्म प्रमाणसे, साधनसे तथा फलसे भगवत्सम्बन्धी है. इसका मैंने पालन तो किया किन्तु निरूपण नहीं किया. मेरा अधिकार निरूपण करनेका है. मैंने सभीके सर्व धर्मोंका निरूपण किया किन्तु भक्तोंके, परमहंसोके धर्मोंका निरूपण नहीं किया. यद्यपि मैंने संन्यासाश्रमका तथा अवधूत धर्मोंका निरूपण किया, परन्तु ये धर्म परमहंसोंको प्रिय नहीं हैं, क्योंकि इनके आचरणमें क्लेश अधिक है और सार अल्प है. शंका करते हैं कि अनुशासनपर्वमें तो भागवत धर्मोंका निरूपण किया है तो निरूपण नहीं किया यह कैसे कहते हो? इसके समाधानमें कथन है कि 'न प्रायेण' प्रायः करके निरूपण नहीं किया अर्थात् भगवत्सम्बन्धी धर्म स्वतंत्र हैं उनका यदि अंग रूपसे वर्णन किया जाये तो वे निरूपित न किये गये जैसे ही हैं. अनुशासनिक पर्वमें भगवत् धर्मोंका निरूपण

कालादिके अंग रूपमें है स्वतन्त्र रूपमें नहीं है. मैंने इनका मुख्य रूपसे वर्णन नहीं किया इसलिये असन्तोष है. 'परमहंस'पदसे यहां भगवद्भक्तलिये गये हैं क्योंकि परमहंसका विग्रह 'परमस्य हंसाः' 'परमाः च ते हंसाः' ऐसा है. परमहंसजी भगवान् उसके भक्त अथवा श्रेष्ठ जो भक्त. दूसरे विग्रहमें जो श्रेष्ठता बताई गई है वह भगवदीय होनेसे है. अन्य जितने भी धर्म हैं वे भगवदीय बनानेकेलिये ही हैं, भगवदीय हो जानेपर तो भगवत्धर्म ही प्रिय होते हैं क्योंकि भगवान् परम आत्मा हैं. आत्मा ही सर्वतोधिक प्रिय होती है. गंगा दर्शनके अनन्तर जैसे उसके देवताके दर्शनकी इच्छा होती है, उसी तरह आत्मज्ञान होनेपर परमात्माके दर्शनकी इच्छा होती है. परमात्माके दर्शनकी इच्छा भगवद्धर्मोंसे ही होती है. प्रश्न करते हैं कि आपको भगवदीय धर्मोंके निरूपण करनेका अत्यन्त आग्रह क्यों है? तो कहते हैं कि 'तएव ह्यच्युतप्रियाः' यहां 'तत्' पदसे भगवत्सम्बन्धी धर्म ग्रहण किया गया है 'तत्' शब्दके पूर्व जो 'परमहंस' पद है उसके अर्थका 'तत्' शब्दसे ग्रहण नहीं होता. यदि 'तत्' शब्दसे 'परमहंस' लिया जाये तो वे परम्परया अक्षरब्रह्ममें निष्ठा वाले होते हैं, इसलिये उनकी यहां गौणता है, मुख्यता नहीं. अक्षरब्रह्ममें निष्ठावाले परमहंस गौण हैं, वे भगवत् प्रिय नहीं बन सकते तो 'तएव ह्यच्युतप्रियाः'से विरोध आयेगा अतः श्लोकस्थ 'तत्' पदसे असन्निकृष्ट 'धर्म' पदका ग्रहण करना चाहिये. भगवत्सम्बन्धी धर्मोंका फल आत्मामें होता है इसका निर्देश 'हि' पदसे किया गया है अर्थात् वे धर्म निश्चय पूर्वक भगवान्को प्रिय हैं क्योंकि उनका फल आत्मगामी है. 'अच्युतप्रियाः' अर्थात् भगवत्सम्बन्धी धर्म भगवान् तथा भगवदीय दोनोंको ही प्रिय है. 'अच्युत' पदसे भगवान् तथा भगवदीय दोनों ग्रहण किये गये हैं ।।३१।।

तस्यैवं खिलम् आत्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागाद् आश्रमं प्राग् उदाहृतम्।।३२।।

श्लोकार्थ: इस तरह अपने आपको असम्पन्न मानकर व्यासजी जब खेद कर रहे थे, तब उनके इस सरस्वती तटस्थ पवित्र आश्रममें भगवान् श्रीकृष्णके भक्त नारदजीका आगमन हुआ।।३२।।

सुबोधिनी: ❋पाखण्ड नहीं है, और मुख्य भागवतधर्ममें दृढ विश्वास है यह जतानेकेलिए 'आश्रम'शब्दका प्रयोग किया है. इस प्रकारके धर्मके निरूपण करनेमें नारदजीका अधिकार है अतः पहिले उनका आगमन हुआ. श्लोकस्थ

'खिल' पदका अर्थ है 'न्यून' अर्थात् व्यासजी अपनी कृतिमें न्यूनताका अनुभव कर रहे थे और खिन्न इसलिये हो रहे थे कि यदि मैं स्वयं ही भगवद्धर्मोंका निरूपण करूंगा तो भारत आदिसे विरोध आयेगा अतः विरुद्ध वक्ता होनेसे मेरे कथनमें अप्रामाणिकता आ जायेगी. यदि नारदजीके कहनेसे भगवद्धर्मोंका निरूपण किया जायेगा तो विरोध नहीं आयेगा. व्यासजीको कृष्ण इसलिये कहा है कि भागवतका वाच्य कृष्ण उत्तम है अतः व्यासजी भी उत्तम वक्ता हैं अथवा यह अर्थ भी किया जा सकता है कि 'कृष्णस्य नारदः' कृष्ण भगवान्के सम्बन्धी नारदजी पधारे. श्लोकमें 'प्रागुदाहृतम्'का अर्थ यह है कि पूर्वोक्त सरस्वतीके तटपर पधारे ।।३२।।

* यद्यपि मुद्रित सुबोधिनीमें ''पाखण्डनिवृत्तये 'आश्रम'-पदप्रयोगः'' ''मुख्ये सम्प्रत्ययः इति च'' यह पंक्ति 'तस्यैवं खिलमात्मानम्' श्लोककी व्याख्यामें दी गई है, किन्तु इसका सम्बन्ध प्रकाशकारके विवेचनसे, ''किं वा भागवताः धर्माः'' इस श्लोकसे है. उपरोक्त पंक्तिका आशय यह है कि संन्यासाश्रम धर्मकी तरह परमहंसोंके धर्मकी तरह पाखण्डपूर्ण नहीं है. शंका करते हैं कि भागवत धर्मतो सबकेलिये है तो 'परमहंस' पद देनेकी क्या आवश्यकता है? उत्तरमें कहते हैं कि ''गौण-मुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'' इस न्यायसे मुख्यतया परमहंसोको ही ये धर्म प्रिय हैं.

आभासार्थः खेद निवृत्तिकी इच्छावाले व्यासजीने जो किया उसको कहते हैं:

तम् अभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः।
पूजयामास विधिवद् नारदं सुरपूजितम्।।३३।।

श्लोकार्थः मुनिवर नारदजीका आगमन जानकर व्यासजी शीघ्र खडे हो गए और देवपूजित नारदजीका विधिपूर्वक पूजन किया अथवा उनका ब्रह्माजीकी तरह पूजन किया।।३३।।

सुबोधिनीः नारदजी आत्मीय हैं इसलिये मेरे कार्यको सिद्ध करने आये हैं अथवा भक्ति प्रचाररूप जो नारदजीका कार्य है उसे पूर्ण करनेके लिये पधारे हैं. व्यासजी अभ्युत्थानकेलिये खडे हों उसके पूर्व ही नारदजी आ गये क्योंकि वे समझते थे कि किस समय सम्मुख स्वागतार्थ आगमन उचित समझा जाता है और किस समय अयोग्य है अतः सहसा आ गये. व्यासजी गुरुजनोंके सत्कारकी विधिको जानते हैं अथवा नारदजी विधिवत्का तात्पर्य है 'ब्रह्माकी तरह'

नारदजीका पूजन किया. शुद्धसत्त्ववाले देवताओंकेलिये भी कुछ जानने योग्य होता है अतः ज्ञान प्राप्तिकेलिये नारदजी देवताओंसे पूजित हैं. नवीन ज्ञान प्राप्त करना है अतः व्यासजीने भी नारदजीको विधिवत् अथवा ब्रह्माकी तरह पूजा की. पूजनका फल अदृष्ट न होकर ज्ञानरूप दृष्ट फल ही है. इसीका निर्देश यहां 'नात्रालौकिकं किञ्चित्' पदसे किया गया है ।।३३।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके
हीनाधिकार प्रकरणका चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ५

भक्तिकी महिमा

चतुर्थे सर्वधर्माणां सन्देहो विनिरूपितः ।
निरूप्यते भक्तिमार्गे पञ्चमे तस्य निर्णयः ।।का.१।।
उट्टङ्कनं मध्यमत्वाद् दृष्टान्तस्य प्रदर्शनम् ।
आदावन्ते निर्णयार्थं हेतुत्वाद् उत्तरस्य हि ।।का.२।।

कारिकार्थः चतुर्थ अध्यायमें भगवान्के अतिरिक्त अन्य सर्व धर्मोंके फलके विषयमें सन्देहका निरूपण किया गया अर्थात् ये कहे गये धर्मपरक हैं अथवा उपर हैं इस पर व्यासजीको सन्देह रहा इसलिए भक्तिमार्गके निरूपक पांचवे अध्यायमें इसका निर्णय किया जाता है. अर्थात् अब इस पांचवे अध्यायमें भक्तिमार्ग सम्बन्धित भगवद्धर्मोंका फल अवश्य होता है ऐसा निर्णय किया जाएगा.

नारदजीके मध्यमाधिकारी होनेसे 'पाराशर्य महाभाग' इत्यादि तीन श्लोकोंसे नारदजीने व्यासके विषयमें पहले तर्क किया और अन्तमें उत्तरके निर्णयकेलिए हेतु होनेसे नारदजीने 'अहं पुरातीत भवे' अपने दृष्टान्तका निरूपण किया तो उत्तरके निर्णयमें अपना दृष्टान्त कारण है. अर्थात् नारदजी द्वारा जो व्यासजीको उत्तर दिया जा रहा है उसके निर्णयमें अपना दृष्टान्त भी कारण है इसलिए अपना श्री नारदजीने दृष्टान्त दिया।।१-२।।

आभासार्थः पूर्वाध्यायके अन्तमें व्यासजीने नारदजीका पूजन किया, यह कहा नारदजीने प्रतिपूजन न कर और भिन्न क्रमसे पूछा, यही यहां सूतजी कहते हैं:

सूतः उवाच

अथ तं सुखम् आसीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव।।१।।

श्लोकार्थः सूतजी कहते हैं कि तदनन्तर सुखपूर्वक विराजमान महायशवाले हाथमें वीणा धारण किये हुए देवर्षि नारदजी मानो स्मित पूर्वक अपने सम्मुख बैठे हुए विप्रर्षि व्यासजीसे बोले।।१।।

सुबोधिनीः चिन्ताव्याप्त उन व्यासजीको क्या उत्तर दिया जायेगा इसका

ज्ञान होनेसे नारदजी निर्भय हैं. सुख पूर्वक बैठे हैं. उत्तर पूछनेकेलिये पासमें बैठे हुए व्यासजीसे नारदजीने पूछा. महान्को न्यूनताके विषयमें पूछना साधारण व्यक्तिका काम नहीं है इसी बातको कहते हैं कि 'बृहच्छ्रवाः' नारदजी साधारण नहीं थे बडी कीर्तिवाले थे. अथवा 'बृहच्छ्रवाः' पद इसलिये है कि जो कहा जायेगा उसमें विश्वास हो. देवर्षिका अर्थ यह है कि देवताओंने भी नारदजी ऐसे हैं कि देवताओंके प्रतिपादक मन्त्रोंके दृष्टा हैं इस तरहका व्यक्ति अलौकिक होता है. 'विप्रर्षि'का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणको बादमें सूझता है और उनको ये व्यासजी उपाय बतानेवाले हैं. अथवा 'विप्रर्षि'का यह तात्पर्य है कि सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले ब्राह्मणोंकी कामनाओंके पूर्त्ति करनेवाले ये व्यासजी हैं.

नारदजी वीणा हाथमेंलिये हुए यह बताते हैं कि भागवत धर्म सबसे उत्तम है, जिसका गान, वीणा लेकर मैं भी किया करता हूं. अपने बोलनेकेलिये यही अवसर है ऐसा समझकर नारदजीको मुखपर विशेष रूपसे प्रसन्न होनेके कारण लोगोंने उन्हें हंसते हुएकी तरह देखा ।।१।।

आभासार्थ: व्यासजी जैसे महाव्यक्ति भी मोहित हो जाते हैं इस बातसे नारदजीके हृदयमें यह आया कि वृद्धि चाहनेवालेका मूलही नष्ट हो जाएगा. इस अभिप्रायसे नारदजी व्यासजीसे स्वाभाविक कुशल प्रश्न करते हैं:

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ।।२।।

श्लोकार्थ: नारदजीने कहा महाभाग व्यासजी! आपका शरीराभिमानी एवं मनोभिमानी आत्मा सन्तुष्ट तो है।।२।।

सुबोधिनी: नारदजीका व्यासजीको 'पाराशर्य' शब्दसे सम्बोधित करनेका तात्पर्य यह है कि आपके पिता पराशरजी बडे ही वैष्णव थे आप उनके पुत्र होते हुए भी क्यों सन्देहमें पडे हैं? इस बातको पिताके नामका उल्लेख कर सूचित किया. समर्थके अधिकारी होनेपर भगवन्मार्गका समझाना सम्भव है फिर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? आप बडे भाग्यवाले हैं इसलिये कृतार्थ हैं. श्लोकमें आया 'कच्चित्' कोमल प्रश्नके अर्थमें है. आपका शरीरादि संघाताभिमानी आत्मा अपनेसे प्रसन्न है न! ''स्वेन वा भवतः इतितु समुदायः'' इस सुबोधिनीके वाक्योंका तात्पर्य यह है कि पहले व्यासजीकी चिन्तामें 'मे दैन्य' कहा गया है.

वहां 'मे' पदसे जैसे देहेन्द्रियादि संघातका ग्रहण किया गया है उसी प्रकार यहां 'भवतः' पदसे संघात लिया गया है अर्थात् आप संघाताभिमानी हैं इसलिये अपनेसे आपको असन्तोष है. विषयोंके प्राप्त न होनेपर अपने आप असन्तोष हो सकता है परन्तु आप तो भगवान् हैं इसलिये आपको सभी विषय प्राप्त हैं फिर असन्तोष क्यों? इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक रूपसे असन्तोषका कारण पूछा. इसी प्रकार मनोभिमानी आत्मा भी क्यों असन्तुष्ट है यह पूछा. श्लोकमें 'एव' पद आया है उसका तात्पर्य यह है कि शरीर सम्बन्धी आत्माका प्रश्न गौण है और मनोभिमानी आत्माके विषयमें मुख्य रूपसे प्रश्न है ।।२।।

आभासार्थ: व्यासजी उत्तर देवें इसकेलिए व्यासजीके किए हुए कार्यको पूर्वपक्ष करके नारदजी अभिनन्दन करते हैं:

जिज्ञासितं सुसम्पन्नम् अपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्।।३।।

श्लोकार्थ: आपने जो विचार किया वह सब लोकोंके हितका करनेवाला सिद्ध हुआ क्योंकि आपने धर्म-अर्थ-काम मोक्षका प्रतिपादक अति अद्भुत महाभारत बनाया।।३।।

सुबोधिनी: जो आपने विचार किया वह सब लोगोंके हितकेलिये अच्छे रूपमें सिद्ध हुआ. एक कार्यसे ही कल्प पर्यन्तका कार्य हो गया. श्लोकस्थ 'अपि' शब्दका आश्चर्य अर्थ है अर्थात् आश्चर्य है कि आपने ऐसा कार्य किया. भगवान्को भी सृष्टादिके करनेमें प्रवृत्तिकी अपेक्षा होती है. परन्तु आपको किसीकी अपेक्षा नहीं रही यह महान् अद्भुत बात है. यहां 'अपि ते महदद्भुतम्'की जगह 'इति ते महदद्भुतम्' पाठ मानते हैं तो 'इति' शब्दका अर्थ समाप्ति है अर्थात् आपका बडा अद्भुत जो लोक हित करनेका कार्य है वह समाप्त हुआ वह कार्य कौन सा है तो कहते हैं कि धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका जिसमें प्रतिपादन है वह महाभारत आपने बनाया. एक शास्त्र एक ही पुरुषार्थका प्रतिपादन करनेवाला होता है परन्तु भारतमें तो चारों पुरुषार्थोंका प्रतिपादन है अर्थात् साधन सहित धर्मादिका उसमें वर्णन है ।।३।।

आभासार्थ: स्वभाविक धर्ममें भी विशेष बात कहते हैं:

जिज्ञासितम् अधीतं च ब्रह्म यत् तत् सनातनम्।
तथापि शोचस्यात्मानम् अकृतार्थ इव प्रभो ।।४।।

श्लोकार्थ: हे समर्थ व्यासजी! आपने सनातन परब्रह्म तथा वेदका विचार किया है. ऐसी स्थितिमें भी आप अकृतार्थके समान कैसे चिन्तित हैं?।।४।।

सुबोधिनी: श्लोकमें आये 'ब्रह्म' शब्दसे परब्रह्म और वेद दानोंलिये गये हैं. परब्रह्मका तो आपने विचार किया और वेदका अध्ययन किया. 'च'कारसे आपने वेदको पढाया तथा धर्मका विचार किया यह कहा गया है. शंका होती है कि धर्मका विचार तो जैमिनिने किया है तो श्लोकस्थ 'च'से धर्मका विचार व्यासजीने किया यह कैसे कह सकते हैं तो कहते हैं कि जैमिनिने जो कहा है वह व्यासजीके कहे अर्थको ही कहा है क्योंकि 'औत्पत्तिक' सूत्र आदिमें व्यासजीके कहे हुए अर्थका ही अनुवाद देखा गया है. अथवा यों कहिये कि पहली जिज्ञासा आपने ब्रह्मकीकी और दूसरी जिज्ञासा वेदकी की. इससे यह सूचित हुआ कि धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा ये दोनों व्यासजीने हीकी अर्थात् उत्तरमीमांसाकी तरह पूर्वमीमांसाके सूत्र भी व्यासजीने ही बनाये. जो ब्रह्म अतिप्रसिद्ध एवं अविकृत है उसका विचार किया. यहां 'ब्रह्म' शब्दसे वह 'ब्रह्म' महान् है अथवा व्यापक है यह अर्थ लिया गया है इतना करनेपर भी अशान्ति आपको क्यों है? इसका कारण नहीं मालूम होता. वैसे तो आप आत्मवेता हैं इसलिये शोक होना ही नहीं चाहिये जैसा कि कहा है ''तरति शोकम् आत्मवित्'' ''अनीहया शोचति मुह्यमान'' इन दोनों श्रुतियोंका तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानीको शोक नहीं होता और जो धर्मकेलिये चेष्टा नहीं करता वह शोक करता है परन्तु आपमें तो ज्ञान एवं धर्म दोनों हैं फिर शोक क्यों हो रहा है? आप शोक युक्त हो ऐसा मुझे अनुभव हो रहा है. यह आपका शोक लौकिक नहीं है. यह शोक इस तरहका है कि किसीको ब्रह्मविचार और धर्म विचार न करनेपर पुरुषार्थ सिद्ध न होनेसे जैसे शोक होता है वैसा ब्रह्म और धर्मकी जिज्ञासा करनेपर भी आपको शोक हो रहा है यह शोक किसलिये हो रहा है? इसके उत्तर देनेमें आप समर्थ हैं इसी बातको श्लोकमें आये 'प्रभो' इस पदसे कहा गया है ।।४।।

आभासार्थ: जो लोग प्रमाण बलसे ही विचार करते हैं उन्हें यहां उत्तर नहीं सूझ सकता अर्थात् व्यासजी प्रमाण बलके विचारक हैं इसलिए उन्हें उत्तर नहीं सूझ सकता इसी बातको स्वयं व्यासजी कहते हैं:

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वम् इदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।

तन्मूलम् अव्यक्तम् अगाधबोधं पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ।।५।।

श्लोकार्थ: व्यासजी बोले आप मेरे विषयमें जो कुछ कहते हैं वह सब बिलकुल ठीक है फिर भी मेरा चित्त सन्तुष्ट नहीं है इसका कारण मुझसे छिपा हुआ है. आप बडी गम्भीर बुद्धिवाले और साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र हैं अत: मैं आपसे इसका कारण पूछता हूं।।५।।

सुबोधिनी: साधन, यानि धर्म जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा करते हुए भी फलके नहीं मिलनेमें जो कारण है वह प्रकट नहीं है अर्थात् उस कारणको मैं नहीं समझता क्योंकि लोक और वेदमें वह कारण बताया नहीं गया है इसलिये 'अगाधबोधं त्वां पृच्छामहे'. यहां 'अगाध' शब्दका अर्थ जो प्रमाणसे नहीं जाना जाता उसे आप जानते हैं क्योंकि आप भगवान्के निकट हैं अतः भगवान्के स्वरूपके बलसे उसका आपको ज्ञान है इसी बातको कहते हैं कि 'आत्मभवात्मभूतम्' आप आत्मा जो नारायण हैं उनसे उत्पन्न जो ब्रह्मा उनके देहसे उत्पन्न हुए हो. अथवा 'आत्मभव' यह सम्बोधन है. इसका अर्थ है कि हे भगवान्के अवतार नारदजी! आप आत्मज्ञानी हैं. ''ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति''में कहा है कि जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् 'आत्मभूतम्'का यह अर्थ है कि आप ब्रह्मज्ञानी हैं इसलिये आत्मा (ब्रह्म) ही हो गये हैं. आपके ब्रह्मरूप होनेसे बिना ही किसी साधनके आपको भगवदैक्य प्राप्तिरूप फल प्राप्त हो गया है यह भी बात उक्त कथनसे सूचित होती है अथवा श्लोकमें आये 'आत्मभूतम्'का अर्थ है नारदजी! आप आत्मा जो भगवान् उनके भूत अर्थात् सेवक हैं ''भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि'' इसमें जैसे 'भूत' पदसे सेवक लिया जाता है वैसे ही यहां भी 'भूत' पदसे सेवक लेना चाहिये ''भूतानि विष्णोः'' इत्यादि वाक्यका अर्थ यह है कि भगवान्के सेवक देवताओंसे पूजित हैं. ऐसे आप हैं इसलिये मैं आपको 'अकृतार्थता'का कारण पूछना चाहता हूं ।।५।।

आभासार्थ: नारदजीमें प्रमेय बल है यह बात व्यासजी कहते हैं:

स वै भवान् वेद समस्तगुह्यम् उपासितो यत् पुरुषः पुराणः ।
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ।।६।।

श्लोकार्थ: आप समस्त गुप्त बातको जानते हैं अथवा वेदोंका समस्त गुप्त अर्थ रूप आप हैं क्योंकि आपने श्रीपुरुषोत्तमकी सेवाकी है. श्रीपुरुषोत्तम 'पर' और 'अवर' सबके स्वामी हैं और चिन्तन मात्रसे ही इस विश्वकी उत्पत्ति,

स्थिति, प्रलय करनेवाले हैं तथा गुण संग रहित होनेसे निर्दोष हैं।।६।।

सुबोधिनी: व्यासजी नारदजीसे कहते हैं कि वेदोंकी समस्त गुप्त बातको आप जानते हैं अथवा वेदोंका जो सम्पूर्ण गुप्त अर्थ है वह आप हैं इन दोनों अर्थोंमें जो कारण है उसे कहते हैं कि आपने पुराण पुरुषकी उपासनाकी है. पुराण पुरुषमें जो 'पुराण' पद है उसका तात्पर्य उत्तम है इसलिये पुराण पुरुषका अर्थ पुरुषोत्तम जितने भी मर्यादा सम्बन्ध अवतार हैं वे कालादि सापेक्ष हैं अर्थात् ऐसे अवतार काल कर्म स्वभावका उल्लङ्घन नहीं कर सकते. पुरुषोत्तम तो कालादि निरपेक्ष है क्योंकि मर्यादा सम्बन्धमें ही काल कर्म स्वभावका बल है और आपने कालादि निरपेक्ष प्रभुकी सेवाकी है. जो सेव्य प्रभुमें सामर्थ्य होती है वही सेवकमें आती है. आप पुरुषोत्तमके सेवक हैं इसलिये आपमें भी पुरुषोत्तमके गुण आ गये हैं पुरुषोत्तममें क्या क्या गुण हैं? यह 'परावरेशो' इत्यादि पदोंसे कहे हैं अर्थात् 'परावरेशः'से भगवान्को सर्वेश्वर बताया है. 'मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति' पदोंसे सर्वकर्तृत्व बताया है और वह भी चिन्तन मात्रसे ही. अर्थात् संकल्प मात्रसे इस विश्वकी उत्पत्ति स्थिति प्रलय करते हैं इसमें भी आपको प्रयास नहीं करना पडता. 'गुणैरसङ्गः'से पुरुषोत्तम निर्दोष हैं यह कहा गया. सेव्यमें ये गुण हैं अतः सन्निधानसे सेवकोंमें भी आ जाते हैं अतः सेवक भी सेव्य जैसा बन जाता है अतः आप सेव्य जैसे बन गये हैं इसलिये आप वेदोंके सम्पूर्ण गुप्त अर्थको जानते हैं अथवा पुरुषोत्तम स्वरूप बन जानेसे वेदमें कहे गये गुप्त अर्थ रूप है. गीतामें कहा है कि "**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**" जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वैसा ही बन जाता है अतः आपमें प्रमेय बल है और मेरेमें प्रमाण बल है इसलिये आप सब कुछ जानते हैं ।।६।।

आभासार्थ: भगवान्की सेवासे प्राप्त सामर्थ्यसे अतिरिक्त भगवदवतार होनेसे नारदजीमें स्वतः सामर्थ्य भी है इसमें कारण कहते हैं कि:

त्वं पर्यटन् अर्क इव त्रिलोकीम् अन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्य ।।७।।

श्लोकार्थ: आप सूर्यके समान तीनों लोकोंमें विचरते हैं इसलिए आपको बाहरी सब ज्ञान है और योग बलसे प्राणवायुके समान भीतर रहनेसे आपको भीतरका भी ज्ञान है तथा ज्ञानी होनेसे सबके साक्षी हैं अतः धर्म द्वारा परब्रह्मका और स्वाध्याय आदि नियमोंसे वेदका मर्म जाननेवाले मुझमें जो कुछ कमी हो उसे कहिये।।७।।

सुबोधिनी: बाहरी और भीतरी सभीका नारदजीको पूर्ण ज्ञान है इसलिये यहां व्यासजीने सूर्य और प्राणवायुके दो दृष्टान्त दिये हैं.

व्यासजीको अपने खेदकी निवृत्तिकेलिये जितना ज्ञान अपेक्षित है उतना ज्ञान नारदजीमें है. सूर्य जिस प्रकार सर्वत्र जाता है उसी प्रकार आप भी ऐसी क्रिया करते हैं जिससे सर्वत्र आपका भी गमन अबाध है और योगबलसे आप प्राणवायुकी तरह भीतर भी प्रविष्ट हो जाते हैं. आपमें ज्ञान है इसलिये आप सबके साक्षी भी हैं.

इस प्रकार ''स वै भगवान् वेद''से लेकर ''आत्मसाक्षी'' तक डेढ श्लोकसे भक्तिज्ञान और योगसे आपमें सब सामर्थ्य है इस प्रकार कहकर व्यासजी अपने सन्देहको पूछते हैं.

''परावरे ब्रह्मणि'' वेदान्त प्रतिपाद्य जो परब्रह्म और अवर जो वेद रूप (ब्रह्म) उनमें क्रमशः धर्मतः यज्ञादि करनेसे आप ब्रह्ममें निष्णात रूप और नियम पूर्वक वेदोंका स्वाध्याय करनेसे वेदोंमें भी निष्णात हैं. इन दोनोंमें पारंगत मेरेमें जो कुछ न्यूनता है उसको आप विचार करिये. एकदम विचार किया हुआ ठीक नहीं होगा इसलिये पूरी तरहसे विचार करिये ।।७।।

आभासार्थ: नारदजीने व्यासजीके विषयमें सब कुछ विचार कर ही रखा है अत: व्यासजीकी न्यूनतामें नारदजी कारण बताते हैं:

नारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद् दर्शनं खिलम् ।।८।।

श्लोकार्थ: नारदजी बोले आपने कौरव पाण्डवोंके अंगरूपमें गीता आदिके द्वारा भगवान्के अमल यशका वर्णन किया है अत: वह नहीं कहा जैसा ही है जिससे भगवान् ही सन्तुष्ट न हों ऐसे ज्ञानकोमें न्यून मानता हूं।।८।।

सुबोधिनी: अग्निहोत्र सुवर्ण स्त्री इनका ज्ञान होनेपर भी जैसे दीपक और सूर्यादिके बिना बाहर प्रकाश नहीं होता अर्थात् अग्निहोत्रादि बाह्य विषयोंका ज्ञान रहते हुए भी दीप सूर्य आदिके बिना उनकी (सुवर्ण स्त्री) आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकती है इसलिये अग्निहोत्रादि विषयक जो ज्ञान है वह न्यून है पूरा नहीं है. इसी प्रकार अन्तः प्रकाशक भगवद्यशके वर्णनके बिना भीतर रहनेवाले जो भगवान् हैं उनकी प्राप्ति न होनेसे जो कुछ भी ज्ञान है वह न्यून है. अर्थात् आपने

भगवद्यश नहीं कहा यही न्यूनता है.

शंका करते हैं कि भगवद्यशके नहीं कहनेपर भी ज्ञान आदिसे जो अहम् आदिका आन्तर प्रकाश हो जाता है तो ज्ञानमें न्यूनता कैसी? तो इसका उत्तर देते हैं कि भगवदीय धर्म ज्ञान आदिसे प्रकाश्य नहीं है क्योंकि वे भगवदीय धर्म महान् हैं और बहुत हैं. छोटा दीपक बहुत बडे विसाल मकानमें प्रकाश नहीं कर सकता और जिस परमात्मामें ये धर्म रहते हैं वह भी ज्ञानादिसे प्रकाशित नहीं हो सकता. अतः भगवद्यश वर्णन करना आवश्यक है मैंने भारत एवं गीतामें भगवान्के यशका प्रतिपादन किया ही है.

शंका करते हैं कि फिर मेरे ज्ञानमें न्यूनता कैसी? इसका उत्तर देते हैं कि यद्यपि महाभारत एवं गीतामें आपने भगवद्यशका प्रतिपादन किया तथापि उन ग्रन्थोंमें आपने उस भगवद्यशको अन्यका अंग बनाकर प्रतिपादन किया है मुख्यरूपसे नहीं. सारथीके कार्य आदि जो महाभारत, गीता आदिमें वर्णित हैं वे यद्यपि व्यामोहक लीला है तो भी हृदयमें व्यामोहक रूपसे उस लीलाका आवेश हो जायेगा अर्थात् उससे हृदयमें भगवान्के प्रति सन्देह होगा जिस प्रकार वेदके पूर्वकांडको अंग बनाकर उत्तरकांडके निरूपणमें वेदान्तोंके द्वारा स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्मका प्रतिपादन हुआ है उसी रूपमें भगवद्यशका गीतादिमें प्रतिपादन नहीं हुआ है. इसी बातको 'अनुदितप्रायम्' पदमें कहा है. अर्थात् वहां वह भगवद्यश नहीं कहा जैसा ही है.

आपको ज्ञानमें न्यूनता इसलिये है कि आपने भगवान्के अमल यशको नहीं गाया. क्योंकि महाभारतादिमें पाण्डव और कौरवोंके अंग रूपमें भगवद्यशका प्रतिपादन होनेसे भगवद्यशके इतरशेषत्व आदि आवरण हैं इसलिये वहां अमल यश नहीं है अन्तःकरणके दोष भगवान्के अमल यशके वर्णनसे ही मिटते हैं और भगवान्के अमल यशके बिना ही सब कुछ कार्य हो जायेगा ऐसी भावना ही ज्ञानमें न्यूनता है. इसलिये आपकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हुई ।।८।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि महाभारत आदि ग्रंथोमें कहा गया है कि भगवान् ही सब प्राणियोंके माता-पिता हैं इसलिए कौरव श्रेष्ठ शरण देनेमें (शरणार्ह) अच्छे भगवान्के ही शरण जाओ! हे शत्रुओंको नष्ट करनेवाले! हे अच्युत! हे अच्युत! ऐसा मत कहो, मत कहो. क्योंकि हम पाण्डवोंके आप ही स्वामी हैं और हम आपहीके आश्रित हैं. गीतामें भी कहा है कि आपकी आज्ञाका

पालन करूंगा. इत्यादि हजारों श्लोकोंसे स्वतन्त्र रूपसे भगवद्यशका प्रतिपादन है तो आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह प्रतिपादन नहीं करनेके बराबर है इस पर कहते हैं कि:

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्याऽनुकीर्तिताः ।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ।।९।।

श्लोकार्थ: हे मुनिश्रेष्ठ! आपने जिस प्रकार प्रकरणश: धर्म–अर्थ–काम–मोक्षका निरूपण किया उस प्रकार भगवान् वासुदेवकी महिमाका वर्णन नहीं किया।।९।।

सुबोधिनी: महाभारत आदिमें भगवद्यशका प्रतिपादन किया यह ठीक है तथापि भगवद्यशका उसमें स्वतन्त्रप्रकरण नहीं है. प्रकरणसे विधि निर्बल है इस न्यायसे उस उस धर्मार्थकाममोक्षके प्रकरणमेंसे महाभारतादिमें उपवर्णित भगवद्यश अंगभूत हैं. क्योंकि जिसका वह प्रकरण है उसीकी वहां प्रधानता रहती है. आनुशासनिकपर्वमें भी भगवद्धर्मोंका धर्मरूपसे प्रतिपादन है. यश रूपसे नहीं. इसी बातको कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनका जिस प्रकार अलग अलग प्रकरणोंमें निरूपण किया गया है इस प्रकार भगवान्की महिमाका कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है इसलिये मुख्य रूपसे भगवन्महिमाका प्रतिपादन वहां नहीं है ।।९।।

आभासार्थ: शंका करते है कि जो भगवद्यश अंगरूपसे प्रतिपादित है वह व्यासजीको अन्त:करण प्रसादरूप फल साधक क्यों नहीं हुआ? इसके उत्तरमें नारदजी कहते हैं कि:

न यद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद् वायसं तीर्थम् उशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ।।१०।।

श्लोकार्थ: जिस वाणीसे चाहे वह विचित्र विन्यासवाली ही क्यों न हो जगत्को पवित्र करनेवाला हरिका यश किसी भी अंशमें नहीं गाया गया हो उसे काक तीर्थ (उच्छिष्ट आदि अमेध्य वस्तुएं फेंकनेका स्थान) ही माना जाता है उसमें कमनीय स्थानमें रहनेवाले हंस (परमहंस या मानसरोवरके हंस पक्षी) रमण नहीं करते।।१०।।

सुबोधिनी: यहां कैसा फल चाहा जाता है? कृतार्थता अन्तःकरण प्रसाद अथवा परमानन्दकी प्राप्ति. जिसमें मुख्य रूपसे भगवद्यश नहीं गाया जा रहा है उन वचनोंसे कृतार्थता आदि उपर्युक्त फल नहीं मिलते. शृङ्गारादि रसमें आविष्ट

जो कामी हैं उनको वे वचन काव्यकी तरह आश्चर्य रसको उत्पन्न करनेवाले हैं. जिस प्रकार काकको उच्छिष्ट खट्टा अच्छा लगता है उसी तरह जिसमें भगवद्यश नहीं है ऐसा काव्य कामियोंको अच्छा लगता है. इस प्रकारके वाक्यरूप प्रमाणका बल दुर्बल होता है. इसलिये कहा है कि 'चित्रपदं' विचित्र पदशय्या जिसमें है ऐसे वचनोंसे अर्थ विशेष नहीं होनेपर अर्थात् सुन्दर वैचित्र्य पद चित्रता पदशय्या सुन्दर होना उस वाक्यमें हीनताकी बोधिका है. अर्थात् जिसमें भगवद्यश गान नहीं होता वह वाक्य ही नहीं है. जिस काव्यमें शब्द अच्छे हों अर्थ अच्छा हो और व्यङ्ग्यार्थ न हो वह काव्य हीन श्रेणीका माना जाता है. इस वाक्यसे सुन्दर पद होनेपर भी उन वचनोंमें हीनता है जैसे विषके पत्तोंपर भोजन करनेपर क्षुधा शान्त हो जायेगी किन्तु आगे अनिष्ट होगा. इसी प्रकार अन्यके अंगरूपमें वर्णित भगवद्यशके सुननेपर सुननेका (मैंने सुना है) यह अभिमान मात्र होगा किन्तु आगे कृतार्थता अन्तःकरण प्रसाद एवं परमानन्द प्राप्ति नहीं होगी. वहां अर्थ विशेष क्यों नहीं है इसके लिये कहते हैं कि वहांका प्रमेय हरिरूप नहीं है किन्तु वैसे ही उत्कृष्ट रूपसे प्रतिपादन किया गया है. यश रूपसे केवल कहा जाता है जैसे वाणीको धेनुरूपसे उपासना कही गई है. इसी बातको 'हरेर्यशः'से कहा है अर्थात् वह हरिका यश नहीं है किन्तु जो वाक्य प्रबन्ध मुख्य रूपसे हरिका प्रतिपादन करते हैं वे जगत्को पवित्र करनेवाले हैं. साधारण व्यक्तियोंको भारत पवित्र कर सकता है किन्तु पतितोंको और बहुत ऊंचे शुकादि तुल्योंका हित करनेवाला नहीं है. इसलिये महाभारतमें भगवद्यशका वर्णन करनेवाला जो वाक्य प्रबन्ध है उससे सबकी आकांक्षा पूर्ति नहीं होगी और भगवद्यशको निरूपण करनेवाला जो वाक्य है वह तो सम्पूर्ण जगत्को ही पवित्र करने वाला है.

श्लोकमें जो 'वचः' पद कहा है उससे यह कहा गया है कि भगवद्यशको वर्णन करने वालोंके केवल शब्दोच्चारण मात्रसे जगत् पवित्र हो जाता है भले ही उसे सामवेदकी तरह राग आदिसे न गाया जाय. महाभारत भरतवंशी राजाओंका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करता है इसलिये वह भगवान्का मुख्यरूपसे प्रतिपादन नहीं करता और 'छत्रिणो यान्ति' 'कुन्ताः प्रविशन्ति'की तरह भी गौणवृत्ति लक्षणासे और शैत्य-पावनत्व इत्यादि बतानेकेलिये 'गङ्गायां घोषः' यहां 'गंगा' पदसे तीरका बोध होता है इसी प्रकार उन पदोंसे जिनमें मुख्यरूपसे भगवद्यश नहीं गाया गया है कृतार्थता आदिकेलिये भगवान् लक्षित नहीं हुए हैं. इससे लक्षणासे भी वे

वाक्य भगवद्यशका प्रतिपादन नहीं करते हैं और भगवद्यशका अलग प्रकरण न होनेसे प्रकरणसे भी भगवान् प्रतिपादित नहीं हैं और न व्यञ्जनावृत्ति और तात्पर्यवृत्तिसे ही वहां भगवान्का प्रतिपादन है. यदि वे वाक्य मुख्य गौण लक्षणा और प्रकरण व्यञ्जना व तात्पर्य इनमेंसे एक भी अंशको लेकर यदि भगवान्का प्रतिपादन करते तो दोष नहीं था. ऐसा शब्द जो मुख्यरूपसे भगवान्का प्रतिपादन नहीं करता है वह काव्यकी तरह पदार्थका प्रतिपादन करनेवाला है.

वह काव्यकी तरह पदार्थका ही प्रतिपादन करता है इसलिये काक–तीर्थ है. 'वायस' शब्दके यहां दो अर्थ हैं बूढे कौए और लोकमें चतुर व्यक्ति. जिस प्रकार ऐसे काकतीर्थ (उच्छिष्ट गर्त)में बूढे कौए प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार जिसमें भगवच्चर्चा नहीं ऐसे वाक्यमें लोकमें चतुर रमण करते हैं. उसी प्रकार कामी राजपुत्र आदि वे भारतमें श्रद्धा रखनेवाले हो सकते हैं. किन्तु परमहंस उसमें श्रद्धा रखनेवाले नहीं हो सकते एवं हंस भी उच्छिष्ट गर्तमें आनन्द नहीं मनाते. हंस–से यहां हंस और परमहंस दोनों अर्थ हैं. 'तीर्थ' शब्दके यहां दो अर्थ हैं प्रवेश–का मार्ग और दोषनिवारण करनेवाला. उच्छिष्ट गर्त कौओंकी क्षुधा निवृत्ति कर सकता है अन्यको नही. कौओंको तो उससे अधिक क्षुधा दोष निवृत्तिकी इच्छा है ही नहीं इस प्रकारके गर्त बनानेवालेकी क्षुधा भी उससे शान्त नहीं हो सकती है. क्योंकि ऐसे उच्छिष्ट गर्तमें तो कौए ही रमण करते हैं. हंस नहीं और इस प्रकारके गर्तको कौओंका प्रवेश मार्ग (तीर्थ) कहा है. यहां 'उशन्ति'का अर्थ कहते हैं और जिन्हें देह आदिका अध्यास है उनका हितकर भारत है और जो केवल मनसे ही 'वह भगवान् मेरी आत्मा है' अथवा 'मैं ब्रह्म ही हूं' इस प्रकारका मनन करनेवाले हंस हैं वे परोक्ष रूपसे हंस कहे गये हैं. जल और दूधका विवेक रखनेवाले जो हंस हैं वे सहज सिद्ध जो जलकी मिलावट है उसमेंसे दूध पानी अलग कर लेते हैं. वे मिश्रित गाथाओंमें रमण नहीं करते. जैसे हंस जिसमें अनेक प्रकारके अन्न हैं ऐसे उच्छिष्ट गर्तमें रमण नहीं करते. उसी प्रकार अर्थात् परमहंस भी उच्च एवं हीन गाथाओंके एक जगह समाविष्ट होनेपर भी हीनको छोडकर उच्च जो भगवद्गाथा है उसे ही ग्रहण करते हैं तो उच्छिष्ट गर्तमें वे कैसे रमण करेंगे? उसमें तो कई तरहके अन्नोंका सम्मिश्रण है. इसी तात्पर्यको ''पुंसां किलैकान्तधियाम्''में कहा है. भगवच्चरित्र ही वैसा है जिसमें सुन्दर भगवच्चरणके आश्रमवाले परमहंस रमण करते हैं. यहां 'उशिक्षयाः'का अर्थ है

कमनीय निवास स्थान जो हंस और परमहंस दोनोंकेलिये प्रयुक्त है. जैसे जैसे उस स्थानकी स्वरूपः ज्ञानतः कमनीयता होती है वैसे वैसे ही उसमें परमहंस एवं हंस पक्षियोंका निवास होता है. इसलिये युक्तिसे और दृष्टान्तसे यह सिद्ध हुआ कि भारत आदि अन्तःकरण शोधक नहीं हैं. तात्पर्य यह है कि परमहंस भगवच्चरित्रमें ही आनन्द मानते हैं और हंसपक्षी मानसरोवरमें आनन्द मनाते हैं ।।१०।।

आभासार्थ: और यह बात है कि हम लोग वैसे वक्ता नहीं हैं न हमारे पदोंमें ही सुन्दरता है. प्रत्युत ह्रस्वको दीर्घ और दीर्घको ह्रस्व व गानेकेलिए पदोंको व्याकरणके नियमके विरुद्ध बोलते हैं तो भी वे हमारे वचन भगवद्विषयक होनेसे उपर्युक्त गुण नहीं होते हुए भी अच्छे हैं इसी बातको कहते हैं:

तद् वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकम् अबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत् श्रण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः।।११।।

श्लोकार्थ: भक्तों द्वारा उच्चारण किया गया वाक्य विन्यास जैसे भाषाके कीर्तन आदि जो व्याकरण आदिसे तथा छन्द आदिसे अशुद्ध हैं तो भी भगवान्के यशका प्रतिपादक होनेसे अच्छा है क्योंकि साधुजन उन्हीं वाक्योंका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं।।११।।

सुबोधिनी: नारदजी कहते हैं कि वह शब्द प्रयोग जो प्रेमसे भक्तसे बनाये गये हैं जैसे भाषाके कीर्तनादि और गीत–गोविन्द आदि वे प्राणीमात्रके पापको विशेषरूपसे नष्ट करते हैं. इस प्रकार बिना भगवत्सम्बन्धी वाक्योंके प्रयोगमें सब प्रकारके निर्दुष्ट शब्दोंका प्रयोग होना चाहिये वे व्याकरणादि दोष रहित होने चाहिये यह यहां आवश्यक नहीं है. इसी बातको 'यस्मिन्' आदिसे कहा है. जिस भगवत्सम्बन्धी वाक्यके प्रयोगमें जो कि भाषाके ग्रन्थोंके हैं भले ही वे व्याकरणके नियमके विरुद्ध हों और व्याकरण नियमोंके बन्धनसे रहित है अथवा अलापकेलिए ह्रस्वको दीर्घ और दीर्घको ह्रस्व करके बोला गया हो तो भी अच्छा ही है अथवा अबद्धताको लेकर मूर्खके हृदयमें आते हो वे भी अच्छे हैं उसमें कारण कहते हैं कि 'नामान्यनन्तस्य' भगवद्यशोगान करनेवाले वाक्योंमें एक ही भगवान्को बतानेवाले बहुतसे नाम रहते हैं जैसे त्रिभुवन आत्मभुवन आदि आदि सब ओरसे जो अनन्त है अतः उसके नाम भी अनन्त हैं ऐसे भगवन्नाम केवल अर्थ शून्य ही नहीं होते किन्तु उनसे भगवान्का यश भी प्रतिपादित होता है. श्लोकस्थ 'यत्'का अर्थ है जिनको और जिस कारणसे. जिन भगवन्नामोंको

वक्ता मिलनेपर सुनते हैं, श्रोता मिलनेपर गाते हैं और श्रोताके न मिलनेपर स्वयं उन नामोंका उच्चारण करते हैं. यह कार्य परमहंस आदि सत्पुरुषोंका है. भगवत्सम्बन्धी धर्मोंका भगवान्‌के साथ अभेद होनेसे जैसे जहां कहीं भी अवतीर्ण हुए भगवान्‌की सेवाकी जाती है वैसे कहीं भी उच्चारण किये गये भगवन्नाम सुने जाते हैं. भगवन्नाम भगवद्रूप होनेसे उनमें भगवद्रूप अर्थका बल है यह इससे कहा गया ।।११।।

आभासार्थ: इस प्रकार शब्दोमें भगवान्‌के प्रतिपादक शब्द ही उत्तम हैं अन्य नहीं यह निरूपण किया गया अब अर्थके विषयमें विचार किया जाता है अर्थात् कौनसा अर्थ अच्छा है यह विचार किया जाता है.

वहां ज्ञान, स्वरूप और फलसे महान् है क्योंकि वह मोक्षका साधक है. यज्ञ, आचार तथा अन्य धर्म भी महान् हैं परन्तु ये सब भगवानके एवं भगवदीयोंके स्वरूपत: फलत: समान हैं या नहीं ऐसे विचार होनेपर पहले ज्ञानकी निन्दा करते हैं:

नैष्कर्म्यम् अप्यच्युत–भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वद् अभद्रम् ईश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।।१२।।

श्लोकार्थ: भगवान्‌की भक्तिसे रहित साङ्ख्य अथवा वैदिक ज्ञान भी शोभित नहीं होता तो कामनासे होनेवाला, ज्ञानका अंगभूत, ईश्वराराधन रूप कर्म तथा जो अकारण कर्म है वह भक्तिके बिना कैसे शोभित हो सकता है?।।१२।।

सुबोधिनी: भक्ति सहित ज्ञान आदिसे फल सिद्धि होनेपर यह सन्देह होता है कि यह फल भक्तिसे हुआ है अथवा ज्ञानसे इस सन्देहको मिटानेकेलिये केवल भक्ति व केवल ज्ञानका निर्णय कहते हैं. भगवान्‌की भक्तिसे रहित जो साङ्ख्य ज्ञान एवं वैदिक ज्ञान है वह भक्तिसे अलंकृत न होनेसे शोभित नहीं होता. ज्ञानकी शोभासे ज्ञानवान्‌की शोभा होती है. तात्पर्य यह है कि ज्ञानवाले आपका 'व्यासका' मन प्रसन्न न होनेसे आपकी शोभा न होनेके कारण केवल ज्ञानकी शोभा नहीं है. यहां अशोभासे यह तात्पर्य है कि ज्ञान अल्प प्रकाश देनेवाला है और मनको प्रसन्न करनेवाला नहीं है अतः उसकी शोभा नहीं है जैसे दीपक अन्धकारको दूर करता है वैसे ज्ञान प्रकाशक नहीं है. शंका करते हैं कि व्यासजीमें ज्ञान है किन्तु भक्ति नहीं है परन्तु भगवान्‌के अवतार तो हैं ऐसी स्थितिमें उनकी (व्यासजीकी) शोभा क्यों नहीं?तो उत्तर देते हैं कि ज्ञान सुवर्णकी

प्रतिमाके समान है जैसे सुवर्णकी प्रतिमाको आभूषण आदि नहीं पहनाये जाय तो उसकी शोभा नहीं होती वैसे ही भक्ति रूप अलंकार न होनेसे ज्ञानकी शोभा नहीं होती. जब ज्ञानकी शोभा नहीं है तो ज्ञानवालेकी शोभा कैसे हो सकती है?

शंका करते हैं कि साङ्ख्यमें पच्चीस तत्त्वोंके ज्ञानसे फल मिलता है और वेदमें ब्रह्मज्ञानसे फल मिलना बताया गया है तो फिर ज्ञानकी अशोभा कैसे? इस पर कहते हैं कि जो साङ्ख्य ईश्वर नहीं है यह मानता है उसके मतमें, ईश्वरके न होनेसे भक्ति किसकीकी जाय अतः उनके मतमें भक्ति है ही नहीं ऐसी स्थितिमें उससे निरूपणीय अर्थमें केवल श्रद्धा रखना बताया गया है अतएव "**शैवान् पाशुपतान् दृष्ट्वा लोकायतिक कापिलान्.... सवासा जलमाविशेत्**" से उसकी निन्दा बताई गई है. इससे निरीश्वर साङ्ख्यमें बताये गये ज्ञानकी अशोभा बताई गई है. यही बात ईश्वरसत्ताको माननेवाले साङ्ख्य ज्ञानकी भी है. क्योंकि उसके मतमें ईश्वर सर्वदा सात्त्विक विग्रहवाला माना गया है. अतः अच्युतप्रणिधानरूप भक्ति न होनेसे उसके ज्ञानकी भी शोभा नहीं है. अब रही वैदिककी बात, उसके विषयमें भी कहा गया है कि इस समय ज्ञानपूर्वक यज्ञादि न होनेसे यजमानादिरूप देवताओंका यजमानमें आवेश न होनेसे, यज्ञ आधिदैविक न होकर लौकिक होता है. और "**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्**" इस तृतीय अधिकरणमें ज्ञानस्वरूपके उपकारार्थ सबकी अपेक्षा बताई गई है. अतः वहां अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये भक्तिकी अपेक्षा है. यदि भक्ति नहीं है तो ज्ञान न होनेसे ज्ञानकी शोभा नहीं है.

शंका करते हैं कि "**तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः**" इत्यादिमें उपासना रूप भक्ति होना बताया गया है तो भक्ति होनेसे ज्ञानकी शोभा क्यों नहीं इस पर कहते हैं कि वह भक्ति शास्त्रानुसारिणी (विहित) भक्ति है स्नेह रूपा भक्ति नहीं है अतः केवल ज्ञानकी शोभा नहीं है यह कहा गया है. 'निरञ्जन' पदका अर्थ यह है कि जो अविद्या निवर्तक अथवा निरुपाधिक ज्ञान, उसकी शोभा नहीं है. यहां श्लोकमें आया 'अपि' शब्द 'च'के अर्थमें है अर्थात् 'च'का अर्थ समुच्चय है अतः उससे प्राप्त अभिप्राय कहते हैं कि 'किं बहुना' बहुत क्या कहा जाय. जो भी सब शास्त्रोंमें कहा गया ज्ञान है उसके स्वरूपकी तथा फलकी उपकारिका भक्ति है. भक्तिके न होनेपर ज्ञानके स्वरूपका एवं फलकी सिद्धि नहीं होती. अब कर्म भी भक्तिकी अपेक्षा रखता है यह श्लोकमें आये 'कुतः पुनः' आदिसे कहते हैं. कर्म तीन प्रकारका बताया है पहला कर्म वह है जो किसी फल

कामनासे किया जाता है. दूसरा ज्ञानका अंगभूत है, तीसरा कर्म ईश्वराराधन रूप है. इनमें पहला जो कामनासे होनेवाला कर्म है उसमें भक्तिकी अपेक्षा नियत है क्योंकि कामनासे होनेवाला कर्म साधन दशामें और फल दशामें क्लेश रूप है अतः उससे यदि भक्ति नहीं होती है तो वह कर्म पुरुषार्थ रूप नहीं है.

भगवान्‌की समर्पण रूप भक्तिके बिना कर्म, ज्ञानाङ्ग ही नहीं हो सकता अतः दूसरा कर्म जो ज्ञानाङ्ग है वह भी समर्पणरूप भक्तिके बिना फल साधक नहीं है.

समर्पण ही भक्तिरूप है अथवा भक्तिसे होनेवाला है इसी बातको श्लोकस्थ 'नचार्पितं कर्म'से कही है. अर्थात् भगवान्‌के अर्पण नहीं हुआ कर्म, कर्म ही नहीं है.

श्लोकमें आये 'च'कारसे वह कर्म लिया गया है जो ईश्वरकेलिये ही किया जाता है अर्थात् जो भगवदर्थ ही होता है वहां तो भक्ति है ही और जो कर्म लौकिक कर्मकी तरह संसारका कारण नहीं है वह भी अकारण कर्म भक्तिके बिना फलदायक नहीं है. इससे सिद्ध हुआ कि सब कर्ममें भक्तिकी अपेक्षा है और उसके बिना न ज्ञानकी शोभा है और न कर्मकी ही ।।१२।।

आभासार्थ: भक्तिके बिना ज्ञान अथवा कर्म फलसाधक नहीं है इसलिए भक्तिके आवश्यक होनेसे और ज्ञान कर्मके बिना ही केवल भक्तिसे ही मिल जानेसे तथा भक्तिमें किसीकी अपेक्षा न होनेसे केवल भक्तिके आश्रयको माननेपर लाघव है अत: मुख्यरूपसे भक्तिका ही उपदेश करना चाहिए. भक्ति श्रवणरूपा है अथवा भक्ति पहले श्रवणकी अपेक्षा रखती है इसलिए भक्तिमार्गके अनुसार ही जो योगज धर्म है उससे श्रोतव्य भगवच्चरित्रका स्मरण करके कहिए इसी बातको निम्न श्लोकसे कहते हैं:

अथो महाभाग! भवान् अमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद् विचेष्टितम्।।१३।।

श्लोकार्थ: अत: हे महाभाग्यवान् व्यासजी! आप सफल ज्ञानवाले पवित्र कीर्तिवाले सत्य जो भगवच्चरित्र हैं उनके वर्णन करनेमें लगे हुए तथा स्वाध्याय आदि नियमोंको धारण करनेवाले हैं अत: काल पाशसे बन्धे हुए लोगोंके बन्धनसे मुक्ति देनेकेलिए जो बहुत प्रदेशको आक्रान्त करनेवाले भगवान् हैं उनकी लीलाओंको समाधिके द्वारा आप स्मरण करें।।१३।।

सुबोधिनी: नारदजी कहते हैं कि यद्यपि भगवच्चरित्रको हम भी जानते हैं तथापि हमारा अधिकार भगवच्चरित्र कहनेका नहीं है और व्यासजी तुम्हारा तो अधिकार है क्योंकि तुम महाभाग्यशाली हो इसी बातको 'महाभाग' यह सम्बोधन कहता है कदाचित् आप यह शंका करें कि मनसे विचार किया हुआ अर्थ कभी अन्यथा हो सकता है तो कहते हैं कि आपका ज्ञान निष्फल नहीं है अतः आपका मनसा भावित अर्थ ठीक ही होता है और आपको यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि मेरेसे कही गई बातको दूसरे नहीं मानेंगे तो कहते हैं कि आपका यह समझना ठीक नहीं है क्योंकि आप 'शुचिश्रवाः' हैं अर्थात् पवित्र कीर्तिवाले हैं. लोकमें उनका ही आदर होता है जो पवित्र कीर्तिवाले होते हैं. आपको भी भगवच्चरित्र वर्णन करना अभीष्ट है क्योंकि आप सत्यरत हैं अर्थात् सत्यमें ही रत रहनेवाले हैं. भगवद्धर्म ही सत्य है अन्य सब असत्य है. जैसे व्रतका आचरण धर्मका कारण है वैसे ही भगवच्चरित्र श्रवण भी धर्मका कारण है अर्थात् भगवच्चरित्र श्रवणसे भी धर्म होता है क्योंकि आप स्वाध्याय आदि नियमोंको धारण करनेवाले हैं इसी बातको 'धृतव्रतः' इस पदसे कहा है अथवा यों कहिये कि भगवद्धर्मोंकी स्फूर्तिमें व्रत धारण करना ही कारण है अर्थात् आप स्वाध्याय आदि नियमोंका पालन करनेवाले हो इसलिये आपको भगवद्धर्मोंकी स्फूर्ति होती है. यदि कहो कि सबको बन्धनसे छुडानेवाले धर्म भगवान्में है ही नहीं तो कहते हैं कि भगवान् उरुक्रम हैं अर्थात् भगवान्का चरण धरना बहुत लम्बा है. वामनजीकेलिये कहा गया है कि एक क्षणमें उनने अपने चरणोंसे सबको आक्रान्त कर लिया यह बात आगे कही जायेगी.

सब जीव कालपाशसे बंधे हुए हैं उनको बन्धनसे छुडाना महान् उपकार है परन्तु उनके बन्धनकी निवृत्ति कालके नियामक भगवच्चरित्रके आवेशसे हो सकती है इसी बातको 'अखिलबन्धमुक्तये'से कहा है. यदि आप कहें कि लोक वेदमें यह प्रसिद्ध नहीं है कि भगवच्चरित्रसे बन्धन निवृत्ति होती है तो इस शंका पर दूसरा उपाय कहते हैं कि 'समाधिनानुस्मर' अर्थात् समाधिके द्वारा भगवान्की लीलाओंका स्मरण करिये. यदि आप लीलाओंका स्मरण करेंगे तो सर्वोद्धारक भगवान् स्वयं स्फुरित हो जायेंगे और उनकी स्फूर्तिके अनन्तर आप भी स्मरण करें. परन्तु वे विशेष लीलायें भक्ति पैदा करनेवाली होनी चाहिये व्यामोहक नहीं होनी चाहिये. भगवल्लीलाओंको व्यामोहक जान लें तब भी वे भक्ति जनक ही

होंगी इस प्रकार खेद निवृत्तिकेलिये साधन कहा ।।१३।।

आभासार्थ: भगवच्चरित्रसे दूसरी बात कहनेपर बाधक कहते हैं कि:

ततोऽन्यथा किञ्चन यद् विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूप–नामभिः।
न कर्हिचित् क्वापि च दुःस्थिता मतिः लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ।।१४।।

श्लोकार्थ: भगवान्की लीलाओंके अतिरिक्त जो पुरुष कुछ और कहना चाहता है उस पृथक्दर्शीकी कथनकी इच्छासे स्फुरित हुए नाम रूपों द्वारा चञ्चल हुई बुद्धिको वायुसे डगमगाती हुई नौकाके समान कभी कहीं भी ठहरनेकेलिए स्थान नहीं मिलता।।१४।।

सुबोधिनी: भगवद्धर्मोके अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं वे बुद्धि कल्पित हैं. अतः उनकी स्थिरता नहीं है. एक एक धर्म आदिके बुद्धि कल्पित होनेसे एकका भी स्वरूप अच्छे रूपसे निरूपित नहीं किया जा सकता. क्योंकि मृगतृष्णाकी तरह वे नियत नहीं हैं. अतः वाच्य अर्थका पर्यवसान न हानेसे भगवच्चरित्रसे अतिरिक्त कहनेपर बाधकता है. शंका करते हैं कि आपने भगवच्चरित्रको भी अनन्त बताया है तो यह दोष वहां भी है इस पर कहते हैं कि भगवच्चरित्रोंके बुद्धि कल्पित न होनेसे अनन्त होनेपर भी उनमें नियतता है अतः वे अच्छे रूपसे कहे जा सकते हैं. अन्य निरूपणकी इयत्ता न होनेसे मेरा यह कार्य समाप्त न होगा इस आशंकासे पहले ही अन्य निरूपण आरम्भ नहीं करना चाहिये.

एक बात यह भी है कि भगवच्चरित्रोंके सिवाय दूसरे धर्म विचार दशामें भी दुःखात्मक हैं अतः उनके विचार करनेवाली बुद्धि भी दुःखित हो जाती है इस बातको श्लोकके 'अन्यथा' पदसे कहा है. श्लोकस्थ 'ततः' पदका अर्थ यह है कि भगवच्चरित्रसे. 'ततोऽन्यथा' इन दो पदोंका तात्पर्य यह है कि भगवच्चरित्रसे अन्य जो कहना चाहता है वह ठीक नहीं करता. यद्यपि जो कुछ है वह भगवच्चरित्र ही है परन्तु वे भगवच्चरित्र रूपसे नहीं कहे जानेसे भगवच्चरित्र नहीं हैं. श्लोकस्थ 'किञ्चन' यह अव्यय समुदाय है इसका अर्थ जो कुछ है अर्थात् भगवच्चरित्रसे अन्य जो कुछ भी कहा जाता है वह आदरणीय नहीं है. भगवच्चरित्रसे अन्य कहना अनादरणीय है इसका अनुवाद करके दूषित करते हैं कि 'यद्विवक्षतः' अन्य बातके कहनेपर अथवा कहते हुए दुःख होता है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है किन्तु कहनेकी इच्छा करनेपर भी दुःख होता है क्योंकि ऐसा ज्ञान भगवान्से पृथक् है उसका पर्यवसान भगवान्में नहीं है. उनको

कहनेवाला यदि भगवान्के स्तोत्रको मानता है तो भी उसकी दृष्टि भगवान्से पृथक् रहनेके कारण उसका पर्यवसान भगवान्में न होनेसे उनका भिन्न रूपसे निरूपण करना आवश्यक है ऐसी स्थितिमें उनमें भगवद्धर्मकी स्फूर्ति न होनेसे और अन्यत्र उत्कर्ष न होनेसे उत्कर्ष बतानेकी इच्छा करनेसे वर्णन करने वालेकी बुद्धि दुःखित हो जाती है. पृथक् दर्शनसे किये हुए दूसरे पदार्थोंके नाम रूप भगवत्कृत नहीं हैं अतः वे सिद्ध नहीं हैं किन्तु बुद्धि कल्पित हैं बुद्धि स्वयं कल्पना करती है इसलिये उनका पर्यवसान बुद्धिसे ही होता है. बुद्धिको कल्पनाका पर्यवसान न होनेसे किसी भी समयमें एवं किसी भी प्रदेशमें बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती क्योंकि सभी ही बुद्धिकृत है. भगवच्चरित्रसे अन्य बुद्धि कल्पित होनेसे बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो सकती और वह कल्पना ब्रह्मरूप न होनेसे ब्रह्मके आश्रित नहीं है अतः बुद्धि दुःस्थित है अर्थात् दुःखित हो जाती है अथवा दुष्ट हो जाती है. कल्पनाका दोष जैसे वायु नौकाको अभीष्ट प्रदेशमें नहीं पहुंचने देती वैसे ही बुद्धिको पर्यवसित नहीं होने देता ।।१४।।

आभासार्थः इस तरह कल्पनाओंके अनन्त होनेसे कहीं पर्यवसान न होनेके कारण तथा अन्य चर्चा बुद्धिको दुःख देनेवाली होनेसे भगवच्चर्चासे अन्य कुछ नहीं कहना चाहिए यह कहा. अब प्रतारणा करनेकेलिए जैसे प्रतारक शास्त्र कुछका कुछ कह देते हैं वैसे प्रतारणाकेलिए अन्य बात कहना भी पापका कारण है यह बात कहते हैं:

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद् वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः।।१५।।

श्लोकार्थः देह आदिको आत्मा मानकर उसके निर्वाहकेलिए प्रयत्न करना चाहिए यह धर्म है ऐसी निन्दनीय बात स्वभावतः उस तरह अनुरागवालेको कहना महान् अन्याय है क्योंकि उस उपदेष्टाके वाक्यसे वह उसको धर्म माननेवाला प्राकृत पुरुष जो विचार करनेमें असमर्थ है वह ऐसा नहीं मानना चाहिए ऐसे हमारे कहने पर भी नहीं मानेगा।।१५।।

सुबोधिनीः जैसे अपेयपान अभक्ष्य भक्षण धर्म है यह बतानेवाला नरकमें गिरता है वैसे ही देह आदिके आत्माका अध्यास करके अर्थात् देह आदिको आत्मा मानकर उसके निर्वाहकेलिये प्रयत्न करना धर्म है इस बातको बतानेवाला भी नरकगामी होता है. यदि यह कहें कि देहादिके दोष युक्त होनेसे लोक स्वतः ही

उसमें प्रवृत्त नहीं होंगे तो फिर देहादि निर्वाहकेलिये यत्न करना धर्म है ऐसा कहने पर भी क्या अनिष्ट हो सकता है इस पर कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'स्वभावरक्तस्य' लोक देहादिमें स्वभावतः अनुरक्त है ऐसी स्थितिमें ''अनुरक्तो गुणान् ब्रूते विरक्तो दूषणान्यथ'' अर्थात् जो जिसमें अनुरक्त है वह उसके गुणोंको कहता है और जो अनुरक्त नहीं है वह उसके दूषणोंको कहता है इस न्यायके अनुसार अनुराग होनेपर दोष रहते हुए भी उनकी स्फूर्ति उसे नहीं होगी. यदि यह ज्ञान हो जाय कि देहादिमें जो प्रेम है वह स्वाभाविक है धर्मतः नहीं है तो लोक उसके निर्वाहकेलिये कदाचित प्रयत्न न भी करे परन्तु जब यह समझ ले कि देहादिके पोषण करनेका यत्न करना धर्म है तो कभी भी कोई इस कार्यसे विरक्त नहीं होगा. ऐसी स्थितिमें भगवदाज्ञारूप वेद आदिका उल्लङ्घन होनेसे महान् अन्याय होगा अथवा लोकका इस प्रकारका गलत मार्ग बताना अन्धेको कुएमें धकेलनेके समान है. यदि कहो कि दूसरा कोई उसे रोकेगा तो उस उपदेशसे कोई फल न होनेसे भगवदाज्ञाका उल्लङ्घन नहीं होगा इस पर कहते हैं कि 'यद्वाक्यतः' इत्यादि अर्थात् जो स्वतः विचार करनेमें समर्थ नहीं है वह पुराने वक्ताके विश्वासमें आकर देहको आत्मा मानना धर्म है इस प्रकारकी निश्चित बुद्धिवाला दूसरेसे किये गये निषेधको नहीं मानेगा क्योंकि वह जन्म लेनेवाला है अतः वह ऐसा मानता है. देहाध्यास होनेसे ही तो बार बार जन्म लेना होता है इसलिये वह मानता है कि देहमें आत्मबुद्धि न करना यह निषेध ऊर्ध्वरेताओंकी प्रशंसाको बतानेवाला है अर्थात् वेदमें जिनका अधिकार नहीं है उनके विषयमें है, प्रमाणोंकी समानता माननेपर भी विकल्प हो सकता है अर्थात् देहमें आत्मबुद्धि करना ठीक भी है और नहीं भी है जैसे आपस्तम्बमें लिखा है कि देहमें आत्माका अध्यास नहीं करना यह निषेध ऊर्ध्वरेताओंकी प्रशंसाकेलिये है जैसा कि भट्ट कहते हैं कि जो अन्ध पङ्गु आदि गृहस्थताके अधिकारी नहीं हैं वे नैतिक ब्रह्मचर्य एवं संन्यासके अधिकारी हैं अथवा गृहस्थकेलिये यह विकल्प है अर्थात् वे संन्यासी हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं. जो संन्यासी हो जाय उनको देहाध्याससे मुक्त रहना चाहिये और जो गृहस्थ होकर संन्यास नहीं लेते वे देहाध्याससे मुक्त नहीं रहे तो भी कोई हर्ज नहीं है यह बात उभय ब्राह्मणकी तरह है ।।१५।।

आभासार्थः शंका करते हैं कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसासे कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग सिद्ध ही हैं फिर इस भगवद्यशोगानरूप भक्तिमार्गके

बतानेकी क्या आवश्यकता हैं ? इस पर कहते हैं कि:

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोः अनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम्।
प्रवर्त्तमानस्य गुणैरनात्मनः ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभोः।।१६।।

श्लोकार्थ: जिसका पार नहीं ऐसे ब्रह्मके सुखको सर्व त्याग करनेवाला ही जान सकता है अर्थात् प्राप्त कर सकता है परन्तु जो देह आदिके विषयोंमें प्रवृत्त हैं उनको वह सुख नहीं मिल सकता है अत: उनके उद्धारकेलिए भगवान्की लीलाओंका वर्णन कीजिये।।१६।।

व्याख्यार्थ: निष्काम कर्म मार्गमें आत्मसुख प्रकट होता है. शुकदेवकी तरह सभीका परित्याग करनेवालेको अर्थात् ज्ञानमार्गमें ब्रह्मसुख प्राप्त होता है परन्तु इस समयके लोगोंमें वैराग्यका होना सम्भव नहीं है इसलिये ऐसे लोगोंकेलिये कोई नया प्रयत्न होना ही चाहिये जिससे इन्हें ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो सके. मीमांसाद्वयमें भले ही निष्काम कर्मसे आत्मसुख और ज्ञानमार्गसे ब्रह्मानन्द प्रकट होना कहा है परन्तु उससे क्या हो सकता है क्योंकि इस समयके लोगोंमें वैराग्यका होना संभव नहीं है अतः उनकेलिये भगवद्भक्तिरूप चरित्र कहनेका यह तीसरा मार्ग होना ही चाहिये इस अभिप्रायसे कहते हैं कि कोई कुशल विद्वान् इस देश कालसे अपरिमित भगवान्के सुखको जिसका कि निष्क्रिय स्वरूप है जान सकता है परन्तु वैसे ज्ञानके होनेपर भी भगवान्की नहीं देनेकी इच्छा हो तो उसकी प्राप्ति न होनेसे कार्य सिद्धि नहीं हो सकती इसी बातको 'विभोः'से कहा है तात्पर्य यह है कि वह भगवान् व्यापक है इसलिये उसका सुख भी महान् है अतः सब कोई नहीं जान सकते क्योंकि देहादिके विषयोंमें जिसकी प्रवृत्ति है वह उस सुखको नहीं जान सकता श्लोकके उत्तरार्धमें भी पूर्वार्द्धमें आये 'सुख' पदका सम्बन्ध होता है यहां 'न' पदका अध्याहार होता है इसलिये सुख नहीं जाना जा सकता यह अर्थ होता है अर्थात् श्लोकमें नहीं अर्थवाला 'न' नहीं है तो भी 'न'का अध्याहार होनेसे 'नहीं' यह अर्थ होता है. परन्तु अध्याहार भी दोष है इस अरुचिसे ''अनात्मनो गुणैः प्रवर्तमानस्य निवृत्तितः''की दूसरी योजना करते हैं. अर्थात् देहादिके विषयोंमें लगे हुएका सङ्ग न करनेसे वह ब्रह्म सुख मिल सकता है परन्तु उन विषयासक्तोंको वह कृतार्थ नहीं कर सकता. आप प्रवृत्ति मार्गवालोंकेलिये हैं अथवा प्रवृत्ति मार्गमें रहने वालोंके आप सम्बन्धी हैं क्योंकि आपने उनकेलिये प्रयत्न किया है इसलिये उद्धारकेलिये भगवद्गुणोंको कहना

चाहिये. भगवान् विभु हैं, सर्व समर्थ हैं इसलिये भगवद्गुणोंके वर्णनसे आपके अभीष्टका निर्वाह हो जायेगा ।।१६।।

आभासार्थः इस प्रकार 'अथो महाभाग' इत्यादिसे लेकर 'विचक्षणो अस्य अर्हति' इत्यादि श्लोक पर्यन्त उपक्रम उपसंहारसे यह विधान किया गया कि व्यासजी आपको भगवच्चरित्रका वर्णन करना चाहिए यह निरूपित हुआ. अब उसका दो श्लोकोंसे विचार करते हैं:

त्यक्त्वास्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन् अपक्वोऽथ पतेत् ततो यदि।
यत्र क्व वा भद्रम् अभूद् अमुष्य किं को वार्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः।।१७।।
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद् भ्रमताम् उपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा।।१८।।

श्लोकार्थः देहादि धर्म जो स्वधर्म नहीं हैं उसका परित्याग करके भगवान्के चरण कमलोंका भजन सेवन करता है किन्तु ब्रह्मभावकी प्राप्ति होन पर यह भजन मेरा धर्म नहीं है ऐसा ज्ञान हो जानेसे यदि वह पतित हो जाता है (पुनर्जीव भावको प्राप्त हो जाता है) तो फिर अन्य साधनोंसे उसका भला नहीं हो सकता और यदि भगवान्का भजन न करते हुए केवल अधिकारानुसार वैदिक धर्मोमें प्रवृत्त हैं उसको उन धर्मोंसे क्या प्राप्त होगा. अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह उसी वस्तुकी प्राप्तिकेलिए प्रयत्न करे जो स्थावरसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त उच्च-नीच योनियोंमें भ्रमण करनेपर भी नहीं प्राप्त होती है. लौकिक सुखतो बिना ही चेष्टाके जैसे दुःख प्राप्त होता है उसी तरह कालकी प्रेरणासे पिता-पुत्र-भार्या आदिसे प्राप्त हो जाएगा अतः भगवान्के भजनकेलिए ही प्रयत्न करना चाहिए।।१७-१८।।

सुबोधिनीः शंका करते हैं कि भगवत्कथा किसको सुननी चाहिये? क्या धर्म करनेवालोंको अथवा लोकमें फंसे हुए लोगोंको, कि वा अधर्म करने वालोंको यह सुननी चाहिये तो कहते हैं कि धर्म करनेवालोंके धर्म करते रहनेसे कथा सुननेका अवकाश ही नहीं मिलता. लौकिक व्यक्ति अपने लौकिक कार्य करते रहते हैं इसलिये उनकी कथा सुननेमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती. यदि यह कहें कि अधर्म करनेवालोंको कथा श्रवण करना बताया है तो कहते हैं कि कथा सुननेके दुष्ट लोग अधिकारी माने जायेंगे तो यह खराब शास्त्र माना जायेगा और यहां यह भी नहीं कह सकते कि निवृत्तिमार्गियोंकेलिये है अर्थात् निवृत्तिमार्गीय

इस कथाके सुननेके अधिकारी हैं अन्य नहीं तो कहते हैं कि कथामें सबका अधिकार है केवल निवृत्तिमार्गीयका ही नहीं है.

यदि कहें कि इसमें सर्वाधिकार माननेपर यह कथा हीन मानी जायेगी तो इसे कहना नहीं चाहिये इसपर कहते हैं कि यह कथा धर्म करने वालोंकेलिये है इसलिये उन्हें चाहिये कि धर्मका त्याग करके कथा सुनें जैसा कि ''जन्मान्तर–सहस्रेषु'' इत्यादिमें कहा है. तात्पर्य यह है कि इस वाक्यमें पापक्षय होनेपर भगवद्भक्ति होना बताया है. लौकिक एवं अधर्म कर्ताका तो पापक्षय होता नहीं इसलिये उनका अधिकार न होनेसे केवल धर्म कर्ताको ही अधिकार प्राप्त होता है परन्तु धर्मकर्ताको धर्ममें रत रहनेसे भजनका समय ही नहीं मिलेगा तो वह भी भजन कैसे कर सकेगा तो कहते हैं कि धर्मको छोडकर उसे भजन करना चाहिये. ''तावत् कर्माणि कुर्वीत'' जब तक वैराग्य एवं ज्ञान न हो तब तक धर्म करते रहना चाहिये. वैराग्य एवं ज्ञान होनेपर उसका त्याग कर देना चाहिये इस वाक्यसे जैसे निवृत्तिमार्गीयको धर्म त्याग करना बताया है वैसे ही भक्तिमार्गी केलिये भी कहा है. शंका करते हैं कि धर्म त्याग करनेपर उसमें उच्छृङ्खता आ जायेगी तो कहते हैं कि जो भक्तिमें बाधक काम्य कर्म हैं उनका अथवा चिरकालसे सम्पादित होनेवाले तीर्थ, सत्र आदिका त्याग करके भजन करना बताया है. अतः श्लोकमें आये 'त्यक्त्वा'को विधिरूप समझना चाहिये. न्यासादेशमें तीर्थ आदि धर्मको छोडकर भजन करना चाहिये ऐसा कहा है इसमें कारण यह है कि आत्मधर्म जो भजन है वह ही अपना धर्म है अन्य देहादिके धर्म हैं अथवा उसके अधिकारसे कहे गये वे उसकेलिये परधर्म हैं. जीव भगवान्का दास है इसलिये उसका भगवत्सेवा करना ही स्वधर्म है जैसा कि ''**ब्रह्मदासा ब्रह्मकितवा**'' आदिसे कहा गया है. इसका विस्तृत विवेचन हमने ''**अंशो नानाव्यपदेशाद्**'' इस ब्रह्मसूत्रमें किया है. भक्तिमार्गके अनुसार भगवान्के चरणकी सेवा करना जीवोंका स्वाभाविक धर्म है. यदि कहें कि जीवको दास बताना अंशके अभिप्रायसे है दासके अभिप्रायसे नहीं है तो कहते हैं कि जीव अंश है तब भी उसका धर्म अंशीकी सेवा करना है. जो जीवको अंश नहीं मानते हैं उनको भी यह तो मानना पडेगा कि देहादि–धर्मकी अपेक्षा भगवत्सेवा अन्तरंग है. दूसरे लोग कहते हैं कि अपक्वदशामें भक्त भी गिर जाता है इस पर कहते हैं कि जीव दास है, उसका स्वधर्म भगवत्सेवा है एसी स्थितिमें स्वधर्म पालन करनेसे उसके पतनकी शंका ही

नहीं हो सकती. भक्ति जीवको भगवत्सायुज्य प्राप्त करा देती है तो उसके पतनकी शंका कैसे हो सकती है? भक्ति सायुज्य रूप फल देती है इसलिये भक्ति करनेवालेको पक्व ही मानना चाहिये. यदि कहें कि जीव उपाधिभूत है तो अस्वाभाविक अधिकारसे भजन करनेसे वह अपक्व रहेगा तो कहते हैं कि वह अपक्व भले ही रहे परन्तु भजन करनेसे उसका पतन तो नहीं हो सकता. अब भिन्नरूपसे विचार करते हैं कि जो ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है उसका भगवत्सेवा करना धर्म नहीं है. यदि वह भजन करता है तो उसका पतन होता है अर्थात् फिर उसका जीवभाव होता है उसका भजनसे पतन होता है अन्यसे नहीं. क्योंकि भजनमें सेव्य–सेवक भाव रहनेसे भेद स्फूर्ति होती है इस प्रकार भजन करनेवाला अपक्व रहता है और ब्रह्मभाव समाप्त हो जाता है इस बातको अब दूषित करते हैं कि 'यत्र क्व वा' साक्षात् भगवान्के सायुज्यका कारण जो भगवत्सेवा है उसमें भी पतन मानते हैं तो किस दूसरे साधनसे उसका कल्याण होगा. साधन पूर्वावस्थामें ही किया जाता है. श्लोकमें आया हुआ 'वा' अनादर अर्थमें है अर्थात् भजन नहीं करने वालेका किसी भी साधनके करनेपर कल्याण नहीं हो सकता. जब स्वाभाविक भजन ज्ञान आदि भी पुरुषार्थ साधक नहीं हैं तो अन्य धर्म पुरुषार्थ साधक कैसे हो सकते हैं? इसी बातको ''को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः'' इससे कहा है. जो सेवक नहीं है और केवल देह आदिके अध्याससे प्रवृत्त हुए लौकिक जीव हैं और ब्राह्मण्य आदि अधिकारसे प्रवृत्त हुए वैदिक हैं उनके जो धर्म हैं वे वास्तवमें भगवद्भक्तोंके परधर्म हैं. भजन नहीं करनेवाले लौकिकोंको तथा ब्राह्मण्य आदि अधिकारसे प्रवृत्त वैदिकोंको अन्य धर्मोंसे क्या पुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है और यह भी बात है कि जो भजन न कर अन्य धर्मोंमें रत रहते हैं उनको ब्रह्माण्डमें मध्य स्थानकी प्राप्ति होती है जो कि स्थान ब्रह्माके नहीं रहनेपर समाप्त हो जाता है और उस स्थानको प्राप्त करनेवालेमें स्पर्द्धा असूया आदि दोष नियतरूपमें रहते हैं. यदि कहें कि देहादिके अधिकारसे होनेवाले धर्म भी प्रमाणसिद्ध हैं तो उनके त्यागसे दोष लगेगा तो कहते हैं कि अधिकारी भेदसे दोनों ठीक हैं अर्थात् बहिर्मुखकेलिये देहादि धर्म हैं और अन्तर्मुखकेलिये भगवद्धर्म हैं अतः किसी प्रमाणसे विरोध नहीं आता जिससे वह अशान्त रहता है अतः धर्मज्ञको चाहिये कि वह पर धर्मको अधर्म समझकर छोड दे यही बात ''**विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमाच्छलः अधर्मशाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेद्**''में कही

गई है.

यदि यह मान लेते हैं कि वह गिरता है परन्तु साधनके अनुष्ठानसे वह गिर नहीं सकता. जिस प्रकार खूंटेको हिला हिलाकर गाडनेसे वह मजबूत ही होता है उसी प्रकार भजन करनेवाला वैसी स्थितिसे भी मजबूत होगा. अतः भगवद् भजन करनेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं कहा जा सकता. अब यहांसे ''तस्यैव हेतोः'' इस श्लोकका अर्थ किया जाता है कि यह बात प्रमाण बलके विचारसे अर्थात् साधनोंके विचारसे कही गई है अब प्रमेयबल विचारसे फलके द्वारा निरूपितकी जाती है.

प्रमेयमें पुरुषोत्तम सर्वोत्तम है उसके बाद उसीका दूसरा रूप अक्षर ब्रह्म है जो कि सब ब्रह्माण्ड रूप कार्य करता है उसी अक्षर ब्रह्मका दूसरा रूप जिसको सब अधिकार प्राप्त है वह काल है. कालके अंशभूत कर्म और स्वभाव हैं, दूसरे अक्षर ब्रह्मके रूप यज्ञ हैं और उसीके रूपान्तर प्रकृति पुरुष हैं उन्हींसे तत्त्व हुए हैं और उनसे ब्रह्माण्ड हुआ है. जीव जो हम हैं वे पुरुषके अंश हैं. वे कुछ भी प्रयत्न न करें तब भी प्रलयमें वे पुरुष रूप बन सकते हैं क्योंकि जिससे पैदा होते हैं प्रलयकालमें उसीमें लीन हो जाते हैं. बीचमें वे जीव कालके अधीन होकर झाग और बुद्बुदके समान अनेक भावोंमें परिणत होते हैं. तो बता, मूर्ख! भजनको छोडकर अन्य धर्मोंसे क्या फल प्राप्त होता है? अक्षरसे नीचे जितने भी हैं वे सभी अनित्य हैं और तुच्छ हैं, वे कालके द्वारा अपने आप अपने कारणमें लीन हो जाते हैं तो उसकेलिये क्यों प्रयत्न करना चाहिये. अर्थात् पुनः कारण रूप होनेकेलिये क्यों प्रयत्न करना चाहिये? अतः भगवद्भजन करनेकेलिये ही प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वह कालसे साध्य नहीं है अर्थात् कालके द्वारा भगवद् भजन हो जायेगा, यह नहीं हो सकता. भजन पुरुषोत्तमका होता है. पुरुषोत्तमकी सेवा जो उनके अन्तरंग भक्तों द्वाराकी जाती है वह बाह्य अधिकारीरूप कालसे प्रेरित नहीं हो सकती अर्थात् अन्तरंग भक्तोंका कार्य जो भगवत्सेवा है वह कालके द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि वह कालगम्य नहीं है. भक्तिमें सर्वत्र भगवान्को ही साधन बताया गया है अर्थात् भक्ति भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होती है कालसे नहीं. लोकमें भी हम देखते हैं कि महाराजाका जो अन्तरंग सेवक होता है वह अधिकारीके अधीन नहीं होता. शंका करते हैं कि देह इन्द्रियां कालके प्रवाहमें रहती हैं और उसे वह ग्रहण करता है तो वह भी कालाधीन क्यों नहीं? तो उत्तर देते

हैं कि उन्होंने पुरुषोत्तमको स्वीकार कर लिया है इसलिये उसकी इन्द्रियां पुरुषोत्तमके अधीन हैं कालके अधीन नहीं हैं. अतः ज्ञानीको चाहिये कि भगवान् स्वीकार कर लें इसलिये सब प्रयत्न करना चाहिये. मूर्खोंकी तरह अन्य फलकेलिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये. शंका करते हैं कि लोक वेदसे यह सिद्ध है कि भजन करना चाहिये तो फिर नवीन बातका विधान न होनेसे श्लोकमें आया 'यतेत' यह विधि कैसे हो सकती है क्योंकि अप्राप्त अंशको बतानेवाली ही विधि होती है इस पर कहते हैं कि ''न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः'' ब्रह्मासे लेकर जड पदार्थ तक भ्रमण करनेवाले जीवोंके उस उस शरीरसे अथवा उस उस शरीरके धर्मसे जो प्राप्त न हो सके उसकेलिये प्रयत्न करना ही चाहिये वह है भगवान्के चरणकी सेवा अर्थात् भक्ति धर्मरूप सेवा जो श्रवण-कीर्तन आदि रूप है वह लोक वेद सिद्ध है तथापि स्नेह प्रधान सेवा लोक वेद सिद्ध नहीं है अथवा यों कहिये कि बिना मतलबकी सेवा लोक वेद सिद्ध नहीं है. अतः उसकेलिये 'यतेत' यह विधि है. यद्यपि ज्ञानकेलिये भी ऐसा प्रयत्न किया जाता है परन्तु ज्ञानसे अक्षर ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है पुरुषोत्तमकी प्राप्ति नहीं होती. गीतामें कहा है ''क्लेशोधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्'' अर्थात् अव्यक्त जो अक्षर ब्रह्म है उसमें आसक्त रहने वालोंको महान् क्लेश होता है. शंका करते हैं कि सभी उत्पन्न होनेवालोंका निमित्तकारण अदृष्ट है तो अदृष्ट जो कर्म एवं स्वर्ग आदि फलका अवान्तर-व्यापार रूप है उसे ही भक्तिका जनक क्यों नहीं मान लेते हो तो कहते हैं कि अदृष्ट कर्म जन्म होता है और कालसे सिद्ध होने वालोंमें ही कर्म एवं स्वभाव कार्य करते हैं और जो भक्ति कालसे सिद्ध नहीं होती उसमें कर्म एवं उससे जन्य अदृष्ट भी कुछ नहीं कर सकते अतः अदृष्टसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती. एक बात यह भी है कि अदृष्ट उसे ही कहते हैं जो पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका अवान्तरव्यापार रूप धर्म अधर्म है ऐसी स्थितिमें यहां यह शंका होती है कि वह पूर्व जन्मका कर्म कैसा, क्या भगवान्की प्रसन्नताका कारण अथवा भगवान्की प्रसन्नताका कारण नहीं, यदि मानते हैं कि भगवत्प्रीतिका कारण कर्म अदृष्टको पैदा करता है तो कहते हैं कि दृष्ट कर्मसे ही भक्ति होती है तो ऐसी दशामें अदृष्टको कारण माननेकी क्या आवश्यकता? अदृष्टको जन्मान्तरमें फल मिलनेकेलिये मानना पडता है परन्तु यहां तो भगवान्के समर्पित कर्म ही भगवान्की प्रीतिके कारण बन जाते हैं, क्योंकि ''**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'' इस

भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्म करनेसे भगवान् स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं तो अदृष्टको मध्यमें कारण मानना ठीक नहीं है और यह भी कहना युक्त नहीं है कि अदृष्टको कारण नहीं माननेपर कदाचित् फल विपरीत हो सकता है तो कहते हैं कि आज्ञानुसार कर्म होता है इसलिये फलकी विपरीतता कभी सम्भव नहीं है, यदि कहें कि भगवान्‌की अप्रीतिके कारण कर्मसे अदृष्ट पैदा होता है तो कहते हैं कि उस अदृष्टका फल भक्ति (प्रीति) नहीं है तो भक्तिकेलिये अदृष्ट रूप व्यापारकी अपेक्षा है यह कहना ठीक नहीं है. एक बात और भी है कि एक कर्म दूसरे कर्मको पैदा करता रहता है अर्थात् कर्मकी परम्परा समाप्त नहीं होती तो उनके फल भोगार्थ जन्म लेते ही रहना पडेगा ऐसी स्थितिमें ऐसा जन्म कोई नहीं होगा जिस जन्मके बाद दूसरा जन्म न लेना पडे ऐसी दशामें उसकी भक्ति कभी नहीं होगी और यह तो सिद्ध है क़िअन्तिम जन्ममें ही पूर्ण भक्ति होती है और उस भक्तिके होनेके बाद दूसरा जन्म नहीं होता अर्थात् उस भक्तिसे मोक्ष हो जाता है इसलिये उसे पुनः जन्म नहीं लेना पडता. भक्ति केवल भगवान्‌के प्रसाद(कृपा)से ही प्राप्त होती है इसलिये वह अन्तिम जन्ममें ही होती है जैसे भक्तिवालेको कहा है कि ''स एष साधो परमो भवानां'' आपका यह जन्म सब जन्मोंमें अन्तिम है. शंका करते हैं कि यदि भक्ति कालादिसे पैदा नहीं होती तो ज्योतिषका ग्रन्थ जो जातक है उसमें यह बताया नहीं जाता कि शुभ ग्रहोंसे भगवान्‌में प्रीति होती है और वैकुण्ठसे आना जाना होता है इससे ज्ञात होता है कि भक्ति कालसे पैदा होती है इस पर कहते हैं कि श्रवण कीर्तन आदि जो विहित भक्ति है वह ही शुभग्रहोंसे ज्ञात हो सकती है प्रेम सेवा तो भगवत्कृपासे ही होती है इसलिये उसका ज्ञान शुभग्रहोंसे नहीं हो सकता अतः काल एवं अदृष्टसे पैदा नहीं होनेवाली भक्तिकेलिये प्रयत्न करना चाहिये. यदि कहें कि लौकिक सुख हो और दुःख न हो इसकेलिये भी प्रयत्न करना चाहिये तो कहते हैं कि वे लौकिक सुख एवं दुःखाभाव समय आनेपर अपने आप सिद्ध हो जाते हैं तो उनकेलिये प्रयत्न करना व्यर्थ है. जैसे काल पाकर दुःख अपने आप हो जाता है वैसे ही ये भी हो जायेंगे अतः यह सिद्ध है कि देह प्राप्त होनेपर उनका उपभोग स्वतः सिद्ध है तो जैसे पीसे हुएका पीसना व्यर्थ है इस प्रकार उनके उपभोगकेलिये प्रयत्न करना व्यर्थ है. यदि कहें कि सुखकेलिये पिता पुत्र एवं भार्याको अनुकूल करनेकेलिये तो प्रयत्न करना चाहिये तो कहते हैं कि उनका भी प्रेरक काल है अर्थात् वे भी समय पाकर

अनुकूल हो जायेंगे. और वह काल यत्न साध्य नहीं है. यदि कहें कि देश स्वतन्त्ररूपसे साधन बन जायेगा यह भी ठीक नहीं वह देश भी तो काल ही के अधीन है यदि देशको भी काल ही के समान मानलें तो भी दोनोंका सहभाव नियत रूपसे रहेगा. उसीको 'सर्वत्र' पदसे बताया है. गम्भीर वेग होनेके कारण कालका प्रतिकार कोई कर नहीं सकता इसलिये भगवान्के भजनकेलिये प्रयत्न करना चाहिये ।।१७-१८।।

आभासार्थ: भक्तिकेलिए ही प्रयत्न करना चाहिए. इसमें बाधक निवर्तक तर्क देते हैं कि:

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेद् मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनः विहातुम् इच्छेन् न रसग्रहो यतः।।१९।।

श्लोकार्थ: कभी किसी प्रकार मुकुन्दकी सेवा करनेवाला मनुष्य, हे अंग! दूसरेकी तरह संसृतिको प्राप्त नहीं करता जिसने पूर्वजन्ममें मोक्ष देनेवाले प्रभुका स्मरण आलिङ्गन किया है उसे स्मरण करता हुआ वह फिर भक्तिमार्गको नहीं छोडना चाहता. क्योंकि वह स्वादपूर्वक भजन कर रहा है जिसमें आनन्द अनुभव होता है उसे कभी नहीं छोडता।।१९।।

सुबोधिनी: बाधकको स्पष्ट करते हैं कि वैकुण्ठमें गये हुए भी जय विजय आदिका भी शापवश पुनः आगमन सुना गया है. अतः एकान्ततः (एकदम) भक्ति फलका साधन नहीं है. यदि भक्ति फलकी साधिका होती तो जय विजय आदिका पुनः यहां आगमन नहीं होता और एक बाधक यह भी है कि भगवान् जब अवतार लेते हैं तब भक्त भी आते हैं ऐसा सम्भव है. अर्थात् उनका यहां आना निवृत्त नहीं होता और उनके कालके अधीन होनेसे कालसे बुद्धिमें वैपरीत्य आनेपर भगवान्का अपराध होना सम्भव है. इसलिये मानिये कि धर्म (यश यागादिक)की तरह भक्ति भी उत्कृष्ट फल देनेवाली नहीं है. क्योंकि उससे जन्म मरण नहीं मिटते. इस पर कहते हैं कि 'न वै जनो जातु' अर्थात् भगवद्भक्त कभी इधर नहीं आता. अर्थात् जन्म मरणको प्राप्त नहीं होता . ''तुष्यतु दुर्जन-न्याय''से संसृतिको प्राप्त करनेकी बात स्वीकार करके 'न वै जनो जातु'से निषेध किया गया है. वास्तवमें जय विजयको धर्ममार्गके अनुसार कृत्रिम वैकुण्ठकी प्राप्ति हुई थी. अतएव वही कहा गया है कि ''**ये निमित्त-निमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्**'' ''**वैकुण्ठकल्पितो येन**'' अर्थात् वहांके लोग हरिका आराधन धर्मसे करते हैं

और वह वैकुण्ठ भगवान्का बनाया हुआ है. तात्पर्य यह है कि कृत्रिम वैकुण्ठवाले भक्तिमार्गके अनुसार आराधन न कर धर्ममार्गके अनुसार करते हैं. अतः उनका पुनरागमन सम्भव होता है. अब रही भगवान्के साथ भक्तोंके आनेकी बात सो तो उनका आना परमानन्दरूप होनेसे फलरूप ही है. भगवान्की सेवा करनेवाले साधारण ही जडभरत आदि जिस प्रकार पुनः जन्म लेते हैं उस प्रकार भक्तके भी पतनकी सम्भावना है. इसका परिहार करते हैं कि सबको मोक्ष देनेवाले मुकुन्दकी सेवा करनेवाला असेवककी तरह संसृतिको प्राप्त नहीं करता. जैसे कोई सत्यवादी ब्राह्मण था. जिसका सत्य बोलनेका नियम था उसे चोरोंने पूछा. तेरे साथी कहां गये? तो उसने छुपे हुए साथियोंको बता दिया जिससे चोरोंने उनको लूट लिया और मार डाला यह बात भगवान्ने अर्जुनको महाभारतके उद्योगपर्वमें कही है.

जैसे वह ब्राह्मण सत्यसे गिरा, वैसे ही भगवान्के सेवक भी भगवान्के अपराधसे गिर सकता है. जैसे जडभरत गिरे. यदि भक्ति सत् फल ही देनेवाली होती तो भक्ति करनेवाला भरत नहीं गिरता गिरा है! इसलिए भक्ति एकान्ततः फलसाधिका नहीं है. इसका परिहार करनेकेलिये तर्क देते हैं कि मुकुन्दका सेवक असेवककी तरह संसृतिको प्राप्त करे तो वह संसृतिको कभी भी नहीं छोडना चाहता. परन्तु भक्त संसारको छोडना चाहता है इसलिए भक्ति फल देनेवाली ही है. इसलिए भक्त और दूसरोंके विचारोंमें भेद होता है. भक्तके पतन न होनेमें कहते हैं कि 'स्मरन्' अर्थात् वाणी और शरीरसे सेवा नहीं करता है तो भी जैसे कामुक कामिनीका स्मरण करता है उसी प्रकार पूर्व जन्ममें हुआ जो परमानन्दरूप चरणका आलिङ्गन उसको इस जन्ममें स्मरण करते हुए भरत आदि भक्त जिससे भगवच्चरणारविन्द छूट जाय ऐसा साधन कभी भी नहीं करते हैं. उदाहरणकेलिये कहते हैं कि भरत जब हरिण बने तो उन्होंने अपनी माता आदिको छोड दिया. उनकी इच्छा भी नहीं थी. परन्तु भक्तिमार्गको नहीं छोडा. क्योंकि उन्होंने उसे आनन्दानुभवके साथ ग्रहण किया था. भगवान्की कृपा न होनेपर भी भक्तिमार्गकी यह विशेषता है कि उसे कोई छोडना नहीं चाहता ।।१९।।

आभासार्थः इस प्रकार मुक्तिसे भगवन्मार्गकी उत्कृष्टताका प्रतिपादन कर भगवान्के दुर्लभ होनेपर उनके चरित्रका अत्यधिक होना एवं कहना ठीक नहीं है इसलिए भगवान् कौन हैं? इस आकांक्षाकी पूर्तिकेलिए और ''आचार्यवान्

पुरुषो वेद'' इस शास्त्रके अर्थकेलिए भगवान्का निरूपण करते हैं

इदं हि विश्वं भगवान् इवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्।।२०।।

श्लोकार्थ: अर्थ निश्चय करके यह भगवान् है भगवान्की तरह है और भगवान्से पृथक् है क्योंकि इसीमें जगत्की स्थिति एवं लय है, इसीमें उत्पत्ति है. इस बातको हे वेद व्यासजी! आप स्वयं जानते हैं. आप ब्रह्म हैं तब भी गुरुकी अपेक्षा होनेसे तुम्हें प्रादेश मात्र बताया है जैसे प्रादेशके दिखानेपर उससे दुगुना तिगुना हाथ आदि होता है यह समझ लिया जाता है इसी प्रकार भगवान् जगतके कर्ता हैं यह जान लेनेपर उसमें सर्वेश्वरत्वादि धर्म हैं यह जान लिया जाता है।।२०।।

सुबोधिनी: भगवान्के स्वरूप एवं चरित्रका निरूपण करना है. चरित्र एवं स्वरूपको अभिन्न रूपसे कहना है. यदि चरित्र भगवद्रूप नहीं माना जाता है तो भगवदतिरिक्त भावना होनेसे संसार होगा इसलिये चरित्र एवं स्वरूपको अभिन्न रूपसे निरूपण करते हैं 'इदं विश्वं भगवान्' यह विश्व भगवान् है इसमें विश्वको उद्देश कर भगवत्वका विधान किया गया है ऐसा माननेपर सर्वत्र भगवान्को ही देखेगा और उससे कृतार्थ हो जायेगा इसलिए कार्यरूप प्रपञ्चक भगवद्रूप कहा है. श्लोकमें आया हुआ 'हि' शब्द निश्चय अर्थको बताता है. अर्थात् ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्'' यह सब कुछ निश्चय रूपसे ब्रह्म है. उसीसे पैदा होता है, उसीमें लीन होता है तथा उसीसे सुरक्षित रहता है. यह श्रुति सबको ब्रह्म रूप कहती है इसलिए निश्चय करके सभी भगवद्रूप हैं.

इस श्लोकमें उत्तम मध्यम एवं अधम अधिकारीके भेदसे तीन प्रकारसे निरूपण किया गया है. उत्तमाधिकारीकेलिये यह सब कुछ भगवान् हैं यह कहा गया है. मध्यमाधिकारी इस प्रकार मानता है कि यह विश्व भगवान्की तरह है भगवान् नहीं है. भगवान्की तरह होनेसे इस विश्वका सम्मान आदि करना चाहिये. आसक्ति नहीं करनी चाहिये. अधमाधिकारी जो 'निकृष्ट' शब्दसे भी कहा जाता है वह विश्वको भगवान्से पृथक् देखता है अतः भगवान्को न देखकर प्रपञ्चको ही देखता है जो भगवान्से पृथक् देखता है उसका मुख बाहर होनेसे वह बहिर्मुख है और भ्रष्ट हो जाता है. इस प्रकार सर्वत्र तीन प्रकारसे निरूपण करना चाहिये. शंका करते हैं कि एक जगत् तीन रूपसे कैसे माना जा सकता है? इस पर

कहते हैं कि ''यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः'' जगत्की स्थिति भगवान्में ही है, जगत्में भगवान् ही हैं, भगवान् जगत्के आधार हैं इसलिये भगवान् ही जगत् हैं. यह श्लोकमें आये हुए 'स्थान' पदसे बताया है. मध्यमाधिकारी जगत्को भगवान्की तरह मानता है भगवद्रूप नहीं मानता इसका सूचक यहां 'सम्भव' पद है. अर्थात् जगत् भगवान्से पैदा होता है. जगत् कार्य है और भगवान् कारण हैं. कार्य कारणका तादात्म्यसम्बन्ध होनेसे कर्तव्यरूपसे जगत् ब्रह्मसे भिन्न है और कारण रूपसे अभिन्न है. भेदको सहन करते हुए भी अभेद रहना तादात्म्य कहलाता है ''भेदसहिष्णुरभेदः तादात्म्यम्'' इस वचनसे जगत्को भगवान्की तरह कहा है परन्तु जो मूर्ख हैं वे तो ऐसा समझते हैं कि भगवान् तो प्रलय करते हैं और प्रलय होता है. इस जगत्का इसलिये भगवान् और जगत् भिन्न भिन्न हैं. इतर लोगोंका कहना यह है कि भगवान् सनातन हैं और यह जगत् अशाश्वत् है अथवा ''इदं हि विश्वो भगवानिवेतरः'' इसके द्वारा पूर्वमें भगवान्के चरित्रका निरूपण किया. अब ''यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः'' इससे भगवान्का निरूपण करते हैं. इस तरह अर्थ भेद और अधिकारीभेदसे संक्षेपसे निरूपण करके यह गुप्त है इसलिये इसका विवरण नहीं करना चाहिये. नारदजी कहते हैं कि इस पूर्वोक्त विषयको आप स्वयं ही जानते हैं इसके जाननेकेलिये गुरुकी आवश्यकता नहीं है इसे ''तद्धि स्वयं वेद भवान्'' इससे बताया है अथवा वह जगत् स्वयं आप हैं इसलिये आप जानते हैं तब तो ब्रह्माका उपदेश व्यर्थ है? इसपर कहते हैं ''तथापि वै प्रादेशमात्रं'' ब्रह्मा होनेपर भी प्रमाणबलकेलिये निश्चय रूपसे गुरुका उपदेश अपेक्षित है. वहां लौकिक परिमाण (नाप)में प्रादेश (नाप)के बता देनेपर जैसे उसका दुगुना हाथका नाप होता है इसे जान लेते हैं उसी तरह वह ब्रह्म जगत्का कर्ता है ऐसा जान लेनेपर वह ईश्वर सर्वेश्वर आदि है ये भी जानलिये जाते हैं अथवा प्रकृष्ट आदेश उपदेश होता है इसलिये मैंने (नारदने) गुप्तरूपसे तुम्हारे (व्यासजीके)केलिये उतने मात्र शास्त्रार्थका निरूपण प्रकृष्टरूपसे कर दिया है. इससे यह सूचित होता है कि, है तो यह गूढ किन्तु इसका प्रदर्शन तुम स्पष्टकी तरह करो यह ही उपदेश है ।।२०।।

आभासार्थः वेदव्यासजी! आप अपने अवतारका प्रयोजन जानें कि आप किस लिए अवतीर्ण हुए हैं स्वयं भगवान्ने अवतार लेकर सब भक्तोंके उद्धारकेलिए अपना स्वरूप जताना है अतः ज्ञान कलारूप आपको अवतरित

किया है यदि आप भगवच्चरित्र न कहेंगे तो आपका अवतार ही निष्प्रयोजन हो जायेगा इसलिए भगवान्की इच्छासे तुम्हारे अन्त:करणमें खेद हो रहा है. अत: भगवच्चरित्रका निरूपण कर भगवान्की आज्ञाका पालन करें और अपने जन्मको सफल करें. इस बातको कहते हैं कि:

त्वमात्मनात्मानम् अवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन् महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम्।।२१।।

श्लोकार्थ: आप अपनेसे स्वयंको पुरुषोत्तमकी कला समझें. आप अजन्मा होते हुए भी जगत्के कल्याणकेलिए प्रकट हुए हैं इसलिए बडे प्रभाववाले भगवान्के चरित्रको ज्ञान भक्तिसे अधिक रूपमें बताते हुए निरूपण करें।।२१।।

सुबोधिनी: तुम अपनेको परं पुरुषकी कला जानो. ''तत्त्वमसि श्वेतकेतो''से जैसे जीवको ब्रह्म रूपसे बताया है उस रूपसे मैं आपको ब्रह्मरूपसे नहीं बता रहा हूं किन्तु कलाके रूपमें बता रहा हूं. इस ज्ञान होनेका साधन आपका जाना हुआ स्वरूप ही है अर्थात् आप अपने स्वरूपको जान लेंगे तो ज्ञान अपने आप हो जायेगा.

आप सत्य दृष्टा हैं इसलिये आपमें यह सामर्थ्य है शंका करते हैं कि सभी जीव भगवान्के अंशकलारूप हैं तो मेरेमें क्या विशेषता है? तो कहते हैं कि आप पुरुषोत्तमकी कला हैं. अन्य जीव अक्षर एवं पुरुषकी कला हैं. शंका करते हैं कि अक्षर एवं पुरुष भी भगवान् हैं तो उनसे पैदा होनेवाले जीवोंमें और मुझमें क्या विशेषता है इसपर कहते हैं कि 'परमात्मनः' परम आत्मारूप पुरुषोत्तमकी आप कला हैं. जैसे गंगाजल एवं उसके आधिदैविक स्वरूपमें तारतम्य है वैसे ही अक्षरपुरुष और पुरुषोत्तमके स्वरूपमें भेद है. यदि आप कहें कि मैं जब पुरुषोत्तमकी कला हूं तो मेरी उत्पत्ति कैसे हुई क्योंकि पुरुषोत्तमकी कला तो जन्म लेनेवाली नहीं होनी चाहिये. इस पर कहते हैं कि 'अजं प्रजातम्' आप अनुत्पन्न होनेपर भी केवल आनन्दरूप हाथ, पैर, मुख, उदरवाले व्यासरूपसे अवतीर्ण हुए हो. अर्थात् आपका जन्म नहीं है किन्तु अवतार है. व्यापी वैकुण्ठसे आगमन है. अतः सभी जगत्को शान्त सुख मिले एतदर्थ महानुभाव भगवान्के चरित्रको अधिकरूपसे निरूपण करें. भगवान्के चरित्र भक्तोंके सम्बन्धियोंमें भी परम प्रभाव दिखाते हैं इसलिये वह परम उत्सवरूप है. श्लोकमें आये हुए 'अधि' शब्दका अर्थ आधिक्य है. अर्थात् ज्ञान आदिसे भी भगवच्चरित्रका माहात्म्य

ज्यादा है. इसलिये ज्ञान कर्म आदि चरित्रका महत्त्व बतायें. वाणी मनका विषय न होनेसे भगवच्चरित्र ऐसा ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता. अतः निर्देश मात्र ही करें ।।२१।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि भगवान्के चरित्रका उपदेश तो देना है परन्तु साथमें धर्मका भी निरूपण करना है या नहीं इसका उत्तर देते हैं कि:

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्।।२२।।

श्लोकार्थ: मनुष्य भगवच्चरित्रके सुननेसे तप, वेदान्त, श्रवण, यज्ञ, अध्यापन, बुद्धि एवं दानका फल पूरा प्राप्त करता है यह कवियोंने निरूपण किया है।।२२।।

सुबोधिनी: यह भगवच्चरित्र सुनना तप आदिके समान है क्योंकि चरित्रका फल स्वरूप एवं साधन भगवद्रूप ही है. सब सुनने वालोंकेलिये स्वरूप, साधन एवं फल भगवान् ही हैं. वर्ण एवं आश्रमोंमें जो धर्म होता है वह धर्म विशेष है. जैसे वानप्रस्थ और संन्यासी तप करते हैं अथवा यों कहिये कि संन्यासी वेदान्तोंका श्रवण करते हैं. गृहस्थ यज्ञ करता है, ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता है, क्षत्रिय बुद्धि देता है, वैश्य दान देता है. इस प्रकार ऊपर कहे गये सब धर्मोंसे जो फल मिलता है वह सम्पूर्ण फल भगवच्चरित्रसे भी मिलता है. किसी फलकी कमी नहीं रहती. यदि कहें कि शास्त्रसे सिद्ध है तो भी लोक सिद्ध तो नहीं है तो कहते हैं कि 'कविभिः' अर्थात् ज्ञानियोंने युक्ति सहित ऐसा निरूपण किया है. श्लोकसे भगवान्के गुण वर्णनका अनुवाद कर अविच्युत अर्थका विधान किया गया है अर्थात् भगवान्के गुण वर्णनसे तप वेदान्त श्रवण यज्ञ वेदाध्ययन आदि सबका पूरा पूरा फल मिल जाता है. इससे सिद्ध हुआ कि एक मात्र चरित्रके सुननेसे ही अब सब फल मिल जाता है तो तप आदि अलग करना आवश्यक नहीं है. नहीं करना यह भी नहीं कहा है परन्तु निषिद्ध कर्मको तो नहीं करना चाहिये ।।२२।।

आभासार्थ: इस प्रकार सामान्य रूपसे उपदेश देकर प्रारम्भिक साधनसे लेकर फल प्राप्ति पर्यन्त पदार्थोंके क्रमको बतानेकेलिए दृष्टान्त रूपसे अपने चरित्र १७ श्लोकोंसे नारदजी कह रहे हैं:

अहं पुरातीत–भवे–ऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ।।२३।।

श्लोकार्थ: हे मुने! पूर्व कल्पमें होनेवाले पूर्व जन्ममें वेदवादी ब्राह्मणोंकी दासीसे मैं उत्पन्न हुआ था. मैं चातुर्मास्यमें एकत्र निवास करनेकी इच्छावाले योगियोंकी सेवामें नियुक्त किया गया।।२३।।

सुबोधिनी: भक्तिमार्गसे ही अत्यन्त हीन प्राणी अत्यन्त उत्कृष्ट पद प्राप्त कर सकता है. दूसरे मार्गसे नहीं. इसलिये नारदजी शापसे पूर्व जन्ममें शूद्र हो गये थे. उनके देवर्षि होनेका निरूपण करते हैं. श्लोकमें आये हुए 'अतीतभवे'का अर्थ है पूर्व जन्म. अर्थात् इस जन्मसे पहलेके जन्ममें. यह बात इसलिये कही कि यह निकटकी बात नहीं है. 'पुरु'का अर्थ यह है कि यह जन्म मेरा वृद्धावस्था एवं मृत्युसे मुक्त है. नारदजीने वेदव्यासजीको 'मुनि' शब्दसे सम्बोधित कर यह बताया कि आप मनन करनेवाले हैं इससे मननके द्वारा मेरा कहना ठीक है यह विश्वास कर लेंगे. श्लोकमें नारदजीने अपने पिताका नाम नहीं बताया. क्योंकि कालके होनेसे पूर्व जन्ममें पिताका नाम ज्ञात नहीं था या पिता हीन थे इसलिये उनका नाम नहीं लिया. वास्तवमें तो इनके पिता ब्राह्मण थे ब्राह्मण न होते तो ऋषि लोग उच्छिष्ट देनेका अनुमोदन नहीं करते. 'कस्याश्चन'का अभिप्राय है कि वह माता अप्रसिद्ध थी. यदि नाम लेते तो उसका आदर होता और आदरसे बन्धन हो जाता. इससे यह बताया कि भक्ति मार्गमें जैसे जैसे आदरकी भावना नहीं होती वैसे वैसे कार्य सिद्ध होता रहता है. 'वेदवादिनः'का अर्थ है वेदपाठी ब्राह्मण (परमहंस) थे. इससे यह सूचित हुआ कि वेदपाठी तो थे परन्तु भगवन्मार्गका परिज्ञान नहीं था. आश्रमवालोंमें जो संन्यास आश्रमवाले हैं उनका यह धर्म है कि आठ महीने पर्यन्त कीडेकी तरह भ्रमण कर आषाढी पूर्णिमामें जहां पहुंचे वहां ब्राह्मणसे बनाये गये एकान्त स्थानमें रहते हैं. इसलिये दैवयोगसे आगे सनकादि बननेवाले चार परमहंस मेरी प्रार्थनासे और ब्राह्मणोंकी आज्ञासे मेरे निवास स्थानमें रहे. चारोंका एक ही धर्म एवं एक ही स्वभाव था इसलिये चारोंका संग था. वे योग साधन करनेवाले थे. योगमें रत रहनेके कारण उन्हें अन्य कार्यकेलिये सेवककी आवश्यकता थी. वहांके ब्राह्मणोंने मुझे कहा कि इन्हींकी सेवा करो. और कुछ मत करो. इस प्रकार मैं सेवामें लग गया. ब्राह्मणोंने मेरे स्वरूपको न जानकर मुझ बालकको ही उनकी सेवामें लगा दिया. आनेवाले परमहंसोंने कहा कि हम चार महीने यहीं रहेंगे. चार महीने पर्यन्त एक स्थानपर ही निवास करना चाहते थे. इस एक श्लोकसे नारदजीको सत्पुरुषोंका सम्बन्ध हुआ यह कहा गया,

सेवाकेलिये पहला साधन सत्संग है यह स्पष्ट बताया गया ।।२३।।

आभासार्थ: उसके बाद उन परमहंसोंकी मेरेपर कृपा हुई यह बात कहते हैं:

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोल्पभाषिणि ।।२४।।

श्लोकार्थ: सम्पूर्ण चपलतासे मुक्त बालक, इन्द्रिय दमन करनेवाले, खिलौनेसे नहीं खेलनेवाले, परमहंस जिस प्रकार प्रसन्न रहे वैसी सेवा करनेवाले, मितभाषी, सेवा करनेवाले मुझपर समदर्शी होनेपर भी उन मुनियोंने कृपाकी।।२४।।

सुबोधिनी: सत्पुरुषोंमें एवं सेवकोंमें कौनसे गुण होने चाहिये और कौनसे दोष नहीं होने चाहिये इसका निरूपण करते हैं. सत्पुरुषोंमें दयालुता, ब्रह्मज्ञान और मनन ये तीन गुण होते हैं. दयालुता धर्म है, ब्रह्मविद्या ज्ञान है और मनन साधन है. आगे ज्ञान रहे इसलिये भगवान्के गुण–गान साधनरूपसे कहा गया है. सेवकमें तीन दोष नहीं होने चाहिये और चार गुण होने चाहिये. चपलता दोष है. वह चपलता देह इन्द्रिय अन्तः करणोंके प्रयत्नोंमें दृढता न होनेसे होती है. यह सहज दोष है. पहले इस दोषको बडे प्रयत्नके साथ मिटाना चाहिये. इसी बातको कहते हैं कि मुझसे सम्पूर्ण चपलताएं दूर हो गईं. मेरे बालक होनेसे मुझमें दैन्य गुण था. बालकमें दीनता स्वाभाविक है. अब दो दोषका नहीं रहना कहते हैं. मेरी इन्द्रियां विषयोंकी आकांक्षा नहीं करती थीं इसलिये इन्द्रियोंका दमन था. मैं खिलौनेसे नहीं खेला. इस प्रकार ये दो दोष नहीं थे. इन्द्रियोंका दमन नहीं होना यह नियत दोष है इसी प्रकार खिलौनेसे खेलना कालकृत दोष है. इन दोनों दोषोंसे मैं मुक्त था. अर्थात् मेरी इन्द्रियां विषयोंका सम्बन्ध नहीं चाहती थीं और मैं खिलौनेसे भी नहीं खेलना चाहता था. इन्द्रिय एवं अवस्थाके दोष नहीं होते हैं तो सब दोषोंकी निवृत्ति समझना चाहिये. अब सेवकके अन्तरङ्ग गुण कहते हैं. 'अनुवर्तिनि' जैसे वे प्रसन्न रहते वैसी सेवा की. इस प्रकार चपलता नहीं होना, दीनता होना, इन्द्रिय दमन, खिलौनेसे नहीं खेलना. उनकी इच्छानुसार सेवा करना इन पांच बातोंके सम्पन्न होनेपर, मेरे दुःख मिटानेकी उनकी इच्छा हुई. दूसरेके दुःखको देखकर दुःखित होनेवाले दयालुकी यह इच्छा होती है कि उसके दुःखके कारणको ही मिटाया जाय.

शङ्का करते हैं कि ब्रह्मज्ञानी निर्दोष एवं समदृष्टिवाले होते हैं इसलिये मेरेपर विशेष कृपा क्यों हुई? इस पर कहते हैं कि 'यद्यपि तुल्यदर्शनाः' ब्रह्मज्ञानसे अपने परायेके सुख दुःखका ज्ञान समान होता है. तथापि मेरे दुःखको देखकर उनके मिटानेकी ही इच्छा हुई. समानतारूपी विरोधी ज्ञान उनको नहीं हुआ. इच्छाका मूलभूत ज्ञान है. अर्थात् ''जानाति इच्छति यतते' यह क्रम है. पहले जानता है फिर इच्छा करता है फिर उसकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करता है. यह परमहंसोंकी इच्छाका मूलभूत ज्ञान दुर्बल हो गया. तात्पर्य यह है कि समत्व ज्ञान करानेवाला ब्रह्मज्ञान दुर्बल हो गया और दूसरेके दुःखोंको मिटानेकी इच्छा प्रबल हो गई. कहते हैं कि कृपा तो हुई किन्तु उससे कार्य नहीं हुआ होगा.क्योंकि ब्रह्मज्ञान बाधक था. तो कहते हैं कि 'शुश्रूषमाणे' मैं सेवा करता था. इच्छा पूर्वक जो सेवा होती है उससे सेव्य वशमें हो जाता है. यदि कहें कि जिनकी आप सेवा कर रहे हैं वह सेवा उन्हें अपेक्षित न हो तो वे उस सेवासे कैसे वशमें हो सकते हैं इसपर कहते हैं कि 'मुनयः' वे मनन करनेवाले थे. यदि स्वयंका कार्य वे स्वयं करते तो मननमें बाधा होती इसलिये उनको सेवा करनेवालेकी अपेक्षा थी. सेवामें बहुत बोलना अथवा बिलकुल नहीं बोलना यह सांसर्गिक दोष है. इन दोनों दोषोंको मिटानेवाला गुण मित भाषण है. इसलिये कहा गया कि दोष रहित सेवा भक्तिमार्गका दूसरा साधन है ।।२४।।

आभासार्थ: उसके बाद जो हुआ उसे कहते हैं:

उच्छिष्टलेपाद्यनुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसः तद्धर्म एवात्मरुचिर्व्यजायत।।२५।।

श्लोकार्थ: उच्छिष्ट जो पात्रमें लगा हुआ था, उसे ब्राह्मणोंके अनुमोदन करनेपर मैं एक बार खाता था जिससे मेरे सम्पूर्ण पाप दूर हो गये और इस प्रकार निरन्तर करनेपर मेरा चित्त शुद्ध हो गया और उन ब्राह्मणोंका अपरिग्रह (दान नहीं लेना), किसीका संग न करना और भगवच्चिन्तन करना आदि जो धर्म थे, उनमें मेरी रुचि हो गई।।२५।।

सुबोधिनी: सेवासे भी पापनाश एवं भगवद्धर्ममें रुचि होना अन्तरङ्ग साधन है. श्लोकमें आये हुए 'उच्छिष्ट' शब्दका अर्थ है भोजनका शेष अर्थात् जो भोजन करनेके बाद बाकी रहता है वह 'उच्छिष्ट' पदसे यहां लिया गया है. 'लेप'का तात्पर्य पात्रमें लगा हुआ. अर्थात् भोजनसे शेष रहा जो पात्रमें लगा हुआ

था उस चारों परमहंसोके उच्छिष्टको एकत्रित कर एक बार लेनेसे पाप नाश होता है. मैंने वैसा ही किया इसलिये पाप नहीं रहे और उनके धर्ममें रुचि हो गई. कहते हैं कि ''न शूद्राय मतिं दद्याद् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्'' शूद्रको ब्रह्मज्ञान उच्छिष्ट एवं हविकेलिये बनाई गई वस्तु नहीं देनी चाहिये. यह मनु वाक्य है. तो दासी पुत्र होनेसे उच्छिष्ट आदि कैसे दिया. इस पर कहते हैं कि मेरी इच्छा हुई कि महापुरुषोंका उच्छिष्ट अति पवित्र शुद्ध सत्त्वगुणवाले अन्नसे अपनेको पवित्र करें इसलिये उनके उच्छिष्टको देखकर प्रसन्नता हुई. मेरे प्रार्थना करनेपर उन्होंने अनुमोदन मात्र किया. स्वयं अपनी इच्छासे नहीं दिया.

और एक बात यह भी थी कि यह ब्राह्मणकी सन्तान होनेसे सर्वथा शूद्र नहीं थे. इसलिये उच्छिष्ट देना अनुचित नहीं था. महात्माओंका उच्छिष्ट लेना गृहस्थोंका तथा साधारणोंका धर्म है. अनुग्रह मार्गमें स्नेहपूर्वक सेवा होती है. स्नेहपूर्वक सेवा होना कृपाका फल है. जैसे औषधसे अजीर्णकी निवृत्ति होती है वैसे ही अन्नमय देहके स्थानपर उच्छिष्ट अन्नके खानेसे जो देह बनता है उससे दोष परम्पराकी निवृत्ति होती है इसीको कहा है कि 'तदपास्तकिल्बिषः' केवल उच्छिष्ट खानेके नियमसे दोष निवृत्ति होती है यह लोक प्रसिद्ध है. इसी प्रसिद्ध अर्थका ही श्लोकमें आया हुआ 'स्म' पद कहता है. रुचि पैदा करनेवाली वस्तुसे जैसे अरुचि निवृत्त होती है वैसे ही सद्धर्ममें रुचि होनेसे प्रतिबन्धक दोष निवृत्त हो गये और स्वतः सद्धर्ममें रुचि हो गई. 'प्रवृत्तस्य'का अभिप्राय यह है कि निरन्तर मैंने ऐसा किया इससे मेरा चित्त शुद्ध हो गया. इसी बातको श्लोकमें आये 'विशुद्धचेतसः'से कहा गया है. दान नहीं लेना, किसीका संग नहीं करना एवं भगवच्चिन्तन करना आदि परमहंसोके धर्म हैं. उनमें मेरी रुचि बिना प्रेरणाके हो गई और बढी. जैसेके पास रहता है वैसा बन जाता है यह न्याय सिद्ध है. इसी बातको कहनेकेलिये श्लोकमें आये 'व्यजायत' ऐसा लङ्-(लकार)का प्रयोग किया गया. श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जिसको जिससे गुण प्राप्त होता है उसकी उसमें रुचि होती है यह लोक न्याय सिद्ध बात है इसलिये यहां 'प्रजायते' इस लट्(लकार)का प्रयोग किया गया है. ऐसा न मानते तो 'व्यजायत' ऐसा प्रयोग करना चाहिये ।।२५।।

आभासार्थ: इस प्रकार भीतरके दोषकी निवृत्ति हुई और भगवद्धर्म रूप गुण प्राप्त हुआ, यह कहकर बाह्य गुणको कहते हैं:

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम् अनुग्रहेणाशृणवं मनोरमाः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद् रुचिः।।२६।।

श्लोकार्थः हे व्यासजी! रुचिके उत्पन्न होनेपर प्रतिदिन जो कृष्णकथा कह रहे थे उनके अनुग्रहसे मैंने मनोरम कथाको सुना. उस कथाकी श्रद्धासे पदार्थ अक्षरार्थ सहित सुनते हुए मेरा जिसकी कीर्ति प्रिय लगती है ऐसे भगवान्में अनुराग पैदा हो गया।।२६।।

सुबोधिनीः श्लोकमें आये हुए 'अन्वहम्'का 'अशृणवम्'के साथ सम्बन्ध है. अर्थात् परमहंसोंसे कही गई कथाको मैंने प्रतिदिन सुना, इससे यह ज्ञात हुआ कि कृष्णकथा कहना परमहंसोंका नित्य धर्म है. नित्यधर्म उसे कहते हैं जिसके नहीं करनेसे प्रायश्चित लगता हो. जैसे सन्ध्या वन्दन नित्य कर्म है उसके नहीं करनेपर द्विज प्रायश्चित्ती होता है. वे अन्य कथा न कहकर कृष्ण कथाको कहते थे इसलिये वे परमहंस होते हुए भी कृष्ण भक्त थे. श्लोकमें 'प्रगायताम्'का अभिप्राय यह है कि अधिक प्रेमसे गान करते थे प्रकृष्ट गान प्रेमसे होता है. परम हंसोंके अनुग्रहसे मैंने सुना इस कथनका तात्पर्य यह है कि उनने मुझे सुननेकी आज्ञा दी क्योंकि उनका अनुग्रह था उनकी आज्ञासे सुना प्रसङ्ग वश नहीं सुना. जिसका अर्थ सुनाया जाता है वह कथा कहलें, तो है मनको आनन्द देनेवाली तभी होती है जब उसका अभिप्राय समझ लिया जाता है. अर्थात् परमहंस मुझे अर्थ तथा अभिप्राय समझा रहे थे. उनके आग्रहसे ही मैंने सुना यह ज्ञात नहीं था. मेरे मनको आनन्द मिलता था इस लिए सुनता था.

इस प्रकार मेरी श्रवण भक्ति सिद्ध हुई. जिसका फल ब्रह्माका पुत्र नारद होना है. श्रवण भक्तिके बाद कीर्तन भक्ति आती है इसलिये अब मैं कीर्तन भक्ति कर रहा हूं. इस प्रकार आगे स्मरण आदि भक्तिके बढनेपर प्रेमसे नव प्रकारकी साधन भक्ति सिद्ध होती है. इससे भगवद् सायुज्य मिलता है यह शास्त्रका अर्थ है. नवविध भक्तिमें श्रवणका फल कहते हैं. 'ताः श्रद्धया' वे कथायें श्रद्धासे सुनता था. मेरे श्रवण आदि अदृष्ट द्वारा फल न देकर स्वरूपसे ही भगवान्के यथार्थ ज्ञानरूप फलको देनेवाले हुए. तात्पर्य यह है कि यज्ञ आदिसे जैसे अदृष्ट पैदा होता है और उससे स्वर्ग आदि फल मिलते हैं ऐसा यहां नहीं है यहां तो श्रवण आदि ही फल दे देते हैं. बीचमें अदृष्टकी आवश्यकता नहीं है. श्रवण सिद्ध होनेपर भगवान्के कीर्तनका अधिकार प्राप्त होता है कीर्तन स्मरण आदि जब

प्रारम्भ होते हैं तब पहलेके भक्तिकी समाप्ति होती है अर्थात् जब कीर्तन आरम्भ होता है तब श्रवणकी समाप्ति होती है. इससे सिद्ध है कि जब तक कीर्तन भक्ति प्रारम्भ न हो तब तक निरन्तर श्रवण भक्ति करते ही रहना चाहिये. इसी बातका 'ताः' आदिसे कहा है. श्लोकमें आये हुए 'अनुपदम'का अभिप्राय यह है कि पदार्थ अक्षरार्थ सहित वाक्यसे श्रवण किया. जिससे भगवान्में रुचि पैदा हुई. वह श्रवण द्वारा हुई इस अभिप्रायसे कहते हैं कि 'प्रियश्रवसि' प्रिय है श्रवण अथवा कीर्ति जिसकी. 'अङ्ग' यह मैं प्रतारणा नहीं कर रहा हूं इस बातको बतानेकेलिये कोमल सम्बोधन दिया है. मेरी रुचि प्रमाण बलसे नहीं हुई इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे हुई. रुचि शास्त्र श्रवणसे होती है तथा स्वभावतः भी होती है. मेरी रुचि स्वभावतः हुई ।।२६।।

आभासार्थ: उसके बाद क्या हुआ सो कहते हैं:

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियश्रवस्य स्खलिता मतिर्मम ।
ययाहम् एतत् सदसत्स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे।।२७।।

श्लोकार्थ: जिसकी रुचि पैदा हो गई है, ऐसे मेरी भगवान्में निरन्तर होनेवाली मति अर्थात् निरन्तर होनेवाला चिन्तन एवं भगवान्का यथार्थ ज्ञान हे महामुने! हुए, जिस यथार्थ ज्ञानसे यह स्थूल सूक्ष्म शरीर अथवा जगत्, मुझपर ब्रह्ममें मायासे कल्पित हुआ है यह देखा ।।२७।।

सुबोधिनी: जिसमें रुचि होती है उसके अनुभवकेलिये वह यत्न करता है यह लोक सिद्ध बात है. यहां नारदजीने ब्रह्मज्ञान हो ऐसा यत्न किया अर्थात् भगवान्के अनुभवकेलिये यत्न किया. इसी अभिप्रायको 'रुचे' इस पदसे कहा है. रुचिसे फल कालान्तरमें हुआ हो यह बात नहीं है. इसी बातको 'तदा' यह पद कहता है. रुचि होते ही भगवान्का ध्यान होने लगा. 'लब्ध'का तात्पर्य यह है कि जिसका लाभ होता है उसको दृढ रूपसे अपनाया जाता है. अर्थात् मेरी रुचि दृढ हुई. श्लोकमें 'महामुने' यह सम्बोधन आया है जिसका अभिप्राय यह है कि जहां रुचि होती है वहां उसका मनन भी होता है. यह नियम है. जैसे रुचि पैदा होनेपर आप मनन करनेवाले बने. जिस पतिव्रता स्त्रीका पति बाहर चला गया हो और वह जैसे उसका ध्यान करती रहती है वैसे ही मेरी भगवान्में मति हुई यहां 'मति' पदसे चिन्तन लिया गया है. अथवा 'मति' पदसे यहां शास्त्रसे होनेवाला भगवान्का यथार्थ ज्ञान भी लिया जाता है. तात्पर्य यह है कि रुचिके दृढ होनेपर

मेरा सदा चिन्तन होने लगा. उस चिन्तनमें दूसरे विषयका अनुसन्धान नहीं हुआ. अथवा सन्देह नहीं हुआ. इसी भावसे यहां 'अस्खलिता' यह कहा. वह मति श्रवण करनेसे हुई. क्योंकि भगवान्का श्रवण प्रिय था. जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है. इस अभिप्रायसे ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' इस गीता वाक्यसे श्रद्धा पैदा होनेपर जो श्रद्धा रुचिका फल रूप हुई. उसके होनेपर तद्रूपता अवश्य हो जाती है. भूतोंमें श्रद्धा रखनेवाला भूतके समान हो जाता है और भगवान्में श्रद्धा रखनेवाला तद्रूप हो जाता है इसी बातको कहते हैं कि 'ययाहम्' जिस चिन्तनसे एवं यथार्थ ज्ञानसे यह जगत् भगवान्से पृथक् है यह प्रथमाधिकार मेरेमें होनेसे मैंने उस यथार्थ ज्ञानसे मैं ही ब्रह्मरूप हूं मेरेमें ही सम्पूर्ण पैदा हुए हैं और यह स्थूल सूक्ष्म शरीर अथवा जगत् मायासे कल्पित है. जिस मायाका ''स एवेदं ससर्जाग्रे''से वर्णन किया गया है. उससे कल्पित माना. तात्पर्य यह है कि जिसको केवल प्रतीति होती है ऐसे जगत्का ब्रह्मरूपमें अधिकरण (स्थान) हूं. और घडेका दण्ड जैसे करण होता है ऐसा ही माया करण रूप है. यह जाना.

प्रपंचसे भिन्न रूपमें ब्रह्मरूप आत्माका अनुभव हुआ. तात्पर्य यह है कि भक्तिके द्वारा ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हुआ जिससे अविद्या निवृत्त हुयीं और देहान्तःकरण आदिका अध्यास मिटा ।।२७।।

आभासार्थः इस प्रकार भगवद्भावको प्राप्त हुए मेरे निरन्तर होनेवाले श्रवणसे ज्ञान भक्ति पैदा हुई और उनसे परम स्नेह हुआ. यह कहते हैं.

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेः विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिः भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा।।२८।।

श्लोकार्थः इस प्रकार त्रिकाल अथवा प्रतिक्षण उन महात्माओं मुनियोंसे गाये गये हरिके अमलयशको सुनते हुए मैंने चार पांच महिने बिताये अर्थात् शरदऋतु, वर्षा ऋतु बिताई. जिस श्रवणसे अन्तःकरणमें रजोगुण तमोगुणको नष्ट करनेवाली भक्ति पैदा हुई।।२८।।

व्याख्यार्थः श्रवणके अनेक भेद हैं परन्तु मैंने पूर्वमें कहा गया जो श्रवण है उसे ही अपनाया. दूसरे प्रकारके श्रवणको नहीं अपनाया. इस प्रकार वर्षा एवं शरद ऋतु जो चार महिना अथवा पांच महिनेकी मानी जाती है बिताई. मुझे देह आदिके क्लेशका भान नहीं हुआ क्योंकि दुःख हरण करनेवाले हरिकी कथा सुन रहा था. 'विशृण्वतः'में जो 'वि' उपसर्ग है उसका अर्थ है विशेष रूपसे सुनते हुए अर्थात्

निरन्तर सुनते हुए मेरेमें भक्ति पैदा हुई. कथा श्रवण साधारण मनुष्यसे नहीं किया. साधारण व्यक्तिसे सुननेपर वह श्रवण साङ्ग न होनेसे फल नहीं देता, इसलिए कहा कि 'मुनिभिः महात्मभिः सङ्कीर्त्यमानम्' महात्मा मुनियोंसे कही गई कथाको सुना. फल प्राप्तिमें श्रवणकी तरह मनन भी ज्ञानका साधन है. मेरा कीर्तन चलता रहा क्योंकि महात्माओंसे किया जा रहा था. महात्माओंकेलिये गीतामें कहा है कि

''महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः, भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः, नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते''

(गीता. ९।१३-१४)

तात्पर्य यह है कि अनन्य मना होकर महात्मा लोग भजन करते हैं तथा निरन्तर कीर्तन करते रहते हैं. जैसे महात्मा लोग सतत भजन एवं कीर्तन करते रहते हैं उसी प्रकार मैंने किया. उनके सतत कही गई कथाको सुनो.

इस प्रकारकी मेरी भक्ति पारस रूप बन गई जिससे सत्त्व, रज, तम वृत्तिवाला अन्तःकरण शुद्ध सत्त्व रूप होनेसे वसुदेव रूप बन गया. वसुदेवजीमें जैसे भगवान्का प्राकट्य हुआ वैसे मेरे अन्तःकरणमें भगवान्का प्राकट्य होने लगा. तात्पर्य यह है कि, चांदी, तांबा, सोना इन तीन धातुओंसे बना हुआ बर्तन पारसके सम्बन्धसे केवल शुद्ध स्वर्णरूप बन जाता है उसी प्रकार मेरे अन्तःकरण का रजोगुण तमोगुण मिटा और वह अन्तःकरण शुद्ध सत्त्वरूप हो गया ।।२८।।

आभासार्थः भगवान्के आवेशके बिना अन्तःकरणमें भगवान्का आविर्भाव नहीं होगा इसलिए उनकी कृपासे भगवान्का आवेश हो गया इस बातको दो श्लोकोंसे कहते हैं:

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च।।२९।।
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद् भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः।।३०।।

श्लोकार्थः इस प्रकार अनुरागवाले विनयी पापरहित श्रद्धा रखनेवाले दीन संयमी उस मुझ सेवकपर साक्षात् भगवान्से कहा गया अत्यन्त गुप्त ज्ञानको दीनों पर स्नेह रखनेवाले जो जानेवाले थे उनने कृपासे मुझे कहा।।२९-३०।।

सुबोधिनीः पहले कहे गये सत्सङ्ग निर्दुष्ट सेवा अपरिग्रह सङ्ग निवृत्ति

भगवच्चिन्तन आदिमें रुचि, अपने आपका प्रपञ्चसे पृथक् रूपसे अनुभव करना तथा परम स्नेह करना उक्त साधनोंको वसुदेव रूप अन्तःकरण होने तक करते रहना चाहिये इसलिए पूर्वोक्त साधनाका पुनः अनुवाद करते हैं. अर्थात् कही हुई बातको पुनः कहते हैं. 'ते मय्यपेता' जो अनुवृत्ति पर्यन्त साधन कहे गये हैं वे यहां 'अनुरक्तस्य' इस पदसे कहे गये हैं. सेवामें विनय होता है इसलिए उसे भी 'प्रसूतस्य' इस पदसे पृथक् रूपसे कहा गया है. इसी प्रकार 'हतैनसः'से पाप निवृत्ति कही गई है. दीनता सबसे बडा उपकार करनेवाली है इसलिए 'बाल' पदसे कही गई है. तात्पर्य यह है कि श्लोकमें आये 'अनुरक्त' पदसे अनुवृत्ति पर्यन्त जब सब साधनलिये गये तो दीनता आही गई फिर यहां 'बाल' पद दीनताका सूचक पुनः क्यों दिया तो कहते हैं कि दीनता महती उपकारिणी है इसलिए उसको 'बाल' पदसे पृथक् कहा गया है. श्लोकमें आये हुए 'च' पदसे जो साधन नहीं कहे गये वे भीलिये गये हैं उनका यहां पुनः अनुवाद किया गया है. अनुवादमें पूर्वोक्त क्रमानुसार कहना आवश्यक नहीं है. इसलिये यहां उस क्रमसे न कहनेपर भी दोष नहीं हुआ. सब वेदान्तोंसे प्रतिपादन करने योग्य कोई ज्ञान है जो पञ्चरात्र आदिसे तथा गुरुके उपदेशसे अभिव्यक्त होता अर्थात् सभी कुछ ब्रह्म है यह ज्ञान जब हो जाता है तो मनुष्य ब्रह्मज्ञानी, सर्वज्ञ एवं तेजस्वी हो जाता है. इस ज्ञानसे भी अत्यन्त गुप्त जो देवताओंसे भी छुपा हुआ है वह महोपनिषद् प्रतिपाद्य ज्ञान गुह्यतर है उससे भी अति गुप्त ''भक्त्या मां अभिजानाति'' अर्थात् भक्तिसे जो(?) मेरा ज्ञान कर लेता है. यह पुरुषोत्तमसे कहा गया ज्ञान गुह्यतम है जिसके अनुसन्धानसे भगवान्का आविर्भाव हो ही जाता है. यह ज्ञान भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है. श्लोकमें 'यत् तत्' पद आये हैं उनका अर्थ जो कुछ है उस अर्थको विशेष रूपसे नहीं कहना चाहिये. इसलिए उसे 'यत् तत्' पदसे कहा. उन परमहंसोंके हृदयमें भगवदिच्छासे वह ज्ञान जो मेरे उपदेशकेलिए अपेक्षित था, आ गया. आनेके बाद जाते समय उन्होंने मुझे कहा. जब जाता है तब आखिरी बात बताता है. इसी बातको 'गमिष्यन्तः' पदसे सूचित किया है. इसके कहनेके बाद न कोई दूसरा प्रश्न उठता है और न दूसरे साधनकी अपेक्षा रहती है क्योंकि उसमें कृपाका बल है. कृपा भी इसलिए हुई कि वे दीन वत्सल थे अर्थात् दीनोंपर स्नेह करनेवाले थे. जैसे पिताका पुत्रपर स्नेह होता है ।।३०।।

आभासार्थः वेदव्यासजीने पूछा कि उसके बाद आपका क्या हुआ सो

कहें इस पर कहते हैं कि:

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावम् अविदं येन गच्छन्ति तत्पदम्।।३१।।

श्लोकार्थ: जिस ज्ञानसे ही शुद्ध सत्त्वात्मक हृदयमें रहनेवाले ब्रह्माण्डके निर्माता भगवान्की मायाका प्रभाव जाना. जिसके जाननेसे भक्त भगवान्के चरणारविन्दको प्राप्त करते हैं।।३१।।

सुबोधिनी: आश्चर्य है कि हृदयमें विद्यमान होते हुए भी भगवान्की स्फूर्ति नहीं हो रही है यह मायाका प्रभाव है. जैसे लेखनमें व्यग्र रहनेवाले व्यक्तिको हृदयस्थ भावोंकी स्फूर्ति नहीं होती है. इसी प्रकार यहां समझना चाहिये. केवल मायानुभावके ज्ञानके क्रमको जान लेनेसे ही कुछ यत्न भी न करे तो भी भगवान्के चरणारविन्दोंको प्राप्त कर लेता है ।।३१।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्के चरणारविन्दकी प्राप्ति तक साधनोंका निरूपण किया परन्तु वहां सन्देह होता है कि कर्म, काल आदिके बाधक होनेसे 'ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके' इत्यादिसे कहे गये साधन कैसे हो सकते हैं? वहां काल प्रतिबन्धक न हो उसका उपाय कहते हैं:

एतत् संसूचितं ब्रह्मन् तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्।।३२।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! सबके नियन्ता षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न सर्व व्यापक भगवान्में कर्म समर्पित कर दिये जाय तो समर्पित कर्म आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक तापोंको औषधकी तरह निवृत्त कर देता है जैसे औषध रोग निवृत्ति कर देती है. यह मैंने आपको सूचित कर दिया।।३२।।

सुबोधिनी: कथामें रति न होना उसमें भोजन आदि दृष्ट बाधक हैं अर्थात् **''एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजै न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौरतिम्''** तात्पर्य यह है कि भूख प्यास आदिसे दुःखी रहनेवाला मनुष्य कथामें प्रेम नहीं करता. कर्म भी अदृष्ट द्वारा तथा काल भी उसके द्वारा कथारति न होनेमें कारण है. उनमें पहले आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक जो देखे गये बाधक हैं उन्हें दूर करना चाहिये. पहले ऐसा क्रम बताया गया कि महान् पुरुषोंकी सेवा करनी. जिससे उनकी कृपा होती है तदनन्तर उनके धर्ममें श्रद्धा होती है और उससे भगवत्कथा सुननेको मिलती है और भगवान्में प्रीति होती है. तत्पश्चात् प्रपञ्चके पदार्थोंसे

आत्माका भिन्नरूपसे ज्ञान होता है. उसके बाद दृढ भक्ति होती है. फिर भगवान्का माहात्म्य ज्ञान होता है परन्तु तापत्रयसे सन्तप्तसे महापुरुषोंकी सेवा नहीं हो सकती तो सेवासे होनेवाली कृपा आदि भी कैसे हो सकती है? अतः तीनों तापोंका निवर्तक उपाय बताते हुए भगवान्के तत्त्व ज्ञान पर्यन्त क्रमको कहते हैं. वहां यद्यपि सत्संगसे कथाको साधन बताया है परन्तु कथा सुननेमें बहुतोंकी अपेक्षा रहती है. अतः कथा नहीं हो सकती. इसलिए स्वतन्त्र कोई एक साधन बताना चाहिये. जो आगे कहा जायेगा. 'संसूचितम्'का तात्पर्य यह है कि मैंने न स्पष्ट कहा न सन्दिग्ध कहा केवल अच्छे रूपसे सूचित कर दिया. यहां 'सूचितम्' पदसे सूचित करना कहा. स्पष्टतया नहीं कहना 'सूचित' पदका तात्पर्य है. 'सम्' उपसर्गका अर्थ है अच्छे रूपमें अर्थात् संदिग्ध रूपमें नहीं कहा. ये दोनों अर्थ दोनों पदोंसेलिये गये हैं. उसका परिज्ञान तुम्हें हो जायेगा क्योंकि तुम ब्रह्मरूप हो. तापत्रयके दूर करनेकेलिए औषध है वह यह है कि सभी कर्म भगवान्के अर्पित करने चाहिये. जैसे सर्वनाशक जहर भी दूसरे द्रव्यकी भावना देनेसे सब रोगोंका निवर्तक बन जाता है उसी प्रकार सर्वनाशक कर्म भी भगवान्के अर्पित होनेपर सब दोषोंका निवर्तक बन जाता है. प्रभुरूप षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न उत्कृष्ट पदार्थोंसे सुन्दर पाषण्ड रहित वेदान्तसे जानने योग्य ब्रह्ममें कर्मोंको अर्पण करना चाहिये अथवा भावनासे प्रभुको प्राप्त करना चाहिये जिससे सभी तापोंका नाश हो जाता है ।।३२।।

आभासार्थ: वहां ही विशेष कहते हैं कि:

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्।।३३।।

श्लोकार्थ: जो रोग घृत अथवा उडद आदिसे पैदा होते हैं उन घृतादिसे वे रोग नहीं मिटते किन्तु उनमें दूसरे द्रव्यकी भावना देनेपर पूर्वभक्षित तथा जो अभी रोग पैदा हुए हैं उनको वे घृतादि मिटा देते हैं।।३३।।

सुबोधिनी: जिस कर्मसे नाशकी शङ्का हो उसी कर्मको भगवान्के समर्पित कर देना चाहिये. श्लोकमें आये हुए 'आमयः'का अर्थ है कफ पित्त आदि जो उडद आदिसे पैदा होते हैं. नारदजी कहते हैं कि हे सुव्रत! तुम अच्छे नियमवाले हो इसलिए तुम्हारा नाश करनेवाले कोई कर्म नहीं है. इसलिए तुम बडे भाग्यशाली हो. इसलिए यह समझो कि वही उडद आदि दूसरे द्रव्यसे भावित हो जाते हैं तो जो रोग पैदा हुआ है उसीको नहीं मिटाता किन्तु पूर्वभक्षित जो विकार

करनेवाला द्रव्य है उसे भी अच्छा कर देता है. इससे यह समझो कि जिस कर्मसे अपना बन्धन होता हो वह कर्म यदि भगवान्में अर्पित कर दिये जाय तो पुरुषको अच्छा कर देते हैं ।।३३।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि पहले किये हुए पूर्वजन्मके कर्म बाधक रूपमें विद्यमान हैं तो उनसे तीनों ताप हो सकते हैं तो आगे किये हुए कर्मोंको भगवान्के अर्पण करनेपर भी क्या होगा?

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे।।३४।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार कर्मके अधिकारी मनुष्योंके जो क्रियायोग हैं वे जन्म-मरणके कारण होते हैं परन्तु यदि उनको भगवान्को अर्पित कर दिये जाय तो उनका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है अर्थात् उनमें कर्मत्व ही नहीं रहता तो वे तापत्रयको कैसे पैदा कर सकते हैं? ।।३४।।

सुबोधिनी: जैसे भगवान्के सम्बद्ध (अर्पित) कर्मसे तापत्रयका नाश होता है इसी प्रकार पूर्व कर्मोंको भी भगवान्के समर्पित करनेसे उन कर्मोंका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है फिर वे तापत्रय आदिको उत्पन्न नहीं कर सकते श्लोकस्थ 'नृणां' पदसे मनुष्योंको कर्म करनेका अधिकार बताया है वे सभी कर्म भले ही पुण्यजनक हों तो भी जन्म मरणके कारण होते हैं. उन सभी क्रियाओंको अर्थात् कर्मोंको ईश्वरके समर्पित कर दिये जायें तो उन कर्मोंका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है. उन समर्पित कर्मोंसे जीवको फिर तापत्रय नहीं होता जिस प्रकार प्रज्वलित आगमें तृण आदि डाल दिये जायें तो वे उसमें जाकर सरूपसे ही नष्ट हो जाते हैं वे ताप नहीं कर सकते इसी प्रकार भगवत्समर्पित कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उनमें कर्मत्व ही नहीं रहता तो वे तापत्रयको कैसे पैदा करेंगे ।।३४।।

आभासार्थ: इस प्रकार स्वभावसे होनेवाले लौकिक कर्मोंका जन्म मरणके कारण जो कर्म पहले किये गये और वर्तमानमें हो रहे हैं उनका विनियोग ईश्वरमें करना चाहिये यह कहा. अब जो भगवान्की कीर्तिकेलिए जो शास्त्रमें कथित कर्म हो रहे हैं उनका क्या फल है इस आकांक्षा पर कहते हैं कि:

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्।।३५।।

श्लोकार्थ: जो भगवान्के सन्तुष्टिकेलिए कर्म किया जाता है उससे भक्ति

ज्ञान पैदा होते हैं. भक्तियोगके सहित होनेवाला ज्ञान उस कर्मके अधीन है।।३५।।

सुबोधिनी: "**यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिताः**" हमने अच्छा अध्ययन किया है और गुरुओंको प्रसन्न किया है उससे भगवान् प्रसन्न होवें ऐसी प्रार्थना की गई है और नियत फल भी यही है. यदि एक ही कर्म पुण्यजनक हो तथा भगवान्की प्रसन्नताकेलिए ही एक ही दो कार्य करेगा तो किसी अंशमें संयोग रहेगा और किसी अंशमें पृथक्त्व रहेगा. अर्थात् कर्म दोनों फल देनेवाले होंगे. जैसे दहि आदिकेलिये कहा है कि "**दध्ना जुहोति**" "**दध्नेद्रिय? कामस्य जुहुयात्**" "**खादिरे बध्नाति**" "**खादिर वीर्यकामस्य यूयं कुर्यात्**" इत्यादिमें दहि आदिके दो फल माने हैं. इसी प्रकार यहां भी यदि कर्मोंका फल भगवत्प्रसाद एवं पुण्यजनकता होगी तो जन्म मरण जरूर होंगे क्योंकि उनमें उभयरूपता है इसपर कहते हैं कि जो कर्म भगवान्के परितोषकेलिए किये जाते हैं उनसे भक्ति ज्ञान पैदा होते हैं और उस ज्ञानादिसे "**ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि**" ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है अर्थात् ज्ञान होनेपर सब कर्मोंका नाश हो जाता है. प्रसिद्ध ज्ञान जो भक्ति सहित है वह उन कर्मोंके अधीन है. श्लोकस्थ 'हि' पद सूचित करता है कि "**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्**" यह न्याय ब्रह्मसूत्रके तीसरे अध्यायके चौथे पादमें है. वहां कहा गया है कि ज्ञानके स्वरूपका उपकारी कर्म है या नहीं तो कहते हैं कि "**आचार्यवान् पुरुषो वेद**" जो आचार्य बनाता है वही पुरुष भगवान्को जान सकता है तो गुरुकी शरणागति एवं उसके उपदेशसे ही ज्ञान हो जायेगा फिर कर्मकी क्या आवश्यकता है? यह वहां शंका उठाई. सिद्धान्त यह कहा है कि पुरुषोत्तमके ज्ञानके होनेमें कर्म ज्ञान भक्तिकी अपेक्षा है वे सभी पुरुषार्थ जो भगवत्प्राप्ति रूप है उसीको वेद कहता है. वह पुरुषार्थ प्राप्त यदि ज्ञानसे ही हो जाय तो यज्ञादिका करना व्यर्थ हो जायगा. इसलिए मानिये कि कर्म ज्ञान स्वरूपके द्वारा पुरुषार्थका साधक है. परन्तु वह निष्काम कर्म होना चाहिये. वाजसनेयी शाखामें कहा है कि "**यथाकारी यथाचारी तथा भवति**" जैसा आचरण करता है वैसा बन जाता है इससे यह कहा कि कामनासे कर्म करने वालेको पुनः जगत्में आना पडता है और जो कोई कामना नहीं करता वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममें लीन हो जाता है. इससे यह कहा कि निष्काम कर्मकर्त्ताको ही ब्रह्मप्राप्ति होती है. कर्मोंसे जब पाप नहीं रहते तब ज्ञान होता है. यहां दृष्टान्त कहते हैं कि कोई मनुष्य किसी कार्यके लिए बाहर जाता है तो घोडा उसको वहां पहुंचा देता है जहां वह जाना चाहता है. फल

मिलनेमें वह घोडा कारण नहीं है. इसी प्रकार अधिकारियोंके तीन प्रकारके प्रतिबन्धकी निवृत्तिकेलिए ही सकाम कर्म उपकारक हैं. किन्तु भगवत्प्राप्ति करानेवाले ज्ञानमें वह कारण नहीं है तो पूर्वतन्त्रकी अपेक्षा उत्तर तन्त्रके प्रबल होनेसे संयोग पृथक्त्व न्यायका बोध हो जाता है. जिससे कर्ममें पुण्यजनकता न होनेसे उनसे जन्म-मरण नहीं होते. इसी अभिप्रायका ''**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्**'' यह ब्रह्मसूत्र है ।।३५।।

आभासार्थ: कहते हैं कि पञ्चरात्रमें कहे गये कर्मोंका और भगवान्की आज्ञासे अर्जुन आदिने जो युद्ध आदि किये उनका क्या फल है इस पर कहते हैं कि:

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च।।३६।।

श्लोकार्थ: कर्मके निर्णयमें कहा गया है जो कर्म भगवान्की आज्ञासे करते हैं उनसे भक्ति पैदा होती है. तब वे मनुष्य बार-बार कृष्णके गुणबोधक नाम लेते हैं और कृष्णका स्मरण करते हैं।।३६।।

सुबोधिनी: जिस कर्मके निर्णयमें अथवा कर्मके विषयमें जो भगवान्की शिक्षासे कर्म करते हैं वे कर्म भक्तिको उत्पन्न करनेवाले होते हैं तब मनुष्य भक्ति होनेसे बार बार कृष्णके गुणबोधक नाम जैसे पाण्डव रक्षक, द्रौपदी-लज्जा-निवारक, गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादि लेते हैं. नामके साथ कृष्णका स्मरण करते हैं इसलिए उनके कर्म, कीर्तन और श्रवण भक्तिके कारण होनेसे सर्वोत्कृष्ट ही हैं उससे जन्म-मरणकी शंका नहीं है ।।३६।।

आभासार्थ: फिर जो पञ्चरात्रमें मन्त्रके आराधनके प्रकारसे पुरश्चरण आदि कर्म कहे गये हैं उनका निर्णय दो श्लोकोंसे करते हैं:

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च।।३७।।

श्लोकार्थ: आप जो भगवान् वासुदेव रूप हैं उनको नमस्कार करता हूं और ध्यान करता हूं. इसी प्रकार प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षणका ध्यान करता हूं और नमन करता हूं।।३७।।

सुबोधिनी: यह भगवान्की गायत्री है जिससे नारदजीने उपासनाकी थी. इस गायत्रीमें वासुदेव प्रद्युम्न अनिरुद्ध और संकर्षण ये चतुर्मूर्ति कही गई हैं.

'धीमहि'का अर्थ यह है कि चतुमूर्तिका ध्यान करते हैं. ध्यान करनेका फल चतुर्मूर्तिका साक्षात्कार होना है. वह ध्यान भी भोगप्राप्तिकेलिए नहीं है किन्तु नमस्कारकेलिए है. श्लोकमें 'तुभ्यम्' यह पद आया है. 'तुभ्यम्'का प्रयोग उसीके लिए किया जाता है जो प्रत्यक्ष होता है. इसलिए परोक्षको नमस्कार न कर प्रत्यक्ष होनेवाली चतुर्मूर्तिको नमस्कार कहा गया है. चार रूपोंका भी चार रूप भगवान् ही हैं. श्लोकस्थ 'च'कारसे अन्यान्य हयग्रीव आदि रूप भीलिये गये हैं ।।३७।।

आभासार्थ: अब इस गायत्रीका उपयोग कहते हैं:

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्त्तकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्।।३८।।

श्लोकार्थ: इस रूपसे मूर्तिके कहनेवाले मन्त्रसे मन्त्रके अर्थरूप लौकिक मूर्ति रहित यज्ञ पुरुषका भजन करता है वह मनुष्य भगवान्का साक्षात्कार करनेवाला होता है।।३८।।

सुबोधिनी: वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण इन मूर्तियोंको कहनेवाले इस रूपके मन्त्रसे मन्त्र ही है शरीर जिसका अर्थात् मन्त्रके अर्थरूप जिसकी मन्त्रमें कहे गयेसे अतिरिक्त लौकिक मूर्ति नहीं है ऐसे यज्ञोंके पतिको अथवा यज्ञरूप पुरुषको जो जप, पूजा, होम आदिसे पूजन करता है वह भगवान्का साक्षात्कार करता है ।।३८।।

आभासार्थ: इसके फलका मैंने ही अनुभव किया है इसलिए मुझे सन्देह नहीं है इस बातको नारदजी कहते हैं:

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन् अवेत्य मदनुष्ठितम्।
अदान् मे ज्ञानम् ऐश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः।।३९।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! पूर्वोक्त क्रमसे कहे गये आज्ञारूप वेदसे प्रतिपादित साधनोंको मुझसे किया हुआ जानकर ब्रह्मा एवं रुद्रको सुख देनेवाले भगवान्ने ज्ञान ऐश्वर्य और अपनेमें प्रेम मुझे दिया।।३९।।

व्याख्यार्थ: प्रभुकी वेदरूप आज्ञाका मैंने पालन किया. अर्थात् पूर्वकल्पमें ही पञ्चरात्रमें कहे गये मार्गका अनुष्ठान किया तो मुझे अपना तत्त्वज्ञान ऐश्वर्य एवं भक्ति ब्रह्मा एवं महादेवजीको सुख देनेवाले भगवान्ने दी ।।३९।।

आभासार्थ: इस प्रकार सब कर्मोंका निर्णय कहा. अब उपसंहार करते

हुए निर्णीत उपदेश करते हैं:

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदाम्बुभुत्सितम्।
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणम् उशन्ति नान्यथा।।४०।।

श्लोकार्थ: हे बहुश्रुत वेदव्यासजी! भगवान्के चरित्रको कहिये. जिससे ज्ञानियोंकी भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छा समाप्त हो जाय. अर्थात पुरा ज्ञान होनेपर इच्छा ही निवृत हो जाय और क्लेशाक्रान्त मनुष्य अपने निस्तारका यत्न नहीं कर सकते. अत: क्लेश निवृतिकेलिए भगवान्के चरित्रोंको कहिए।।४०।।

सुबोधिनी: जिस प्रकार मैंने भगवान्की आज्ञा पालनकी उसी प्रकार आप भी आज्ञाका पालन करें. आप अदभ्रश्रुत हैं. अर्थात् हे बहुश्रुत! भगवान्के चरित्रको कहें. जिसके सुननेसे ज्ञानियोंकी भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छा समाप्त हो जाती है अर्थात् भगवान् जैसे हैं जितने हैं यह जाननेकी इच्छा समाप्त हो जाती है. परम भक्तिको पैदा कर इच्छाओंकी समाप्ति करती है. इसलिए भगवान्के चरित्रोंको कहिये और यह भी है कि अपने निस्तारकेलिए सबको प्रयत्न करना चाहिये. वह यत्न क्लेशोंसे दबे हुए नहीं कर सकते इसलिए क्लेश निवृत्तिकेलिए भगवान्के चरित्र कहिये. भगवान्के कीर्तिगानसे ही बार बार दुःखोंसे घिरे हुए मनुष्योंके दुःखोंकी निवृत्ति होती है यह बात सब प्रमाणवेत्ता मानते हैं. दुःखियोंके क्लेश नाशका दूसरा कोई उपाय नहीं है इसी अभिप्रायको 'नान्यथा' पद कहता है ।।४०।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके
वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके मध्यमाधिकार प्रकरणका
पंचम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ६

नारदजीकी भक्तिका स्वरूप

मध्यमेनाधिकारेण पदार्था विनिरूपिताः ।
श्रवणस्य फलं चान्तर्ज्ञानरूपं प्रदर्शितम् ।।का.१।।
षष्ठे तु बाह्यं तस्यैव कीर्तनावधि वर्ण्यते ।
बाह्याभावे त्वान्तरस्य व्यर्थतेति निरूप्यते ।।का.२।।

कारिकार्थ: पांचवे अध्यायमें मध्यमाधिकारसे पदार्थोंका निरूपण किया गया, वहां श्रवणका फल भीतरी ज्ञान होना (जैसा कि नारदजीको परमहंसोंसे कृष्णकथा सुननेसे हुआ वैसा ज्ञान रूप फल) बताया गया. अब इस छठे अध्यायमें उसी श्रवणका बाह्य फल जो कीर्तन पर्यन्त है, कहते हैं. क्योंकि बाह्यरूप कीर्तनके अभावमें भीतरी ज्ञानरूप व्यर्थ हो जाता है।।१-२।।

आभासार्थ: पांचवे अध्यायके अन्तमें ''अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यम्'' मुझे भगवान्ने ज्ञान और ऐश्वर्य तथा भक्ति दी ऐसा नारदजीने कहा है वहां सन्देह है. भगवच्चरित्र सुना और आन्तर्ज्ञान हुआ यही निरूपण किया गया है तो श्रवणसे क्या भगवान्ने नारदजीको उसी समय ऐश्वर्य दान किया अथवा कालान्तरमें. श्रोतव्य विषय जो ऐश्वर्य दानरूप है उसका निरूपण करनेवाले नारदजीको हुए फलके कहनेकेलिए श्रोताको विचार होता है. इसलिए व्यासजी पूछते हैं इस बातको सूतजी कहते हैं

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः।।१।।

श्लोकार्थ: सूतजी कहते हैं हे ब्राह्मणों! इस प्रकार देवर्षि नारदजीके जन्म और कर्मका श्रवण करके सत्यवतीजीके पुत्र भगवान् व्यासजीने उन्हें फिर प्रश्न किया।।१।।

सुबोधिनी: व्यासजी नारदजीकी बातको यथार्थ रूपमें समझते हैं इसमें हेतु यह है कि व्यासजी भगवान् हैं इसलिए नारदजी यथार्थ कहते हैं इस बातको समझाते हैं. नारदजीकी बातको असम्भव नहीं कह सकते. क्योंकि देवर्षि हैं. देवर्षि वही बन सकता है जिसके अत्यन्त उत्कृष्ट कर्म होते हैं. सूतजीने

शौनककेलिए कहा है कि 'हे ब्रह्मन्' आप ब्रह्मरूप हैं इसलिए सभी जानते हैं. इस प्रकार नारदजी अपने जन्म कर्मको सुनाकर चुप हो गये. व्यासजीने समझा कि नारदजी विशेष आदर करनेपर ही विशेष बात कहेंगे इसलिए आदरपूर्वक प्रश्न किया. नारदजीके मनमें यह विचार हुआ कि मेरे कथनमें व्यासजीका आदर है या नहीं इस बातको जाननेकेलिए नारदजी चुप हो गये. तब भगवत्कृपासे देवर्षि बने. इस बातके कहनेपर भी व्यासजीने पुनः प्रश्न किया. व्यासजी बिना प्रयोजनके नहीं पूछते क्योंकि वे सत्यवतीके पुत्र हैं ।।१।।

आभासार्थ: तीन श्लोकोंसे व्यासजी प्रश्न कर रहे हैं:

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किम् अकरोद् भवान्।।२।।
स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्त्तितं ते परं वयः।
कथञ्चेद् अमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम्।।३।।
प्राक्कल्पविषयाम् एतां स्मृतिं ते सुरसत्तम।
न ह्येव व्यवधात् काल एष सर्वनिराकृतिः।।४।।

श्लोकार्थ: व्यासजी कहते हैं कि आपको विज्ञानका उपदेश देनेवाले परमहंसोंके अन्यत्र चले जानेपर पहली अवस्थावाले अर्थात् बाल्यावस्थावाले वर्तमान आपने क्या किया? हे ब्रह्माके पुत्र नारदजी! किस जीविकासे आगेकी अवस्था व्यतीतकी और शरीरको (दासीसे पैदा हुए शरीरको) काल प्राप्त होनेपर कैसे छोडा? हे देवता तथा भक्तोंमें श्रेष्ठ नारदजी! पूर्वकल्पमें जो परमहंसोके द्वारा उपदेश हुआ था उसकी स्मृतिको कालने क्यों नहीं नष्ट किया? क्योंकि यह काल सबको नष्ट करनेवाला है।।२-४।।

सुबोधिनी: व्यासजीने कार्य, शरीर त्याग और ज्ञानका नाश न होना पूछा अर्थात् आपने फिर क्या कार्य किया? कैसे शरीरको छोडा? और पूर्वजन्मके ज्ञानका नाश क्यों नहीं हुआ? ब्रह्मवेत्ताको कुछ कर्तव्य नहीं रहना कालका अतिक्रमण नहीं हो सकता. इसलिए उसे योगके द्वारा शरीरका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये. अतः उक्त तीन प्रश्न किये. श्लोकमें आये 'स्वायम्भुव' यह सम्बोधन इस समयके नारदजीके स्वरूपको बतानेवाला है. हे नारदजी ! आपने किस जीविकासे आगेकी अवस्थाको व्यतीत किया? शरीर छोडनेका जब समय

प्राप्त हुआ तो आपने योगादिमें किस प्रकारको अपनाया? यहां श्लोकमें आया 'च' पुनः अर्थमें है. अर्थात् फिर आपने शरीरको कैसे छोडा? कालके प्राप्त होनेपर छोडा अथवा पहले ही छोडा? व्यासजीकी बुद्धिमें नारदजीका पूर्व शरीर आ गया. इसलिए कहा कि यह शरीर. अन्यथा उस शरीरका प्रत्यक्ष न होनेसे यह शरीर ऐसा कहना युक्त नहीं था. क्योंकि 'इदम्' शब्दका प्रयोग प्रत्यक्षमें ही होता है. यदि 'कथं चेदम्'की जगह 'कथं वेदम्' यह पाठ मान लिया जाय तो 'वा' शब्द अनादरको कहेगा. जो कालसे पैदा होता है. उसे काल खाता है. अर्थात् काल भक्ष्य कह कर अनादर सूचित किया. इसलिए कहा कि 'काल प्राप्ते' वर्तमानमें जो आपको पूर्वजन्मका स्मरण है वह दूसरा जन्म होनेसे संस्कारके नाश होनेसे कारण कैसे हुआ और पूर्वकल्पके जो विषय हैं बीचमें बहुत समय निकलनेसे कालने उन विषयोंकी स्मृतिको नष्ट क्यों नहीं किया? जब कालसे संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब कोई शब्द द्वारा कहे तो वह स्मृति होती है. परन्तु यहां वो आपकी स्मृति प्रत्यक्ष मूल कही है. अर्थात् शब्दके द्वारा वह स्मृति नहीं हुई. देवताओंकी तथा भक्तोंकी स्मृतिको भी काल नष्ट कर देता है. आपकी स्मृति नष्ट नहीं हुई यह आश्चर्य है. इसी बातको 'सुरसत्तम' यह सम्बोधन कहता है. श्लोकस्थ 'हि' शब्दका अर्थ है कि यह बात युक्त है क्योंकि आपमें स्मृतिका कार्य देखा जा रहा है. कालका माहात्म्य तो प्रत्यक्ष ही है. कालकेलिए 'एषः' यह कहा है. 'एषः' वहीं कहा जाता है जहां प्रत्यक्ष होता है. वेदव्यासजी भगवान् हैं इसलिए कालको प्रत्यक्ष करके कह रहे हैं अथवा शास्त्रार्थकी दृढता होनेसे यह कहा है कि 'यह काल' जिसे शास्त्रोंने सर्वनाशक बताया है ।।२-४।।

आभासार्थः तुमने परमहंसोके चले जानेपर क्या किया? इस वेदव्यासजीके प्रश्नका उत्तर देते हुए नारदजी 'भिक्षुभिर्विप्रवसिते'से लेकर 'एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्' तक कहते हैं:

नारदः उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतद् अकारषम्।।५।।

श्लोकार्थः नारदजी कहते हैं कि विज्ञानका उपदेश देनेवाले परमहंसोके दूर देशमें चले आनेपर पहली अवस्थामें वर्तमान मैंने यह किया. जो आगे कहा जाएगा वह किया।।५।।

सुबोधिनी: ब्रह्मज्ञानियोंको भी भगवान्केलिए प्रयत्न करना चाहिये और भगवान्का साक्षात्कार होनेपर उनकी आज्ञाका पालन तथा उनको प्रीतिकेलिए गुणोंका अनुवाद (वर्णन) करना चाहिये. क्योंकि क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है उसका निश्चय उसीसे होता है. श्लोकस्थ 'एतत्' पदका आशय जो मैं आगे कह रहा हूं, वही किया ।।५।।

आभासार्थ: नारदजी तीन श्लोकोंसे बाधकका निरूपण करते हैं और एक श्लोकसे बाधा नहीं रही यह कहते हैं. भगवान् यदि अनुकूल हो तभी आगेका कार्य करना चाहिए अर्थात् भगवान्के साक्षात्कारकेलिए यत्न करना ठीक है अन्यथा नहीं. अनुकूलतामें जब सन्देह हो तब क्या करना चाहिए यह कहते हैं:

अन्यासक्तिस्तु यत्रैव तत् स्वार्थं नैव योजयेत् ।
भगवान् वा प्रतीक्ष्योऽत्र यत्नं वा तादृशं भजेत् ।।का.

कारिकार्थ: जिन देहादिमें माता आदि अन्यकी आसक्ति हो तो उनको अपने कल्याणकेलिए नहीं लगाना चाहिये वहां भगवान् क्या करते हैं यह प्रतीक्षा करनी चाहिए अथवा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे भगवान् अनुकूल हों. नारदजी भगवान् क्या करते हैं इस प्रतीक्षामें रहे. इसी बातको तीन श्लोकोंसे कहते हैं:

एकात्मजा मे जननी योषिद् मूढा च किङ्करी।
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम्।।६।।
सास्वतन्त्रा न कल्पासीद् योगक्षेमं ममेच्छती।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा।।७।।
अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदवेक्षया।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः।।८।।

श्लोकार्थ: एक ही मैं उसका पुत्र था. ऐसी वह पैदा करनेवाली थी. स्त्रियोंमें मूर्ख तथा दासी होनेके कारण काममें लगी रहती थी. इसलिए उसको उपदेश प्राप्त नहीं था. पुत्र होनेसे उसका स्वाभाविक प्रेम था. दूसरा कोई आश्रय न होनेसे कारणवश स्नेह था. स्नेहसे ही उसके अन्त:करणका बन्धन था. वह स्वतन्त्र नहीं थी. इसलिए मेरी योगसभा चाहते हुई भी नहीं कर सकती थी. क्योंकि सभी लोक ईश्वर अथवा कालके अधीन हैं, जैसे कठपुतली नचानेवालेके अधीन होती है. मैं पांच वर्षका बालक दिशा देश एवं कालमें अनभिज्ञ मातासे

होनेवाली बाधा न रहनेकी प्रतीक्षा करता हुआ ब्राह्मणोंके आश्रयमें रहा।।६-८।।

सुबोधिनी: मेरी माताके मैं ही एक पुत्र था. उसकी आसक्ति मेरेमें अधिक थी. इसमें कारण यह था कि मुझे उत्पन्न करनेवाली थी. यद्यपि इस समय वह जननी नहीं है परन्तु पूर्व जन्मकी अवस्थाको याद कर नारदजीने जननी कहा. वह मेरी माता स्त्रियोंमें मूर्ख थी इसलिए उसे उपदेश भी प्राप्त नहीं था और वह दासी थी. इसलिए उनकी सेवासे अवकाश न मिलनेके कारण उपदेशका अवसर नहीं मिला. क्योंकि वह दासी हो जैसे निरन्तर सेवामें लगी रहती थी. स्नेहमें दो कारण होते हैं एक स्वाभाविक (कारणवश) और दूसरा (औपाधिक). मैं पुत्र था. पुत्रमें स्वाभाविक स्नेह होता है इसलिए स्वाभाविक स्नेह था. दूसरा मेरा कोई आश्रय नहीं था इस कारणसे औपाधिक स्नेह भी था. स्नेहसे वह मेरे साथ बंधी हुई थी. किन्तु उस स्नेहानुबन्धका कुछ कार्य नहीं हुआ. अन्यथा उसके द्वारा विषयोंकी प्राप्ति होनेपर मेरा भी बन्धन हो जाता. इसी अभिप्रायसे 'सा' यह कहा. वह स्वामीके अधीन थी. इसलिए मेरे योगक्षेममें समर्थ नहीं थी. जो प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करना योग है और प्राप्त हुएका परिपालन करना क्षेम है. वह माता स्वामीके अधीन होनेसे मेरे लिए अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करा सकती थी और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा नहीं कर सकती थी. अर्थात् वह मेरे योगक्षेममें असमर्थ थी.

शंका करते हैं कि नारदजी ब्रह्मज्ञानी थे. जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसमें सम्पूर्ण देवताओंका सन्निधान हो जाता है. फिर नारदजीको योगक्षेमकी प्राप्ति क्यों नहीं हुई? इस आशङ्का पर कहते हैं कि "**ईशस्य हि वशे लोकः**" (भाग. पुरा.१।६।७) भगवान् जो देता है वही मिलता है क्योंकि लोक भगवान्के वशमें है. यहां 'हि' शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् "**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः**" इस भगवद्वाक्यसे यह निश्चय है कि जो कुछ होता है, भगवान्से ही होता है ।।६-८।।

आभासार्थ: नारदजीको कुछ विवेक हो जाय इसलिए भगवान्ने इतने समय तक प्रतिबन्ध रखा. जब विवेक हो गया तब भगवान्ने प्रतिबन्ध दूर कर दिया.

एकदा निर्गतां गेहाद् दुहन्तीं निशि गां पथि।
सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः।।९।।

श्लोकार्थ: जब सब गृहस्थ अपने अपने काममें लग रहे थे उस समय वह मेरी माता रात्रिमें घरसे निकली. गाय दुह रही थी कि मार्गमें स्थित कालसे प्रेरित सर्पने पैरका स्पर्श होनेपर उस दीनको डस लिया।।९।।

सुबोधिनी: 'एकदा'का अर्थ है एक समय जब गृहस्थ अपने अपने काममें लगे हुए थे. 'गेहान्निर्गतां'का अभिप्राय यह है कि नारदजीको उसे घरसे उठाकर ले जानेका परिश्रम भी नहीं करना पडा. उसकी शुद्धि तो दुहनेके समय गायका स्पर्श होनेसे ही हो गई थी. गायका दुहना अच्छी क्रिया है उसमें वह लगी हुई थी. सर्प रास्तेमें था वह भगवान्की प्रेरणासे वहां आ गया पैरसे सांपका स्पर्श रूप अपराध भी उससे भगवान्ने ही कराया. वास्तवमें तो न नारदजीकी माताका दोष था और न सर्पका यह सब कालकी प्रेरणासे हुआ. काल आदि भी भगवान्की इच्छाके अनुसार ही कार्य करते हैं ।।९।।

आभासार्थ: नारदजी कहते हैं कि मैंने भी इसे भगवान्का उपकार समझा और वैसा ही किया:

तदा तदहम् ईशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशम् उत्तराम्।।१०।।

श्लोकार्थ: तब मैं माताके मरनेको भक्तोंका सुख चाहनेवाले भगवान्का अनुग्रह मानते हुए उत्तर दिशाकी ओर चल दिया।।१०।।

सुबोधिनी: भगवान् हर समय भक्तोंका ही कल्याण चाहते हैं तथापि कदाचित् प्रतिबन्धकोंको आत्मरूप होनेसे उन्हें हठाते नहीं. यदि प्रतिबन्धकोंको भी हटा दें तो यह महान् अनुग्रह है ऐसा जानकर किये जानेवाले काममें देरी नहीं करनी चाहिये इस अभिप्रायसे नारदजी कहते हैं कि 'अनुग्रहं मन्यमानः' इसमें भगवान्का अनुग्रह मानता हुआ उत्तर दिशाकी ओर चला गया. यह उत्तर दिशा देवता और मनुष्योंकी शान्त दिशा है "**एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक्**" ऐसा श्रुतिका कथन है. भगवान्केलिए उस दिशामें कोई प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसा बतानेकेलिए ही उत्तर दिशाकी ओर जाना कहा ।।१०।।

आभासार्थ: नारदजीने जिन भू-भागोंको, जलाशयोंको और वृक्षोंको पार किया था उनका वर्णन ढाई श्लोकोंमें करते हैं.

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान्।
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च।।११।।

श्लोकार्थः सस्य(धान्य) आदिसे सम्पन्न देश, बडे-बडे नगर, छोटे गांव, गायोंके स्थान, नमक आदिकी खानें, किसानोंके खेडे, अग्निहोत्रियोंके स्थान, पुष्प वाटिकायें वन एवं उपवन तथा खलिहानोंका अतिक्रमण किया ।।११।।

सुबोधिनीः उनमें एक श्लोकसे भूमि विशेषका कथन करते हैं. 'स्फीत' कहते हैं धान्य आदिसे सम्पन्न. जनपदसे मालव आदि प्रदेश. नगरसे जो बडे होते हैं उन्हें पुर कहते हैं. छोटी बस्तिएं गांव कहलाती हैं. गायोंकी गोशालाएं व्रज कहलाती हैं. आकर नमक आदिकी खानें. किसानोंके ग्राम खेट कहे जाते हैं. अग्निहोत्रियोंके निवास खवट कहलाते हैं जिनमें एक ओर नदी और दूसरी ओर पर्वत होते हैं. जो गांवके मध्यमें सहज भूमि होती है उन्हें वन कहते हैं और जिनमें वृक्ष लगाये जाते हैं वे उपवन कहलाते हैं. 'च'से खलिहान आदि ।।११।।

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान्।
जलाशयान् शिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः।
चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः।।१२।।

श्लोकार्थः जिनकी शाखाएं हाथियोंने तोड दी हैं ऐसे वृक्षोंवाले रंग बिरंगे धातुओंसे विचित्र दीखनेवाले पर्वतोंका अच्छे जलवाले बडे बडे जलाशयोंका, कमल आदिसे युक्त अपने आप बने हुए सरोवरोंका, देवालय आदिसे युक्त नाना प्रकारके शब्द करनेवाले पक्षियोंके साथ विशेष रूपसे भ्रमण करनेवाले भौरोंकी शोभासे युक्त स्थानोंका अतिक्रमण किया।।१२।।

सुबोधिनीः वृक्ष सहित पर्वतोंका अतिक्रम बताते हैं. विचित्र धातुओंसे विविध प्रकारके रंगोवाले पर्वत जिनपर हाथियोंके द्वारा तोडी गई शाखावाले वृक्ष थे जिससे उन पर्वतोंको देखकर रंगसे सुन्दरता और वृक्षोंसे भय उत्पन्न होता था. विश्राम करनेकेलिए जलाशय थे जिनमें रोग आदिको उत्पन्न न करनेवाला ठण्डा जल भरा हुआ था और जिनमें कमल खिले हुए हैं ऐसे स्वाभाविक जलाशय भी थे. उनके पास ही देवताओंके मन्दिर भी थे. विचित्र प्रकारके पक्षियोंके स्वरके साथ ही विशेषरूपसे घूमनेवाले भ्रमरोंकी शोभा भी आश्चर्य जनक थी ।।१३।।

आभासार्थः भूभाग जल-वृक्षोंका निरूपण करके अब उनका अतिक्रमण बताते हैंः

नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम्।

एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत्।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम्।।१३।।

श्लोकार्थ: नलबांस, बांस, सरगंडे, कुश, छेदवाले बासोंसे अत्यन्त गहन तथा जो सर्प, उल्लू एवं सियारोंका आंगन घर ही था ऐसे अति भयंकर महान् वनको अकेले ही जाते हुए मैंने देखा।।१३।।

सुबोधिनी: नलबांस, बांस, तथा सरगंडेसे घना तथा कुश और छेदवाले मोटे बांसोकी गुफाओंसे युक्त महान् वनमें मैं अकेला ही गया. कुछ देशका अतिक्रम ही यहां कहा गया है. अथवा पूर्वमें बताये गयेका अतिक्रम किया. पहले जिस भू-भागका निरूपण किया उसमें तो रास्ता चलनेवाले अथवा उनमें रहनेवाले भी जहां तहां मिलते थे किन्तु इस भयावने वनको तो केवल मैंने अकेलेने ही देखा. उस भयंकर वनको देखकर भी मुझे भय नहीं हुआ उसे कहते हैं. भयंकर बाघोंसे चीरे हुए मांसोंको भी मैंने देखा और जिन बाघोंको देखकर सब डर जाते हैं वे बाघ भी उस वनको देखकर डरते हैं. मध्यमें जहां वृक्ष नहीं थे वह स्थान भी भयानक था. वहांपर सांपों, उल्लुओं और सियारोंने अपना घर बना रखा था और उनके खानेसे बचे हुए मांस भिखरे पडे थे ।।१३।।

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतव्यथः।।१४।।
तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः।
आत्मनात्मानम् आत्मस्थं यथाश्रुतम् अचिन्तयम्।।१५।।
ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य ह्रद्यासीद् मे शनैर्हरिः।।१६।।

श्लोकार्थ: चलते चलते मेरा शरीर, अत:करण और इन्द्रियां शिथिल हो गईं. मुझे जोरकी प्यास और भूख लगी. वहां एक नदी मिली उसके ह्रदमें मैंने स्नान, जलपान और आचमन किया इससे मेरी थकावट मिट गई. उस निर्जन वनमें एक पीपलके नीचे मैं आसन लगाकर बैठ गया. उन महात्माओंसे जैसा मैंने सुना था ह्रदयमें रहनेवाले परमात्माके उसी स्वरूपका मैं मन ही मन ध्यान करने लगा. भक्तिभावसे वशीकृत चित्त द्वारा भगवान्के चरण कमलोंका ध्यान करते ही भगवत्प्राप्तिकी उत्कट लालसासे मेरे नेत्रोमें आंसू भर आये और धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गये।।१४-१६।।

सुबोधिनी: यद्यपि पहले भगवान्का चिन्तन करते हुए जा रहे थे परन्तु अत्यन्त भयावने वनको देखनेसे बहिर्मुखता हो गई. भगवान्का ध्यान जाता रहा. तब शरीर, इन्द्रियां और अन्तःकरण शिथिल हो गये तथा प्यास और भूख भी लग गई. किसी पर्वतीय नदीका कुण्ड सदृश ह्रद था वह वृक्ष आदिके कारण ठंडा होता ही है. उसमें स्नान किया तथा जलपान किया और फिर आत्मचिन्तनकेलिए आचमन किया आत्मचिन्तन करते ही अन्तःकरणके क्लेशकी निवृत्ति हो गई और स्नान तथा जलपानसे देह और इन्द्रियोंका क्लेश मिट गया. इस तरह सावधान होकर वनकी निर्जनताके कारण वहां कोई हल्ला गुल्ला या पाप आदिका सम्बन्ध तो था ही नहीं ऐसे उस वनमें वहां भी पीपलके वृक्षका पीठके द्वारा सहारा लेकर आत्माका चिन्तन किया. मैं कौन हूं तब मैं आत्मा हूं ऐसा ज्ञान हुआ तदनन्तर मैं इस तरह किससे भासित हो रहा हूं ऐसी जिज्ञासा हुई तो यह समझमें आया कि स्वयं प्रकाश अपनी आत्मासे ही मैं प्रकाशित हूं . इस तरह स्वप्रकाशरूप आत्मज्ञानके अनन्तर फिर गूढ उपदेशके स्मरणसे जिसकी मैं आत्मा हूं उस आत्माका आश्रयभूत वह कौन है ऐसी जब जिज्ञासा हुई तो आत्मामें ही प्रकाशमान भगवान्के दर्शन किये. जैसा मैंने सुना था उसीका चिन्तन किया तो वैसी ही मानसी मूर्ति मेरे ह्रदयमें आ गई. जब उसका चिन्तन प्रारम्भ किया तो उसमें मेरी भक्ति उत्पन्न हो गई. भक्ति उत्पन्न होनेके अनन्तर भगवान्के चरण कमलोंका ध्यान आरम्भ किया चित्तको एकाग्र करके भक्तिपूर्वक चरणारविन्दका ध्यान करनेसे भक्त्यानन्द पूर्ण हो गया. भक्त्यानन्दके पूर्ण हो जानेसे प्रेम और उत्कण्ठाके कारण आनन्दके अश्रु रोमांच आदि हो गये. उत्कण्ठाके कारण नेत्र अश्रुओंसे पूर्ण हो गये तब बाहरका देखना सर्वथा बन्ध हो गया तब चिन्तनकी अनुवृत्ति बराबर बनी रहे इसकेलिए ह्रदयमें शनैः शनैः भगवान् प्रकट हो गये ।।१४-१६।।

आभासार्थ: मनके द्वारा कल्पित मूर्तिके अन्दरसे ही भगवान्का आविर्भाव होनेपर उस मानसिक मूर्तिके साथ आविर्भूत भगवान्की एकता होनेपर जो हुआ उसे कहते हैं:

प्रेमातिभरनिर्भिन्न-पुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यम् उभयं मुने।।१७।।
रूपं भगवतो यत् तद् मनःकान्तं शुचापहम्।

अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव।।१८।।

श्लोकार्थ: हे व्यासजी! उस समय प्रेमभावके अत्यन्त उद्रेकसे मेरा रोम रोम पुलकित हो उठा. हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया. उस आनन्दकी बाढमें मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और ध्येय वस्तुका भान न रहा. भगवान्का वह रूप समस्त शोकोंका नाश करनेवाला और मनकेलिए अत्यन्त लुभावना था. सहसा उसे न देख मैं अत्यन्त विकल हो गया. दु:खित मनवालेकी तरह होकर आसनसे उठ खडा हुआ।।१७-१८।।

सुबोधिनी: जिस तरह यह भगवत्साक्षात्कार हुआ उसी तरह ब्रह्म साक्षात्कार भी होता है. जिस तरह गङ्गाजलमें देवता रूप गङ्गाका ध्यान करनेपर साक्षात् गङ्गा यदि प्रकट होती है उसी तरह सभी आत्माओंके आत्मभूत आत्मस्थ भगवान्का ध्यान करनेपर साक्षात् भगवान्का आविर्भाव यदि होता है तो स्वतः उसमें स्थिर हो जानेपर उसमें प्रवेश तथा सायुज्य हो जाता है. जैसे जलका देवतामें प्रवेश हो जानेपर नदी सूख जाती है उसी तरह जीव ब्रह्म हो जाता है. अतएव आविर्भूत भगवान्में सान्निध्यके कारण उत्कट प्रेम हो गया. उस प्रेमकी बाढ आ गई थी. हृदयमें भगवान्की सन्निधिके लक्षण उत्तरोत्तर बढते गये. अतः उस प्रेमके पूर्णसे शरीरमें रोमाञ्च हो गये अर्थात् प्रेम रोमकूपों द्वारा बाहर प्रकट हो गया. इस तरह सर्वांग आनन्दसे पूर्ण हो गया जिससे उन्हें अत्यन्त संतोष हो गया. अर्थात् नारदजी शान्तानन्दमय हो गये. जैसे गङ्गाजीके जलसे घडा भरकर उस जलको फिर गङ्गाजीमें डाल दिया जाय तो जैसे वह जल गङ्गा ही हो जाता है उसी तरह नारदजीको पहले तो स्वयंका तथा भगवान्का अलग अलग ज्ञान था परन्तु आनन्दकी बाढ आ जानेपर तो नारदजीको स्वयंका और भगवान्का दोनों ही का अलग अलग ज्ञान जाता रहा. हे मुने! ऐसा सम्बोधन स्वयंका अनुभव बतानेकेलिए दिया है अर्थात् मुनियोंको कदाचित् ऐसा अनुभव हुआ करता है. आनन्दमें चैतन्य भाव प्रविष्ट हो गया आनन्द चैतन्यरूपसे स्फुरित नहीं हुआ यह इसका अभिप्राय है. इसके बाद भगवान्की इच्छासे हृदयसे भगवान्के तिरोहित हो जानेपर अपना आनन्द भी तिरोहित हो गया और आनन्दांशके तिरोहित होनेपर वह मानसी मूर्ति भी तिरोहित हो गई. ऐसी जबरदस्त चोटके कारण भगवान्का रूप जो मनके भर्तारूपसे प्रकाशमान था और जो सब दु:खोंका नाश करनेवाला था उसे न देखकर क्या इधर गये हैं या इधर गये हैं इस

बुद्धिसे सहसा मैं उठकर खडा हो गया. यदि शंका हो कि जो पदार्थ हृदयके अन्दर है उसके बाहर जानेकी सम्भावना ही नारदजीको कैसे हुई उसका कारण यह है कि नारदजी इतने घबरा गये थे कि वे ऐसा सोच ही न सके कि भीतरका पदार्थ बाहर कैसे जा सकता है क्योंकि विकलता सब समझको भुला देती है. तब वे उदाससे हो गये. जैसे किसीका सर्वस्व नष्ट हो जाय तो सर्वस्वमें आविष्ट चित्त नष्ट सा हो जाता है. उसी तरह सर्वस्वरूप भगवन्मूर्तिमें आविष्ट उनका चित्त नष्ट हो गया चित्त खो गया ।।१७-१८।।

आभासार्थ: फिर कुछ समय तक नारदजीने चित्तका समाधान किया तब उन्हें ज्ञात हुआ कि भगवान् प्रकट हुए थे इसलिए यह सब इतना हुआ. तब सावधान होकर पुन: भगवान्के दर्शनकेलिए ध्यान आरम्भ किया:

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यम् अवितृप्त इवातुरः।।१९।।

श्लोकार्थ: आविर्भूत भगवत्स्वरूपको पुन: देखनेकी इच्छासे मैंने हृदयमें मनको स्थिर किया. जिससे मुझे दर्शन हो जाय परन्तु मानसी मूर्तिको देखता हुआ भी वहां भगवान्को न देख सका. जिस प्रकार ज्वरादि रोगवाला द्राक्षा आदिसे अतृप्त सा रहता है मेरी भी वैसी ही स्थिति हुई।।१९।।

सुबोधिनी: उस आविर्भूत भगवान्के रूपको देखनेकी इच्छासे. उसके देखनेमें भगवान्का ध्यान ही साधन है ऐसा जानकर फिर मनको भगवान्की मूर्तिसे व्याप्त हृदयमें स्थिर किया. तब मानसी मूर्ति तो दिखाई दी किन्तु भगवान् दिखाई नहीं दिये. तब सन्ताप उत्पन्न हुआ उसे 'अवितृप्त इवातुरः'से बताते हैं. जैसे ज्वरादि रोगवाले रोगीको कदाचित् दाख आदि दी जाय तो उससे तृप्त न होकर वह फिर उसे मांगता है उसके न मिलनेपर उसके रसके अभिनिवेशसे महान् दुःखको प्राप्त होता है परन्तु ज्वरवालेको अधिक दाखका देना हितकर नहीं होता किन्तु दाख केवल उसकी रुचि बढानेकेलिए ही दी जाती है. मार्गके संवादसे सत्यत्वज्ञानसे और भगवान्के आविर्भावसे कुछ तृप्ति तो हो ही गई थी. जो वस्तु खाई जाती है वही तो वमनमें निकलती है. इस तरह तथापि विशेषरूपसे तृप्ति नहीं हुई ।।१९।।

आभासार्थ: फिर भी यत्नको नहीं छोडा उसे कहते हैं:

एवं यतन्तं विजने माम् आहागोचरो गिराम्।

गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव।।२०।।

श्लोकार्थ इस प्रकार निर्जन वनमें दर्शनकेलिए यत्न करते हुए मुझे वाणीके अविषय साकार ब्रह्मने गम्भीर और मधुर वाणीसे शोक मिटाते हुएकी तरह कहा।।२०।।

सुबोधिनी: 'विजन' कहनेका तात्पर्य यह है कि जहां अन्य किसी मनुष्यके वाक्यकी सम्भावना ही नहीं थी तब वह बोलने वाला कौन था? उसकेलिए कहते हैं कि 'अगोचरो गिराम्' जिसे वाणीसे नहीं कह सकते ऐसा साकार ब्रह्म जो केवल भगवच्छास्त्रोंसे ही जाना जा सकता है. जिसे श्रुति ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' ऐसा बताती है. गम्भीर वाणीसे मुझे कहा गम्भीर होनेसे ही उसकी प्रतिध्वनि नहीं हुई और मधुर होनेसे वह आकाश पुरुषकी वाणी नहीं थी. नारदजीको शोक इसलिए था कि मैंने जो अनुभव किया था क्या वह मेरा भ्रम था या स्वप्न था? यदि भ्रम या स्वप्न हो तो उसमें शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता इसका उन्हें बहुत दुःख था और देखनेकी इच्छाका भी दुःख था. इस तरह उन्हें अनेक प्रकारके शोक थे उन सब शोकोंको शान्त करनेवाले वे वाक्य थे. शोक थे उनको तो शान्त किये, आगे भले ही हो सकते हैं. इस समय तो नहीं है इसको बतानेकेलिए 'शमयन्निव' ऐसा कहा है ।।२०।।

आभासार्थ: भगवान्के वचनोंको कहते हैं:

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुम् इहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।२१।।

श्लोकार्थ: स्नेहसे दुःखी तुम इस जन्ममें और यहां मुझे नहीं देख सकते. क्योंकि जिनके राग-द्वेष पके नहीं हैं ऐसे विघ्नवाले योगियोंको मेरे दर्शन कठिनतासे होते हैं।।२१।।

सुबोधिनी: स्नेहके कारण दुःखी नारदजीको 'हन्त' इस अव्ययसे सम्बोधित किया. इस जन्ममें आप मुझे नहीं देख सकते और न यहां. यदि यहां दीखनेकी कहते तो मरण पर्यन्त नारदजी यहां ही रह जाते इसलिए वैकुण्ठमें या दूसरी जगह जन्मान्तरमें दर्शन होंगे यहां दर्शन न होनेका कारण है कि तुम्हारे राग द्वेष आदि विशेषरूपसे परिपक्व नहीं हुए हैं. यद्यपि इस समय भक्ति और ज्ञानके उदयसे वे रागादि दब गये हैं इसलिए छिपे हुए हैं. कालान्तरमें पुनः सहायकके मिल जानेपर वे तैयार हो सकते हैं. इसलिए उनके परिपक्व होनेका उपाय ढूंढो.

''कषायपङ्क्तिः कर्माणि'' इस श्रुतिके अनुसार कषायोंको पकानेवाले कर्मोंको तुम्हें करना चाहिये. कषायोंके परिपक्व न होनेपर भी यदि साधनोंमें तुम्हारा अधिक आग्रह होगा तो कदाचित् अतिकठिनतासे देख भी सकोगे. इसको बतानेकेलिए 'दुर्दर्शः' ऐसा कहा. दर्शनमें विघ्न रुकावट डाल सकते हैं इसलिए कषायोंका परिपाक आवश्यक है. कषायोंका परिपाक तुममें पूर्वसिद्ध नहीं है ।।२१।।

आभासार्थ: यदि कषायोंका परिपाक नहीं हुआ तो फिर एक बार दर्शन कैसे हो गये? उसका उत्तर है उस दर्शनमें तो प्रमेय बल कारण था:

सकृद् यद् दर्शितं रूपम् एतत् कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान् ।।२२।।

श्लोकार्थ: हे निष्पाप बालक! तुम्हें जो मैंने एक बार दर्शन कराया है वह मेरेमें उत्कट इच्छा उत्पन्न करनेकेलिए कराया है मेरी कामनावाला साधक लौकिक कामोंको धीरे धीरे छोड देता है और साधु (भक्त) हो जाता है और मेरी कामना होनेपर हृदयस्थ सभी रागादिकोंको छोड देता है।।२२।।

सुबोधिनी: यह रूप जिसे मैंने तुम्हें एक बार दिखाया है वह मेरेमें उत्कट इच्छा प्रकट हो इसकेलिए था. उस उत्कट इच्छामें प्रवृत्त हुआ कभी चुपचाप नहीं रह सकता. उत्कट इच्छासे क्या होगा उस पर कहते हैं कि 'मत्कामः शनकैः' जिसकी मेरे प्रति उत्कट इच्छा हो वह उस इच्छाके द्वारा जैसे जैसे मैं उसके हृदयमें प्रविष्ट हो जाऊंगा वैसे वैसे वह लौकिक कामनाओंका परित्याग कर देता है. पहले तो वह साधु (भक्त) हो जाता है क्योंकि मैं भक्तोंसे ही प्राप्त हो सकता हूं राग-द्वेष आदि यदि रहते हैं तो उसमेंसे साधुत्व चला जाता है. अतः वह हृदयमें निवास करनेवाले सभी रागादि दोषोंका परित्याग करता है ।।२२।।

आभासार्थ: तो फिर मुझे क्या साधन करना चाहिये:

सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः।
हित्वावद्यम् इमं लोकं गन्ता मज्जनताम् असि।।२३।।

श्लोकार्थ: थोडे समयकी सत्पुरुषोंकी सेवासे ही मेरेमें तुम्हारी बुद्धि दृढ हो गई. दोषवाले इस देहको छोडकर तुम सेवक बन जाओगे।।२३।।

सुबोधिनी: साधन तो तुम्हारा हो चुका. क्योंकि थोडे समय ही की गई सज्जनोंकी सेवासे तुम्हारी मेरेमें दृढ बुद्धि हो गई. तो फिर अब क्या बाकी रहा?

इसपर कहते हैं 'हित्वावद्यमिमं' यद्यपि तुम्हारी बुद्धि तो मेरेमें दृढ हो गई है किन्तु यह देह तो दुष्ट है. यह जब चला जायेगा तब तुम्हें मेरे दर्शन होंगे. यदि यह शंका हो कि आगेका शरीर भी तो इसी शरीरका अंकुर होगा तो फिर आगेका शरीर निर्दोष कैसे हो जायेगा इसपर कहते हैं 'मज्जनतामसि' असेवक होते हुए भी तुम सेवक शरीरको प्राप्त करोगे ।।२३।।

आभासार्थ: इसके अनन्तर प्राप्त होनेवाले शरीरमें तो ज्ञान आदि साधनोंका अभाव रहेगा तो आपके दर्शन कैसे होंगे इस पर कहते हैं:

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ।।२४।।

श्लोकार्थ: मुझे प्राप्त करनेका तुम्हारा यह दृढ निश्चय कभी नष्ट नहीं होगा. प्रलय हो जानेपर भी मेरे अनुग्रहसे तुम्हें मेरी स्मृति रहेगी।।२४।।

सुबोधिनी: इस देहका ज्ञान आगेके देहमें भी बना रहेगा. इसके नष्ट होनेकी कोई शंका ही नहीं है. क्योंकि तुम्हारी बुद्धिका सम्बन्ध मेरेमें दृढ हो गया है. जैसे मेरा सायुज्य प्राप्त होनेपर जीवोंका अविद्यासे तिरोभाव नहीं होता उसी तरह ज्ञान आदिका तिरोभाव भी नहीं हो सकता. उनका ज्ञान भी मेरे अनुग्रहसे मेरे ज्ञानकी तरह हो जायेगा. इसको 'कर्हिचित्' पदसे बताया है. कभी भी बाधक कालके होनेपर भी दोनों हीका अनुवाद करके निषेध करते हैं. अर्थात् प्रजाकी सृष्टिके समय और प्रलयके समय भी उनका ज्ञान वैसा ही रहता है जिन पदार्थोंका उन्होंने अनुभव किया है उनकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती इस कथनका तात्पर्य यह है कि तुम सदा सावधान रहो. कषायोंका परिपाक करते रहो. अन्तराय (विघ्न)से अनुपहत रहो और सब तो मैंने ही तुम्हारेलिये कर दिया है. मेरेमें उत्कट इच्छा होनेसे विषयोंसे अपने आप वैराग्य हो जाता है. इस देहके अवसानके अनन्तर ही मेरे पार्षदका देह तुम्हें मिलेगा और साथ साथ ज्ञान भी बना रहेगा और सब पदार्थोंकी स्मृति भी तुम्हें रहेगी. वहां बिना किसी विघ्नके कषायोंके परिपाकका उपाय तुम्हें करना होगा यह इससे सिद्ध होता है ।।२४।।

एतावद् उक्त्वोपरराम तन् महद्भूतं नभोलिङ्गम् अलिङ्गम् ईश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः।।२५।।

श्लोकार्थ: जिसके निश्वास वेद हुए ऐसा वह महान् है और जो आकाशकी तरह अदृश्य, प्रमाणादिसे अगम्य कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थ

है वह भगवान् ऐसा कहकर चुप हो गये. मैंने महान्से भी महान् उस परिचितको साष्टांग प्रणाम किया क्योंकि मैंने उनकी अनुकम्पा प्राप्तकी थी।।२५।।

सुबोधिनी: उपायको बताये बिना ही वह उपाय तो स्वतः आगे समझमें आ जायेगा. अतः पूर्वोक्त मात्र कहकर चुप हो गये. वह बात प्रामाणिक थी इसकेलिए वक्ताकी विशेषता बताते हैं. विशेष रूपसे वक्ताका ज्ञान न हो सका इसलिए वक्ताका निर्देश 'नपुंसक' पदसे किया है. 'तत्' शब्दसे उसका अनुवाद किया है. जो वेदोंके उद्गमका मूलभूत है इसलिए उसे 'महद्भूत' पदसे कहा ''अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं वेदाः'' वह कहनेवाला आकाश पुरुष नहीं था. 'नभोलिङ्गम्' आकाश तो भगवान्का अनुमापक है. भगवान्का प्रथम कार्य आकाश था इसलिए भी 'नभोलिङ्ग' ऐसा कहा. अथवा वैसा कहनेमें वह कारण था. क्योंकि उसका कार्य (शब्द) भी वैसा कह सकता है. 'आलिङ्गं'का अभिप्राय यह है कि भगवान् अनुमानगम्य नहीं हैं. जो अप्रत्यक्ष होता है वह अनुमानगम्य होता है भगवान् तो प्रत्यक्ष हैं. भगवान्के अतिरिक्त रूपमें भी व्याप्ति आदि नियामक नहीं हैं. यह 'ईश्वरं' पदसे बताया है. भगवान्में अन्यथा-करणका सामर्थ्य होनेसे 'धूमवत्वात्' इस हेतुसे अग्निकी सिद्धिकी तरह भगवान्की सिद्धि किसी हेतुसे नहीं हो सकती. इससे भगवान् सब प्रमाणोंसेपर और सर्वत्र प्रमाण हैं. मैंने भी इन्हीं भगवान्का कहा हुआ किया. उस कार्यके करनेमें किसी प्रकारका विघ्न न हो इसलिए उन्हीं भगवान्को नारदजीने नमस्कार किया. उन भगवान्से पूर्वमें परिचय होनेके कारण ही 'तस्मै' उनकेलिए ऐसा कहा. वह ईश्वर फलका दान करे इसकेलिए भी नमन है. वह केवल नमस्कार मात्रसे ही कैसे कार्य करेगा. इसपर 'महतां महीयसे' जो अतिमहान् हैं उनकेलिए केवल नमस्कार ही किया जा सकता है. बाहर ही शब्द सुना था इसलिए भगवान् बाहर ही खडे थे अतः उन्हें साष्टांग प्रणाम किया. ऐसा करना उचित भी है क्योंकि भगवान्ने बडी भारी कृपाकी थी ।।२५।।

आभासार्थ: नारदजीने निश्चय किया कि अब मैं कषायोंके परिपाककेलिए साधन करता हूं:

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः।।२६।।

श्लोकार्थ: लज्जाका परित्याग करके अनन्त रूपोंवाले भगवान्के

नामोंका उच्च स्वरसे निरन्तर उच्चारण करता हुआ और भगवान्‌की गोप्य एवं मनोहर लीलायें हैं उनका स्मरण करता हुआ सन्तुष्ट मनसे मैं इच्छाविहीन गर्व एवं मात्सर्य रहित होकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथ्वी पर्यटन करता रहा।।२६।।

सुबोधिनी: कषाय तीन प्रकारके हैं. साक्षात् रागादि तामस हैं. उनमें भी वासना रूप रागादि राजस हैं और उनके भी मूलभूत रागादि अविद्या रूप हैं. वे क्रमशः तामस रागादि कर्मके द्वारा, राजस रागादि भक्तिके द्वारा और अविद्या रूप रागादि ज्ञानके द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं. उनके अधिकार अलग अलग हैं इसलिए किसी एकके द्वारा एक ही समयमें इसका नाश नहीं किया जा सकता. इसलिए इन तीनोंका एक अनुकल्प करना चाहिये. भगवान्‌की कृपासे नारदजीको जो हृदयमें प्रेरणा हुई वो उन्होंने किया. भगवान्‌के नामोंका सदा और सब जगह कीर्तन करे ''चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्'' इस वाक्यके अनुसार भगवान्‌के नामोंके उच्चारणमें अमुक देश ही हो या अमुक काल ही हो ऐसा कोई आवश्यक नहीं है. केवल एक ही नामकी आवृत्ति न करे. ब्रह्मवेत्ताकेलिए सभी रूपोंसे भगवत्सेवा करनी चाहिये ऐसा श्रुतिसे सिद्ध है केवल एक नामकी आवृत्तिमें अथवा एक रूप विशेषकी सेवासे सब नामोंसे या सब रूपोंसे सर्वत्र रक्षा नहीं हो सकती. श्रोता और वक्तामें संकीर्ण बुद्धि तथा पाषण्डता भी होगी उसमें हेतु बताते हैं कि भगवान्‌के रूप अनन्त हैं ऐसा होनेसे अनन्त भगवद्धर्मोंका उन नामोंमें स्मरण हो जाता है. जो अलौकिक कार्य होता है उसको लोकमें छिपाकर करते हैं. क्योंकि लोगोंके उपहासका भय रहता है तथा देह, कुल और अन्तःकरणके धर्मोंसे लज्जा भी होती है. विहित होनेपर भी लोकोपहास होता है. लोग हमारा उपहास न करें ऐसी यदि बुद्धि होगी तो भगवान्‌में शुद्ध भाव नहीं होगा. इसलिए लोक लज्जा एवं लोक भयको छुडाते हैं. 'हतत्रपः' लज्जाको मारकर जो मर जाता है वह फिर जी नहीं सकता. क्रिया और कर्मके मध्यमें अधिकारी पदका प्रयोग होनेसे नामोच्चारणमें ही लज्जाका हनन करना चाहिये. अपने अधीत नामोंका अनुसन्धानपूर्वक जोर जोरसे उच्चारण करना पठन कहा जाता है. 'शतृ' प्रत्यय वर्तमानकालमें होता है. अतः नामोंका उच्चारण निरन्तर करते रहना चाहिये. चित्त चंचल है इसलिए उसके अवलम्बनकेलिए जो भगवान्‌के गुप्त चरित्र हैं जिन्हें लोकमें स्पष्ट रूपसे नहीं कह सकते. ऐसे जो चरित्र हैं जिन्हें भगवान्‌ने केवल कृपासेही किये हैं जैसे अर्जुन द्रौपदी आदिके शयन

स्थान आदिमें 'भद्र' पदसे जो अच्छे लगें वैसे नाम और रूपोंका जो अपने लिए बाधक न हों. जिनको स्पष्ट रूपसे कह सकते हैं उन्हें 'कृतानि' पदसे बताया है. अथवा 'कृतानि'से जो आगे किये जायेंगे उनका ग्रहण करना. भगवान्‌की कृपा होनेसे भगवान्‌के द्वारा आगे किये जानेवाले कर्म भी समझमें आ जाते हैं. 'गां पर्यटन्'का अर्थ है पृथ्वीपर निरन्तर भ्रमण करते हुए. घूमना शारीरिक कर्म है. 'गां'में द्वितीया ''**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे**''(पाणि.सू.२।३।५)से हुई है. यहां पृथ्वीकेलिए 'गो' शब्दका प्रयोग किया है उसका आशय यह है कि जैसे गायकी सेवा करना धर्म है उसी तरह पृथ्वीका पर्यटन भी धर्म है. 'पर्यटन' कहते हैं सब ओर घूमना. अतः नारदजीने केवल सीधे मार्गसे ही देशोंका अतिक्रमण नहीं किया. यहां केवल एक 'हतत्रपः' अङ्गको ही साधनका साधन बताया है. अब पांच अङ्गोंको फलका साधन बताते हैं 'तुष्टमनाः' यदि पृथ्वी पर्यटन अन्य कार्यकेलिए हो तो केवल उतने मात्रसे मनको परितोष नहीं होता. इसलिए प्रसन्नचित्त होना चाहिये. अर्थात् केवल पर्यटनका ही फल समझना चाहिये. पर्यटनका अन्य कोई फल नहीं होना चाहिये. यद्यपि वैसे घूमनेमें लौकिक अथवा अलौकिक फल होता है परन्तु उन फलोंकी इच्छा न करें इसकेलिए 'गतस्पृहः' ऐसा कहा. शङ्का कर सकते हैं कि अपरिच्छिन्न (अपरिमित) कर्म तो किये नहीं जा सकते इसलिए द्वितीय अध्यायमें कर्म भेदों ?का निरूपण किया गया है. उनमें कर्मोंका परिच्छेदक देश और कालके सम्बन्ध होनेपर क्या करना चाहिये इसपर कहते हैं 'कालं प्रतीक्षन्' 'प्रतीक्षन्'में 'शतृ'प्रत्यय हुआ है इसलिए प्रारम्भसे ही कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये. इससे शरीर रक्षा आदिके साधनोंके अभावमें अथवा शरीर रक्षामें बाधक होनेपर भी अन्तःकरणमें क्लेश नहीं होगा. दैवगतिसे सम्मान प्राप्त हो तो भी अभिमान नहीं करना चाहिये. सम्मान (पूजा)से उसका कोई महत्व नहीं होता प्रत्युत सम्मान तो बाधक होता है. कहा भी है ''**जनेनाभिमतो योगी योगसिद्धिं न विन्दति**'' मनुष्योंसे सम्मान प्राप्त योगी योगसिद्धिको प्राप्त नहीं होता. विषयोंकी प्राप्ति न हो तो मात्सर्य भी नहीं करना चाहिये. कालके साधक होनेसे उनका तो और भी उपकार मानना चाहिये. उसके विपरीत मात्सर्य नहीं करना चाहिये. अबाधक विषयोंके प्राप्त कराने वालोंमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन नहीं हो सकता है. निषिद्ध विषयोंके प्राप्त कराने वालोंको तो बाधकोंकी तरह सहन करना चाहिये ।।२६।।

आभासार्थः इस तरह १.हतत्रप २.प्रसन्नमन ३.गतस्पृह ४.और कालकी प्रतीक्षा करते रहना ५.मद न करना ६.मात्सर्य न करना इन छह अङ्गोंके सहित नामोच्चारणपूर्वक भूपर्यटन कषायोंके परिपाकका कारण है. इस तरह कषायोंके परिपाकका कारण दृष्टके द्वारा या अदृष्टके द्वारा होता है इस आशंका पर कहते हैं:

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन् असक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत् काले तडित्सौदामनी यथा ।।२७।।

श्लोकार्थः हे ब्रह्मरूप व्यासजी! इस प्रकार कृष्णमें बुद्धि रखनेवाले विषयोंमें अनासक्त शुद्धान्तःकरणवाले मेरी वर्षाकालमें सुदाम पर्वतसे होनेवाली बिजलीकी तरह समय आनेपर मृत्यु स्पष्ट दिखाई दी।।२७।।

सुबोधिनीः इस तरह घूमनेपर ही कृष्णमें मति होती है और तब ही विषयोंमें अनासक्ति होती है. जब कृष्ण अच्छे लगने लगते हैं तब संसारके विषय अच्छे नहीं लगते. 'ब्रह्मन्' ऐसा व्यासजीकेलिए दिया गया सम्बोधन व्यासजीकी सम्मतिका परिचायक है. कृष्णमें रुचि हो जानेसे और विषयोंमें आसक्ति न होनेपर ही जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया तब ही कषायोंका परिपाक हो गया. कषायोंके परिपाककेलिए ही तो शरीरकी रक्षाकी थी. जब कषाय पक गये तब शरीरका और कोई प्रयोजन रहा नहीं तब उस शरीरको ग्रहण करनेकेलिए काल प्रकट हो गया. जब शरीरके प्रारम्भक अदृष्टकी समाप्ति हो गई अथवा शापकी समाप्ति हो गई उस समय. अथवा 'काले'का सम्बन्ध आगे समझना. अर्थात् वर्षाकाल आनेपर. कोई टीकाकार 'तडित्'का अर्थ शीघ्र ऐसा करते हैं अथवा 'तडित्'का अर्थ बिजली यह बिजली सुदाम पर्वतसे उत्पन्न हुई है इसलिए इसे 'तडित् सौदामनी' ऐसा कहते हैं अथवा 'तडित्सौदामनी' यह एक ही पद है. 'तडिदिव पीतः' इस वाक्यमें 'तडित्' इस एकदेशका प्रयोग भी देखा गया है. जैसे मेघसे होनेवाली वृष्टिके पहले ही बिजली चमकती है उसी तरह शरीरको नष्ट करनेवाले रोग आदिकी अपेक्षा जीवको ले जानेवाला काल पहले ही प्रकट हो गया ।।२७।।

आभासार्थः इसके बाद क्या हुआ उसे कहते हैं:

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ।।२८।।

श्लोकार्थः मुझे शुद्ध भगवद्भक्त पार्षद देहके प्राप्त कराये जानेपर

जिसके आरम्भक कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसा पञ्चभूतोंसे बना हुआ पहला देह गिर गया।।२८।।

सुबोधिनी: पहलेसे ही भगवत्सम्बन्धी शुद्ध सत्त्वका परिणाम रूप देह उपस्थित था इसलिए मुझे देहके वियोगका क्लेश ज्ञात न हो सका. समय प्राप्त होते ही मुझे शीघ्र ही उस देहमें ले जाया गया. वहां ले जाते समय कुछ दूर तक विमानके सम्मुख शरीर भी गया था परन्तु पाञ्चभौतिक शरीरके होनेसे क्रमशः सब गिर गये अथवा वैकुण्ठ तक पहुंचनेपर यह शरीर गिर गया. योगमें तो ब्रह्मता प्राप्त होनेपर भी शरीर रहता है. तो फिर वह शरीर कैसे गिर गया? उसका उत्तर देते हैं. जिस कर्मसे इस शरीरका आरम्भ हुआ था वह कर्म समाप्त हो गया अतः यह शरीर गिर गया. 'निर्वाण' शब्दसे यह जाना जाता है कि केवल देह ही नहीं छूटा. किन्तु कर्म भी समाप्त हो गये. जब कर्म समाप्त हो गये तो अब उनकी परम्परा ही समाप्त हो गई. वर आदि तो आरम्भक कर्मरूप होता है. उसकी समाप्ति तो देह ग्रहण मात्रसे ही हो गई. यद्यपि देह ब्रह्माण्ड तक जाता है परन्तु वह तो भौतिक देह था इसलिए यहीं गिर गया ।।२८।।

आभासार्थ: तो फिर ब्रह्माजीसे कैसे उत्पत्ति हुई इसे दो श्लोकोंसे कहते हैं:

कल्पान्त इदम् आदाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ।।२९।।
सहस्रयुगपर्यन्तम् उत्थायेदं सिसृक्षतः।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ।।३०।।

श्लोकार्थ: जब कल्पके अन्तमें सबको उदरमें लेकर भगवान् समुद्रके जलमें सोते हैं तब सोनेकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्माजीके नासापुटके श्वासके साथमें भीतर प्रविष्ट हो गया. एक सहस्र-चतुर्युगी बीत जानेपर जब ब्रह्मा जगे और उन्होंने सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छाकी तब उनके अवयवों तथा इन्द्रियोंसे मरीचि आदि ऋषियोंके साथ मैं भी उत्पन्न हो गया।।२९-३०।।

व्याख्यार्थ: जब कल्पकी समाप्ति होती है तब भगवान् नारायण अपनी बनाई हुई इस सारी सृष्टिको अपने पेटमें? स्थापित करके सोते हैं. ब्रह्माजी नाभिके द्वारा उदरमें प्रवेश करते है. तब नारायणके साथ एकताको प्राप्त करके ब्रह्मा भी हजार युग पर्यन्त सोते हैं. तब हमारे शरीरके नित्य होनेसे शयनकेलिए मैं

भी ब्रह्माके नासापुटकी वायुसे अन्दर प्रविष्ट हो गया. उस समय केवल वायुका ही आना जाना रहता है. मैं तो वहीं (ब्रह्माके पेटमें) रहा उन भगवान्में प्रविष्ट होनेवालेको धारण करनेकी शक्ति है यह 'विभु' पदसे बताया है. अन्दर रहनेका समय एक हजार युग पर्यन्तका था. तब राजस कल्पमें भगवान् तिरोहित हो गये. ब्रह्मातो निकल गये. निकल कर और शयनसे उठकर पूर्ववत् जगत्की सृष्टि करने लगे. तब सृष्टि करते हुए ब्रह्माके शरीरके अवयवोंसे मरीचि हैं मुख्य जिनमें वे ऋषि और मैं उत्पन्न हो गये. उनमें मेरी उत्पत्ति ब्रह्माकी गोदसे हुई ''उत्सङ्गाद् नारदो जज्ञे'' इस वचनसे मैं भगवान्का भक्त था इसलिए भगवान्ने मुझे अपनी गोदमें रखा था. तदनन्तर प्रजापतिके अन्दर ही प्रविष्ट हुए ब्रह्मसे प्राणरूप भगवान्के अंशोसे जो उन उन स्थानोंमें स्थित थे वे उत्पन्न हुए ।।२९-३०।।

आभासार्थ: मेरे उत्पन्न होने पर भी भगवान्की वह कृपा मेरे पर बनी रही:

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः।
अनुग्रहाद् महाविष्णोर् अविघातगतिः क्वचित् ।।३१।।

श्लोकार्थ: जो कर्म करनेवाले हैं वे तीन लोकके अथवा ब्रह्माण्डके बाहर नहीं जाते. जिनने तप आदिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त किया वे तीन लोकके अथवा ब्रह्माण्डके भीतर नहीं जाते. मैं तो सबसे अपरिच्छिन्न भगवान्के अनुग्रहसे सर्वत्र भगवान्को देखनेके नियमका पालन करता हुआ बाहर-भीतर फिरता हूं. मेरी गति कहीं भी नहीं रुकती।।३१।।

सुबोधिनी: जैसे छोटा बच्चा घरके अन्दर तथा बाहर भी घूमता है उसी तरह मैं भी ब्रह्माण्डके बाहर और भीतर घूमता हूं. अथवा तीनों लोकोंके बाहर और भीतर घूमता हूं. साधारण न्यायसे बाहर घूमनेके कहनेसे अन्दर घूमना भी समझ लिया जाता है. 'लोकान्'में द्वितीया ''कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'' (पाणि.सू.)से हुई है. अर्थात् निरन्तर लोकोंमें घूमता रहा. इस तरह निरन्तर घूमनेसे लाभ क्या हुआ? अचेतन जो वायु आदि हैं उनकी भी निरन्तर गति होती है. उस पर कहते हैं कि मेरा घूमना निरर्थक नहीं था मैंने जो यह व्रत ले रखा था कि भगवान्के दर्शनसे कदापि वंचित न रहूं. जब भगवान् सर्वत्र हैं तो भक्तको अमुक जगह ही दर्शन करना चाहिये यह नियम नहीं रहता अतः भक्तोंको तो सब जगह भगवान्के दर्शन करने चाहिये. इसलिए जिस जगह भगवान्को नहीं देखेगा वहीं

भक्तके व्रतकी हानि हो जायेगी. इसलिए मेरे सर्वत्र घूमनेमें सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होनेसे व्रत हानि नहीं हुई. यदि कोई शंका करे कि भगवान् तो मच्छरके हृदयमें भी रहते हैं तो उस जगह तुम्हारी गति कैसे होगी इसका उत्तर देते हैं कि 'अनुग्रहान्महाविष्णोः' वहां भी महाविष्णुकी कृपासे गति होती है. यद्यपि व्यापक ब्रह्म देश कालसे अपरिच्छिन्न होता है. महाविष्णु तो वस्तुसे अपरिच्छिन्न होते हैं तो भी उन महाविष्णुकी कृपासे मेरी गति कहीं नहीं रुकती. 'अविघात गति'का अर्थ है जो गति (जिसका जाना) कहीं रुके नहीं इसी तरह 'क्वचित्'का अर्थ है किसी कालमें भी ।।३१।।

आभासार्थः इस तरह सत्संगसे श्रवणसे प्रारम्भ करके सर्वत्र भगवद्दर्शन पर्यन्त एक श्रवण भक्ति कही गई. अब दूसरी कीर्तन–भक्ति तो भगवान्‌की कृपासे ही आरम्भ हुईः

देवदत्ताम् इमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ।।३२।।

श्लोकार्थः देवताओंसे दी हुई जो षड्ज आदि ब्रह्मरूप स्वरसे भूषित है उस वीणासे संगीत शास्त्र सिद्ध स्वरोंका सम्बन्ध कर हरिकथाको गाता हुआ फिर रहा हूं।।३२।।

सुबोधिनीः भक्तिमार्गमें देवता कदाचित् विघ्न करेंगे यदि ऐसी सम्भावना हो तो उस शंकाको दूर करनेकेलिए नारदजीने कहा कि कीर्तनकी अंगभूत यह वीणा ही स्वयं देवताओंने दी है अतः वे मेरे कीर्तनमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं करते. वह वीणा श्रुतिपूरिका है. इसपर अंगुलीके चलानेका भी परिश्रम नहीं करना पडता. यह 'स्वरब्रह्मविभूषिताम्'से बताया है. स्वर तो षड्ज आदि हैं. यह वीणा नादब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मरूप है. उस नादब्रह्मात्मकतासे विभूषित है ऐसी वीणाको. स्वरोंकी जो मूर्च्छना संगीतशास्त्रमें प्रसिद्ध है उससे योजित करके. वैसा होनेसे रसाविर्भाव हो जाता है. जिससे निरन्तर बिना थके इससे संकीर्तन होता है और हरिकथाका गायन करता हुआ घूमता हूं. यह घूमना कीर्तनका भी अङ्ग है ।।३२।।

आभासार्थः शंका हो सकती है कि पूर्वसे विशेषता क्या हुईः

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ।।३३।।

श्लोकार्थ: जब मैं उनकी लीलाओंका गायन करने लगता हूं तब वे प्रभु जिनके चरण कमलमें सन्त निवास करते हैं और जिनकी कीर्ति प्यारी है वे भगवान् बुलाये हुए की भांति तुरन्त मेरे हृदयमें आकर दर्शन दे देते हैं।।३३।।

सुबोधिनी: पहले तो भगवान्के दर्शनकेलिए बहुत प्रयत्न किया था परन्तु अब तो भगवान्के दर्शन स्वतः ही हो जाते हैं. उसमें कारण यह है कि जो कोई भगवान्की लीलाका गायन करता है उसके आगे भगवान् स्वयं आकर उपस्थित हो जाते हैं. भगवान् सोचते हैं कि इसके हृदयमें मेरी लीलाकी स्फूर्ति रुक न जाय इसलिए लीलाकी स्फूर्तिकेलिए और इसके चित्तमें विषयान्तरोंका संचार न हो इसलिए शीघ्र ही स्वयं अपने आप चित्तमें आ जाते हैं. यह शंका हो सकती है जब कीर्तनका सुननेवाला कोई नहीं हो तो बिना श्रोताके कीर्तनका फल क्या होगा? उसका उत्तर देते हैं कि सभी सन्त भगवान्के चरणमें सायुज्यको प्राप्त हुए हैं तथा और भी चरणोंमें सायुज्य प्राप्त हुए हैं ऐसा इस भक्तिका गुण है उसी चरणको मैं (नारद) अपने हृदयमें स्थापित करके गायन करता हूं अतः उस चरणमें निवास करनेवाले सन्त श्रोता विराजमान हैं वे इस कीर्तनको सुनते हैं अतः कीर्तनका अङ्ग श्रोता विद्यमान है इसलिए अङ्गको विकलता भी नहीं है. यदि यह शंका हो कि भगवान् इस तरह सब सामग्रीका सम्पादन क्यों करते हैं उनका उत्तर यह है कि भगवान् प्रियश्रवा हैं. भगवान्को अपनी कीर्ति अच्छी लगती है. अतः जो उनकी कीर्तिका गायन करता है उसकेलिए अपेक्षित सभी सामग्रीका सम्पादन भगवान् करते हैं. यदि भगवान्की लीलाओंकी आगे स्फूर्ति न हो तो भगवान् अपने स्मरणको अपने लिए भक्तका बुलावा समझते हैं और कीर्ति प्रिय होनेसे बुलानेपर अविलम्ब उपस्थित हो जाते हैं ।।३३।।

आभासार्थ: इस प्रकार कीर्तन भक्तिका परिकर सहित निरूपण करके सभी जगह लोकमें कीर्तन भक्ति होवे इसकेलिए उसका विषय जो भगवान् हैं उसका वर्णन तुम्हें करना चाहिए इस अभिप्रायसे कीर्तनका अनुवाद करके स्थिर करते हैं:

एतद् ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ।।३४।।

श्लोकार्थ: मायाकी रक्षा करनेवाले जो विषय हैं उनके स्पर्श (भोग)की इच्छासे आतुर चित्तवाले मनुष्योंकेलिए भगवद्लीला वर्णन ही संसार समुद्रको

पार करनेमें नौका रूप है ।।३४।।

सुबोधिनी: विषयोंके स्पर्श (भोग)की इच्छासे आतुर चित्तवाले मनुष्योंकेलिए भगवान्की लीलाका वर्णन ही संसार समुद्रके पार करनेमें नौका रूप देखा गया है. श्लोकमें आये 'एतत्'का यह अभिप्राय है कि मेरे समान किये जानेवाला भगवल्लीलाका वर्णन संसार समुद्रसे पार करा सकता है. श्लोकमें 'हि' शब्द निश्चयार्थक है जिसका तात्पर्य यह है कि पहले किये गये हेतुओंसे भी यह निश्चय है. श्लोकस्थ 'मात्रा'का अर्थ मायाकी रक्षा करना है अर्थात् जो विषय मायाकी रक्षा करते हैं वे 'मात्रा' शब्दसेलिये गये हैं. उन विषयोंके स्पर्श मात्रसे ही जिनके चित्त आतुर हैं. यहां 'मात्राभोगेच्छया' न कहकर 'मात्रास्पर्शेच्छया' कहा है इसलिए इसमें शब्द व्यंग्य है अर्थात् जैसे महापातकीका स्पर्श करना भी ठीक नहीं है वैसे ही विषयोंके स्पर्श करनेकी इच्छा भी ठीक नहीं है. भगवल्लीलाके अनुवर्णन होनेपर उसके सुननेमें लगा रहेगा. अतः विश्वका श्रवण नहीं होगा. श्रवण न होनेपर उन विषयोंकी ओर आकृष्ट भी नहीं होगा. यदि फिर भी विषयोंकी ओर आकृष्ट होगा तो मानना चाहिये कि यह महारोग ग्रस्त हो गया. वैसी स्थितिमें परलोकके साधनमें भी उसकी प्रवृत्ति न होगी. कदाचित् प्रवृत्ति कर भी ली तो भी उससे रोग ही पैदा होगा. जैसे ज्वरमें खाये हुए पथ्य आदि ज्वरको चढाते ही हैं वैसे ही यहां समझना चाहिये. भगवल्लीलाका श्रवण विषयोंका साधक नहीं है क्योंकि उसे उन विषयोंके सुननेका अवसर ही नहीं प्राप्त होता. विषय प्राप्त होनेपर भी इच्छाकी निवृत्ति होनेसे कभी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होगी. इसी बातको 'मुहुः' शब्द कहता है. यह भगवल्लीलानुवर्णन संसार समुद्रसे पार करा सकता है. यह मैंने देखा है. इस प्रकार साधनका निरूपण करके उस साधनका क्या रूप है उसको 'हरिचर्यानुवर्णनम्'से कहते हैं अर्थात् वह साधन हरि लीलाका अनुवर्णन रूप है ।।३४।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवल्लीलाका अनुवर्णन रूप दृष्ट उपायको बताते हुए दूसरे साधन ऐसे नहीं है इस बातको कहते हैं:

यमादिभिर्योगपथैः काम–लोभ–हतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् ताथात्माद्धा न शाम्यति।।३५।।

श्लोकार्थ: काम और लोभकी चोटसे बार बार घायल अन्त:करण श्रीकृष्ण सेवासे जैसी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है वैसी शान्ति यम नियम

आदि योगमार्गोंसे नहीं मिल सकती।।३५।।

सुबोधिनी: चित्तको ठीक करनेकेलिए ही योग कहा गया है. जैसे कि ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः''से कहा है. परन्तु वह योग चित्तके स्वस्थ होनेपर ही हो सकता है. प्राणियोंका अन्तःकरण मरा हुआ है और कामने उसे जला दिया है तथा लोभने अपने प्रवाहमें बहा दिया है. ऐसी स्थितिमें वह अन्तःकरण मृतसंजीवनी विद्यासे ही जीवित हो सकता है.

यम नियम आदि योगके मार्ग हैं. उसमें जो चलता है उसकी कार्य सिद्धि होती है. परन्तु वह अन्तःकरण काम लोभसे बराबर दबाया गया है, इसलिए उसके आधीन हो गया है. काम लोभका बीज भीतर है और क्रोध आदिका बीज बाहर है इसलिए अन्तःकरणको बिगाडनेवाले काम लोभ हैं. अतः श्लोकमें उन्हींका ग्रहण किया गया है. संसारमें मग्न होने वालोंको मोक्ष देनेवाले मुकुन्द भगवान् हैं इसलिए वे मृतको जिलानेवाले हैं उनकी सेवा तो काम लोभ आदि रोगोंको मिटानेवाली है. भगवल्लीला श्रवणसे भगवान् प्राणीके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होते हैं. जब भगवान् अन्तःकरणमें प्रविष्ट होते हैं तब चित्त सेवाकी भावना करता है. अतः श्रवण प्रकरण होते हुए भी सेवा कही गई है. यद्यपि भगवान्केलिए होनेवाला योग भी परम्परया चित्तको शान्त बनाता है परन्तु सेवा तो साक्षात् ही शान्त बनाती है. योगकी सेवा करनेकी अपेक्षा योगेश भगवान्की सेवा करना उत्तम है. अर्थात् योग साधन करनेवाला योगकी सेवा करता है और भगवान्की सेवा करनेवाला योगेशकी सेवा करता है. श्लोकमें अन्तःकरणका बोधक 'आत्मा' पद दिया गया है. तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण एवं भगवान् 'आत्मा' शब्दसे कहे जाते हैं इसलिए भगवान्का सजातीय, प्राणीका अन्तःकरण है. क्योंकि आत्मतत्व दोनोंमें है अतः सजातीय होनेसे भगवान्की सेवामें वह अन्तः करण शीघ्र शान्त हो जाता है ।।३५।।

आभासार्थ: इससे भी कोई रहस्यकी बात और होगी इस आशंकाका उपसंहार करते हैं:

सर्वं तद् इदम् आख्यातं यत् पृष्टोऽहं त्वयानघ!।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम्।।३६।।

श्लोकार्थ: हे निष्पाप व्यासजी! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब अपने जन्म और साधनका रहस्य तथा आपके आत्म तुष्टिका उपाय मैंने बता

दिया।।३६।।

सुबोधिनी: लोकमें प्रसिद्धि है कि नारदजी अपने आप ही महान बन गये, परन्तु मैं तो इतने कष्ट झेलनेपर महान् बना हूं. यही रहस्य है, तुम्हारे चित्तमें जो उद्वेग है उसके हेतुका भी मैंने वर्णन कर दिया, अर्थात् सभी कार्योंमें भगवान् ही हेतु हैं. उक्त बातको कहनेका कारण यह है कि 'आत्मतोषणम्' अर्थात् इसके सुननेसे भगवान्में प्रीति होती है क्योंकि सुननेवाला यह समझता है कि नारदजी एक शूद्रीके पुत्र होते हुए भी भगवान्की प्रीतिसे ब्रह्माके पुत्र बन गये और जब चाहते हैं तभी दर्शन कर लेते हैं अतः प्रीतिका फल महान् है इसलिए भगवान्में प्रीति करनी चाहिये अथवा 'आत्मतोषणम्'का यह अर्थ है कि अन्तःकरणको सुख मिलता है ।।३६।।

आभासार्थ: नारदजी इस समय भी साधन कर रहे हैं इस बातको बतानेकेलिए कहते हैं:

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान् नारदो वासवीसुतम्।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः ।।३७।।

श्लोकार्थ: श्रीसूतजी कहते हैं हे शौनकादि ऋषियों! देवर्षि नारदजीने व्यासजीसे इस प्रकार कहकर जानेकी अनुमति ली और वीणा बजाते हुए नि:स्वार्थ नारदजी विचरण करनेकेलिए गये।।३७।।

सुबोधिनी: इस प्रकार बातचीत कर भगवान् नारद गये नारदजी भगवान् हैं इसलिए वेद व्यासजीसे उन्हें प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं है. क्योंकि भगवान्को सभी प्राप्त है. नारदजी जब चले व्यासजी उन्हें पहुंचाने नहीं गये, यह अविवेक बतानेके लिए ही यहां व्यासजीको वासवीके पुत्र हैं यह कहा गया है इसी अर्थको बतानेकेलिए 'वासवीसुतम्' कहा. पहले कही गई बात सम्भाषणका अङ्ग थी, इसका अनुवाद कर और जाता हूं यह कहकर भक्तिमार्ग ही मार्ग है यह बतानेकेलिए वीणाको बजाते हुए अर्थात् कीर्तन भक्ति करते हुए गये. नारदजी निष्प्रयोजन हैं इसलिए पीछे उनके आनेकी सम्भावना नहीं है. नारदजी मनन करनेवाले होनेसे मुनि हैं इसलिए वेदव्यासजीकी सारी स्थितिको समझ गये अतः सब कार्य करके गये ।।३७।।

आभासार्थ: नारदजीके चले जानेपर व्यासजीके हृदयमें भी भक्तिमार्ग

आ गया इसी अभिप्रायसे यहां व्यासजीने नारदजीका वर्णन किया है यह बात कहते हैं:

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन् गिरा तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्।।३८।।

श्लोकार्थ: सभी लोग अपना ही सुख चाहते हैं परन्तु नारदजी प्राणी मात्रका सुख चाहते हैं इसलिए वेदव्यासजी आश्चर्य पूर्वक कहते हैं कि ये नारदजी धन्य हैं. क्योंकि भगवान्की कीर्तिको गाते हुए स्वयं प्रसन्न होते हुए तापत्रयसे दु:खी जगत्को भी वीणासे कीर्तन कर सुख पहुंचाते हैं।।३८।।

सुबोधिनी: भक्ति करनेसे नारदजी देवर्षि बन गये. उनका देवर्षि बनना ही भक्तिका प्रत्यक्ष फल है. 'गायन्माद्यन्' इन दो पदोंसे नारदजी स्वतन्त्र भक्ति करते हुए गये यह कहा है. नारदजी स्वयं कीर्तन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि सबको मेरी तरह भगवान्की भक्ति करनी चाहिये. यही नारदजीने परोपकार किया. यही बात 'रमयत्यातुरं जगत्' इससे कही है ।।३८।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके
वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके मध्यमाधिकार प्रकरणका
षष्ठम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ७

उत्तमाधिकार प्रकरण

अश्वत्थामाके बाणसे रक्षा

एवं त्रिभिर्मध्यमस्य स्वातन्त्र्येण निरूपणात् ।
नारदव्याससंवादं निरूप्याथोत्तमाभिधा ।।का.१।।
त्रयोदशभिरध्यायैः साधकोऽयं प्रजापतिः ।
स्वतन्त्र उत्तमस्यैव साधिकोऽयं निरूप्यते ।।का.२।।
द्वादशांगैश्च सहितो ह्यधिकारो निरूप्यते ।
हेतुः षड्भिर्विरक्तिश्च तथा स्वातन्त्र्यमन्तिमे ।।का.३।।
हेतुस्तु द्विविधः प्रोक्तः सामान्यः स त्रिधा मतः।
विशेषः पञ्चधा प्रोक्तः सप्तमे त्रितयं जगौ ।।का.४।।

कारिकार्थः इस प्रकार तीन अध्यायोंसे मध्यम प्रकरणका स्वतन्त्र रूपसे निरूपण करके उसमें नारदजी और व्यासके संवादका निरूपण किया. अब उत्तम प्रकरणका तेरह अध्यायोंसे निरूपण करते हैं. शंका होती है कि यह प्रकरण उत्तम कैसे है? तो कहते हैं कि इस उत्तमाधिकारमें वर्णित भगवान् साधारण रूप जो प्रजा है उनके दीन होनेसे चारों ओरसे उनका रक्षक होता हुआ उनका भगवान् उस प्रजाके साधक हैं इसलिए यह प्रकरण उत्तमाधिकारीका उत्तम प्रकरण है और कथा श्रवण कीर्तनरूप अधिकार भी स्वतन्त्र है इसलिए भी यह उत्तम प्रकरण है इस प्रकार इन दोनों कारणोंसे यह उत्तम है यह कहा गया है.

यद्यपि मध्यम प्रकरणमें भी कार्यको सिद्ध करनेवाले तो भगवान् ही हैं, तो भी नारदजीको दीन प्रजारूप नहीं होनेसे, प्रजापति रूपमें भगवान् वहां साधक नहीं हैं.

प्रथम प्रकरण (हीनाधिकार प्रकरण)में अधिकारको स्वतन्त्रता नहीं है और इस प्रकरणमें (तीसरे उत्तम प्रकरणमें) तो प्रजाके पति होनेसे भगवान् साधक हैं और श्रोता तथा वक्ताके अधिकार स्वतन्त्र हैं इसलिए यह प्रकरण उत्तम प्रकरण रूप है.

बारह अंगों सहित अधिकारका निरूपण होनेसे इस प्रकरणके तेरह अध्याय हैं. इनमें छः अध्यायसे अधिकारके कारणका तथा छः अध्यायसे

वैराग्यका निरूपण किया गया है. अन्तिम अध्यायमें अधिकारकी स्वतन्त्रता निरूपित है.

सप्तम अध्यायसे लेकर बारहवें अध्याय तकके हेतुके छ: अध्याय हैं. हेतुके सामान्य और विशेष ये दो भेद हैं. इसमें सामान्य हेतु तीन प्रकारका है और विशेष हेतु पांच तरहका है. सामान्य हेतुके तीन भेद सातवें अध्यायमें वर्णित हैं और बाकीके पांच अध्यायोंमें विशेष हेतुके पांच भेद कहे हैं.

शंका होती है कि हेतुके छ: अध्याय बताए हैं और उसके भेदमें सामान्य हेतु तीन प्रकारका है और विशेष हेतु पांच प्रकारका है. इस तरह दोनों मिलाकर आठ भेद होनेसे आठ अध्याय होने चाहिए. तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि:

सप्तम अध्यायमें श्रीभागवतकी उत्पत्ति, प्रवृत्ति और भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करना है इसलिए अश्वत्थामाको छोड देनेसे, भीम तथा द्रौपदी वगैरहका मनोरथ पूर्ण करना ये तीन सामान्य हेतु इस सातवें अध्यायमें बताए हैं.

यद्यपि भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करना यह विशेष हेतु है तो भी वह देहकी रक्षा करने रूपमें है इसलिए उसे सामान्य हेतु रूप माना है.

इस प्रकरणमें कथाका श्रवण और कीर्तन रूप उत्तम अधिकारका निरूपण स्वतन्त्र रूपसे करना है. इसी प्रकार वह अधिकार हेतु और वैराग्य युक्त होनेपर ही उत्तम होता है उसमें हेतु भगवान् हैं, क्योंकि महान् श्रोताके रूपमें भागवतके श्रोता परीक्षितका भगवान्ने बडे क्लेशसे पालन किया है. वह भगवान् सर्वोत्तम हैं (ऐसा १२वें अध्यायका अभिप्राय है) और सबसे जानने योग्य है (ऐसा ११वें अध्यायका अभिप्राय है) सबको मुक्ति देनेवाला है (ऐसा १०वें अध्यायका अभिप्राय है) सबको ज्ञान देनेवाला है (ऐसा ९वें अध्यायका अभिप्राय है) प्रत्येकके प्रत्येक दु:खकी निवृत्ति कर भक्ति देनेवाला है (ऐसा ८वें अध्यायमें कहा है) और भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करनेवाला है (७वें अध्यायका अभिप्राय है) ऐसा भगवान् महान् प्रयत्न द्वारा स्वयं उद्यम कर जिसका पालन करता है ऐसा व्यक्ति मूलसे ही भागवत सुननेमें मुख्य अधिकारी है. इस तरह ७ अध्यायोंसे निरूपण होता है.

आभासार्थ: भागवतके अधिकारीका निरूपण करना है, इसलिए भागवतका तथा उसके वक्ताका पहले निरूपण करना चाहिए अत: सप्तम अध्यायमें श्रीभागवतकी उत्पत्ति, प्रवृत्ति और भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करना

चाहिए. उसमें शौनक ऋषि प्रथम श्रीभागवतकी उत्पत्तिके बारेमें प्रश्न करते हैं :

शौनकः उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः।

श्रुत्वा तु तदभिप्रेतं ततः किम् अकरोद् विभुः।।१।।

श्लोकार्थः शौनक पूछते हैं कि व्यासजीके आश्रमसे नारदजीके चले जानेपर उनके अभिप्रायको भगवान् बादरायणने फिर क्या किया?।।१।।

सुबोधिनीः श्लोकमें वेदव्यासका विशेषण 'भगवान्' है जिससे यह बताया है कि, उन वेदव्यासमें सहज शक्ति थी क्योंकि वे षडैश्वर्य युक्त थे. 'बादरायण' पदसे यह बताया गया है कि वेदव्यासने बेरके फल खाकर तप किया था उस तपसे उनमें आगन्तुक तपकी शक्ति भी थी. ऐसे भगवान् व्यासने नारदजीके इस अभिप्रायको कि ''भगवद्गुणोंका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ आप बनावें'' सुनकर फिर उन्होंने क्या किया? ।।१।।

आभासार्थः नारदजीके वचन सुननेके बाद भगवान्की इच्छा जानने केलिए व्यासजी समाधि स्थित हुए. शुद्ध देशमें भगवान्का आविर्भाव होता है और जहां देवताओंका यज्ञ होता हो वह स्थान शुद्ध समझा जाता है. इसलिए व्यासजीका निवास स्थान देवयजन रूप (देवताओंका जहां यज्ञ हुआ है ऐसा)था इसी बातको सूतजी कहते हैं :

सूतः उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्याम् आश्रमः पश्चिमे तटे।

शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्द्धनः।।२।।

श्लोकार्थः जहां वेदाध्ययन होता था और जहां ब्राह्मण रहते थे ऐसी सरस्वती नदीके पश्चिमी तटपर ऋषियोंके (यज्ञ) कर्मको बढानेवाले शम्याप्रास नामसे प्रसिद्ध व्यासजीका आश्रम था।।२।।

सुबोधिनीः श्लोकमें आये हुए 'ब्रह्मनद्याम्'में 'ब्रह्म' पदसे वेद ब्राह्मण और तपलिये गये हैं. उस नदीके पास ब्राह्मण रहते थे वेदपाठ होता था और तप होता था इसलिए यहां सरस्वती नदीको 'ब्रह्म नदी' पदसे कहा गया है. 'ब्रह्मनद्यां सरस्वत्याम्'में समीप अर्थमें सप्तमी है. अर्थात् उस नदीके समीपमें ब्राह्मण बैठे हुए वेदाध्ययन कर रहे थे ऐसी वह सरस्वती नदी थी. समीपमें व्यासाश्रम था इसलिए वही वेदादि विद्याकी स्फूर्ति सहज हो सकती है. उस नदीके पश्चिमी

तटपर देवयजन था. जिस स्थानके सामने नदी और हवि होती है वह देवयजन स्थान है और उसे यहां 'शम्याप्रास' नामसे कहा गया है. 'शम्याप्रास'का तात्पर्य यह है कि गदाके आकारवाला एक काष्ठका बना हुआ आयुध होता है जो यज्ञका आयुध कहलाता है. 'शमी' पदसे उसी आयुधको यहां कहा गया है. उस आयुधको बलपूर्वक जहां फेंका जाय उसी स्थानका नाम शम्याप्रास है. वही 'गार्हपत्यादि' अग्निका प्रिय स्थान होता है. जब वह अग्निका प्रिय स्थान हो जाता है तभी गार्हपत्यादि अग्नि उस जगह वहां इस प्रकार शमी फैंकी जाती है वह अपने अग्नि कुण्डसे अङ्गार रूपमें बाहर निकलकर उस प्रदेशमें स्वयं पडती है. अथवा वह अग्नि उस स्थानसे कहीं अन्यत्र पड जाय तो वह स्थान भी शम्याप्रास कहलाता है. ऐसे शम्याप्रास स्थानका बल कहते हैं कि 'ऋषीणां सत्रवर्धनः' वह स्थान ऋषियोंके कर्मको बढानेवाला होता है. वहीं व्यासका आश्रम था ।।२।।

आभासार्थः इस प्रकार उस स्थानको देवयजन बताकर उसी स्थानमें व्यासजीने समाधि लगाई यह कहते हैं:

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य मनः प्रणिदधौ स्वयम् ।।३।।

श्लोकार्थः वोरके वृक्षोंके समूहसे शोभित उस परमानन्द देनेवाले अपने आश्रममें आचमन कर बैठे हुए स्वयं व्यासजीने मनको स्थिर किया।।३।।

सुबोधिनीः 'स्वे आश्रमे'का तात्पर्य यह है कि यह आश्रम उनका खुदका था. अपने आश्रममें मनुष्य निर्भय और प्रसन्न चित्तसे रहता है. अस्तु व्यासजी अपने आश्रममें थे इसलिए पराधीन न होनेसे उनमें निर्भयता थी और चित्तमें प्रसन्नता थी. वे व्यास थे वेदोंका विभाजन करनेवाले थे इसलिए वे भगवान्में मनको स्थिर करनेके अधिकारी थे.

'बदरीषण्डमण्डिते' बदरी याने अमृतकी गुफा जो कि परमानन्द देनेवाली थी. वह स्थान ऐसी गुफाओंके समूहसे शोभित था. श्लोकमें आये 'बदरीषण्ड'की जगह 'वदरीषण्ड' पाठ मानते हैं तो उसका अर्थ होगा कि वोर वृक्षकी लकडी वहां पडी हुई थी उनसे वह शोभित था. इस प्रकार 'बदरी' शब्दको वृक्ष अर्थमें रूढ मानते हैं तो बैरके फल खाते हुए वहां तप हो सकता है यह अर्थ सूचित होता है. और 'बदरी'का यौगिक अर्थ मानते हैं, अर्थात् 'ब' = अमृत और 'दरी' = गुफा (ब अमृत बीज होनेसे ब–से अमृत परमानन्द (मोक्ष) लिया गया उसकी दरी

अर्थात् वहां मोक्षको देनेवाली गुफायें थीं. ऐसी गुफा समूहसे वह स्थान शोभित था यह अर्थ होता है. इस प्रकारके अर्थोंसे यह सूचित होता है कि वह तपश्चर्याका एवं मोक्षका स्थान था. उस स्थानमें बैठे हुए व्यासजीने सब देवताओंको प्रसन्न करनेकेलिए आचमन किया. श्रुतिमें कहा है कि ''**यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति**'' तीन बार आचमन करनेसे ऋचायें (तथा उनके देवता) प्रसन्न हो जाते हैं.

नारदजीके बताये हुये मार्गसे भिन्न कोई स्वतन्त्र मार्ग भगवान्को अभीष्ट होगा तो उसका स्फुरण मुझे होगा इस बुद्धिसे व्यासजीने योगसे ठीक किये हुए मनको स्थिर किया ।।३।।

आभासार्थः तब भागवतके वर्णनीय पदार्थ स्फुरित हुए इसलिए उनका वर्णन करनेकेलिए उन पदार्थोंका आधार जो मन है उनका वर्णन करते हैं:

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।

अपश्यषत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम्।।४।।

श्लोकार्थः भक्तियोगसे निर्मल इसीलिए अच्छे रूपमें स्थिर मनमें पूर्ण पुरुषोत्तमको तथा उसके आधीन मायाको देखा।।४।।

सुबोधिनीः मन यदि वायु–वशसे स्थिर होता है तो वह योगमार्ग है और भक्तिमार्गसे यदि स्थिर होता है तो नारदजीकी तरह भगवान्की स्फूर्ति होती है. इसी बातको 'भक्तियोगेन'से कहा है. मनको भक्तियोगसे स्थिर किया इसलिए मन निष्काम था अतएव निर्मल था. उस मनमें जो देखा उसको 'अपश्यत्' आदिसे कहते हैं.

व्यासजीने क्या देखा? (समाधिमें शुद्ध साकार ब्रह्मको और उसकी उत्तम शक्ति जो माया है जिससे कि सर्वत्र मोह हो रहा है उसको तथा साक्षात् मुक्ति देनेवाली (मायासे छुटकारा करानेवाली) भक्तिको देखा) अर्थात् भक्ति ही मायाको छुडानेवाली साक्षात् है परम्परया नहीं यह देखा.

श्लोकमें आये हुए 'पुरुषम्'की पुरा आस याने सबसे पहले रहनेवाला. ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर पुरुषोत्तम लिया ही जाता तो फिर 'पूर्णम्' पद देनेकी क्या आवश्यकता है? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं कि 'पूर्ण' पद यहां यह सूचित करनेकेलिए दिया है कि भगवान् जीवोंके समुदायसे अथवा ब्रह्माण्ड कोटिसे व्याप्त हैं. ऐसे पुरुषोत्तमको तथा एक मात्र जिसका भगवान् ही आश्रय हैं ऐसी

मायाको व्यासजीने देखा ।।४।।

आभासार्थ: और मायाके कार्यको भी देखा इसी बातको कहते हैं कि:

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते ।।५।।

श्लोकार्थ: जिस मायासे मोहित जीव वस्तुत: मायाके गुणोंसे अलग रहता हुआ भी अपनेको गुणत्रयात्मक जडरूप मानता है और गुणत्रयके अभिमानसे होनेवाले जन्म मरणादिको प्राप्त करता है।।५।।

सुबोधिनी: यद्यपि प्रपञ्च भी मायाका कार्य है तथापि जगत्के निर्माणमें वह माया घट बनानेमें दण्डकी तरह करण है, उस कार्यमें स्वतन्त्र न होनेसे कर्त्री नहीं है. सम्मोहन करनेमें वह स्वतन्त्र होनेसे कर्त्री है. इसी बातको 'यया सम्मोहितः'में जो 'यया' है वहां करणमें तृतीया न होकर कर्त्तामें तृतीया देकर कहा है ऐसा श्री आचार्यका अभिप्राय है अर्थात् वह जीवोंके सम्मोहनमें कर्त्री है. कर्त्ता वहां होता है जो स्वतन्त्र होता है. वास्तवमें जीव ब्रह्मका अंश है इसलिए ब्रह्म ही है. ब्रह्म होनेसे वह प्रकृतिका नियामक होता हुआ भी गुणत्रय रूप जड देहको अभिन्नरूपसे स्वीकार करता है और देहादिके साथ अभिन्नरूपता समझनेसे ही गुणत्रयसे होनेवाले जन्म मरणादिको वह जीव प्राप्त करता है ।।५।।

आभासार्थ: मायासे छुटकारा पानेका उपाय भी व्यासजीने देखा यही कहते हैं:

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्त्वतसंहिताम् ।।६।।

श्लोकार्थ: जन्म मरणादिरूप अनर्थको दूर करनेवाला जो भगवान्में भक्तियोग है उसे भी देखा. यह सब कुछ देखकर स्वयं जानते हुए भी वेदव्यासने इसको नहीं जाननेवाले लोकोंके उपकारकेलिए श्रीभागवत संहिताको बनाया।।६।।

सुबोधिनी: शंका होती है कि अविद्या (अज्ञान)से मोह होता है और उसकी निवृत्ति ज्ञानसे ही सम्भव है तो मोह निवृत्त करनेकेलिए ज्ञानको दिखाना ठीक था, भक्ति, मोह निवृत्त करनेवाली है ऐसा कैसे बताया? तो श्री सुबोधिनी व्याख्यानमें कहते हैं कि 'ज्ञानकाशया' अर्थात् ज्ञानसे प्रकाशित मायासे मोह होता है ऐसी दशामें ज्ञानका रूप सन्दिग्ध है इसलिए ज्ञान हमारे अनर्थक (जन्म

मरणादि)का निवर्त्तक हो जायेगा ऐसा विश्वास नहीं कर सकते.

शंका होती है कि ज्ञानतो साधनोंसे पैदा होता है और माया अकस्मात् उत्पन्न होती है इसलिए ज्ञान और मायाके विषयमें सन्देह नहीं हो सकता. तो उत्तर देते हैं कि साधन भी दो प्रकारके हैं १.''**मायामात्रं तु कात्स्न्र्येन अनभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्**''(ब्रह्मसू.३।२।३) २.अदि्दपा? वहां कहा है कि स्वप्न सृष्टि केवल मायिक है. दूसरेका व्यामोह करनेवाली शक्ति विशेषका नाम माया है. जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक सृष्टि मिथ्या है उसी प्रकार मायिक सृष्टि (स्वप्न सृष्टि) मिथ्या है. क्योंकि वस्तुके होनेमें देश काल विषयका सन्निधान है. इन्द्रियोंका व्यापार और कोई बाधक न होना अपेक्षित है. वो स्वप्न सृष्टिमें नहीं है इसलिए स्वाप्निक सृष्टि मिथ्या है अर्थात् मायिक चीज मिथ्या होती है. तो जिसको साधन सम्पादक योग्य देह मिल गया है. मायासे गुण दोषोंका सम्बन्ध ऐसे जीवमें नहीं होता. इससे यह सिद्ध हुआ कि माया मिथ्या वस्तुको और ज्ञान सत्य वस्तुको दिखता है इसलिए ज्ञानके स्वरूपका निर्णय हो गया तब भी वह ज्ञान जन्म मरणादिका निवर्त्तक नहीं हो सकता. ज्ञान साक्षात् जन्म मरणादिको नहीं मिटा सकता क्योंकि ज्ञानकी स्थितिमें माया रहती है और मायाकी स्थितिमें जन्म मरणादि होंगे. जैसे मानवको दर्पणमें मुख नहीं है ऐसा ज्ञान दृढ है तब भी काचरूप दोषके रहनेसे कभी भी दर्पणमें मुख नहीं है (नहीं दीखे) ऐसा नहीं होता. ऐसे ही ज्ञान होनेपर भी मायाके रहनेसे जन्म मरणादि रूप अनर्थ अवश्य होगा. जैसे ज्ञानसे दर्पणका अभाव नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञानसे मायाका भी अभाव नहीं होता और जब तक अनर्थकी मूलभूत माया विद्यमान है तब तक कभी भी जन्म मरणादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती.

शंका करते हैं कि जन्म मरणादिकी प्राप्ति मोहसे होती है और वह मोह यदि ज्ञानसे निवृत्त हो गया तो मायाके रहते हुए भी वह माया उसका कुछ नहीं कर सकेगी. यदि ऐसा नहीं मानें तो ज्ञानसे जन्म मरणादिकी निवृत्ति हो जाती है ऐसा बतानेवाले शास्त्रोंका अप्रामाण्य हो जायेगा. तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि शास्त्र प्रमाणसे साधन सहित ज्ञानके होनेपर भी फिरसे मायाका मोह हो जाता है जैसा कि ''ज्ञानिनामपि चेतांसि''से कहा गया है. अर्थात् भगवान्की माया ज्ञानियोंके चित्तको भी बलात् मोहयुक्त बना देती है इसलिए माया निवृत्ति आवश्यक है.

शास्त्रमें ज्ञानसे जो अनर्थकी निवृत्ति बताई है उसका तात्पर्य यह है कि

ज्ञानसे भक्ति होती है और भक्तिसे अनर्थकी निवृत्ति होती है. अस्तु ज्ञान अनर्थकी निवृत्तिमें परम्परया कारण है साक्षात् नहीं.

अथवा साक्षात् भक्तिसे अनर्थ (जन्म मरणादि)के निवृत्त होनेपर ज्ञान पैदा होता है. मायासे मोह होनेपर जन्म मरणादि होते हैं. वह माया भगवच्छरणागतिसे दूर हो जाती है. जैसा कि ''**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**''(भग.गी.७।१४) अर्थात् जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस मायाको तिर जाते हैं. 'मामेव'में जो 'एव'कार है वह यह बताता है कि मायाकी निवृत्तिका कोई दूसरा उपाय नहीं है. अतः अनर्थ निवृत्तिका साक्षात् कारण भक्ति ही है.

जो दृष्ट वस्तु होती है उसमें भक्ति लौकिकी अथवा कर्म रूप हो सकती है परन्तु भगवान् तो इन्द्रियातीत होनेसे नहीं दीखनेमें आते इसलिए उसमें शास्त्रीय ही भक्ति हो सकती है. इसी तात्पर्यसे यहां 'अधोक्षजे' कहा है. अर्थात् इन्द्रिय जन्य ज्ञान उससे नीचे ही रह जाता है. लौकिक इन्द्रियोंसे उसका ज्ञान नहीं होता. इससे यह सिद्ध हुआ कि वास्तवमें मायाकी निवृत्तिमें भक्ति ही कारण है और उसीसे जन्म मरणादि मिट सकते हैं. अन्यथा नहीं. ज्ञानसे अनर्थकी निवृत्ति होती है यह जो ऋषियोंका कहना है वह उनकी बुद्धिके दोषसे है.

राजस सात्त्विक तामस व्यक्तियोंसे होनेवाला योग भी राजस सात्त्विक तामस होनेसे वस्तुकी यथार्थताको नहीं बताता. यदि वस्तुकी यथार्थताको बताना हो तो विवाद ही क्यों हो. इसलिए भगवद्वाक्यके अनुसार ही अथवा वेदके अनुसार ही होनेवाला योगज धर्म पदार्थकी यथार्थताको बता सकता है दूसरा नहीं.

नारदजीके फल संवादी वाक्यसे और भगवद्वाक्यके अनुसार होनेसे यह बात प्रामाणिक है ऐसा जान कर, नहीं जाननेवाले लोगोंकेलिए स्वयं युक्ति सहित जानकर भगवान्से कहे गये पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाली भागवत संहिताको बनाया.

यहां 'संहिता' पद इसलिए दिया गया है कि भागवतमें वेदत्व है. जैसे यजुर्वेद संहिता आदि वेद हैं उसी तरह यह भागवत संहिता है इसलिए वेदके तुल्य है ।।६।।

आभासार्थः इस भागवत संहितासे क्या फल है? और माया ज्ञान भक्ति आदि पदार्थोंके ज्ञानसे भी क्या फल है? साधन कहनेपर भी प्राणियोंको वैसे

साधन करनेका अधिकार नहीं है इसलिए यह भागवत संहिता व्यर्थ है ऐसी आशंका कर उसका (भागवतका) फल कहते हैं:

अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।

भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ।।७।।

श्लोकार्थ: जिस भागवत संहिताके सुननेसे ही कालादि नियन्ता जो परम पुरुष कृष्ण हैं उसमें मनुष्योंकी (स्वतन्त्र पुरुषकी) शोक, मोह, भयको दूर करनेवाली भक्ति पैदा हो जाती है।।७।।

सुबोधिनी: भक्तिकी उत्पत्ति पर्यन्त इस संहिताको अवश्य सुनना चाहिये. यह (दृष्टसे) सुननेसे ही भक्ति पैदा कर देती है. अर्थात् जैसे यज्ञादि करनेसे उस अदृष्टसे कालान्तरमें फल मिलता है वैसा यहां (भागवतमें) नहीं है. यहां तो देखे गये श्रवणके द्वारा उसी समय भक्तिरूप फल मिल जाता है. दृष्ट जब सम्भव है तब अदृष्टकी कल्पना करना ठीक नहीं है. जिस प्रकार इस भागवतका दृष्टमें उपयोग होता है इस बातको भागवतके प्रथम श्लोक 'जन्माद्यस्य'की सुबोधिनी व्याख्यानमें ''यथा हि वेदा यज्ञीया''से लेकर भागवत संहिता पर्यन्तसे कहा है. अथवा यों कहिये कि इस श्लोकसे पहला श्लोक जो ''अनर्थोपशमम्'' है उससे कहे हैं.

श्लोकस्थ 'कृष्णे' पदसे 'प्रकट हुए कृष्ण भगवान्में' ऐसा सूचित होता है क्योंकि प्रकट हुए भगवान्का नाम ही कृष्ण है.

'परमपूरुषे'का तात्पर्य यह है कि जिन भगवान्में सभी प्रमाणोंका समन्वय है अथवा जो भगवान् काल कर्म स्वभावादिका नियामक है उस भगवान्में स्वतन्त्र पुरुषकी अर्थात् दूसरे देवता एवं दूसरे साधनोंमें निष्ठा नहीं रखनेवाले पुरुषकी भक्ति उत्पन्न हो जाती है. श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाशमें कहते हैं कि 'कृष्णे' और 'परमपूरुषे' ये दो पद देकर यहां यह बताया है कि कृष्णको परम पुरुष मानकर जो भक्ति करते हैं वे उत्तराधिकारी हैं और जो कृष्ण ही मानकर उनमें प्रेम करते हैं वे मध्यमा और प्रथमाधिकारी हैं. इस प्रकार भक्ति रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुणके कार्यरूप शोक मोह भयको दूर करनेवाली होती है. (उससे जन्म मरणादिकी निवृत्ति होना तो एक साधारण सी बात है. गुणका कार्य मात्र ही निवृत्त हो जाता है तो) ।।७।।

आभासार्थ: इस प्रकार भागवतकी उत्पत्ति कहकर उसका प्रचार कैसे

हुआ सो कहते हैं:

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।
शुकम् अध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ।।८।।

श्लोकार्थ: श्रीवेदव्यास मुनिने भगवत्सम्बन्धिनी इस संहिताको बनाकर उसको क्रमबद्ध कर निवृत्तिमें परायण अपने पुत्र शुकाचार्यको पढाया।।८।।

सुबोधिनी: श्लोकमें 'संहितां भागवतीम्' इसलिए कहा है कि ऊपरके श्लोकोंमें भागवत संहिताका निरूपण आ चुका है इसलिए इस श्लोकमें 'इमां' करना चाहिये था, फिर भागवतीं संहितां क्यों कहा? तो कहते हैं कि व्यासजीने अनेक संहिताएं बनाईं हैं वे यहां न ले ली जाय. भागवत ही ली जाय. अर्थात् भागवतका ही अध्ययन व्यासजीने शुकाचार्यको कराया. व्यासजीने अनुक्रमसे शोधन कर अथवा जो भी वस्तु समाधिमें दीखी उसे यथावस्थित अपने समान अपने पुत्र शुकाचार्यको इसलिए पढाया कि दूसरे किसीसे भी इसका प्रसार नहीं होगा. व्यासजी मुनि होनेके कारण उन्होंने मननसे समझा कि यह भागवत सदोष व्यक्तिको पढाई जावेगी तो प्रसार नहीं होगा इसलिए उन्होंने जीवनमुक्त शुकको पढाया.

मुक्त भी लीलासे ईश्वरकी तरह लोकोंका अनुसरण कर सकता है तो लोकानुवर्तन करनेवालेसे इसका भागवतका प्रचार नहीं हो सकता है. इसकेलिए कहते हैं कि 'निवृत्ति-निरतम्' शुक केवल निवृत्ति परायण थे. अर्थात् कदाचित् इसका प्रचार करनेवाला यदि कोई प्रवृत्ति स्वभाववाला होगा तो भागवतमें उसके दोषका सम्बन्ध होनेसे यह उससे प्रचारित यह भागवत भक्ति पैदा करनेवाली नहीं होगी, कारण कि या तो विषयोंका ही आवेश हो सकता है या विष्णुका ही इन दोनों विरुद्ध बातोंका एक साथ रहना नहीं हो सकता. प्रवृत्ति स्वभाववालेमें विषयावेश होना सम्भव है ऐसी स्थितिमें विष्णुका आवेश नहीं हो सकता इसलिए निवृत्ति परायणको पढाया. यहां श्लोकस्थ 'मुनि' शब्दका तात्पर्य यह है कि इस बातको वेदव्यासजीने ऊपर ऊपरसे नहीं समझा किन्तु मननसे समझा यही बात संहितामें आये 'मुनि' शब्दसे कही गई है ।।८।।

आभासार्थ: कहते हैं कि विषयोंमें परायण भागवतका अधिकारी नहीं है इसलिए भागवतके प्रचारमें निवृत्ति परायणको लगाया परन्तु शुकाचार्य ज्ञान केलिए परमहंस बने थे (निवृत्ति परायण थे) भागवतार्थकेलिए नहीं. ऐसा होनेपर

ज्ञानमें तो सभी प्रकारकी प्रवृत्ति बाधक होती है जैसे लौकिकी प्रवृत्ति उसकेलिए त्याज्य है वैसे ही भक्तिमार्गानुसारिणी भागवतमें प्रवृत्ति भी त्याज्य है. तो व्यासजीने अपने कार्यके अनुरोधसे यद्यपि शुकाचार्यको उस कार्यमें लगाया भी तब भी शुक अपने कार्यके विरोधी कार्यमें क्यों कर प्रवृत्त होंगे? इसी बातको शौनक पूछते हैं कि:

शौनकः उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।

कस्य वा बृहतीम् एताम् आत्मारामः समभ्यसत्।।९।।

श्लोकार्थः शौनक कहते हैं कि निश्चय ही वे शुकाचार्य निवृत्तिमें ही निरत थे, आत्माराम थे और अध्ययन अध्यापनादि सभी कार्योमें उनकी उपेक्षा थी ऐसे शुकाचार्य मुनिने ग्रन्थ रूपमें और अर्थरूपमें बडी जो यह संहिता है उसका उच्चारण पर्यन्त अध्ययन किसलिए किया ?।।९।।

सुबोधिनीः भागवतको पढना प्रवृत्तिरूप है. जिन शुकाचार्यने निवृत्तिमें ही निरत होनेसे नित्य आवश्यक जो उपनयन वेदाध्ययन है उसे भी छोड दिया तो भागवतका अध्ययन उन्होंने कैसे किया? यदि कहो कि पिता अथवा भगवान्के अनुरोधसे उन्होंने भागवतको पढा किन्तु फलसे और स्वरूपसे शुकाचार्यको पठनसे जो उपकार होता है उसकी अपेक्षा नहीं है तो उन्होंने उसे पढा कैसे?

यद्यपि ईश्वर और गुरुका उपकार रूप ज्ञान अपेक्षित है अर्थात् ईश्वर और गुरुका उपकार ज्ञानीको भी करना चाहिये परन्तु वह उपकार प्रवृत्तिरूप है इसलिए जो ज्ञानमें बाधा डालनेवाला है. निवृत्तिमार्गी शुकको अपेक्षित नहीं है. अर्थात् निवृत्ति निरतको ब्रह्मज्ञानमें बाधक कोई भी वस्तु अपेक्षित नहीं होती इसी बातको 'सर्वत्रोपेक्षकः'से कहा है.

शंका करते हैं कि भागवत भी ज्ञानका साधन है इस भ्रमसे श्रीशुकने भागवतको पढा होगा तो उत्तरमें कहते हैं कि 'मुनिः' श्रीशुकदेव मनन करनेवाले थे ऐसे मुनियोंको मननसे ही साक्षात्कार होता है ऐसा कहा है. अतः भागवतके पढनेमें सम्भावित कारणोंके नहीं रहनेसे किस हेतुसे स्वरूपतः अर्थतः बडी भागवतको भावसहित अर्थावबोधपूर्वक उच्चारण पर्यन्त उन्होंने कैसे पढा? यदि कहो कि उन्होंने उसे कौतुकाविष्ट चित्तसे पढा तो उत्तर देते हैं कि वो आत्मामें ही पूर्ण रूपसे रमण करनेवाले थे उन्हें कौतुककेलिए दूसरा अपेक्षित ही नहीं है तो

कौतुकाविष्ट चित्त होकर पढा यह कहना भी ठीक नहीं है ।।९।।

आभासार्थ: इसका उत्तर देते हैं कि:

सूतः उवाच

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः ।।१०।।

श्लोकार्थ: सूतजीने कहा आत्माराम, मनन करनेवाले और अविद्यासे रहित भी भगवान्में बिना प्रयोजनके भक्ति करते हैं इस प्रकारके गुणवाले भगवान् हैं।।१०।।

सुबोधिनी: विनोदकेलिए, साधन सम्पत्तिकेलिए तथा अविद्या निवृत्तिकेलिए भागवतका पठन होना चाहिये, परन्तु श्रीशुकमें तीनों प्रयोजन नहीं थे इसी बातको बतानेकेलिए श्लोकमें 'आत्मारामाः' 'मुनयः' और 'निर्ग्रन्थाः' ये तीन विशेषण दिये हैं. अर्थात् वे आत्मामें ही रमण करनेवाले थे इसलिए उन्होंने कौतुकसे (विनोदकेलिए) पढा यह नहीं कह सकते, मुनि होनेसे मनन ही करनेवाले थे इसलिए अन्य साधन उन्हें अपेक्षित नहीं थे, जीवन्मुक्त होनेसे वे स्वयं अविद्यासे मुक्त थे इसलिए इनके लिए उन्होंने भागवतको पढा यह नहीं कह सकते इसका उत्तर सूतजी देते हैं कि 'आत्मारामाश्च' जो आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, मनन करनेवाले हैं तथा अविद्यासे युक्त हैं वे भी भगवान्में प्रीति करते हैं इसलिए यह नहीं कह सकते कि 'ऐसे व्यक्ति भक्ति नहीं करते' किन्तु ऐसे व्यक्ति भगवान्के गुणोंका वर्णन करते हैं. 'आत्मारामाश्च'में जो 'च' है वह यह बताता है कि और भी जो हैं वे सब भगवद्गुणगान करते हैं इसलिए भगवान्के गुण अलौकिक हैं.

श्लोकस्थ 'अपि' शब्दका स्वारस्य यह है कि भक्तिमार्गमें स्थित भी भगवान्के गुणोंकी अपेक्षा रखते हैं.

शंका करते हैं कि यह भागवत संहिता भक्ति पैदा करनेवाली है. भक्तिमार्गियोंका उसमें आदर है तो उन्हें छोडकर व्यासने जीवन्मुक्त शुकको प्रचारकेलिए क्यों लगाया ? उत्तरमें कहते हैं भक्तिमार्गीय प्रेममें विभोर हो जाते हैं, वे जैसा चाहिये वैसा प्रचार नहीं कर सकते और निवृत्तिमार्गीय (ज्ञानमार्गीय)को वैसी विकलता नहीं होती अतः वह प्रचार करनेमें समर्थ हैं इसलिए उन्हें ही (शुकाचार्यको ही) इस कार्यमें लगाया. भक्तिमार्गीय न होनेसे और निवृत्तिमार्गीय

होनेसे उन्हें इस कार्यमें लगाया ऐसी बात नहीं है किन्तु ऐसे व्यक्ति भगवद्गुण वर्णन करते हुए विकल नहीं होते इसलिए प्रचार करनेमें उनके समर्थ होनेसे उन्हें इसमें लगाया.

भगवान् 'उरुक्रम' हैं. (उरुक्रमका अर्थ है बडा है पाद विक्षेप जिनका) इसलिए उनमें अलौकिक सामर्थ्य है.

श्लोकस्थ 'अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति' यह अनुवाद है. वे अलौकिक भक्ति करते हैं. वहां युक्ति देते हैं कि 'इत्थम्भूतगुणो हरिः' भगवान् इस प्रकारके गुणवाले हैं.

यद्यपि भगवान्के गुण प्रवृत्तिरूप हैं तथापि वे निवृत्ति स्वभाव हैं यानि वे निवृत्तिका फल देनेवाले हैं परमानन्दरूप तथा ज्ञानरूप हैं इसलिए जो कोई कहीं भी आसक्त हो अर्थात् प्रवृत्तिमार्गीय हो अथवा निवृत्तिमार्गीय हो परमानन्द एवं ज्ञान चाहनेवाले हों वे सब भगवद्गुणोंमें आनन्दानुभूति करते ही हैं. भगवद्गुण सांचेकी तरह सबके प्रतिकृतिरूप है. उन भगवद्गुणोंका ज्ञान होनेसे उनका स्वभाव है कि वे वशमें कर लेते हैं ।।१०।।

आभासार्थः शंका करते हैं कि आत्माराम मुनि एवं अविद्या रहित भी भगवान्के गुणोंकी ओर आकृष्ट होते हैं इस प्रकारके भगवान्के गुण रहें तो भी इस ग्रन्थमें इससे क्या हुआ? अर्थात् इस भागवत ग्रन्थकेलिए तुमको क्या कहना है ? इस पर कहते हैं कि:

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः भगवान् बादरायणिः ।
अध्यगाद् महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ।।११।।

श्लोकार्थः सर्वदा भगवद्भक्त हैं प्यारे जिनको ऐसे भगवान् शुकने हरिके गुणोंसे आकृष्ट बुद्धि हो जानेसे इस बडे भी भागवत आख्यानको पढा।।११।।

सुबोधिनीः भगवद्गुणोंका यदि सिलसिले वार ग्रन्थरूप देकर संग्रह नहीं किया जाता तो श्रीशुकको अपनी बुद्धिसे उन्हें स्मरण करनेमें कल्पना करनी पडती और उससे क्लेश होता और उपनिबद्ध करनेपर ग्रन्थ रूपमें लिखनेपर गुणोंके सिद्ध रहनेसे उनका स्मरण सुलभ हो गया. इसलिए भगवद्गुणोंसे वशमेंकी गई बुद्धिवाले होते हुए श्रीशुकने इसे पढा. भगवद्गुणोंकी ओर आकृष्ट बुद्धि होनेसे और तरफ उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई.

श्लोकस्थ 'मति' पदका अभिप्राय यह है कि विषय और इन्द्रियोंके

संयोगसे होनेवाला जो ज्ञानरूप फल है उसे भगवद् गुणोंने ग्रहण कर लिया अर्थात् विषय और इन्द्रिय संयोगसे होनेवाला जो ज्ञान रूप फल है उसे नहीं होने दिया. इसलिए अन्यत्र विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर भी उस ओर उनकी बुद्धि नहीं हुई. यह बात श्रीशुकको जीव मान करके कही गई है. वास्तवमें ''**द्वैपायानात् शुको जज्ञे भगवानेव शंकरः**'' इसी बातको 'भगवान्' यह विशेषण कहता है. गुणोंको उपनिबद्ध करनेकेलिए विष्णु व्यासके रूपमें तथा उन गुणोंकी प्रवृत्ति करानेकेलिए महादेव श्रीशुकके रूपमें अवतीर्ण हुए. इसलिए श्लोकमें श्रीशुकका बोधक 'अन्य' न देकर उन कार्योंका सूचक 'बादरायणिः' पद दिया है. इसलिए इन्होंने बडे भी इस भागवतरूप आख्यानको पढा.

शंका करते हैं कि बिना बुलाये ही स्वयं जाकर श्रीशुकने कैसे प्रचार किया? इसका उत्तर देते हैं कि 'नित्यं विष्णुजनप्रियः' अर्थात् भगवद्भक्त सर्वदा उनको प्यारे हैं जैसे काम कामिनीको प्राप्त करा देता है वैसे ही भगवद्गुण भी विशेष रूपसे अपनी स्थिति हो इसकेलिए भक्तको मिला देते हैं. अर्थात् भक्तके मिलनेसे भगवान्के गुणोंका वर्णन होता है इसलिए उनकी विशेष रूपसे स्थिति रहती है. इसीलिए कहा है कि सर्वदा भगवद्भक्त जो अकृत्रिम नित्य वैष्णव हैं वे ऐसे शुकको प्यारे हैं. स्नेहका स्वभाव है कि वह सङ्ग करानेमें दूसरे हेतुकी अपेक्षा नहीं रखता. अर्थात् स्नेहसे ही उनका सङ्ग हो जाया करता है ।।११।।

आभासार्थः इस प्रकार भागवतकी उत्पत्ति और प्रवृत्ति निरूपण कर, इसका श्रोता यदि सर्वथा भगवदीय न होगा तो इसकी (भागवतकी) स्थिति नहीं होगी इसलिए गर्भके संस्कारसे लेकर भगवान्ने अपने तेजसे पालन किया इस बातको कहनेकेलिए तथा परीक्षितका जो गर्भ स्थित पूर्व देह था उसका ब्रह्मास्त्रसे दाह निरूपण करनेकेलिए इस प्रकारका परिपालन परीक्षित वैष्णव ही है इस बातको बताता है. अतः पाण्डवोंकी दूसरी सन्ततियोंका दाह निरूपण करते हुए प्रकृत बात परीक्षितके दाहका कारण है इसको 'परीक्षितोऽथ राजर्षे'से लेकर अध्याय समाप्ति तक कहते हैं. परीक्षितको ब्रह्मास्त्रसे जलानेमें अश्वत्थामाका बडा अपमान होना ही कारण है.

द्रौपदीके दूसरे पुत्रोंका दाह परीक्षितकी रक्षामें तथा अश्वत्थामाके अपमानमें कारण है.

सूतजी बिना पूछे कोई बात नहीं कह सकते इसलिए वे स्वयं प्रष्टव्यका

अनुवाद करके उसके दाह जन्म आदिका हेतु कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् कहते हैं:

परीक्षितोऽथ राजर्षेः जन्मकर्मविलापनम्।
संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्।।१२।।

श्लोकार्थ: इसके बाद राजर्षि परीक्षितका जन्म कर्म देहत्याग प्रकार और युधिष्ठिर आदिका महा प्रस्थानका वर्णन करूंगा जिसमें कि कृष्णकथाका उदय है।१२।।

सुबोधिनी: अब भागवतके निरूपणके बाद उसके श्रोता परीक्षितका बीज रूपमें ही संस्कार हो गया इसलिए उसके जन्मका वर्णन करूंगा. धर्म रक्षा भगवान्का कार्य है उस कार्यको परीक्षितने किया यानि परीक्षितने कलि निग्रह कर धर्म रक्षाकी इसलिए उसके कर्मोंका भी निरूपण करूंगा और भागवत सुननेकेलिए पूर्व तीन पुरुषोंकी शुद्धि होनी चाहिये उसकेलिए.

और किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं हुआ इसकेलिए परीक्षितके देह त्यागका वर्णन करूंगा इससे पहले पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर आदिके देह त्यागका प्रकार अथवा अच्छे रूपमें उनकी स्थिति रही इस प्रकारको कहूंगा.

श्लोकस्थ 'च'से धृतराष्ट्र भी लिया गया है अर्थात् धृतराष्ट्रने देह त्याग किया यह भी वर्णन करूंगा किन्तु पाण्डवोंके साथ श्लोकमें उसका निर्देश इसलिए नहीं किया गया है कि क्योंकि धृतराष्ट्रकी पाण्डवोंके साथ मुक्ति नहीं हुई. पाण्डु पुत्रोंकी मुक्तिमें प्रतिबन्धकता इसलिए थी कि वे एक माता पितासे पैदा नहीं हुए थे. धर्मशास्त्रमें कहा है कि "**भ्रातृणाम् एकजातानाम् एकश्चेत् पुत्रवान् भवेत्**" अर्थात् एक माता पितासे पैदा हुए भाइयोंमें एकके भी यदि पुत्र हो गया तो सब पुत्रवान कहलाते हैं. यहां पाण्डवोंकी माताओंके भिन्न-भिन्न होनेसे एकजात न होनेके कारण मुक्ति नहीं हो सकती थी तो कहते हैं कि माता भले ही भिन्न-भिन्न हो पिता एक होनेसे वे एक जात कहलाये और एकके पुत्र होनेसे सभी पुत्रवाले हुए जिससे कि सबकी मुक्ति हुई.

श्लोकस्थ 'च'से मुक्ति भी यहां ली गई है. तात्पर्य यह है कि श्लोकस्थ 'च'से पाण्डवोंकी सम्यक् स्थिति देह त्याग प्रकारको और उनकी मुक्तिका भी मैं वर्णन करूंगा. श्लोकमें 'पाण्डुपुत्राणाम्' पाण्डुपुत्रोंको ऐसा कहा है. पुत्र वही कहलाते हैं जो मुक्ति करानेवाले होते हैं तो 'पाण्डुपुत्र' शब्द जो है वह यह कहता

है कि पुत्र होनेसे वे पाण्डुको मुक्ति देनेवाले हैं इसलिए यहां 'पाण्डुपुत्राणाम्' दिया है 'पाण्डवानाम्' नहीं दिया.

पाण्डुपुत्रोंका वर्णन इसलिए है कि उसमें कृष्णकथाका प्रतिपादन है. बिना पूछे ही सूतजीका यह कहना ठीक नहीं है कि मैं पाण्डुपुत्रोंके महा प्रस्थानको कहूंगा क्योंकि वो पूछा ही नहीं गया परन्तु उन पाण्डुपुत्रोंके वर्णनमें भगवत्कथा भी आती है इसलिए सङ्गति हो जाती है. इसी बातको 'कृष्ण कथोऽदयम्'से कहा है. अर्थात् पाण्डुपुत्रोंकी कथामें भगवत्कथा भी आती है इसलिए उससे कृष्ण–कथाका उदय होगा.

यद्यपि पाण्डुपुत्रोंकी कथा भगवान्का स्वतः चरित्र रूप नहीं है किन्तु किसी निमित्तसे पाण्डुपुत्रोंकी रक्षाकेलिए उसका वर्णन है इसलिए वह भगवत्–स्वरूपोपकारी हेतु रूप है इसलिए उसका निरूपण किया जाता है ।।१२।।

आभासार्थः अब दूसरे पुत्रोंको मारनेका वर्णन करनेकेलिए कारण कहते हैं :

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्ष–भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ।।१३।।

श्लोकार्थः जब कौरव और सृञ्जयों के युद्धमें वीरोंके मुक्त होनेपर भीमसे चलाई गई गदाके आघातसे धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनके उरु दण्डोंके भग्न होनेपर।।१३।।

सुबोधिनीः संजय वंशमें पैदा हुआ धृष्टद्युम्न पाण्डवोंका सेनापति था इसलिए पाण्डवोंके स्वतः कौरव होनेपर भी विरोधका कारण द्रौपदी थी इसलिए पाण्डवोंमें धृष्टद्युम्नने प्रवेश किया. यदि श्लोकमें 'सृञ्जयानाम्' यह पद न देते तो भाई भाईयोंमें लडना युक्त नहीं था क्योंकि दोनों कुरुवंशके थे अतः इस अयुक्तताको मिटानेकेलिए 'सृञ्जयानाम् कहा.

कौरव सृञ्जयोंकी तथा उनके वीरोंकी मुक्ति हुई इस बातको 'वीरगतिम्'से कहते हैं. यहां ''द्वौ सम्मताविह मृत्युः'' दो ही मृत्यु अच्छी समझी गई हैं. पहली योगके द्वारा देह छोडना और दूसरी रणमें लडते हुए देहको छोडना. इससे यह सूचित हुआ कि द्रौपदीके पुत्रोंका इन दोनों प्रकारसे मरण न होनेसे उनका मरण शोकका कारण बना. अर्थात् वो लडते हुए नहीं मरे तथा योगके द्वारा नहीं मरे इसलिए वे लडके द्रौपदीके शोकका कारण बने.

मध्यमें दिया गया 'अथो' शब्द भिन्न प्रक्रमको बताता है. अर्थात् ''पार्थास्त्रपूताः पदम् आपुरस्य'' अर्जुनके अस्त्रसे मारे गये भी भगवान्के चरणारविन्दोंको प्राप्त हुए.

दुर्योधनका अयुक्त मरण हुआ यह ''वृकोदराविद्धगदाभिमर्ष''से कह रहे हैं. 'वृकोदर' शब्दका अर्थ यह है कि वृक* यानि दश प्रकारका प्राण है उदरमें जिसके वह वृकोदर है और वह वृकोदर भगवान्के कार्यको करनेवाला है. इससे महाबली भीमसे चलाई गई गदाके मारनेसे भग्न हो गये हैं उरुदण्ड जिसके. जंघाओंको दण्ड कहकर यहां यह बताया है कि दण्ड ताडनकेलिए होता है और ताडनसे दुःख होता है. द्रौपदीको दुर्योधनने बैठनेकेलिए अपनी जांघ बताई इसलिए एक प्रकारसे वह जांघ दुःख देनेवाली होकर ताडनका कारण बनी. अर्थात् जांघ ही उसको नष्ट करनेवाली बनी.

यहां दुर्योधन न कहकर धृतराष्ट्र पुत्र कहा है इसका मतलब यह है कि धृतराष्ट्र अन्धे थे इसलिए अन्धेका पुत्र होनेसे दुर्योधन भी अविवेकी था. अर्थात् धृतराष्ट्र बाहरसे अन्धा था और दुर्योधन भीतरसे अन्धा था ।।१३।।

(टिप्पणी* वृकोंदशविधः प्रातः उदरे यस्य तिष्ठति, स वृकोदर इत्युक्तः भगवत्कार्य साधकः.)

आभासार्थः मालिकके (दुर्योधनके) अविवेकी होनेसे उसका सेवक अश्वत्थामा भी अविवेकी हुआ इसी बातको कहते हैं:

भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन् कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ।।१४।।

श्लोकार्थः अश्वत्थामा अपने स्वामी दुर्योधनका इसी रूपमें प्रिय होगा ऐसा विचारता हुआ सोते हुए द्रौपदी पुत्रोंके मस्तकोंको काटकर दुर्योधनके सामने लाकर रखे. दुर्योधनको यह प्रिय नहीं लगा. क्योंकि जुगुप्सित कर्मकी सभी निन्दा करते हैं।।१४।।

सुबोधिनीः श्लोकस्थ 'द्रौणि' पदसे यह सूचित होता है कि धृष्टद्युम्नने अपने पिता द्रोणाचार्यको मारा था इसलिए अश्वत्थामाके वैर रखनेका यही मूल कारण हुआ. माताके छोटे छोटे बच्चे थे, इसलिए वे सो रहे थे. पाण्डवोंके अनेक पुत्र थे किन्तु उन्हें न मारकर द्रौपदीके ही बच्चोंको उसने मारा यह बतानेकेलिए 'कृष्णा' पद दिया गया है. द्रौपदीके स्वभाव आदिमें विशेष रूपसे वे बच्चे

अनुरूप थे इसलिए भगवान्ने पाण्डवोंका वंश चलानेके लिए उनकी रक्षा नहीं की. माताको जाननेवाला सन्तान साहसी एवं बलवान नहीं होगा. श्लोकमें आये 'कृष्णा'का अर्थ है द्रौपदी. 'सुत' पदका अर्थ है पैदा होनेवाले. अर्थात् वे नरकसे बचाने वाले 'पुत्र' संज्ञक नहीं थे इसलिए पुत्र शब्द न देकर 'सुत' पद दिया है.

''**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**'' इस वाक्यसे अर्थात् जो जिसपर श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है. द्रौपदीकी भगवान्में श्रद्धा थी इसलिए द्रौपदी भी कृष्णरूप बन गई थीं. एतदर्थ द्रौपदीकेलिए 'कृष्णा' पद दिया गया है.

अश्वत्थामा दुर्योधनको दिखानेकेलिए उन बच्चोंके मस्तकोंको ले गया इसलिए उनका धड मात्र जलानेसे उन बच्चोंका अर्द्ध दाह ही हुआ मस्तक रहित शरीरका दाह हुआ जिससे द्रौपदीको अति दुःख हुआ. दुर्योधनको भी उन बच्चोंका मारना अभीष्ट नहीं था. दुर्योधन लोकापवाद हो इस प्रकारके कार्य नहीं करता था और इस कार्यकी तो लोक निन्दा करते हैं. इसीलिए अश्वत्थामाका यह कार्य उसे प्रिय नहीं लगा इसी बातको सूचित करनेकेलिए 'विप्रियम्' कहा ।।१४।।

माता सुतानां निधनं शिशूनां निशम्य घोरं परितप्यमाना ।
तदारुदद् बाष्पकलाकुलाक्षी तां सान्त्वयन् आह किरीटमाली।।१५।।

श्लोकार्थः माता द्रौपदी अपनेसे पैदा हुए छोटे बच्चोंका दुस्सह मरण सुन कर संतप्त हुई. इसलिए आंसुओंसे व्याप्त नेत्रवाली द्रौपदी रोई. उसको सांत्वना देता हुआ अर्जुन बोला।।१५।।

सुबोधिनीः श्लोकस्थ 'माता' पदसे यहां द्रौपदी ली गई है. उसका मातृत्व ही रोदनमें कारण बना. अर्थात् वह माता थी इसलिए रोई. छोटे बच्चे थे इसलिए उसका उनमें अधिक स्नेह था. सुननेसे उसे अधिक क्लेश हुआ.

श्लोकस्थ 'घोरम्' पदसे रात्रिमें यह काण्ड हुआ यह बताया. इससे महाभारतकी सौषुप्तिक पर्वकी कथा सूचित हुई.

'यदा' यह ऊपरसे आक्षिप्त करके 'यदा असदत् तदा तां सान्त्वयन्' ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये. क्योंकि ''यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः''के अनुसार जब तक यदा नहीं आवे तब तक तदा नहीं आ सकता अर्थात् जब वह रोई तब उसको सान्त्वना देते हुए 'किरीटमाली' अर्जुनने.

श्लोकस्थ 'किरीटमाली'का तात्पर्य यह है कि उसके इस एक मुकुटमें

बहुतसे मुकुटोंका आभास होता था. वह एक होते हुए भी बहुत पुरुषोंकी तरह युद्ध करता था इसलिए अथवा वेगसे युद्ध करता था. इसलिए भी एक मुकुटमें अनेक मुकुटोंका आभास होता था. अतएव अर्जुनको मुकुटोंकी मालावाला कहा गया है.

स्त्रीकेवशमें रहनेवाले भक्तोंका भगवान् परिपालन करते हैं. प्रकृतमें इस वाक्यका समन्वय इस प्रकार है. अर्जुन द्रौपदीके वश था तो भी भगवान्ने उसकी चारों ओरसे रक्षाकी इसी बातको सूचित करनेकेलिए अर्जुनकी प्रतिज्ञाको कहते हैं. अथवा 'तां सान्त्वयन्'के कहनेसे अर्जुनने उसे सान्त्वना देनेकेलिए ही प्रतिज्ञाकी यथार्थरूपसे नहीं. जैसे कोई झूठी बात कहकर भी कदाचित् सान्त्वना दे देता है. इसलिए आगेकी कथासे विरोध नहीं हुआ. अर्थात् मस्तक काटनेकी प्रतिज्ञाको यथार्थ न कर सका ।।१५।।

आभासार्थ: स्त्रीका शोक पतिको मिटाना चाहिए. चुपचाप आंसू पोंछ लेना असमर्थका काम है जो असमर्थ होता है उससे किसीका प्रतिकार नहीं होता. अत: वह काम ही समझ लेता है. बाहर किसीसे झगडा नहीं करता और जिसका प्रतिकार नहीं होता वहां भी चुप रहा जाता ऐसी स्थितिमें भी झगडा मोल न लेकर घरमें ही समझा जाता है. तो इस जगह मरे हुए सुतोंका (पुत्रोंका) जीवित होना तो अशक्य है, मारने वालेको मारा जा सकता है इसलिए उसे मार कर तेरे आंसु पोछूंगा इसी बातको कहते हैं:

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे यद् ब्रह्मबन्धो: शिर आततायिन:।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे त्वाक्रम्य यत् स्नास्यसि दग्धपुत्रा।।१६।।

श्लोकार्थ: हे शुभ लक्षणे द्रौपदी! जब गाण्डीव धनुषसे छोडे गये बाणोंसे जिसमें कि ब्राह्मण्य आता जाता रहता है ऐसे ब्राह्मणाधम आततायी अश्वत्थामा के सिरको काटकर तेरे पास लाऊंगा और उसको नीचे रखकर जिसके पुत्रोंका दाह संस्कार हो गया ऐसी तू जब स्नान करेगी तब तेरे शोकाश्रु पोछूंगा।।१६।।

सुबोधिनी: क्रूर कार्यमें क्रूर रूपसे ही आंसू पोंछे जाते हैं. श्लोकमें जो 'शुचः' पद है उसका अर्थ है शोकाश्रु. अर्थात् तब शोकके आंसू पोछूंगा जब बाणोंसे अश्वत्थामाका मस्तक लाकर उसपर तुम्हें बैठाकर स्नान कराऊंगा. अर्थात् उस हेतु बने अश्वत्थामाको ही नष्ट कर दूंगा तो उसके कारण तेरे फिर आंसू नहीं आयेंगे. यदि तू कहै कि तुम ही मर जाओगे तो क्या होगा तो ऐसा नहीं

हो सकता क्योंकि तू 'भद्रे' शुभ लक्षणवाली है. तेरेमें विधवा होनेके लक्षण नहीं हैं इसलिए मैं नहीं मरूंगा. वह अश्वत्थामा ब्रह्मबन्धु है. यहां ब्रह्मसे ब्राह्मण जाति (ब्राह्मण्य) ली गई है. 'बन्धु' शब्दका तात्पर्य यह है कि जैसे बन्धु कभी कार्यवश आता है और चला जाता है. इसी प्रकार ब्राह्मण जाति भी अश्वत्थामामें कभी आती थी और कभी चली जाती थी. इसमें सदा ब्राह्मण जाति नहीं रहती थी क्योंकि यह देवताओंका अथवा देवजीवोंका विरोधी धर्म और आसुरावेशी था. ब्राह्मण दैत्यवर्ण और आसुरावेशी शूद्र हैं. जैसे कि श्रुतिमें ''**दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुयः शूद्रः**'' यह कहा है. तात्पर्य यह है कि अश्वत्थामा कभी ब्राह्मणके जैसा कार्य और कभी अतिहीन शूद्र जैसा कार्य करता था और ''**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः क्षेत्र दारापहारी च षडेते ह्याततायिनः**''. अर्थात् आग लगानेवाला, विष देनेवाला, मारनेकेलिए शस्त्र जिसके हाथमें हो, धनका अपहरण करनेवाला और खेत व स्त्रीको अपहरण करनेवाला ये छः आततायी हैं. इस वाक्यके अनुसार यह अश्वत्थामा आततायी है. श्रुतिमें कहा है कि ''**आततायिन मायान्तमपि वेदान्त पारगम्, जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्**'' वेदान्तमें पारङ्गत हो तो भी मारनेकी इच्छा रखनेवाले आततायी ब्राह्मणको भी मार देना चाहिये. ऐसे आततायी ब्राह्मणको मारनेपर भी वह ब्रह्महत्या करनेवाला नहीं समझा जाता. इसलिए उस अश्वत्थामाको मारनेमें कोई दोष नहीं है. बाणोंसे ही काटकर मैं उसे लाऊंगा. बाणोंसे दूरसे ही मारा जा सकता है. इसलिए बाणोंसे मारनेके कारण मेरा उससे स्पर्श नहीं होगा. क्योंकि वह दुष्ट है. दुष्टोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये. दुष्टके स्पर्श करनेसे स्वयंमें भी दोष आते हैं. ऐसा कार्य करनेमें सामर्थ्य कहते हैं 'गाण्डीवमुक्तैः' गाण्डीवसे छूटे हुए बाण यह सब कर सकते हैं.

शत्रुके सिरको आसन बनाकर स्नान करना वैर निकालनेमें क्षत्रियधर्म बताया गया है. श्लोकमें 'दग्धपुत्रा' कहा है इसका अभिप्राय दो तरहसे है. सोते हुए बच्चोंको जला दिया गया अथवा दाह संस्कार कर दिया गया.

यदि अश्वत्थामाने सोते हुए बच्चोंको जला दिया ऐसा अभिप्राय लेते हैं तो यह बात अधिक शोक होनेमें कारण है और यदि दाह संस्कार किया गया तो वह स्नानका कारण है. जब तू स्नान करेगी तब तेरे शोकके आंसू पोछूंगा ऐसा श्लोकका सम्बन्ध है.

प्रायः क्षत्री क्रोधी होते हैं. क्षत्रिय होनेसे दूसरेकी तरह स्वभावतः उन्हें

शोक नहीं होता, क्योंकि शोक जो है वह काम परायणोंको होता है, क्रोध परायणको नहीं. अर्थात् क्रोधीको शोक नहीं होता ।।१६।।

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन।।१७।।

श्लोकार्थः मित्र एवं सारथी श्रीकृष्णसे युक्त उग्र धनुषवाला कपिध्वज वह अर्जुन इस प्रकार मनोहर और विचित्र वाक्योंसे प्रिया द्रौपदीको सांत्वना देकर कवचको बांधता हुआ रथसे गुरु पुत्र अश्वत्थामाके पीछे भागा।।१७।।

सुबोधिनीः द्रौपदी प्यारी थी इसलिए पूर्वोक्त प्रकारसे अर्जुनने उससे कहा. अश्वत्थामाका मस्तक नीचे रखकर तू स्नान करेगी उसके ऐसे वाक्यमें मनोहरता थी. ''बाणोंसे काटकर तेरे पास लाऊंगा'' इस वाक्यमें विचित्रता थी. विचित्रताका तात्पर्य यह है कि बाण ही तेरे सामने उसके मस्तकको लाकर रखेंगे. इस विशेष प्रकारके स्त्रैण वाक्योंसे स्त्री व भाट जैसे वाक्योंसे जो कि क्षत्रिय होनेसे द्रौपदीको भी भली प्रकार सान्त्वना देनेवाले थे उसे सान्त्वना दी.

अश्वत्थामाके सिर काटनेके कार्यकी सिद्धिमें हेतु कहते हैं कि 'अच्युतमित्रसूतः' अर्थात् भगवान्में अच्युत होनेसे किसी प्रकारकी च्युति नहीं है उसी तरह अर्जुनमें भी किसी प्रकारकी च्युति नहीं थी. वह अर्जुन अच्युतका मित्र होनेसे अच्युत रूप ही था. इसलिए वो अपनी रक्षा कर सकता था. श्रीसुबोधिनीमें आये 'स्वरक्षा' पदसे अपना धनुषकी और रथकी रक्षा कही गई है. अच्युत भगवान् सारथी (मार्गदर्शक) हैं इसलिए कार्य सिद्धि होगी ही. अश्वत्थामा भाग न जाय इसलिए अर्जुन उसके पीछे पीछे भागा. भागते हुए ही कवच पहिना और धनुषको लिया. वह धनुष उग्र इसलिए था कि उससे छूटे हुए बाणोंसे सामने वालेकी मौत जरूर हो जाती थी. वह अर्जुन कपिध्वज था यानि उसके रथकी ध्वजामें हनुमानजी थे इसलिए वह अतिसामर्थ्यवाला था. अथवा कवच धारण करनेसे अपनी रक्षा हुई. धनुषके उग्र होनेसे धनुषकी रक्षा हुई और हनुमानजीके ध्वजामें होनेसे रथकी रक्षा हुई. 'गुरुपुत्रं' पदसे यह तात्पर्य मालूम होता है कि गुरु पुत्र गुरुके समान होता है उसको मारनेसे पर्यवसानमें अनर्थ ही होगा अथवा गुरु पुत्र होनेसे वह धनुर्विद्या आदिमें अर्जुनकी अपेक्षा अधिक निपुण है इसलिए पर्यवसानमें अनर्थ हो सकता है. श्लोकमें 'रथेन' कहा है इसलिए अर्जुनकी अपनी शक्ति उसके पीछे दौडनेकी न होनेसे रथमें बैठकर उसके पीछे दौडा यह

कहा गया ।।१७।।

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात् कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।
पराद्रवत् प्राणपरीप्सुरुर्व्यां यावद् गमं रुद्रभयाद्यथार्कः।।१८।।

श्लोकार्थ: उस अर्जुनको पीछे दौडते हुए दूरसे देखकर उद्विग्नमनवाला जीनेकी इच्छा रखनेवाला बालघाती वह अश्वत्थामा जहां तक जा सकता है उतना पृथ्वीपर रथसे महादेवजीके भयसे जैसे सूर्य दौडा था उसी तरह दौडा।।१८।।

सुबोधिनी: अश्वत्थामाको देखनेपर भी अर्जुनकी गति मन्द नहीं हुई. तब अश्वत्थामाने समझ लिया कि यह मारनेकेलिए ही आ रहा है. यही बात 'आपतन्तम्'से कही है.

अश्वत्थामा अपराधी था इसलिए चौकन्ना होनेके कारण उसने दूरसे ही अर्जुनको देख लिया. जो क्षत्रियधर्मको स्वीकार करता है उसे युद्धके उपस्थित होनेपर प्रोत्साह होता है. परन्तु बालकोंको मारनेके पापसे उसके मनमें उद्वेग हो गया. युद्धका साधन जो रथ है वह भागनेका साधन बन गया अर्थात् जिस रथका उपयोग युद्धकेलिए किया जाता है उस रथका उपयोग उसने भाग जानेकेलिए किया. इसी बातको 'रथेन'से कहा है.

भागनेमें कारण कहते हैं कि 'प्राणपरीप्सुः' वह प्राणोंकी रक्षा करना चाहता था. जिन प्राणोंकी रक्षाकेलिए उसने नीच दुर्योधनकी सेवा, पिता द्रोणाचार्यका वध और अन्याय करना अंगीकार किया था उनके प्राणोंकी रक्षाके लए भागना कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी.

पृथ्वी पर जहां तक दौडा जा सकता था यानि जहां तक नदी आदि बीचमें नहीं पडी वहां तक वह भागा. ''योग और मन्त्रादिके द्वारा दूसरे लोकमें (स्वर्गादि में) जानेपर भी उसकी रक्षा नहीं हो सकती थी'' इसमें दृष्टान्त कहते हैं. जैसे रुद्र भक्त विद्युन्माली राक्षसके गिरा देनेपर रुद्र महादेवको क्रोध हुआ तब त्रिशूलको उठाकर महादेवजी सूर्यको मारनेकेलिए प्रवृत्त हुए. सूर्य दौडता हुआ पृथ्वीपर गिरा और काशीमें लोलार्क नामसे प्रसिद्ध हुआ.

इस प्रसंगकी वामनपुराणमें इस प्रकारकी कथा है कि

''विद्युन्माली नामका कोई राक्षस महादेवजीका भक्त था. महादेवजीने उसे सोनेका विमान दिया. उसके बाद

उसने सूर्यके पीछे दौडते हुए अपने विमानकी कान्तिसे रात्रिको नहीं होने दिया. तब सूर्यने अपने तेजसे उस विमानको पिघलाकर गिरा दिया. यह बात सुनकर महादेवजी क्रुद्ध हुए और त्रिशूल उठाकर सूर्यके पीछे दौडे. सूर्य दौडा और महादेवजीकी क्रूर दृष्टिसे दग्ध होता हुआ काशीमें पडा और 'लोलार्क' नामसे प्रसिद्ध हुआ''.

इसी तरह अश्वत्थामा भी अर्जुनके भयसे यदि दूसरे लोकमें जाय तो उसी तरह गिर सकता था. अतः पृथ्वीपर जितना भागा जा सकता था उतना वह भाग गया ।।१८।।

यदाशरणम् आत्मानम् ऐक्षत श्रान्तवाजिनम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः।।१९।।
अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत् समाहितः।
अजानन् उपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते।।२०।।

श्लोकार्थ: ब्राह्मणपुत्र अश्वत्थामाने जब अपने आपको रक्षकहीन तथा रथके घोडोंके थक जानेसे पलायनमें असमर्थ पाया तब अपने रक्षणका उपाय ब्रह्मास्त्रको माना।।१९।।

इसके बाद प्राणोंपर कष्ट आनेपर आचमन कर एकाग्र मन होता हुआ ब्रह्मास्त्रके उपसंहारको नहीं जानते हुए भी उसने उसे चढाया।।२०।।

सुबोधिनी: तब भयसे वह अपना रक्षक ढूंढ रहा था किन्तु भगवद्विमुख होकर वह जा रहा था इसलिए महादेव आदि उसके आश्रय अथवा रक्षक नहीं हुए. वह अश्वत्थामा भागनेमें इसलिए असमर्थ हुआ कि उसके रथके घोडे थक गये थे. तब ब्रह्मास्त्र मेरा आश्रय अथवा रक्षक होगा ऐसा उसने जाना.

'अशरणम्'का अर्थ है कि जिसका कोई रक्षक नहीं. 'श्रान्तवाजिनम्'का अर्थ है कि जिसके घोडे थक गये.

ब्रह्मास्त्र 'आध्यात्मिक' और 'आधिदैविक' इस तरह दो प्रकारका है. आध्यात्मिक निवर्त्य (हटाया जा सकनेवाला) है और आधिदैविक अनिवर्त्य (नहीं हटाया जा सकनेवाला) है और वह दोनों ब्रह्मास्त्र मन्त्रोंमें सुप्रतिष्ठित हैं. मन्त्रोंके द्वारा चलाये जाते हैं. द्रोणाचार्यने इसे अश्वत्थामाको दोनों आध्यात्मिक व आधिदैविक ब्रह्मास्त्र दिये किन्तु इन दोनोंका उपसंहार नहीं सिखाया.

अश्वत्थामाने समझा कि शरीरके रहते हुए ही यह ब्रह्मास्त्र मृत्युसे बचादेगा.

इस समय इसे उपसंहारका ज्ञान नहीं था तो भी चलानेकी इच्छा इसलिए हुई कि वह ब्राह्मणका पुत्र था. ब्राह्मणका पुत्र दूरदर्शी नहीं होता अर्थात् इसका क्या परिणाम होगा उसने यह नहीं सोचा. तब उसने भागना बन्द कर आचमन किया और देवताकी सन्निधि हो इसकेलिए सावधान हुआ. उपसंहारका ज्ञान न होनेपर ब्रह्मास्त्रके चलानेसे लोकोंका क्षय होगा और उससे अपनेको बडा भारी पाप लगेगा. इस बातको जानकर भी प्राणोंपर कष्ट आनेपर आपत्तिमें अयुक्त भी करना चाहिये इस बुद्धिसे उस अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रको चढाया ।।१९-२०।।

आभासार्थ: तब जो हुआ उसे कहते हैं :

ततः प्रादुरभूत् तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।
प्राणापदम् अभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ।।२१।।

श्लोकार्थ: उसके बाद अर्जुनके सब ओर प्रचण्ड तेज प्रादुर्भूत हुआ. अर्जुनने उसे प्राणोंको नष्ट करनेवाला देख भगवान् कृष्णसे बोला।।२१।।

सुबोधिनी: यहां श्लोकस्थ 'प्रचण्डं'का अर्थ जिसका प्रतीकार न हो सके ऐसा है. श्लोकमें ''ततः प्रचण्डं तेजः सर्वतो दिशं प्रादुरभूत'' यह भिन्न वाक्य है अतः उसका वाक्यार्थ नीचेके श्लोकसे भिन्न है. 'सर्वतोदिशम्'का अर्थ यह है कि वह तेज अर्जुनके सब ओर प्रकट हुआ अतएव उसे प्राणोंका नष्ट करनेवाला अस्त्र अश्वत्थामाका यह है ऐसा न जानकर दैवयोगसे कुछ और ही नाश करनेवाला उपस्थित हो गया है. इसलिए उसको हटानेकेलिए तथा उसके स्वरूप ज्ञानकेलिए भगवान्से प्रश्न करनेके पूर्व अर्जुन उनकी स्तुति करता है. भगवान् श्रीकृष्णको विष्णु इसलिए कहा है कि वह सर्व व्यापक है अतएव सर्वतः रक्षक हो सकता है अथवा यहां श्रीकृष्णमें पालकत्व बतानेकेलिए 'विष्णु' पद दिया है क्योंकि विष्णु पालक होता है. अर्जुनको जिष्णु इसलिए कहा है कि वह जयशील होनेसे तेजका स्वरूप ज्ञान होनेपर प्रतीकार करनेमें समर्थ है. श्लोकस्थ 'ह' पद आश्चर्य बोधक है अर्थात् उस तेजके दीखनेपर अर्जुनको मूर्च्छा होनी चाहिये सो न होकर बिना घबराये अर्जुन भगवान्की स्तुति कर रहा है यही आश्चर्यकी बात है ।।२१।।

आभासार्थ: अर्जुन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंकी सिद्धिकेलिए 'कृष्ण कृष्ण' इत्यादि चार श्लोकोंसे भगवान्की स्तुति करता है यहां एक एक श्लोक एक एक पुरुषार्थको देनेवाला है यह सूचित होता है.

(टिप्पणी१. यहां तात्पर्य यह है कि इन चार श्लोकोंके बोलनेसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मिल जाते हैं.)

अर्जुनः उवाच

कृष्ण! कृष्ण! महाबाहो! भक्तानाम् अभङ्कर!।
त्वमेको दह्यमानानाम् अपवर्गोऽसि संसृतेः।।२२।।

श्लोकार्थः अर्जुन बोला हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहो ! भक्तोंको अभय करनेवाले तुम संसारसे जलते हुए प्राणियोंकेलिए मोक्षरूप हो।।२२।।

सुबोधिनी: आदर बतानेकेलिए श्लोकमें 'कृष्ण कृष्ण' दो बार कहा है. अथवा भयसे दो बार कहा है. बडे अर्थात् घुटनों पर्यन्त जिनकी भुजाये हैं अथवा बडे जो इन्द्रादि देवता हैं वे भुजा हैं जिनकी यहां 'महाबाहो' पद कहनेसे क्रिया शक्तिकी अधिकता कही. बाहुसे क्रिया होती है और वेदबाहु होनेसे वही क्रिया करनेका सामर्थ्य है यह कहा गया. अर्थात् भगवान् बहुत बडी क्रिया करनेवाले हैं. अथवा महाबाहु होनेसे रक्षक हैं. इस प्रकार सामान्यरूपसे सबके पालक हैं यह 'महाबाहु' पदसे कहा गया. भक्तोंका विशेषरूपसे पालन करते हैं इस बातको 'भक्तानाम् अभयङ्कर' इससे कहते हैं. ओरोंका परितः पालन भय आनेपर करते हैं और भक्तोंकेलिए तो अभय ही सदा रखते हैं. अर्थात् भय आनेपर उसे दूर करते हैं यह बात नहीं है किन्तु भय आने ही नहीं देते और एक बात यह भी है कि आपसे (भगवान् से) दूर रहनेवाले संसारमें जलते हैं. सब दाहोंमें जन्म मरण रूप संसार दाह बडा है उसकेलिए आप मुक्तिरूप हैं. अर्थात् संसारके कारणसे जलनेवाले प्राणियोंके संतापको आप ही दूर करनेवाले हैं. जैसा कि गीतामें कहा है "**आब्रह्मभुवन्नाद् लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन!, मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते**" (भग.गी.८।१६) अर्थात् ब्रह्मलोकको प्राप्त करनेवाले जीव पीछे आते हैं और मुझे प्राप्त करनेवाले पीछे नहीं आते. तात्पर्य यह है कि जन्म मरणादिकी निवृत्ति भगवत्प्राप्तिसे ही होती है ।।२२।।

त्वम् आद्यः पुरुषः साक्षाद् ईश्वरः प्रकृतेः परः।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि।।२३।।

श्लोकार्थः आप सबके आदि साक्षात् ईश्वर एवं प्रकृतिसे पर पुरुष हैं. आप चैतन्य शक्तिके द्वारा मायाको दूर हटाकर केवल अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं।।२३।।

सुबोधिनी: आप जन्ममरणरूप संसारसे छुडानेवाले हैं. इसमें दो श्लोकोंसे उपपत्ति कहती है. ''स वै पतिः स्यात्'' अर्थात् वही पति होने योग्य है जो स्वयं सब भयोंसे मुक्त हो. इस न्यायसे पहले अपने आपमें (स्वामीमें) दोषाभाव होना चाहिये. तदनन्तर दूसरेके दोष दूर करना युक्त होगा अर्थात् भगवान् जब निर्दोष होंगे तभी ब्रह्म सम्बन्ध लेनेपर जीवोंको निर्दोष बना सकते हैं. भगवान् निर्दोष हैं इस बातका प्रतिपादन करते हैं. दोष पांच प्रकारके हैं. कर्मजन्य, कालजन्य, स्वभावजन्य, मायाजन्य तथा देशजन्य. ये दोष भगवान्में नहीं हैं. इस बातको ''**आद्यः ईश्वरः प्रकृतेः परः मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि**'' से क्रमशः कहा है. कर्मोंकी अपेक्षा भगवान् आद्य हैं इसलिए स्वतन्त्र होनेसे कर्माधीन नहीं हैं अतः उनमें कर्मजन्य दोष नहीं हैं. कर्मजन्य दोष उन्हींमें होते हैं जो कर्मोंके बाद पैदा होते हैं और कर्मोंके अधीन होते हैं. भगवान् ईश्वर होनेसे सबके नियामक हैं और काल रूप भी हैं. काल अपनेसे पैदा हुए शरीरादिमें अध्यास होनेपर ही नियामक होता है. भगवान्में शरीरादिका अध्यास नहीं है इसलिए कालजन्य दोष नहीं है. भगवान् तो आत्माके भी नियामक हैं इसलिए कालके भी नियामक हैं यह स्वतः सिद्ध है. प्रकृतिसे परे होनेसे वह स्वभावका नियामक है अतः उसमें स्वभावजन्य दोष भी नहीं हैं यहां प्रकृतिसे स्वभाव लिया गया है. भगवान्की परस्पर विरुद्ध शक्तियां उस उस कार्यकेलिए निर्मित हुई हैं. जिस किसी एक शक्तिमें आसक्तिसे भगवान्की क्रीडा होगी तो उस शक्तिका दोष भगवान्में जभी सम्भावित होने लगता है तभी भगवान् उससे विरुद्ध शक्तिको प्रादुर्भूत करके पूर्व दोषोंको दूर कर देते हैं. इसी प्रकार चिच्छक्तिसे मायाको दूर हटाकर वह स्थित है इसलिए मायिक दोषकी सम्भावना नहीं है. देशजन्य दोषोंकी तो उसमें सम्भावना ही नहीं है क्योंकि सब धर्मोंसे अस्पृष्ट केवल अपने आप हीमें वह विद्यमान है किसी देश विशेषमें नहीं. यदि अपनेसे भिन्नमें रहते तो देशजन्य दोषकी सम्भावना हो सकती थी अतः आप (भगवान्) स्वतः उक्त पञ्चविध दोषोंसे रहित हैं ।।२३।।

आभासार्थ: जो स्वयं निर्दोष है वह दूसरेके दोषोंको दूर करे इसमें कोई बात नहीं इस बातको कहते हैं कि :

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ।।२४।।

श्लोकार्थ: वह ईश्वर ही आप अविद्यासे मोहित चित्तवाले प्राणी समुदायको अपने प्रभावसे उस उस कर्मके अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप

पुरुषार्थको देते हैं।।२४।।

सुबोधिनी: वह पूर्वोक्त गुणयुक्त भगवान् ही मायासे मोहित चित्तवाले भ्रान्त जीवको भ्रान्तिसे जो भी वह चाहता है उसे भी दे देते हैं. अथवा भ्रान्ति दोषको मिटाते हैं. इससे यह कहा गया कि वास्तवमें उत्तम अनुत्तम जो भी कुछ जीव चाहता है भगवान् उसे वही देते हैं. इसलिए वह सर्वाभीष्ट देनेवाला है. यदि जो भी चाहे उसे न दे तो उसका सब लोग भजन नहीं करेंगे ।।२४।।

आभासार्थ: यह आपका सामान्यत: स्वरूप कहा. विशेष रूपसे आपके स्वरूपके विचार करनेपर हम लोगोंका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता. अर्थात् आप ही सब कुछ कर देते हो इस अभिप्रायसे कहते हैं:

तथायञ्चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानाञ्चानन्यभावानाम् अनुध्यानाय चासकृत्।।२५।।

श्लोकार्थ: इसी प्रकार यह आपका अवतार पृथ्वीके भारको मिटाने केलिए है और अनन्य भाववाले भक्तोंके निरन्तर ध्यानकेलिए भी है ।।२५।।

सुबोधिनी: जैसे आप सब दोषोंसे रहित सम्पूर्ण अभीष्टोंको देनेवाले हैं, उसी रूपमें यह अवतार भी है जो यह मानते हैं कि साकार अर्थात् आनन्द मात्र करपादमुखोदरादियुक्त भगवान् ही मायारूपी परदेको दूर कर प्रादुर्भूत होते हैं. उनकेलिए तो अवतारके विषयमें कुछ कहना नहीं है परन्तु जो यह मानते हैं कि स्वेच्छामय शरीर विशेषमें अनन्तसूर्य सदृश प्रकाशवाले भगवान्का लोहके गोलेमें अग्निकी तरह जो आना है वह अवतार कहलाता है. उस मतसे यह कहा गया कि जैसे भगवान् सर्वदोष रहित सर्वाभीष्ट देनेवाले हैं उसी प्रकार यह अवतार भी है. उस अवतारके दो प्रयोजन सर्वजन प्रसिद्ध हैं. प्रथम पृथ्वीके भारको दूर करना और द्वितीय वैष्णव शास्त्रके अनुसार अनन्य भाववाले भक्तोंके निरन्तर ध्यान करनेकेलिए पधारना. स्तुति करनेवाले अर्जुनको दोनों प्रयोजन अभिप्रेत हैं. क्योंकि भगवान्ने दोनों प्रकारसे अर्जुनका हित किया है. पृथ्वीका भार हटानेमें सहायताकी है तथा भक्त होनेके नाते निरन्तर ध्यान भी हुआ है ।।२५।।

किमिदं स्वित् कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम्।
सर्वतोमुखम् आयाति तेज: परमदारुणम्।।२६।।

श्लोकार्थ: हे देवाधिदेव ! जो परमदारुण तेज सर्वतोमुख आ रहा है, यह वास्तवमें क्या है और कहांसे आ रहा है ? यह मैं नहीं जानता. इसे आप

बताइये।।२६।।

सुबोधिनी: यह तेज सब दिशाओंसे आ रहा है इसलिए नहीं मालूम होता है कि इसका मूल उद्भव स्थान कहां है? आप अवतार रूपमें पधारे हैं तब भी आपसे कोई बात बिना जानी नहीं है. क्योंकि आप देवाधिदेव हैं अर्थात् देवताओंके भी कार्यको सिद्ध करनेवाले हैं. अतः देवताओंसे भी पूज्य हैं. इसी बातको 'देव देव'से कहा है. यदि आप कहें कि तू भी ऐसा ही है, यह बात नहीं है. आप ब्रह्म हैं मैं ब्रह्म नहीं हूं. इसलिए मैं इसे नहीं जानता. लौकिकी युक्तिके द्वारा समझ लिया जाय यह बात यहां नहीं है. क्योंकि यह तेज सर्वतः (सब ओरसे) आ रहा है. और यह सूर्य आदिका तेज नहीं हो सकता क्योंकि यह परमदारुण है. सूर्य आदिका तेज परमदारुण नहीं होता ।।२६।।

आभासार्थ: तेज विषयक अज्ञान दो प्रकारका है एक स्वरुपत: दूसरा धर्मत: अर्थात इसका क्या स्वरूप है? यह अज्ञान और दूसरा इसका क्या धर्म (कार्य) है यह अज्ञान इनमेंसे भगवान् कहते हैं कि इसके स्वरूपका तुम्हें ज्ञान है इसी बातको कहते हैं कि:

श्रीभगवानुवाच

वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्मम् अस्त्रं प्रदर्शितम्।
नैवासौ वेद संहारं प्राणकृच्छ्रे उपस्थिते ।।२७।।

श्लोकार्थ: भगवान् कहते हैं कि यह द्रोणाचार्यके पुत्र (अश्वत्थामा) का ब्रह्मास्त्र है इसे तू जानता है. यह अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्रका उपसंहार नहीं जानता. इसने इसे प्राणोंपर आपत्ति आनेपर बिना विचारे छोड दिया है।।२७।।

सुबोधिनी: गुरुपुत्र होनेसे इसे गुरु द्रोणाचार्यने तेरे ही सामने ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा दी थी. इसलिए इसको तू जानता है अर्थात् वही यह ब्रह्मास्त्र है ऐसा तू जान. अर्जुन शंका करता है कि बहुतसे ब्रह्मास्त्र मैंने देखे और उनका प्रयोग भी किया परन्तु ऐसा कोई भी ब्रह्मास्त्र कभी नहीं देखा जैसा कि यह ब्रह्मास्त्र है इसपर कहते हैं कि 'नैवासौ वेद संहारम्' यह अश्वत्थामा इसका उपसंहार नहीं जानता. अतः इसके प्रयोगको भली भांति नहीं कर पाया है. यदि यह प्रयोग करना अच्छे रूपमें जानता तो तेरे ही ऊपर यह तेज आता परन्तु इसके सम्यक् प्रयोगको नहीं जाननेसे सब ओर इसका तेज आ रहा है जिससे सबके नाशकी सम्भावना हो गई. इसमें यह शंका होती है कि जब इसे ब्रह्मास्त्रका चलाना नहीं आता तो इसने क्यों चलाया? इसका उत्तर

देते हैं कि 'प्राणकृच्छ्र उपस्थिते' प्राणोंपर आपत्ति आनेपर 'निषिद्धमपि आचरणोयम् आपदि' आपत्तिकालमें निषिद्ध कार्य भी करना चाहिये. इस न्यायके अनुसार इसका प्रयोग किया है. श्लोकके दोनों पादोंका वाक्यार्थ भिन्न भिन्न है अर्थात् श्लोकके ऊपरके पादका अर्थ नीचेके पादके अर्थसे सम्बन्ध नहीं रखता ।।२७।।

आभासार्थ: अर्जुन कहता है कि तब क्या करना चाहिये इस पर कहते हैं कि :

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिद् अस्त्रं प्रत्यवकर्षणम् ।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धम् अस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ।।२८।।

श्लोकार्थ: क्योंकि इस ब्रह्मास्त्रको हटानेवाला दूसरा कोई अस्त्र नहीं है इसलिए इस ब्रह्मास्त्रके बढे हुए तेजको अपनेमें प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रके तेजके द्वारा उपसंहार कर क्योंकि तू ब्रह्मास्त्रके प्रयोग और उपसंहारको जाननेवाला है।।२८।।

सुबोधिनी: ब्रह्मास्त्रके प्रयोगके विरुद्ध ब्रह्मास्त्रका ही प्रयोग करना चाहिये. दूसरा उसका प्रतीकार नहीं है. अतः ब्रह्मास्त्रके प्रयोजन एवं उपसंहारको जानने वाला तू बढे हुए ब्रह्मास्त्र तेजको अपनेसे चलाये गये ब्रह्मास्त्र तेजके द्वारा ही दूर कर. तू जिस ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करेगा वह भी इसी प्रकारके तेजवाला होगा जिससे इसका प्रतीकार हो सकेगा ।।२८।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्के कहनेपर जो हुआ उसे कहते हैं:

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय सन्दधे ।।२९।।

श्लोकार्थ: सूतजी बोले कि शत्रुओंके वीरोंको मारनेवाले अर्जुनने भगवान्से कही हुई बातको सुनकर आचमन तथा भगवान्की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्रकी निवृत्तिकेलिए ब्रह्मास्त्रका संधान किया।।२९।।

सुबोधिनी: 'परवीरहा' पदसे अर्जुनका सामर्थ्य बताया. सामर्थ्यवाला ही शत्रुओंके वीरोंको मारता है अथवा शत्रुरूप वीरोंको मारता है. 'तं परिक्रम्य' ऐसा कहनेसे अर्जुनकी कार्यसिद्धि अवश्य होगी यह बताया. भगवान्की परिक्रमा कर जो जो कार्यको आरम्भ करता है उसका कार्य अवश्य सिद्ध होता है. अर्जुनका चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र पहले चलाये हुए अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रका निवर्त्तक ही है.

प्रयोक्ता जो अश्वत्थामा है उसको मारनेवाला नहीं है इसलिए श्लोकमें कहा है कि 'ब्राह्मं* ब्राह्माय' 'ब्राह्माय'में जो चतुर्थी है निवृत्ति अर्थमें है अर्थात् अश्वत्थामाके द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रकी निवृत्तिकेलिए अर्जुनने ब्रह्मास्त्र छोडा ।।२९।।

(टिप्पणी*१. ''ब्राह्मो अजातौ'(पाणि.सू.६।४।१७१) पाणिनीय सूत्रके अनुसार 'ब्राह्मं ब्राह्माय' ऐसा पाठ युक्त मालूम होता है.)

आभासार्थ: अर्जुनके ब्रह्मास्त्र चलानेपर जो कुछ हुआ उसे कहते हैं:

संहत्यान्योन्यम् उभयो: तेजसी शरसंवृते।
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ।।३०।।

श्लोकार्थ: बाणोंसे वेष्टित दोनों ब्रह्मास्त्रोंका तेज एक दूसरेसे मिलकर स्वर्ग, पृथ्वी एवं आकाशको घेरकर प्रलयकालीन सूर्य एवं संकर्षण मुखकी अग्निकी भांति बढा।।३०।।

सुबोधिनी: दोनों ब्रह्मास्त्रोंके तेज आपसमें मिलकर मूलको दृढ करनेके लिए बाणोंसे संवेष्टित होकर स्वर्ग, पृथ्वी एवं अन्तरिक्षको व्याप्त कर प्रलयकालीन सूर्य एवं संकर्षणके मुखसे निकली हुई अग्निकी तरह सबका नाश करनेकेलिए बढे ।।३०।।

आभासार्थ: दोनों ब्रह्मास्त्रोंकी निवृत्तिमें कारण बताते हैं :

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयो: त्रींल्लोकान् प्रदहन् महत्।
दह्यमाना: प्रजा: सर्वा: सांवर्त्तकम् अमंसत ।।३१।।
प्रजोपप्लवम् आलक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम्।
मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम् ।।३२।।

श्लोकार्थ: उसके बाद तीनों लोकोंको जलाते हुए उस महान् अश्वत्थामा एवं अर्जुनके अस्त्रके तेजको देखकर उससे जलती हुई सभी प्रजाने प्रलयाग्निको उपस्थित जाना. लोक आदिके विनाशक प्रजाके विनाशक उस तेजको देखकर और भगवान् कृष्णके अभिप्रायको जानकर अर्जुनने दोनों ब्रह्मास्त्रोंका उपसंहार किया।।३१-३२।।

सुबोधिनी: दोनों अस्त्रोंके तेज थे इसलिए द्विवचन होना चाहिये था सो श्लोकमें एकवचन क्यों दिया इसका कारण यह है कि दोनों तेज मिलकर एक हो गये थे इसलिए श्लोकमें 'अस्त्रतेजः' यह एकवचन दिया है. श्लोकमें आये 'प्रजा' पदसे दक्ष आदि तथा अन्य भीलिये गये हैं. यदि इसका उपसंहार न किया जायेगा तो

प्रलय हो जायेगा ऐसा जानकर सबके उपकारकेलिए अर्जुनने एक ही गुरु (द्राणाचार्य)से प्राप्त होनेवाले उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंका अपनेमें ही उपसंहार कर लिया. इसी बातको कहते हैं कि 'संजहारार्जुनो द्वयम्' श्लोकमें जो 'तं' पद है उससे प्रजा आदिको लोक तथा स्वयं (अर्जुन)को जलानेवाला दाह लिया गया है. दोनों अस्त्रोंके उपसंहारसे अधिक तेज मिलेगा एवं भगवान् कृष्णको भी यह अभिमत है इस बातको भगवान्के सम्बन्धसे जानकर अर्जुनने दोनों अस्त्रोंके तेजका उपसंहार किया इसी बातको 'मतं च वासुदेवस्य' पदसे कहा है ।।३१-३२।।

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा।।३३।।

श्लोकार्थः अस्त्रके उपसंहारके अनन्तर क्रोधसे रक्त नेत्रवाले अर्जुनने याज्ञिक पुरुष जैसे रस्सीसे पशुको बांधते हैं इस प्रकार उस क्रूर अश्वत्थामाको प्राप्तकर वेगसे बांध दिया।।३३।।

सुबोधिनीः अपनेमें दोनों तेजोंका संक्रमण होनेके अनन्तर अश्वत्थामाके पास जाकर दूरसे वारुण पाश आदिसे बांधता तो अर्जुनको महान् क्लेश होता इसलिए पासमें जाकर उसे किसी प्रकारकी प्रतिक्रियाका अवसर न मिले इस प्रकार शीघ्र ही दारुण कर्मकारी उस अश्वत्थामाको बांधा. दारुण कर्म ही उसके बन्धनमें कारण हुआ. यदि उसे नहीं बांधा जाता तो कदाचित् वह स्वयं ही मर जाता शाप दे देता अथवा स्वयं अर्जुनको मारता अथवा ईश्वर भजन आदि कर लेता तो आगेके दण्डसे वह मुक्त हो जाता इसलिए उसे शीघ्र ही बांधा. कदाचित् यह शंका हो कि गुरुपुत्रको कैसे बांधा इसपर कहते हैं कि ''गौतमीसुतम्' यह अश्वत्थामा गुरुका सम्मत पुत्र नहीं था. इसलिए 'द्रोण'के पुत्रका उल्लेख न कर गौतमीके पुत्रको बांधा ऐसा कहा अर्थात् वह अश्वत्थामा गौतमी सम्मत पुत्र था इसलिए उसे बांधनेमें अर्जुनको हिचकिचाहट नहीं हुई. गौतम वंशमें उत्पन्न होनेसे उसकी माता गौतमी थी. इससे यह भी सूचित हुआ कि पुत्र अश्वत्थामाके स्नेहसे बंधी गौतमीकी प्रार्थनासे द्रोणाचार्यका दुर्योधनसे सम्बन्ध हुआ और उसी कारणसे उनका मरण भी हुआ. अर्जुन क्रोधसे लाल नेत्रवाला हो गया था अर्थात् अत्यन्त क्रोधयुक्त हो गया था इसलिए उसे ''क्रुद्धो हन्याद् गुरूपपि' इस न्यायसे अर्जुनका अश्वत्थामा ब्राह्मण एवं गुरुपुत्र है ऐसी स्फूर्ति नहीं हुई. इसे अवश्य ही बांधना चाहिये इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि 'पशुम्' जैसे पशुको बांधा जाता है. पराजित शत्रुको बिना बांधे नहीं

छोडना चाहिये. ध्वजके दण्डमें अथवा अशोभन प्रकारसे उसे बांधा. अर्जुनको यह अभिप्रेत था कि इसे एकान्तमें ले जाकर मारा जाय ।।३३।।

आभासार्थः अश्वत्थामाको शिबिरमें ले जाना उचित नहीं है इसलिए भगवान् मना करते हैं :

शिबिराय निनीषन्तं रज्वा बद्धं रिपुं बलात् ।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवान् अम्बुजेक्षणः।।३४।।

श्लोकार्थः रस्सीसे शत्रु अश्वत्थामाको बलपूर्वक बांधकर सेना निवेश स्थानमें ले जानेकी इच्छावाले अर्जुनको प्रकुपितसे होकर कमल नयन भगवान्ने कहा।।३४।।

सुबोधिनीः भगवान्ने कहा कि सर्पकी तरह यह अश्वत्थामा स्पर्श करने योग्य नहीं है. यदि तुमने इसे पकड लिया है तो इसे मारना ही चाहिये. सर्पकी तरह जिस शत्रुको छेड दिया हो उस शत्रुको बिना मारे नहीं छोडना चाहिये. शिबिरमें ले जानेपर इसका वध कठिन है. क्योंकि द्रौपदी दयालु है इसलिए इसे छुडा देगी. अतः इसे यहीं मार देना चाहिये इस अभिप्रायसे भगवान्ने यह कहा है. भगवान्का अभिप्राय है कि नीतिके अनुसार कार्य करना चाहिये इस विचारसे तो इसे मार देना चाहिये. धर्मके विचारसे तो ब्राह्मण एवं गुरुपुत्र होनेसे इसका बन्धन भी अनुचित है. नीति यह कहती है कि शत्रुको घरपर नहीं ले जाना चाहिये और बलपूर्वक तो कदापि नहीं ले जाना चाहिये क्योंकि घरपर असावधान होनेपर वह शत्रु कुछ बुरा कर सकता है. श्लोकस्थ 'शिबिर'का अर्थ है सेना निवेश स्थान. श्लोकमें 'भगवान्' शब्दसे यह सूचित किया गया है कि भगवान् कालरूप हैं इसलिए सबके संहारक हैं. 'अम्बुजेक्षणः' पदसे यह सूचित होता है कि भगवान् कमलनयन तभी बनते हैं जब भक्तोंकी रक्षा करनी होती है. इन बातोंसे इसके मारनेपर सब अच्छा होगा. यदि इसे इस समय न मारेंगे तो भविष्यमें इससे बचनेके लिए बहुत कार्य करना पडेगा यह भगवान्का अभिप्राय है ।।३४।।

आभासार्थः भगवान्ने क्या कहा उसी बातको कहते हैं कि :

श्रीभगवान् उवाच
नैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुम् इमं जहि ।
योऽसावनागसः सुप्तान् अवधीत् निशि बालकान् ।।३५।।

श्लोकार्थः भगवान् बोले कि हे पार्थ ! इस ब्रह्मबन्धुको मत छोडो मार

डालो. क्योंकि इसने रातमें निरपराध सोये हुए बच्चोंको मार डाला है।।३५।।

सुबोधिनी: श्लोकमें पार्थ! यह सम्बोधन पद तू मेरा सम्बन्धी और भक्त है इसको सूचित करता है क्योंकि कुन्ती भगवान्की भुवा एवं भक्त थी इसलिए अर्जुनको 'पार्थ' शब्दसे सम्बोधित किया. अश्वत्थामाको मारनेमें भी दोष नहीं है इसमें 'ब्रह्मबन्धुम्' और ''निशि सुप्तान् अनागस बालकान् अवधीत्' ये दो हेतु हैं. पिता आदिने यदि कोई अपराध किया हो तो उनके निरपराध बालकोंको बांधकर ले जाना उचित है किन्तु उनको मारना उचित नहीं. सोते हुए किसीको भी मारना ठीक नहीं है. रात्रिमें मारना भी अपराध है. रात्रिमें चोर ही मारता है. भला आदमी नहीं मारता. बालक तो सभीकेलिए अवध्य है ।।३५।।

आभासार्थ: विचारसे यह वध्य है यह कहनेकेलिए वध्य और अवध्यका निर्णय कहते हैं कि :

मत्तं प्रमत्तम् उन्मत्तं सुप्तं बालं जडं स्त्रियम्।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्।।३६।

श्लोकार्थ: धर्मवेत्ता मानव, मदिरा आदिसे मत्त असावधान, पिशाच आदिसे ग्रस्त सोते हुए बालक, स्वभावत: विवेकशून्य, स्त्री, शरणागत, रथहीन तथा डरे हुए शत्रुको नहीं मारता है।।३६।।

सुबोधिनी: शत्रु भी दश प्रकारके मारने योग्य नहीं होते. मदिरा आदिके पीनेसे मत्त हुए, असावधान पिशाच आदिसे आविष्ट, स्वभावतः विवेकशून्य आदिको नहीं मारना चाहिये. यह अश्वत्थामा तो इन दशमेंसे एक भी नहीं है. इसलिए यह मारने योग्य है. मारनेमें कारण और भी हैं कि सोते हुए तथा बालकको मारनेसे यह अश्वत्थामा अधर्म योद्धा है ।।३६।।

आभासार्थ: भले ही यह अधर्मी रहे परन्तु यह मारनेके योग्य तो नहीं है. क्योंकि ब्राह्मण शरीर सब पुरुषार्थोंका साधक है इसलिए इसे मारनेसे इनके सब पुरुषार्थ नष्ट होते हैं जिससे मुझे अधर्म होगा. इस प्रकारकी अर्जुनकी आशंकापर भगवान् आज्ञा करते हैं कि:

स्वप्राणान् य: परप्राणै: प्रपुष्णात्यघृण: खल:।
तद् वधस्तस्य हि श्रेयो यद् दोषाद् यात्यध: पुमान्।।३७।।

श्लोकार्थ: जो दया रहित दुर्जन दूसरोंके प्राणोंके नाशसे अपने प्राणोंकी रक्षा करता है उसे मारना उसीकेलिए श्रेयस्कर है जिस दोषसे वह पापी नरकमें

जाता है दण्ड दे देनेपर उसे नरक नहीं मिलता।।३७।।

सुबोधिनी: इसे नहीं मारना चाहिये इसमें क्या कारण है. प्रमाणका निषेध तो नहीं है क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि ''जिघांसन्तं जिघांसीयात्'' मारनेकी इच्छा रखने वालेको मार देना चाहिये. अतः प्रमाणानुसार यह मारने योग्य है. यदि कहें कि ब्राह्मणमें धर्मकी स्थिति है. इसलिए इसे नहीं मारना चाहिये सो भी बात नहीं है क्योंकि इसमें धर्म नहीं है. यदि कहो कि दयासे इसे नहीं मारना चाहिये तो इसके मारनेपर बहुतसे प्राणियोंका जीवन रहता है इसलिए दयाका ठीक रूप रहता है. यदि इसे नहीं मारते हैं तो यही सुरक्षित रहता है और बहुतसे प्राणी इसके द्वारा मारे जाते हैं. इसके देह आदिके रहनेपर इसका भी कोई उपकार नहीं है इसी बातको कहते हैं कि 'तद्वधस्तस्य हि श्रेयः' उसका मारना उसकेलिए पापोंसे मुक्ति दिलानेके कारण श्रेयस्कर है. जो मनुष्य जीवनके रखनेमें कारण प्राण अपान है उनमें दूसरेके प्राणोंसे अपने प्राणकी रक्षा करता है वह युक्त नहीं है. शंका करते हैं कि यज्ञादिमें एक पशु प्राणीका वध कर अपनी रक्षाकी जाती है तो यह बात युक्त क्यों नहीं? तो कहते हैं कि यज्ञादि धर्ममें तो यह युक्त है क्योंकि ''**स गृहः स पशुः सुवर्गं लोकमेति**'' इस तैत्तिरीयोपनिषद्के अनुसार यज्ञमें होनेवाली हिंसा यज्ञकर्त्ता एवं वध्य पशु इन दोनोंको तराने वाली है. दोनोंमें एकके प्राण नहीं रहनेपर ही जहां प्राणकी रक्षा हो वहां अपने ही प्राणका नाश करना धर्म है. ऐसी स्थितिमें दूसरेके प्राणोंसे अपने प्राणोंका विशेषरूपसे पोषण करना युक्त नहीं है. श्लोकमें 'अघृणः' यह पद है. बालकोंको भी जो मारता है वह अघृण है. यहां 'घृणा' पदसे कृपा ली गई है. कृपासे रहित अघृण कहलाता है. श्लोकमें 'खलः'का अर्थ है सूचक इसलिए इस प्रकारके दुष्टका मारना अपना धर्म है और उसका भी उपकार होता है क्योंकि उसके दुष्ट शरीरके नष्ट होनेपर दूसरे शरीरसे उससे धर्म होगा और यह वर्तमान शरीर अधर्मका ही एक मात्र साधन है ।।३७।।

आभासार्थ: अश्वत्थामाका मारना इसलिए भी ठीक है कि महान् पुरुषोंकेलिए अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना महान् धर्म है और तुमने तो इसके मारनेकी प्रतिज्ञाकी है इसी बातको कहते हैं कि :

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा।।३८।।

श्लोकार्थ: हे मानिनि ! जिसने तेरे पुत्रोंको मारा है उसके सिरको तुझे

लाकर दूंगा. इस प्रकार मेरे सुनते हुए तुमने द्रौपदीके सम्मुख प्रतिज्ञाकी थी।।३८।।

सुबोधिनी: श्लोकमें अर्जुनने जिन शब्दोंमें प्रतिज्ञाकी थी वे शब्द यहां नहीं दिये गये हैं. किन्तु उनका 'आहरिष्ये' इत्यादिसे अर्थतः अनुवाद है ।।३८।।

आभासार्थ: इसलिए यह सब प्रकारसे मारने योग्य है इस प्रकार उपसंहार करते हैं :

तद् असौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा।
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ।।३९।।

श्लोकार्थ: हे वीर ! यह आततायी पुत्र और बान्धवोंको मारनेवाला है और इस कुल कलंक अश्वत्थामाने स्वामी दुर्योधनका भी अप्रिय किया है इसलिए इसे मारो।।३९।।

सुबोधिनी: श्लोकमें जो 'आत्म' शब्द है उसका अर्थ यहां पुत्र है. यह अश्वत्थामा पुत्र और बान्धवोंको मारनेवाला है इसके इस कार्यसे स्वामी दुर्योधनका भी हित नहीं हुआ. इसी बातको 'भर्तुश्च विप्रियं'से कहा है. वंश यदि वर्तमान रहता तो पिण्डदान आदिसे दुर्योधनका भी उपकार था. इसने इस घृणित कार्यसे द्रोण एवं दुर्योधनके कुलको कलंक लगाया. इसलिए इसके मारनेमें किसीका बुरा नहीं है ।।३९।।

आभासार्थ: ये भगवान्के वचन अर्जुनके धर्म परीक्षाकेलिए कहे गए थे इसका सूतजीको ज्ञान हुआ इसलिए सूतजी कहते हैं कि:

सूत उवाच

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः।
नैच्छद् गुरुसुतं हन्तुं यद्यप्यात्महनं महान् ।।४०।।

श्लोकार्थ: सूतजी बोले इस प्रकार धर्मके परीक्षण करते हुए कृष्णने यद्यपि मारनेकेलिए प्रेरित किया तो भी महान् धर्मज्ञ उस अर्जुनने अपने पुत्रोंको मारनेवाले अश्वत्थामाको मारना नहीं चाहा।।४०।।

सुबोधिनी: वास्तवमें गुरुपुत्र एवं ब्राह्मण होनेसे इसका बन्धन ही युक्त नहीं है परन्तु यह अर्जुन कितने धर्मका पालनकर्त्ता है इस परीक्षाकेलिए यहां 'परीक्षता' इस पदसे यह भी बताया गया है कि सभी ओरसे धर्मका विचार करनेवाले भगवान्ने अर्जुनको प्रेरणाकी है सचमुच यदि मारनेकी आज्ञा करते और अर्जुन उसका पालन न करता तो ईश्वराज्ञाका उल्लङ्घन होता. परन्तु अर्जुनने भी

यही जाना कि भगवान् मेरी परीक्षा कर रहे हैं इसलिए भगवान्के कहनेके अनुसार न करनेपर भी ईश्वराज्ञाका उल्लङ्घन नहीं हुआ. धर्म यह कहता है कि कामतः इच्छापूर्वक ब्राह्मणको मारनेपर प्रायश्चित्तसे शुद्धि नहीं होती. इसलिए भी उसे मारना ठीक नहीं. यहां भगवान्, अर्जुन एवं अश्वत्थामा ये तीनों हैं इन तीनोंमें एक एकमें नहीं मारनेका कारण विद्यमान है. भगवान् तो परीक्षण कर रहे हैं, हृदयसे मारनेकेलिए नहीं कह रहे हैं. अर्जुनमें महत्ता है इसलिए महान् कभी ऐसा जघन्य कार्य नहीं करता. अश्वत्थामा गुरुपुत्र है. गुरुपुत्र कभी वध्य नहीं होता ।।४०।।

आभासार्थः प्रकारान्तरसे धीरे धीरे घरमें अर्जुनका आगमन कहते हैं :

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।
न्यवेदयत् तां प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ।।४१।।

श्लोकार्थः इसके बाद गोविन्द जिसके प्यारे एवं सारथी हैं उस अर्जुनने अपने सेना निवेश स्थानमें आकर मरे हुए पुत्रोंका शोक करनेवाली द्रौपदीके अर्थ उस अश्वत्थामाको अर्पित किया।।४१।।

सुबोधिनीः कार्यसिद्धिमें गोविन्द कारण हैं इसलिए श्लोकमें 'गोविन्द' यह हेतुभूत पद उपसहारमें भी कहा. शंका करते हैं कि इस प्रकार लानेसे बाणोंसे अश्वत्थामाके सिरको मैं लाऊंगा. अर्जुनकी इस प्रकारकी प्रतिज्ञाकी पूर्ति कैसे हुई. उत्तर देते हैं कि यह शत्रुके हाथ आ गया है इसलिए मृत ही है. ऐसी स्थितिमें देह जो इसका विद्यमान है वह बाणकी तरह इसको दुःख देनेवाला है. सिर लानेकी प्रतिज्ञाकी थी इसलिए उस अश्वत्थामाको अर्पित कर दिया. तब द्रौपदीको शोकमें ही धर्मका ज्ञान हो गया. इस बातको 'शोचन्त्या'से सूचित किया है. स्त्रीके हित करनेकेलिए ही उसे मारना था परन्तु द्रौपदीने मारनेकेलिए नहीं कहा था. इसलिए द्रौपदी अश्वत्थामाके मारणको चाहती है या नहीं इस सन्देहसे अर्जुन उसे पकडकर वहां ले आया है. अश्वत्थामाको द्रौपदीके सम्मुख उपस्थित करनेका अभिप्राय यह है कि द्रौपदी यदि आज्ञा दे तो इसे मार डालूं ।।४१।।

आभासार्थः द्रौपदीको तो उसका उस रूपमें लाना ही अभिप्रेत नहीं था. मारना तो दूर रहा इसी बातको कहते हैं कि :

तथाहृतं पशुवत् पाशबद्धम् अवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम ह ।।४२।।

श्लोकार्थः अपमानसे लाए गए पशुकी तरह पाशसे बन्धे बालकोंके वध

रूप निन्द्य कर्मसे नीचा मुख किये हुए अपकार करनेवाले गुरु पुत्र अश्वत्थामाको देखकर मनोहर स्वभाववाली द्रौपदीने कृपासे प्रणाम किया।।४२।।

सुबोधिनी: युद्धमें बालकोंको मारना निन्दित कर्म है. इसी निन्दित कर्मके कारण वह अश्वत्थामा अपना मुख नहीं दिखाना चाहता था इसलिए वह नीचा मुंह किये हुए था. श्लोकमें 'कृष्णा'का अर्थ द्रौपदी है. वह सबके हितकी भावना करती थी इसलिए उसका स्वभाव मनोहर था. महत्वबुद्धिसे अश्वत्थामाको नमन न करनेपर भी उसे यह विचार हुआ कि बडा ही कष्ट है जो ब्राह्मणत्व ऐसे बुरे स्थानमें आ गया है. इस प्रकारकी कृपासे द्रौपदीने प्रणाम किया. अश्वत्थामाके दुःखको दूर करनेकी इच्छा ही कृपा है. वह नमन आश्वासनका कारण है इसलिए वह कृपारूप है ।।४२।।

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती।
मुच्यतां मुच्यताम् एष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ।।४३।।

श्लोकार्थ: इस गुरु पुत्र अश्वत्थामाको बांधकर लाया जाना नहीं सहती हुई वह सती द्रौपदी अर्जुनसे बोली छोड दो, छोड दो, क्योंकि यह ब्राह्मण सब प्रकारसे गुरु है।।४३।।

सुबोधिनी: नमनसे अश्वत्थामाके हृदयमें विश्वास हो गया कि द्रौपदी मुझे नहीं मरवायेगी. बाहरके दुःख दूर करनेकेलिए बोली वह दूसरोंके दुःखको देखकर स्वयं भी दुःखित हो गई. इसलिए अश्वत्थामाको बांधकर लाना उसे सहन नहीं हुआ. देहके धर्मसे धर्म बडा है इसलिए द्रौपदीमें कृपाका आधिक्य कहा. द्रौपदी सती होनेसे धर्मस्वभाववाली है. सती स्त्री धर्मसे प्रमाद करनेपर अपने पतिको भी समझावे. द्रौपदी धर्म न्याय एवं छः अङ्गोंसे युक्त धर्मवाक्य बोली 'मुच्यताम्'. श्लोकमें 'मुच्यताम्'को दो बार इसलिए कहा है कि अर्जुनको छोडनेमें सन्देह न हो और विलम्ब भी न करे. छोडनेमें कारण यह है कि 'एषः ब्राह्मणः' यह ब्राह्मण है. एक धर्मीमें बहु तेरे धर्मोंके रहनेपर भी जो महान् धर्म होता है वह आदरणीय होता है. देह धर्मका अङ्ग होनेसे गौण है. धर्म मुख्य है. देहके विचारसे तो यह अश्वत्थामा शत्रु है और इसमें जो ब्राह्मण्य है वह धर्मका मूल है इसलिए देह विचारकी अपेक्षा धर्म विचार मुख्य है. अतः धर्मके विचारसे इसे छोड देना चाहिये और एक बात यह भी है कि धर्मका मूल गुरु है और वह भगवान्का रूप है. भगवान्का मुख होनेसे ब्राह्मण गुरु है. लौकिक बातोंके उपदेश देनेवाले गुरुसे

धर्मका उपदेश देनेवाले गुरु भगवन्मुखरूप होनेसे सर्वश्रेष्ठ हैं ।।४३।।

आभासार्थ: न्याय(नीति) विरुद्ध धर्म दुर्बल होता है इसलिए उसका अविरोध दिखाती हुई द्रौपदी लौकिक न्यायसे भी अश्वत्थामामें गुरुत्व बताती है :

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।

अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ।।४४।।

श्लोकार्थ: गोपनीय मन्त्रोंके सहित धनुर्वेदका एवं अस्त्रोंके प्रयोग और उपसंहार सहित अस्त्र समुदायका ज्ञान आपने द्रोणाचार्यकी कृपासे सीखा है।।४४।।

सुबोधिनी: एकान्तमें प्राप्त होनेवाले मन्त्रके सहित अस्त्रोंके छोडनेका प्रकार तथा अस्त्रोंका उपसंहार जो कि पुत्रादिकोंको भी नहीं बताया गया वह तुम्हें बताया और ब्रह्मास्त्र आदि भी कृपा करके सिखाये. केवल सिखाने मात्रसे ये नहीं आते किन्तु कृपासे ही आते हैं इसी बातको 'यदनुग्रहात्'से कहा है. अर्थात् अस्त्रोंको छोडना और उनका उपसंहार करना कृपापूर्वक उन्होंने तुमको सिखाया ।।४४।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि जिससे मैंने अस्त्रविद्या सीखी है वह द्रोणाचार्य यह नहीं हैं तो कहते हैं कि :

स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।

तस्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद् वीरसूः कृपी ।।४५।।

श्लोकार्थ: वे भगवान् द्रोणाचार्य ही सन्तानके रूपमें वर्तमान हैं. इसलिए पुत्रवती उस द्रोणाचार्यकी पत्नी कृपीने जो कि द्रोणाचार्यकी अर्धाङ्गिनी है. वह अपने पति द्रोणाचार्यके साथ सती न हुई।।४५।।

सुबोधिनी: द्रोणाचार्य अश्वत्थामाके रूपमें है इसमें दूसरा हेतु कहते हैं 'भगवान् इति' द्रोणाचार्य ब्रह्मज्ञानी होनेसे भगवद्रूप थे. ब्रह्मज्ञानी अपनी इच्छासे देह त्याग करता है. द्रोणाचार्यने तुम्हारा उपकार करनेकेलिए देह छोडनेकी दशामें अपने पुत्रको मरा हुआ सुनकर पुत्र मरण न हो और मैं अश्वत्थामाके रूपमें ही जीवित रहूंगा इस विचारसे पितृ शरीर छोड दिया अतः यह अश्वत्थामा वही द्रोणाचार्य हैं. श्रुतिमें कहा है कि ''आत्मा वै पुत्रनामासि'' पिता ही पुत्र नामसे है और प्रजारूपसे प्रसिद्ध होता है. निवृत्ति धर्मके विरुद्ध धर्म करना युक्त नहीं है इसलिए 'तस्यात्मनोऽर्द्धम्' इस पदसे दया बताते हैं. मूल रूप जो द्रोणाचार्य हैं

उसके अर्द्धाङ्ग रूपमें पत्नी है. तो उस कृपीने अपने पतिका अनुगमन इसलिए नहीं किया कि अपना पति पुत्रके रूपमें जीवित है इसलिए पुत्रवती सती स्त्रियां अपने पतिका अनुगमन नहीं करतीं. उस कृपीका यदि द्रोणाचार्य रूप अश्वत्थामा मर जाता है तो वह विधवा हो जाती है और वंश नहीं रहता है इसलिए अत्यन्त दुःखी होनेसे द्रौपदीको दया हुई. इसी तात्पर्यको 'नान्वगाद्' पदसे कहा है. कृपाकी अधिष्ठा भी देवता है इसलिए उसका नाम कृपी है ।।४५।।

आभासार्थः व्यलीक कहते हैं कापट्यको वह कापट्य धर्ममें बाधक होता है. अर्थात् धर्ममें कापट्य नहीं होना चाहिए. इसलिए इस अश्वत्थामाको निष्कपट रूपमें छोडें इसी बातको कहते हैं कि :

तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यम् अभीक्ष्णशः।।४६।।

श्लोकार्थः हे धर्मज्ञ! हे महाभाग! इसलिए अनुचित होनेसे गुरु सम्बन्धी कुल आपके द्वारा दुःख पाने योग्य नहीं है किन्तु सर्वदा पूजनीय एवं वन्दनीय है।।४६।।

सुबोधिनीः यदि किसी भी प्रकारसे गुरुकुलको दुःख दिया जाय तो किया हुवा जो गुरु सेवा रूप धर्म है वह सकपट होता है इसलिए धर्ममें कापट्य समझता हुआ भी जो ऐसा करता है वह धर्मज्ञ नहीं है. तुम तो कापट्य रहित हो इसलिए धर्मज्ञ हो. इसलिए द्रौपदीने 'धर्मज्ञ' पदसे सम्बोधित किया है और भी एक बात है कि बडे ही भाग्यसे गुरु सेवा करनेका सामर्थ्य होता है. सामर्थ्य होनेपर भी यदि गुरु सेवा नहीं करता तो उसका महान् अभाग्य समझना चाहिये. आपने सेवाकी है इसलिए महाभाग हैं. यदि दूसरोंके द्वारा गुरुकुल दुःखित किया जाय तो आपको गुरुकुलका दुःख दूर करना चाहिये परन्तु इस समय मैं विपरीत देख रही हूं. अर्थात् स्वयं तुम ही गुरुकुलको दुःख दे रहे हो. यह ठीक नहीं क्योंकि गुरुकुल इस प्रकारके दुःख प्राप्तिके योग्य नहीं है. इसमें हेतु देती है कि 'पूज्यं वन्द्यम्' महान् पुरुषोंको चाहिये कि वह गुरुकुलकी सब प्रकारसे पूजा ही करे. क्योंकि गुरु कृपासे ही उसमें महत्व आया है बिना नम्रताके पूजन नहीं करना चाहिये इसलिए सर्वदा गुरुकुल नमनीय है ।।४६।।

आभासार्थः धर्ममें ज्ञानका न रहना भी बाधक है. श्रुतिमें कहा है कि ''यदेव विद्यया करोति'' जो भी कुछ ज्ञान पूर्वक किया जाता है वह श्रेष्ठ होता है.

ज्ञान होनेसे दूसरोमें भी अपने समान सुख दुःख जो देखता है उसीसे किया हुआ ही धर्म है. विषय बुद्धिसे होनेवाला धर्म अधर्म प्राय है जैसा कि वेद स्तुतिमें ''विषमधिया रचितो य'' इस वाक्यसे कहा है. अश्वत्थामाको मार देनेसे गौतमी भी मर जायेगी जैसे एक ही जिसके पुत्र हो और वह मर जाय तो उसके पीछे रोनेवाले प्राणियोंमें जैसे कोई दूसरा भी मर जाय उसी प्रकार यह बात होगी इसी बातको कहते हैं कि :

मा रोदीद् अस्य जननी गौतमी पतिदेवता।

यथाहं मृतवत्सार्त्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः।।४७।।

श्लोकार्थः मरे हुए पुत्रवाली आर्त्त जिसके आंसू आ रहे हैं ऐसी मैं जैसे बार बार रो रही हूं उसी प्रकार अश्वत्थामाकी माता कृपी जो पतिको देवता रूपमें मानती है वह रुदन न करे।।४७।।

सुबोधिनीः कृपीके दुःखसे मैं अत्यन्त दुःखी होऊंगी. इसलिए मैं प्रार्थना करती हूं कि वह न रोवे. क्योंकि वह गौतमी है. गौतम ऋषिके वंशमें उत्पन्न हुई है इसलिए उसके रोनेपर बडा अनर्थ हो सकता है. कृपी स्वरूपतः भी महान् है. क्योंकि वह पतिको देवता मानती है. पतिव्रताके आंसू यदि पृथ्वीपर गिरे तो पृथ्वी निर्वीया (ऊसर) हो जाती है. ऐसी प्रथा है. शंका करते हैं कि पतिव्रता सब तत्वोंको जानती है. इसलिए वह नहीं रोयेगी. इस पर कहती है कि जैसे मैं रो रही हूं वैसे वह रोयेगी क्योंकि पुत्र–मरणका दुःख ही ऐसा विषय है जो तत्त्वज्ञानसे निवृत्त नहीं होता. जैसे अग्नि जलाती है यह ज्ञान है. तब भी दाह होनेपर वेदना होती ही है. इसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर भी पुत्र–मरणमें दुःख होता ही है ।।४७।।

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः।

तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्।।४८।।

श्लोकार्थः काम क्रोधादिके अधीन है अन्तःकरण जिनका ऐसे राजाओंसे ब्रह्मकुल कुपित किया जाय तो शोकयुक्त वह ब्रह्मकुल उन राजाओंके मृत्यु अमात्य परिवार सहित कुलको शीघ्र ही जला देता है।।४८।।

सुबोधिनीः ईश्वरका अविरोधी ही धर्म होता है. जैसे भगवान् धर्मप्रवर्त्तक हैं उसी प्रकार ब्राह्मण भी धर्म प्रवर्त्तक होनेसे ईश्वर ही हैं. उस ब्राह्मण कुलको क्षत्रिय आदि अन्य कोपयुक्त कर दें तो उनके मृत्य अमात्यादि सहित कुलको वह ब्रह्मकुल विनष्ट कर देता है. यह उपदेश महत् पुरुषोंका है. इसलिए

उनके वाक्य होनेसे इन वाक्योंमें भी महानता है. इस प्रकारके श्रेष्ठ वाक्योंके अनुसार ही धर्म करना चाहिये इसलिए इस अश्वत्थामाको शीघ्र ही छोड दें यह बात उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होती है ।।४८।।

आभासार्थ: सूतजी द्रौपदीके वाक्यका अनुवाद कर द्रौपदीके वाक्य ही सर्वसम्मत हुए इस बातको 'धर्म्य न्याय्यं' आदि दो श्लोकोंसे कहते हैं :

सूतः उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद् वचो द्विजाः।।४९।।
नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः।।५०।।

श्लोकार्थ : सूतजीने कहा हे ब्राह्मणों! द्रौपदीके धर्म, न्याय, दयायुक्त, कपटरहित समबुद्धि(पक्षपात रहित) कहे गए श्रेष्ठ वचनोंकी राजा युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, भगवान् कृष्ण और सर्वसाधारण स्त्री पुरुषोंने तथा अतिमूढ स्त्रियोंने भी प्रशंसा की।।४९ – ५०।।

सुबोधिनी: द्रौपदीने 'मुच्यतां मुच्यतामेषः' इस प्रकारके धर्मयुक्त, 'सरहस्यो धनुर्वेदः' से नीति सम्मत, 'तस्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते'से दयायुक्त 'तद् धर्मज्ञ महाभाग'से कापट्य शून्य 'मा रोदीदस्य जननी'से समबुद्धिसे कहे गये तथा उस द्रौपदीसे राजाकी तरह कहे गये महान् वचनोंका सभीने समर्थन किया अभिनन्दन किया. इस प्रकार 'धर्म्यं न्याय्यं' इस वाक्यमें जो छः गुण निरूपित हुए हैं वे पूर्वके श्लोकोंमें कहे गये हैं. धर्मराज युधिष्ठिरने द्रौपदीके धर्मयुक्त वाक्योंका सर्वतः प्रथम अभिनन्दन इसलिए किया कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र था. द्रौपदीने भी धर्मयुक्त वाक्य इसलिए कहे कि वह धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी पत्नी थी. 'द्विजाः' इस सम्बोधनसे यह सूचित किया कि जैसे आप लोग धार्मिक हैं इसलिए धर्मका ही समर्थन करते हैं वैसे ही युधिष्ठिरने भी किया. 'द्विज' पदसे ऐसा अर्थ इसलिए निकला कि यज्ञोपवीत संस्कार होनेके अनन्तर यज्ञादि धर्मोंमें अधिकार होता है. नकुल, सहदेवने भी इन वाक्योंका अभिनन्दन किया. अर्जुनके शिष्य सात्यकि तथा अर्जुनने प्रशंसाकी थी. श्लोकमें 'युयुधान' और 'धनञ्जय' इन दोनों पदोंको साथ कहना यह बताता है कि जिस विषयमें गुरु शिष्य दोनोंकी सम्मति हो जाती है वही धर्मका ठीक निर्णय होता है. द्रौपदी भक्त थी इसलिए उसपर भगवान्की

कृपा थी. अतः भगवान्ने उसके वाक्यका अभिनन्दन किया. भगवान् भक्तवश्य हैं इस बातको 'देवकीनन्दन' पद कहता है. अर्थात् देवकीके पुत्र भक्तिके कारण ही बने. यह धर्म सबका हितकारी है इस बातको बतानेकेलिए 'ये चान्ये' कहा अर्थात् सभी स्त्री पुरुषोंकी इस वाक्यमें सम्मति हुई. श्लोकमें आये 'अन्य' शब्दसे सर्वसाधारण स्त्री पुरुषलिये गये हैं. जब इस 'अन्य' पदसे स्त्रियां भी ले ली गईं तब 'योषितः' यह पद पुनः क्यों कहा इसका उत्तर देते हैं कि यहां 'योषित' पदसे अति मूर्ख स्त्रियां ली गई हैं वे 'अन्य' शब्दसे संगृहीत नहीं हुईं अतएव 'योषितः' शब्दकी पुनरुक्ति नहीं हुई. तात्पर्य यह है कि द्रौपदीके वाक्योंका मूर्ख स्त्रियोंने भी समर्थन किया ।। ४९-५०।।

आभासार्थ: धर्म दो प्रकारका है. एक तत्त्वसहित और दूसरा प्रमाण सहित.[१] जो प्रमाणको प्रधान माननेवाले हैं वे व्यवहारमें तत्त्वसहित अर्थात् जो धर्मका वास्तविक रूप है उस रूपमें धर्मको नहीं मानते. प्रमाणमें मूल है आसन्य प्राण(मुख्य प्राण) क्योंकि वह सूत्रात्मक है.[२] अतः सूत्रभूत वायुके अवतार भीमसेनने द्रौपदीसे कहे गये तत्त्वसहित धर्मको स्वीकार न कर स्वयं स्वतन्त्र धर्मका निरूपण करता हुआ अश्वत्थामाके वधके लिए प्रवृत्त हुआ.[३]

१.**तत्त्वसहित धर्म** वह है जो व्यवहारमें मुख्य रूपमें प्रचलित है जैसे व्यवहार इस प्रकारका है कि गुरुपुत्रका अनादर नहीं होना चाहिये. द्रौपदीने इसीको कहा है और इसका दूसरोंने नकुल, सहदेव आदिने भी अनुमोदन किया है. अतः वह तत्त्वसहित धर्म है. **प्रमाणसहित धर्म** वह है कि जो प्रमाण वाक्योंके अनुसार ही माना जाय जैसे प्रमाण यह है कि ''आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'' ''जिघांसन्तं जिघांसीयात्''.

२.सूत्रात्मक धर्मका अर्थ है मूल कारणभूत कर्म. अर्थात् वायु (मुख्यप्राण) ही शब्दका मूल कारण है क्योंकि शब्द वायुके धक्केसे ही शब्द निकलते हैं अतः मुख्य प्राण जिससे शब्दोंका उच्चारण होता है, वही सूत्ररूप है.

३.तात्पर्य यह है कि व्यवहारिक धर्मकी बात द्रौपदीने कही इसलिए द्रौपदीने जो धर्म बताया वह तत्त्वसहित है. भीम वायुका अवतार हैं इसलिए वह प्रमाणोंके अनुसार ही धर्म मानता है. इसलिए द्रौपदीसे कहे गये तत्त्वसहित धर्मको न मानकर स्वयं स्वतन्त्र रूपसे जो व्यवहारानुसार नहीं है प्रमाणानुसार है ऐसे धर्मका निरूपण करता हुआ भीम अश्वत्थामाको मारनेकेलिए प्रवृत्त हुआ इसी बातको कहते हैं कि)

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ।।५१।।

श्लोकार्थः इस प्रकार द्रौपदीके वचनोंका सबके द्वारा अभिनन्दन होनेपर उसे सहन नहीं करता हुआ भीमसेन बोला कि स्वामी दुर्योधनका अथवा अपना कुछ भी प्रयोजन न रहते हुए भी वृथा ही जिसने सोते हुए बच्चोंको मार दिया है इसलिए इसको मारना ही अच्छा है ।।५१।।

सुबोधिनीः यद्यपि भीमसेन सूत्ररूप है इसलिए उसे क्रोध करना युक्त नहीं है परन्तु यह सूत्रात्मक भीमसेन अधर्मका शत्रु है इसलिए उसने क्रोध किया. 'भीम' शब्दका तात्पर्य यह है कि जो दर्शन मात्रसे ही जो दैत्योंको भय पैदा करे अथवा जिसके देखने मात्रसे दैत्य जैसा भय लगे. भय पैदा कर दे. भीमसेनने कहा कि इस अश्वत्थामाकी रक्षा न कर मार देना ही ठीक है क्योंकि इसने रात्रिमें सोते हुए बच्चोंको व्यर्थ ही मार डाला. यदि यह जीवित रहेगा तो अन्य भी ऐसे अविचारित कार्य करेगा इसलिए इसको मारना ही ठीक है ।।५१।।

आभासार्थः भगवान्ने तत्त्वसहित धर्मका अभिनन्दन करके उसमें अपनी सम्मति प्रकटकी और इसके पूर्व इसके मारनेकेलिए भी आज्ञा दी इस समय द्रौपदी और भीमसेनके वाक्योंमें परस्पर विरोध है अतः दोनोंको समझानेकेलिए अधिक क्रियाशक्ति आवश्यक है इसलिए भगवान्ने चार भुजाएं प्रकटकीं. मतलब यह है कि हाथोंसे क्रिया होती है इसलिए वे क्रियाशक्ति प्रधान हैं. यहां द्रौपदी और भीम दोनोंके विरोधको दूर करनेकेलिए दो क्रियाशक्तियां अपेक्षित थीं इसलिए भगवान्ने चार भुजाएं प्रकटकीं. पूर्वकी दो भुजाएं एक क्रियाशक्तिवाली और दूसरी प्रकटकी गई दो भुजाएं दूसरी क्रियाशक्तिवाली. इसी बातको कहते हैं:

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः।
आलोक्य वदनं सख्युः इदम् आह हसन्निव।।५२।।
ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यो ह्याततायी वधार्हणः।
मयैवोभयम् आम्नातं परिपाह्यनुशासनम्।।५३।।

श्लोकार्थः भीम एवं द्रौपदीके वचनोंको सुनकर भगवान् चतुर्भुज बने और अपने सखा अर्जुनके मुखकी ओर देखकर हंसते हुए भगवान्ने इस प्रकार कहा. यद्यपि यह अश्वत्थामा आततायी वधके योग्य है तथापि किसी रूपमें ब्राह्मण होनेसे मारने योग्य नहीं है. मैंने इसके मारने तथा न मारनेकेलिए जो दो बातें कही हैं उनका तू पालन कर।।५२-५३।।

सुबोधिनीः चतुर्भुज हुए यह 'आलोक्य वदनं'से भिन्न वाक्य है. अर्थात्

''**भीमगदितं द्रौपद्याश्च गदितं निशम्य चतुर्भुजो जातः**'' ऐसा वाक्य है. परस्पर विरोध होनेपर एक बातका निर्णय नहीं हो सकता. वचनोंमें ही विरोध है इसकेलिए विरुद्ध वाक्योंकी एक वाक्यता नहीं हो सकती इसलिए दोनों बातोंके समन्वयके साथ दोनों कार्य भी हो जाय इसकेलिए भगवान्ने दोनों वचनोंके पालनकेलिए कहा. अर्जुन सख्य भक्ति पर्यन्त पहुंच गया था इसकेलिए उसे जतानेकेलिए उसके मुखको देखकर हंसते हुए भगवान्ने अपने अभिप्रायको कहा. भगवान्ने हंसते हुएकी तरह अर्जुनसे कहा इसलिए अर्जुन भी मोहित जैसा हुआ. अर्थात् पूरा मोहित नहीं हुआ. यदि पूरा मोहित होता तो द्रौपदीके वाक्यका अभिनन्दन कर दिया था तो उसका सम्मान करके ही उसे छोड देना था जिससे कि वह अश्वत्थामा परीक्षितको ब्रह्मास्त्रसे मारनेका प्रयत्न न करता. भीमसेनके वाक्यको सुनकर यदि मार देता तो भी भविष्यमें होनेवाला अनर्थ नहीं होता. भगवान्ने उसे मोहित जैसा बना दिया इसलिए दोनोंने एककी भी बात नहीं मानी. तब भगवान्ने आज्ञाकी कि इनमेंसे यदि एककी बात नहीं करता है तो दोनोंकी बात रह जाय ऐसा कार्य कर. कहते हैं कि विरुद्ध दोनों बातें कैसेकी जाय तो भगवान् आज्ञा करते हैं कि मैंने ही दोनों बातें कही हैं. भगवान्ने दोनों बातें इसलिए कहीं कि दोनों ही प्रकारकी बातें शास्त्र विहित हैं. ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिये और आततायीको मार देना चाहिये ये दोनों बातें कहीं हैं. यदि भगवान्की एक बात भी प्रमाण विरुद्ध रहती है तो भगवान्में अनाप्तत्व हो जाता है. तो फिर भगवान्ने ऐसी दो परस्पर विरुद्ध बातें क्यों कहीं यदि ऐसी शंका हो तो उत्तर देते हैं कि भीमसेन और द्रौपदी दोनोंके हृदयकी बातको जानकर ही भगवान्ने ऐसी दो बातें कहीं. जब मैंने दो बातें कहीं है तो तू मेरा मित्र है इसलिए तुझे भी मेरे कथनके अनुसार ही करना चाहिये. यदि तू मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करता है तो तू मेरा मित्र नहीं हो सकता. अतः मेरी आज्ञाका पालन कर इसी बातको 'परिपाह्यनुशासनम्'से कहा है ।।५२-५३।।

आभासार्थ: इतना होनेपर वह सबको सम्मत होगा यह कहते हैं :

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत् तत् सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ।।५४।।

श्लोकार्थः प्यारी द्रौपदीको सान्त्वना देते हुए जो तुमने प्रतिज्ञाकी थी उसे सत्य करो. भीमसेनका, द्रौपदीका और मेरा भी प्रिय हो उसे करो।।५४।।

सुबोधिनी: सिरको लानेकी अपनी (अर्जुनकी) जो प्रतिज्ञा है वह उसके

सिरकी मणिके ले लेनेसे पूरी होगी. अश्वत्थामाको मारनेसे भीमसेनका प्रिय होता है वह इसके मुण्डनसे पूरा हो जाता है और द्रौपदीको छुडाना प्रिय है वह इसकी छोड देनेसे हो जायेगा. दोनों बातोंके पालनसे मेरा (कृष्णका) प्रिय होगा ।।५४।।

आभासार्थ: अर्जुनने भगवान्की कृपासे सब बात जिसमें समाविष्ट हो जाएं ऐसे एक उपायको जानकर वैसा किया इसे दो श्लोकोंसे कहते हैं :

सूतः उवाच

अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दम् अथासिना ।
मणिं जहार मूर्द्धन्यं द्विजस्य सह मूर्द्धजैः।।५५।।
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।
तेजसा मणिना हीनं शिबिराद् निरयापयत्।।५६।।

श्लोकार्थ: सूतजी बोले अर्जुनने भगवान्के हृदयके अभिप्रायको सहसा जानकर तलवारसे मस्तकपर रही मणिको शिखा सहित ले ली और रस्सीसे बंधे हुए बालकोंकी हत्यासे हतप्रभ तेज और मणिसे हीन अश्वत्थामाको शिबिरसे निकाल दिया।।५५ – ५६।।

सुबोधिनी: भगवान्की कृपाके कारण ही अर्जुनने सहसा भगवान्के अभिप्रायको समझ लिया. उसके अनन्तर ही छोडनेके पहले तलवारसे सिरकी चूडामणिको शिखा सहित ले लिया. ऐसा करना पहले कही हुई दोनों बातोंका पालन करना है. यह बात आगे कहेंगे. इस उभयात्मक उपायके तीन अंग हैं. उनमेंसे तीसरे अंगको 'विमुच्य' इस पदसे कहते हैं. पहले वह रस्सीसे बंधा था (तो?) उसे छोड दिया. अपमान होनेपर भी अश्वत्थामा कुछ न बोला इसका कारण बताते हैं 'बालहत्याहतप्रभम्' बालकोंकी हत्यासे हतप्रभ होनेके कारण वह कुछ न कर पाया. पूर्वमें 'तेजसा मणिना हीनं'के अर्थको बता दिया है तो फिर 'तेजसा मणिना हीनम्' ऐसा क्यों कहा तो कहते हैं कि शिबिरसे निकाल देनेकी जो तीसरी बात है उसके साथ पुनः इनका अनुवाद मात्र है. कुछ अपूर्व बात नहीं कहनी है. शिबिरसे अर्थात् अपने सेना निवेश स्थानसे निकाल दिया. सत्पुरुषोंके स्थानसे निकाल देनेपर सर्वत्र सत्पुरुषोंके यहां इसका प्रवेश न हो सकेगा यह 'शिबिरान्निरयापयत्'से बताया ।।५५–५६।।

आभासार्थ: अश्वत्थामाके साथ जो कुछ किया गया वह ठीक था इसका विवेचन करते हैं:

वपनं द्रविणादानं स्थानाद् निर्यापणं तथा।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः।।५७।।

श्लोकार्थः मुण्डन, धनका अपहरण तथा निवास स्थानसे निकालना ही आसुरी प्रकृतिवाले ब्राह्मणोंका वध है. अन्य दैहिक सिरश्छेद आदि रूप वध नहीं हैं।।५७।।

सुबोधिनीः श्लोकमें 'हि' पद निश्चय अर्थको बताता है अर्थात् "**मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः**" आदिसे तथा "**आततायी वधार्हणः**", "**जिघांसन्तं जिघांसीयात्**" इन प्रमाण आदिके अनुसार यही निश्चय है कि ब्राह्मणका वपनादि ही वध रूप है. श्लोकस्थ 'ब्रह्मबन्धु'का अर्थ है दैत्यांश ब्राह्मण. 'दैहिकः' का अर्थ देहच्छेदनरूप वध. दैत्यांश ब्राह्मणोंका वध यही है. मारना विहित नहीं है ।।५७।।

आभासार्थः इस प्रकार प्रसंग प्राप्त बात कहकर प्रस्तुत बातका उपसंहार करते हैं:

पुत्रशोकादिर्दिताः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया।
स्वानां मृतानां यत् कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम्।।५८।।

श्लोकार्थः पुत्र –शोकसे पीडित द्रौपदी सहित पाण्डवोंने मरे हुए अपने कुटुम्बियोंको जलानेकेलिए ले जाना आदि कृत्य किये।।५८।।

सुबोधिनीः इसका अर्थ स्पष्ट है ।।५८।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके
वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके उत्तमाधिकार प्रकरणका
सप्तम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ८

ब्रह्मास्त्रसे रक्षा और भगवान्‌की स्तुति

एवं हि सर्वभक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता ।
सर्वहेतुकथायैव सप्तमे विनिरूपिता ।।का.१।।
अष्टमे यस्य वाक्यस्य करणाद्यद्धि जायते ।
दोषश्चेत्तत्समाधानं गुणश्चेदाह पोषणम् ।।का.२।।

कारिकार्थः अब अष्टमाध्यायका विवरण करते हुए सप्तम एवं अष्टम अध्यायकी संगति बतानेकेलिए दोनों अध्यायोंका 'एवं' इत्यादि कारिकाओंसे अर्थ कहते हैं. इस प्रकार सबके मनोरथ पूर्ण करनेमें जो कारण भक्ति है उसके निरूपण करनेकेलिए सप्तम अध्यायमें सब भक्तोंने भगवान्‌के वाक्यका पालन किया ऐसा बताया. कारिकामें 'सर्वहेतुकथायैव' ऐसा पाठ प्रकाशकार बताते हैं, ऐसी स्थितिमें सूतजीके कहनेमें हेतु निरूपण करनेसे और श्रीभागवतकी स्थितिका कारणभूत जो परीक्षितका भगवदीयत्व, उसमें हेतु उसके पूर्वज पाण्डवोंका वैष्णवत्व होगा इस बातको कहनेकेलिए भगवद्वाक्यका पालन करना सप्तम अध्यायमें निरूपित किया गया. पाण्डव पूरे वैष्णव थे इसलिए उनने भगवान्‌के वाक्योंका पालन किया. पालनसे जो फल हुआ उसका निरूपण करते हैं. प्रकाशकार यहां यह कहते हैं कि चोथे अध्यायमें शौनकादिकोंने श्रीभागवत और उसके निर्माता, वक्ता तथा श्रोता इन चार विषयोंको लेकर चार प्रश्न किये. उनमें श्रीभागवत विषयक प्रश्नका उत्तर आगेके स्कन्धोंसे दिया जायेगा. कर्तृविषयक प्रश्नके उत्तर ''द्वापरे समनु प्राप्ते''से लेकर ''शुकमध्यापयामास निवृत्ति निरतं मुनि''से निरूपण किया और उसमें अवान्तर प्रश्न तथा उत्तर भी कहे. वक्तृविषयक प्रश्नका उत्तर सप्तमाध्यायमें कथन और अध्ययनका निरूपण करते हुए दिया. बाकी रहा जो श्रोतृविषयक चतुर्थ प्रश्न वह चार प्रकारसे कहा गया है. जैसे राजा परीक्षितका जन्म, कर्म, आमरण अनशन करनेका कारण तथा प्राण त्याग. उसका जन्म महाश्चर्यरूप है. इसमें हेतु कहना चाहिए. महाश्चर्यमें कारण भगवदीयत्व है. राजा परीक्षितके भगवदीय होनेमें उसके पूर्वजोंका वैष्णव होना कारण है, इसी बातको सप्तम अध्यायमें भगवद्वाक्यमें निष्ठासे निरूपण किया गया है उसीका कारिकामें अनुवाद किया है.

'अष्टमे यस्य वाक्यस्य' इस कारिकाका अर्थ यह है कि अष्टम अध्यायमें भगवान्के वाक्यके पालन करनेसे जो कुछ दोष हुआ उसका समाधान कहा है. इस अध्यायमें १६ श्लोकोंसे दोषोंका निरूपण किया गया है और कुन्ती कृत स्तुति पर्यन्त गुणोंका वर्णन किया है. भगवान्के वाक्यके पालन करनेसे जो गुण हुआ उसको पोषण कहते हैं.

आभासार्थः आगे कहे जानेवाले परीक्षितपर अनिवर्तनीय ब्रह्मास्त्रके चलानेका कारण अश्वत्थामाका अपमान है इसका निरूपण सप्तमाध्यायके अन्तमें किया गया है अष्टम अधयायमें भगवान्को अद्भुतकर्मा बतानेकेलिए चार पदार्थोंका निरूपण किया जाता है जो इस प्रकार है पहला ब्रह्मास्त्रसे परीक्षितका दग्ध होना. दूसरा उसकी रक्षा करना. तीसरा भगवान् अद्भुतकर्मा हैं इसके निर्णयकेलिए स्तुति करना. चतुर्थ जो भगवान्ने अद्भुत कर्म किये उनका निरूपण करना है. उनमें पहले ब्रह्मास्त्रके प्रसंगको कहते हैं:

सूतः उवाच

अथ ते सम्परेतानां स्वानाम् उदकम् इच्छताम्।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः।।१।।
ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले।।२।।

श्लोकार्थः सूतजी कहते हैं कि इसके बाद पाण्डव मरे हुए एवं जल चाहनेवाले पुरुषोंको जल देनेकेलिए भगवान् श्रीकृष्ण सहित स्त्रियोंको आगे करके गंगाजीके तटपर गए. उन सभीने जलाञ्जलि देकर तथा बहुत विलाप कर भगवान्की चरणारविन्दकी रजसे पवित्र गंगाके जलमें पुनः स्नान किया।।१-२।।

सुबोधिनीः शुद्धिके बाद ही मृतकका संस्कार किया जाता है, वह शुद्धि दो प्रकारकी है, बाह्य एवं आन्तर. इनमें पहले दो श्लोकोंसे बाह्य शुद्धिका निरूपण करते हैं. मरे हुओंका जब प्रेतत्व छूट जाता है तब उसके सम्बन्धी शुद्ध होते हैं. इसलिए पहले प्रेतत्व छुडानेकेलिए मरणोत्तर होनेवाली क्रियाका निरूपण करते हैं. मरे हुओंका कुरुक्षेत्रमें ही दाह करके हस्तिनापुरमें जल देनेकेलिए सब (पाण्डव) गये. पहले कपिलदेवजीके क्रोधसे दग्ध हुए सगरके पुत्र भी जिस गङ्गाके जलके स्पर्शसे मुक्त हो गये तो धर्मयुद्धमें मरनेवालोंकी मुक्ति हो इसमें क्या सन्देह हो सकता है. ''**प्रत्तं? जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य ताप प्रशमं करोति**''

पुत्रसे दिया गया जो तीन अञ्जलि जल वह प्रेतके तापको मिटाता है. इसलिए प्रेतके तापको दूर करनेकेलिए जलकी अपेक्षा है. मूलभूत जो आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक ताप हैं उनके दूर करनेकेलिए एक ही साथ तीन अञ्जलि जल देना चाहिये ऐसा निश्चय कर गंगाजीमें गये इस बातका निरूपण किया जाता है. श्लोकमें 'अथ'का अभिप्राय यह है कि मरणोत्तर वैर भावना नहीं रखनी चाहिये इसलिए वैर भावको छोडकर पाण्डव उत्तर क्रिया करने गये. श्लोकमें 'स्वानाम्'का अभिप्राय यह है कि जो बहुत पीढियोंमें है तथा सपिण्ड जो पुरुष मरे हैं उनको मुक्ति देनेकेलिए भगवान्के सहित गंगाजीपर गये. स्त्रियोंको उस समय आगे किया, क्योंकि ऐसा ही लोकाचार है. प्रेतोंको जल देकर "**रोदनप्रियाः पितरः**" पितरोंको रोना अच्छा लगता है इसलिए वे रोये जिससे फिर न रोना पडे. श्लोकस्थ 'च'कारका अभिप्राय यह है कि इसके अतिरिक्त जो भी कर्तव्य था उसे भी किया. पहले जल देनेकेलिए स्नान किया था तो भी पुनः सब प्रकारकी शुद्धि, भक्ति एवं ज्ञानाधिकारको प्राप्त करनेकेलिए गंगामें स्नान किया. इसी बातको 'आप्लुताः'से कहा है. यद्यपि गंगाजल भगवच्चरणारविन्दके धोनेसे अरुण परागसे युक्त है. जैसा कि "**तच्चरण–पङ्कजावनेजनारुण किञ्जल्कोप–रञ्जिता**"से कहा है "**धातुः कमण्डलजलम्**" ब्रह्माजीने भगवान्के चरणारविन्दको धोया. इस वचनसे भी गंगाजल अति पवित्र करनेवाला है तथापि नदी रूप होनेसे जलान्तरके सम्बन्धकी सम्भावना है इसलिए पहले जिस जलमें स्नान किया था वह शुद्ध गंगाजल (भगवच्चरणारविन्दका जल) था या नहीं, इस सन्देहसे दूसरी बार जहां वे (पाण्डव) नहीं रहे थे उसके ऊपरके प्रदेशमें भगवान्को खडे किये और उनके चरणारविन्दके जलसे स्नान किया. इस बातको कहनेसे यह मालूम हुआ कि भगवत्सम्बन्धी वस्तुका ही विनियोग करनेका उनका आग्रह था इसलिए वे भगवदीय थे ।।१–२।।

आभासार्थः इस प्रकार सब कार्यके करनेपर वैसे भक्तोंकेलिए जो भगवान्ने किया उसे 'तत्रासीनम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे कहते हैं:

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम्।
गान्धारीं पुत्रशोकार्त्तां पृथां कृष्णां च माधवः।।३।।
सान्त्वयामास मुनिभिः हतबन्धून् शुचार्पितान्।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम्।।४।।

श्लोकार्थः गंगातटपर बैठे अपने छोटे भाई भीमसेन आदिके सहित युधिष्ठिरको अथवा अपने छोटे भाई विदुरजी सहित धृतराष्ट्रको और पुत्र-शोकसे व्याकुल गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदी को जो बालकोंके मर जानेसे शोकाकुल थे उनको मुनियोंके साथ जाकर लक्ष्मीपति भगवान्ने कालमें पैदा हुए प्राणियोंमें कालकी प्रवृत्ति अनिवार्य है इसलिए तत्त्वज्ञान देकर सान्त्वना दी।।३-४।।

सुबोधिनीः श्लोकस्थ 'आसीनम्'का अर्थ है बैठे हुए, जो व्यक्ति बैठ जाता है वह व्यग्र नहीं होता. युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्रकेलिये बैठे हुए कहनेसे वे व्यग्र नहीं थे. यह कहा गया. श्लोकस्थ 'कुरुपतिम्'का अर्थ है युधिष्ठिर. 'सहानुजम्'का अर्थ है भीम आदि सहित. जब 'सहानुजम्'को धृतराष्ट्रका विशेषण रखते हैं तो विदुर सहित धृतराष्ट्र यह अर्थ होता है. विदुरजी तीर्थ यात्राकेलिए चले गये थे तो यहां इस समय उनका निर्देश करना कैसे युक्त है तो कहते हैं कि तीर्थाटनकी कथा दूसरे कल्पकी है. इस कल्पकी नहीं. इसलिए विदुरके सहित धृतराष्ट्रकी स्थिति बताना असंगत नहीं है. वहां उपस्थित सभी स्त्रियां अपने अपने पुत्रोंके शोकसे पीडित थीं. इसलिए 'पुत्रशोकार्त्ताम्' यह कहा. यह विशेषण गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदी सुभद्रा आदि सबका है. स्त्रियोंको तो स्त्रियां समझाती हैं तो फिर भगवान्ने उन्हें क्यों समझाया इसलिए श्लोकमें 'माधवः' पद दिया गया है. भगवान् लक्ष्मीके पति हैं. और स्त्रियां सब लक्ष्मीकी अंश भूता हैं. पतिका स्त्रियोंको समझाना कर्त्तव्य हो जाता है इसलिए भगवान्का उनको समझाना ठीक था. देह नश्वर है. आत्मा नश्वर नहीं है. आदि आदि बातोंसे वस्तुका याथार्थ्य बताते हुए उन्हें समझाया. समझानेके समय मुनियोंको भी साथ रखा क्योंकि वे भी अपनी (भगवान्की) बातका अनुमोदन करें. 'हतबन्धूनाम्'का अर्थ यह है कि जिनके बान्धव मर गये हैं. उनका तत्वज्ञानसे शोक मिटाया जाता है. शंका करते हैं कि ईश्वर सर्वकर्त्ता होनेसे सब तरहसे सब कुछ कर सकते हैं तो इस प्रकार सान्त्वना देना उचित नहीं. क्योंकि भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं तो वे कालका भी प्रतीकार कर सकते हैं. इस आशंकाका उत्तर देते हैं कि कालको भगवान्ने अधिकार दे दिया है इसलिये कालके घरमें पैदा हुओंको काल दण्ड दे सकता है. उसका प्रतीकार भगवान् भी नहीं करते क्योंकि भगवान् उसे अधिकार दे चुके हैं. अधिकार दे देनेके अनन्तर उसमें हस्तक्षेप करना

उचित नहीं. जैसे घरमें रहे स्त्री पुत्र आदिके ताडन करनेपर राजा दण्ड नहीं देता क्योंकि यह उनकी घरकी बात होनेसे घरके स्वामीको ताडनका अधिकार है इसी प्रकार कालके घरमें पैदा हुओंको अर्थात् जिनका कालपर अधिकार है उनको काल दण्ड दे सकता है. काल भी भक्त है इसलिये उसके सम्मानकेलिये कदाचित् भगवान् कालसे पैदाकी गई भक्तोंकी आपत्तिकी उपेक्षा करते हैं इसी सिद्धान्तको कहते हैं कि 'भूतेषु' अर्थात् कालमें पैदा होनेवाले प्राणियोंमें काल जो परिवर्तन आदि करता है उसकी प्रवृत्तिको प्रतिक्रिया रहित दिखाकर समझाया. श्लोकस्थ 'गतिं'का अर्थ प्रवृत्ति है अर्थात् कालकी प्रवृत्तिको. 'अप्रतिक्रियाम्'का अर्थ है कि जिस कालकी प्रवृत्तिका उपाय नहीं हो सकता ।।३-४।।

आभासार्थः इस प्रकार उस समय नहीं किया गया भी भक्तोंका हित भगवान् करते हैं इस बातको बतानेकेलिए लौकिक प्रतीतिसे भी जो हित है वह यद्यपि भविष्यमें किया जायेगा किन्तु भगवदिच्छा होनेके कारण भगवान्की इच्छाके साथ ही कार्य हो जाता है भगवान्ने पाण्डवोंके हितकेलिए विचार किया तो एक प्रकारसे वह कार्य हो ही चुका किन्तु लोकमें वह प्रकट रूपमें नहीं आया इसी सिद्धान्तको बतानेकेलिए उसका निरूपण साधयित्वा इत्यादि दो श्लोकोंसे करते है.

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम्।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः।।५।।
याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत्।।६।।

श्लोकार्थः भगवान् श्रीकृष्णने कपटियोंसे छलके द्वारा हरे गए युधिष्ठिरके राज्यको पुनः उन्हें दिलाकर द्रौपदीके केशोंके स्पर्शसे जिनकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे दुष्ट राजाओंको मरवाकर उत्तम साधनोंसे तीन अश्वमेधोंके द्वारा यजन करा कर इन्द्रकी तरह उस युधिष्ठिरका पवित्र यश दिशाओंमें फैलाया।।५-६।।

सुबोधिनीः श्लोकस्थ 'अजातशत्रु' शब्दका अर्थ यह है कि बाह्य एवं आन्तर काम क्रोधादि शत्रु जिनके उत्पन्न ही नहीं हुए हैं वही भक्तिका उत्तमाधिकारी है. अर्थात् जो काम क्रोधसे रहित होता है वही भक्तिका उत्तमाधिकारी होता है. भगवान्ने युधिष्ठिरको राज्य इसलिये दिलाया कि वह

उसीका था. राज्य दिलानेका कारण यह है कि दुर्योधन आदिने धर्म युद्धके द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया किन्तु कपट युक्त द्यूत (जुआ)में उसके राज्यको ले लिया था. इसलिये भगवान्ने उन्हें मरवाकर पीछे युधिष्ठिरको दिलाया. क्योंकि हस्तिनापुरका राजा भी पाण्डु ही था. राज्यके हरण करनेमें अनेक कपटी इकट्ठे थे इसलिये 'कितवैः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया. शंका होती है कि कालका प्रतीकार नहीं हो सकता. यदि उन दुर्योधनादिकी आयु शेष थी तो भगवान्ने उन्हें कैसे मरवा दिया. इसपर कहते हैं कि 'घातयित्वासतो राज्ञः' सब राजा दुष्ट थे क्योंकि दुष्ट दुःशासनके साथ वे मिल गये थे. उसने द्रौपदीके बालोंको स्पर्श किया उसीसे उन सबकी आयु नष्ट हो गई. वह द्रौपदी निरपराध एवं भक्त थी इसलिये उसके प्राण उत्तम थे. उनका तथा आयुका स्थान सिर है परन्तु प्राणोंके बलिष्ठ होनेसे आयु प्राणाधीन थी इसलिये उनके प्राणोंको द्रौपदीके प्राणोंने नहीं रहने दिया. अश्वमेध यज्ञका फल बताते हुए कहा है कि ''तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्'' एक अश्वमेधसे मृत्युको पार करता है दूसरेसे पाप मुक्त होता है और तीसरेसे ब्रह्महत्यासे मुक्त होता है. शंका करते हैं कि ''सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात्'' इस अधिकरणमें दर्श, पौर्णमास एवं ज्योतिष्टोम आदिको सम्पूर्ण कामना देनेवाले बताये हैं. काम नैमित्तिक है और ज्योतिष्टोम आदि उनके निमित्त हैं. इसलिये एक बार ज्योतिष्टोम आदिका अनुष्ठान करनेपर युगपत् सत्व फलकी सिद्धि हो ही जायेगी तो फिर अलग अलग कामनाकेलिये पृथक्-पृथक् अश्वमेध यज्ञ करनेकी क्या आवश्यकता है. इसपर कहते हैं कि यहां काम विधेय नहीं है किन्तु स्वतः प्राप्त हुए कामोंका उद्देश्य करके ज्योतिष्टोम आदिका विधान है इन यागोंसे परस्पर निरपेक्ष स्वर्ग एवं पशु आदि पृथक्-पृथक् प्रयोग होता है. इसी न्यायसे मृत्यु, पाप और ब्रह्महत्यासे मुक्त होनेकेलिए राजा युधिष्ठिरने पृथक्-पृथक् तीन अश्वमेध यज्ञ किये. इसी बातको 'अश्वमेधैः' यह बहुवचनान्त पाठ देकर कहा है. वे अश्वमेध उत्तम साधन सहित थे. अथवा 'उत्तमकल्पकैः'का अर्थ है उत्तम बनानेवाले. अर्थात् इन अश्वमेध यज्ञोंको प्रायश्चित रूपमें कराके राजाको उत्तम बनाना है. क्योंकि युधिष्ठिरने गुरु हनन आदि पाप किये हैं उनकी शुद्धिकेलिये ये यज्ञ प्रायश्चित रूपमें कराये. यज्ञ करते समय भगवान्का सान्निध्य था इसलिये तीन अश्वमेध यज्ञोंके करने मात्रसे ही सौ अश्वमेध यज्ञके समान राजाका यश हो गया. तात्पर्य

यह है कि भगवान्की सन्निधिमें किया हुआ थोडा भी यागादि कर्म अत्यधिक फल देनेवाला होता है. जिससे राजाका तीन लोकमें यश हो गया. इस एकके उपक्रमसे राजाने लगातार तीन अश्वमेध यज्ञ किये ।।५-६।।

आभासार्थः इस प्रकार भगवान्ने यहां लौकिक सब धर्मोंकी समाप्ति बतानेकेलिए जानेकी आज्ञा ली, अर्थात् भगवान् जानेकेलिए पूछ रहे हैं, इससे मालूम पडता है कि यहांके उनके द्वारा होनेवाले पाण्डवोंके लौकिक सभी कार्य समाप्त हो गए इसीको डेढ श्लोकसे कहते हैं कि :

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः।
गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथम् आस्थितः।।७।।

श्लोकार्थः हे ब्रह्मन्! महर्षि व्यास आदि ब्राह्मणोंकी आज्ञा ली तथा उनका पूजन किया और उनसे पूजित हुए भगवान् पांचो पाण्डवोंसे पूछकर सात्यकि एवं उद्धवके साथ द्वारका जानेके विचारसे रथमें विराजे।।७।।

सुबोधिनीः बान्धव और ऋषि जानेकी आज्ञा देनेवाले हैं इसलिए बान्धव और ऋषियोंको पृथक् रूपसे कहा. श्लोकस्थ 'च'कारसे और सभी जो उपस्थित थे वेलिये गये. अर्थात् जो इनके अतिरिक्त दूसरे उपस्थित थे उनसे भी आज्ञा ली. श्लोकस्थ ''शैनेय'का अर्थ है सात्यकि. वेद व्यास आदिसे दूसरोंकी तरह आज्ञा भी ली और उनका पूजन भी किया. अर्थात् औरसे तो केवल आज्ञा ही ली. और वेद व्यास आदिसे आज्ञा भी ली और उनका पूजन भी किया. सूतजी शौनककेलिए 'ब्रह्मन्' ऐसा सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि आप ब्राह्मण हैं आपकी अनुभूति है कि ब्राह्मणको क्रोध अधिक आता है इसीलिए ब्राह्मण वेद व्यास आदिसे आज्ञा ली और पूजन भी किया अन्यथा उनके क्रोध करनेकी संभावना थी जैसे अपमान होनेसे अश्वत्थामाको महा क्रोध हुआ. भगवान् द्वारका जानेकेलिये रथमें बिराजे. आगेकी क्रिया सारथि एवं घोडोंके अधीन है ।।७।।

आभासार्थः जब भक्तका कोई कार्य उपस्थित हो जाता है तो भगवान् उसके कार्यकेलिए अपने आरम्भ किये हुए कार्यको भी छोड देते हैं. अर्थात् भगवान् जानेको उद्यत हो गए थे किन्तु भक्तके कार्यकेलिए अपने गमन रूप कार्यको छोड दिया इस बातको बतानेकेलिए कहते हैं कि जानेके समय उत्तराको देखा.

उपलेभेऽभिधावन्तीम् उत्तरां भयविह्वलाम् ।
पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ।।८।।

श्लोकार्थ : जब भगवान् रथमें बिराजे इतने हीमें देखा कि भयसे विह्वल उत्तरा दौडी चली आ रही है. उत्तराने कहा कि हे महायोगिन् ! हे देवताओंके देवता ! हे जगतके स्वामिन् ! रक्षा करो आपके अतिरिक्त कोई मुझे अभय देनेवाला नहीं है क्योंकि सभी एक दूसरेको मारनेवाले हैं।।८।।

सुबोधिनी: वह उत्तरा भक्त थी. भक्तको भली बुरी पहले ही मालूम हो जाती है इसलिये उत्तराको ही पहले ब्रह्मास्त्र दीखा. वह लोहके बाणसे युक्त मुख्य ब्रह्मास्त्र उत्तराकी ओर आ रहा है उसके बाद उस मुख्य ब्रह्मास्त्रसे निकले हुए पांच बाण पाण्डवोंकी ओर जा रहे हैं. उत्तराकी ओर मुख्य अस्त्रको अश्वत्थामाने इसलिये चलाया कि परीक्षित पाण्डवोंका मूलरूप है इसलिये जैसे वृक्षके मूलको काटनेमें अधिक व्यापार अपेक्षित है उसी प्रकार यहां भी उच्छेद (नाश)केलिये मुख्य ब्रह्मास्त्र चलाया. अश्वत्थामाको यह अभीष्ट था कि कौरव जैसे निर्वंश हो गये उसी प्रकार पाण्डवोंको भी मैं निर्वंश बना दूंगा. उस समय उत्तरा भगवान्के सम्मुख दौड रही थी और भयसे विह्वल थी. इसलिये वस्त्र इत्यादिका भी उसे भान न था. उत्तराको जिस प्रकार कहना आरम्भ करना चाहिये उस प्रकारसे उसने कहना आरम्भ नहीं किया इसलिये श्लोकमें 'आह' ऐसा नहीं कहा. आती हुई उस उत्तराने 'पाहि' रक्षा करो ऐसा ही कहा. भयसे घबराई हुई उस उत्तराके 'पाहि पाहि' रक्षा करो रक्षा करो ऐसे वाक्य थे. यहां 'पाहि'का कर्मरूप 'आत्मानम्' कहना आवश्यक था किन्तु काया और वाणीसे एक ही बात उसे कहनी है इसलिए उसने अपनेको दिखाते हुए 'पाहि' ऐसा ही कहा. उत्तराने भगवान्को 'महायोगिन्' पदसे सम्बोधित कर यह बताया कि आपमें सर्व सामर्थ्य है और सब प्रकारको भी आप जानते हैं. क्योंकि आप महायोगी हैं. एक साधारण योगीमें भी ये सब बातें होती हैं तो महायोगीमें ये सब बातें हों इसमें क्या आश्चर्य है. उत्तरा कहती है कि आप सब रूप हैं इसलिये बाण रूप भी आप हैं अतः उसका भी पक्षपात आपको होना चाहिये अर्थात् बाण भी निष्फल न जाय ऐसा कार्य करना चाहिये किन्तु इस समय देवताओंके हितकेलिये पधारें हैं अतः उनके हितकेलिये इस बाणका निराकरण करना ठीक है. पाण्डव दैव जीव थे अथवा देवताओंके

अंश रूप थे और आप देवताओंके भी देव हैं अर्थात् रक्षक हैं इसलिये पाण्डवोंका कार्य करना ठीक है. इस समय किसी रक्षकके न होनेसे अराजक राज्य हो गया है अतः सबकी रक्षाकेलिये मेरे गर्भकी रक्षा करें. क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत्के पति हैं. पति रक्षक होता है. यदि आप यह आशंका करें कि तेरे श्वसुर आदिके विद्यमान रहते मुझे ही रक्षाकेलिए क्यों कहती है तो कहती है कि 'नान्यम्' जगत्में आपके अतिरिक्त किसीको भय रहित नहीं देखती हूं. क्योंकि सभी मृत्युके भयसे ग्रस्त हैं. जो भय रहित होता है वही शरणके योग्य होता है. मेरे श्वसुर आदि मृत्यु वश होनेसे भय रहित नहीं हैं. अतः वे शरण योग्य नहीं हैं. एक बात यह भी है कि समान स्वभाव समान व्यसन वालोंका सख्य होता है. ऐसी स्थितिमें कौरव एवं पाण्डवोंका सख्य होना चाहिये था परन्तु ऐसा न होकर उनका परस्पर घातक बनना अति आश्चर्यजनक है. सख्यकी जगह विरोध है इससे ज्ञात होता है कि कोई सर्वत्र आविष्ट होकरके मरवाता है. तो जिसका आवेश है उसके शरण जाना चाहिये. और वे हैं आप. इसलिए आपका ही शरण ग्रहण करना चाहिये. उनके शरण ग्रहण करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है. इसी तात्पर्यसे श्लोकमें 'यत्र मृत्युः' ऐसा कहा है. प्रकाशकार कहते हैं कि श्रीसुबोधिनीमें उत्तराके विशेषण 'आगच्छन् प्रदर्शयन् बोधयन्निव'की जगह 'आगच्छन्त्या एवं प्रदर्शयन्त्या बोधयन्तीव' ऐसा स्त्रीलिङ्ग पाठ रहा है. पुल्लिङ्गोंका प्रयोग लेखककी भूलसे हो गया है ऐसा स्पष्ट है ।।८।।

आभासार्थः प्रस्तुत बात कहती है:

अभिद्रवति माम् ईश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ।।९।।

श्लोकार्थः हे ईश ! हे व्यापक ! हे स्वामिन् ! यह तपे हुए लोहेका बाण मेरे सम्मुख आ रहा है मुझे यह यथेष्ट जलावे, किन्तु मेरे गर्भको नष्ट न करे।।९।।

सुबोधिनीः श्लोकमें 'ईश' यह सम्बोधन यह बताता है कि आप ऐश्वर्य युक्त हैं इसलिए प्रतीकार कर सकते हैं. 'विभो' और 'नाथ' इन दो सम्बोधनसे उत्तराने यह बताया कि आप व्यापक और सबके स्वामी हैं इस बातको मैं जानती हूं. आप सबके मूल हैं. यदि आप यह समझते हो कि मृत्युका प्रतीकार नहीं हो सकता तो मृत्यु रूप (ब्रह्मास्त्र) मुझे जला दे किन्तु मेरे गर्भको नष्ट न करे. यदि आप ऐसा विचार करें कि तेरी रक्षाके बिना गर्भकी रक्षा कैसे हो सकती है तो मैं

आपसे प्रार्थना करती हूं कि योग बलसे मेरे गर्भकी रक्षा करें. अर्थात् योगीमें सर्व सामर्थ्य होता है. आप योगेश्वर हैं इसलिए मेरी रक्षा न होनेपर भी गर्भकी रक्षा कर सकते हैं. इस प्रकार उत्तराने यह बताया कि भक्त जो गर्भमें है उसकी रक्षा मुख्य है मेरी रक्षा मुख्य नहीं है ।।९।।

सूतः उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ।।१०।।

श्लोकार्थ : सूतजीने कहा भक्तवत्सल भगवान्ने उस उत्तराके वचनोंका निश्चित अर्थ समझ विश्वको पाण्डव रहित ही कर देनेकेलिए यह अस्त्र चलाया है यह समझा।।१०।।

सुबोधिनी: सूतजी कहते हैं कि भगवान्ने निश्चय किया कि तपे हुए लोहेका बाण इसकी ओर आ रहा है. यह सत्य है कि निश्चय करनेमें 'भगवान्' यह हेतु है. अर्थात् भगवान् षडैश्वर्यादि युक्त हैं इसलिए वे निश्चय कर सकते हैं. प्रतीकार करनेमें हेतु बताते हैं कि 'भक्तवत्सलः' भगवान् भक्तप्रिय हैं. भगवान्ने समझा कि अपमानित अश्वत्थामाने यह कार्य किया है इसीको 'अपाण्डवम्' पदसे कह रहे हैं अर्थात् जगत्को पाण्डवोंसे रहित बनानेकेलिए अश्वत्थामाने अस्त्र चलाया है. अथवा यह ब्रह्मास्त्र ब्रह्माका सिर है यह अस्त्र है. चलाया जाना इसका धर्म है. अर्थात् क्षेपणार्थक 'असु' धातुसे अस्त्र बनता है अतः क्षेपण धर्मत्व इसमें है इसलिए इसका अस्त्रत्व रखनेकेलिए तथा जगत्को पाण्डव रहित करनेकेलिए अश्वत्थामाने इसे चलाया है ऐसा भगवान्ने जाना ।।१०।।

आभासार्थ: उसी समय दूसरा भी दु:ख आया यह कहते हैं :

तर्ह्येव च मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः।।११।।

श्लोकार्थ: हे मनन करनेवालोंमें श्रेष्ठ ! बडा ही आश्चर्य है कि पाण्डवोंने अपने सम्मुख आते हुए प्रज्वलित पांच बाणोंको देख ब्रह्मास्त्र आदि उठाए।।११।।

सुबोधिनी: 'तर्ह्येव च' यह अव्यय समुदाय परम आश्चर्यको बतानेवाला है. श्लोकमें सूतजीने शौनकको मुनिश्रेष्ठ इसलिए कहा है कि आप मनन करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आप इस बातका विश्वास कर सकेंगे.

श्लोकस्थ 'पञ्च' यह पद 'सायकान् एवं पाण्डवाः' इन दोनोंका विशेषण है. क्योंकि 'पञ्च' शब्दकी प्रथमा एवं द्वितीयामें 'पञ्च' ऐसा ही रूप होता है. 'पञ्च'का दोनोंमें अन्वय होनेसे यह अर्थ हुआ कि एक एक पाण्डवके ऊपर एक एक बाण आया. क्योंकि बाणोंकी और पाण्डवोंकी संख्या पांच है. श्लोकस्थ 'आलक्ष्य'का अर्थ है देखकर अथवा अश्वत्थामासे चलाये गये ये बाण हैं ऐसा समझकर पाण्डवोंने सोचा कि यदि हम अस्त्रके सामने अस्त्रका उपयोग न कर वैसे ही मर जायेंगे तो परलोक बिगडेगा इसलिए पाण्डवोंने अस्त्रलिये. अथवा अश्वत्थामाके अस्त्र प्रतीकारकेलिए उनने भी अस्त्रलिये. श्लोकमें आये 'अस्त्राणि'का अर्थ है ब्रह्मास्त्र आदि. अर्थात् पाण्डवोंने परलोक बुद्धिकेलिए अथवा प्रतीकारकेलिए ब्रह्मास्त्र आदि लिये ।।११।।

आभासार्थः इस ब्रह्मास्त्रको हटानेका भगवान्का भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर पाण्डव कैसे हटा सकते हैं ऐसा कहनेकेलिए भगवान्ने अपने भक्तोंकी रक्षा ही की ब्रह्मास्त्रका प्रतीकार नहीं किया यह बात कहते हैं कि:

व्यसनं वीक्ष्य तत् तेषाम् अनन्यविषयात्मनाम् ।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः।।१२।।

श्लोकार्थ : जिनका चित्त अन्य विषयोंमें नहीं है अर्थात् जिनका चित्त केवल भगवद्विषयक है ऐसे उन अपने भक्तोंका दुःख देखकर भगवान्ने अपने सुदर्शन अस्त्रसे उनकी रक्षा की।।१२।।

सुबोधिनी: जिन पाण्डवोंके चित्तमें भगवान्के अतिरिक्त कोई विषय ही नहीं आता है. यद्यपि स्वभावतः सब विषय प्राप्त होते हैं किन्तु चित्तमें तो उनके भगवद्रूप ही विषय हैं. अर्थात् उनके चित्तका विषय भगवान् हैं इसलिए "**तद्धैतान् भूत्वावति**" वह भगवान् चिन्तनके अनुसार तत्तद रूप होकर रक्षा करता है. भगवान्को उनने विषय रूपसे लिया. इसलिए भगवान्ने भी विषयोंकेलिए ही उनकी रक्षा की. पाण्डवोंकी रक्षाकेलिए चलाया गया सुदर्शन चक्र जलती हुई घुमाई हुई लकडीके समान पाण्डव और ब्रह्मास्त्रके बीचमें घूम रहा है अतः उस सुदर्शन चक्रसे उनकी रक्षा की. रक्षा करनेमें कारण यह था कि वे अपने थे. भगवान् विभु हैं इसलिए उनमें इस प्रकारसे रक्षा करनेका सामर्थ्य है. श्लोकमें 'स्वास्त्र' पद है इससे यह सूचित हुआ कि वह सुदर्शन अस्त्र भगवान्का है यह जो रक्षा करेगा बुद्धिपूर्वक ही करेगा. इसलिए भगवान्ने सुदर्शनसे उनकी रक्षा की ।।१२।।

आभासार्थः प्रधान जो उत्तराका गर्भ है उसकी प्रकारान्तरसे रक्षाकी यह कहते हैं :

अन्तःस्थः सर्वभूतानाम् आत्मा योगेश्वरो हरिः।
स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ।।१३।।

श्लोकार्थः सब प्राणियोंके भीतर रहनेवाले आत्मारूप योगेश्वर हरिने कुरुवंशकी रक्षाकेलिए अपने अधीन मायासे उत्तराके गर्भको ढक लिया।।१३।।

सुबोधिनीः अर्थ्यते इति अर्थः जो चाहा जाता है वह अर्थ है. भगवान् भक्तको चाहते हैं इसलिए भगवान्का अर्थ भक्त है. गर्भके भीतर प्रविष्ट अर्थकी रक्षाके लिए अर्थात् गर्भकी रक्षाकेलिये गर्भ शरीरको आवृत किया. दीक्षाके अङ्गरूपमें केश और श्मश्रुका वपन करते समय क्षुर (उस्तरा)को तिरछा नहीं रखा जाता. सीधा रखा जाता है जिससे चमडी कटनेका उस समय डर रहता है इसलिये 'औषधेत्राय स्वैनम्' ऐसा कहा जाता है तो इस प्रकार औषधिसे प्रार्थना कर उस्तरेसे तिरछा रखनेकेलिये यजमानकी रक्षाकी जाती है यहां औषधेका अर्थ दाह निदान किया है क्योंकि 'उस' धातुसे ओष बननेसे इसका अर्थ दाह है और धा–का अर्थ निधान. अर्थात् हे औषधि इस यजमानकी त्वचाका छेदन न होने दे. अर्थात् उस्तरेसे जो दोष पैदा होना चाहिये वह दोष पैदा नहीं होने दिया जाता. उसी प्रकार मायाका सम्बन्ध होनेपर भी माया इसमें दोष पैदा नहीं कर सकती. इसलिये भगवान्ने मायासे उस गर्भ शरीरको उसी तरह आवृत किया जिससे उसमें दोष भी पैदा न हो और आवरण भी रहे. बाहर रहा हुआ भगवान् आवरण रूप नहीं बन सकता. इसलिये चतुर्विध मायाके व्याप्ति बतानेकेलिये चार विशेषण दिये हैं. भगवान् सब प्राणियोंके अन्तःस्थित हैं इसीलिये गर्भके मध्यमें भी वह स्थित होकर रक्षा कर रहे हैं. सुवर्ण स्थित तेज जैसे सुवर्णकी रक्षा करता है इसी प्रकार भगवान्ने गर्भकी रक्षा की. इस बातको 'अन्तःस्थ सर्वभूतानाम्'से कहा है. तात्पर्य यह है कि भगवान् जब भीतर प्रविष्ट हुए तो उनके तेजसे गर्भका दाह होना चाहिये था, परन्तु यहां ऐसा नहीं हुआ. इसी बातको सुवर्ण तेजका उदाहरण देकर समझाया है कि सुवर्ण और तैजस् पदार्थ हैं इसलिये तेज(आग) सुवर्णको नहीं जला सकता. उसी प्रकार भक्त भगवान्का ही रूप है इसलिये भगवान्का तेज उसे नहीं जला सका. और एक बात यह भी है कि दूसरेका पालन नहीं कर सकता, अतः भगवान्ने गर्भ रूप ही बनकर रक्षा की. क्योंकि वह सब प्राणियोंकी आत्मा

है. आत्मा होनेसे रक्षा करता ही है इस प्रकार भीतर तो रक्षाकी ही और बाहर भी उसके शरीरकी रक्षा की. इसी बातको 'योगेश्वर' पदसे सूचित किया है. योग बलसे गर्भ और ब्रह्मास्त्रके बीचमें भगवान् स्वयं स्थित होकर पालन कर रहे हैं. यदि ऐसा न करते तो ब्रह्मास्त्रका शरीरसे सम्बन्ध होनेपर शिवजीमें जैसे ब्रह्म शिरका सम्बन्ध होनेसे पिशाचत्व दोष आ गया. इसी रूपमें इसमें भी आ जाता. इसलिये भगवान् ब्रह्मास्त्र और गर्भके बीच स्थित हो गये और उस अस्त्रके दोषका संक्रमण गर्भमें नहीं होने दिया. शंका होती है कि भगवान् इस प्रकार क्यों पालन करते हैं तो उत्तर देते हैं कि भगवान् हरि हैं अर्थात् सब दुःखको मिटानेवाले हैं सबका दुःख मिटानेका स्वभाव होनेसे समुदायकी रक्षा भगवान् ही कर सकते हैं इसलिये उन्होंने गर्भकी रक्षाकी तथा उत्तराके पेटमें दाह नहीं होने दिया. श्लोकस्थ 'स्वमायया'का अर्थ है अपने अधीन रही मायासे कोटिब्रह्माण्डके भ्रमको निवृत करनेवाली जो ज्ञानाग्नि है उसका आवरण रूप माया है इसलिये उस मायासे गर्भका आवरण करना युक्त है. श्लोकस्थ 'वैराट्याः'में सम्बन्ध सामान्यमें षष्ठी है अर्थात् उत्तरा भी भगवत्सम्बन्धिनी है अतः भक्त है. इसलिये उसके उदरमें दाह न हो ऐसा कार्य भगवान्ने किया. विराट् वंश एवं कुरुवंश दोनों ही भगवान्के भक्त थे इसलिये भगवान्ने उत्तरा और गर्भ दोनोंकी रक्षा की. 'कुरुतन्तवे'में 'तन्तु' शब्दका अर्थ परम्परा अथवा पालक दोनों हैं. अर्थात् कुरुवंशकी परम्परा रखनेकेलिये अथवा कुरुवंशके पालककेलिए भगवान्ने गर्भकी रक्षा की ।।१३।।

आभासार्थः शंका होती है कि गर्भके नाशकेलिए चलाए गए ब्रह्मास्त्रका दाह करना ही एक स्वभाव है तो फिर गर्भको दग्ध करनेमें असमर्थ रहा वह ब्रह्मास्त्र, दूसरे किसीको जलाना चाहिये सो क्यों न जलाया इसपर कहते हैं:

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः अमोघं चाप्रतिक्रियम् ।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ।।१४।।

श्लोकार्थ हे भृगुनन्दन ! यद्यपि ब्रह्मास्त्र ब्रह्माका शिर रूप होनेसे अव्यर्थ तथा प्रतिक्रिया रहित था तथापि सुदर्शन रूप वैष्णव तेजको प्राप्त कर अत्यन्त शान्त हो गया।।१४।।

सुबोधिनीः ब्रह्मास्त्र सबको जलानेवाला है यह सत्य कहा है क्योंकि महादेवको भी इसके सम्बन्धसे पिशाचत्व प्राप्त हुआ. वह ब्रह्मास्त्र ब्रह्माजीका पांचवा शिर रूप है. उसमें सहज दो गुण हैं. एक तो यह है कि वह कभी भी

निष्फल नहीं होता अर्थात् सर्वदा कार्य करता है उसका नाश नहीं हो सकता. और उसका स्तम्भन नहीं हो सकता. ऐसा होनेपर भी इस समय कुछ अद्भुत बात हो गई. इस बातको ही 'वैष्णवं तेज आसाद्य'से कहा है. जैसे व्याघ्र मन्त्रके बलसे गायकी तरह शान्त हो जाता है वैसे ही परम सात्विक वैष्णव तेजको प्राप्तकर वह ब्रह्मास्त्र एकदम शान्त हो गया अर्थात् परीक्षितके प्राकृत देहको जलाकर भगवद्भावको प्राप्त हुए उसके वैष्णव देहको जलानेकेलिये जब वह ब्रह्मास्त्र प्रवृत्त हुआ तो मध्यमें रहे हुए वैष्णव तेजको प्राप्तकर तद्रूप होता हुआ उससे एक हो गया. इस आश्चर्य जनक घटनाका विश्वास हो इसकेलिये सूतजी 'भृगूद्वह' यह सम्बोधन देते हैं. आप भृगु वंशमें पैदा हुए हो और भृगुने पहले देवताओंकी परीक्षामें वैष्णव तेजका निर्णय किया था. भगवत् सम्बन्धमें यदि ऐसा सामर्थ्य न होता तो राजस एवं तामस व्यक्ति भक्तिसे भगवत्सम्बन्धको प्राप्तकर सात्विक होते हुए भगवत्सायुज्य भगवदैक्यको कैसे प्राप्त करते ।।१४।।

आभासार्थ शंका करते हैं कि मुक्ति योग्य जीवोंका सात्त्विकत्व होना शास्त्र सिद्ध है इसलिए वे सात्त्विक हो सकते हैं. किन्तु ब्रह्म तेज (ब्रह्मास्त्र) अचेतन है और देवतासे अधिष्ठित है और मन्त्रसे वह अधिकार रूप हो जाता है तो वह वैष्णव तेजो रूप बनकर कैसे शान्त हो गया. यदि इसी प्रकार वह शान्त होता रहे तो युद्धमें भगवान्से चलाए गए ब्रह्मास्त्र आदि भी अपने कार्य करनेमें समर्थ नहीं होंगे. अन्ततः ब्रह्मास्त्र वैष्णव तेजोरूप होकर शान्त हो गया यह बताना ठीक नहीं है ऐसी स्थितिमें परीक्षित एवं पाण्डवोंकी रक्षा होना महान् आश्चर्यका कार्य है इस आशंका पर कहते हैं कि :

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ।।१५।।

श्लोकार्थ : जो भगवान् अपनी सामर्थ्य रूप मायासे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति संहार करते हैं उस च्युति रहित अलौकिक सब पदार्थमय भगवान्में यह आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ।।१५।।

सुबोधिनी: यह आश्चर्य नहीं मानना चाहिये. क्योंकि भगवान् कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थ है. ''यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः यथा महानसम्'' इत्यादिकी तरह भगवान्में दृष्टान्त व्याप्ति आदिसे पदार्थका निर्णय नहीं हो सकता. जैसा कि ''अलौकिकास्तु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेद्'' अलौकिक

पदार्थोंको तर्कके द्वारा समझनेका प्रयास नहीं करना चाहिये. क्योंकि वहां दृष्टान्त व्याप्ति आदिसे पदार्थका निर्णय नहीं हो सकता. भगवान् सर्वाश्चर्यमय हैं. विरुद्ध सर्व धर्मोंके आश्रय रूप तथा अलौकिक सम्पूर्ण पदार्थ रूप भगवान्में क्या आश्चर्य है. यह बात दूसरेकेलिये न कहकर भगवान्केलिये ही कही गई है. उन (भगवान्)में सब कुछ संभव है. स्वयं भगवान् च्युति रहित हैं किन्तु अपनेसे ही अपनेको सर्वच्युत कर लेते हैं अर्थात् सर्व रूप बन जाते हैं तो इसमें क्या आश्चर्यकी बात है भगवान्की माया नामकी कोई शक्ति है जिसका कि पहले निरूपण किया गया है. वह माया देवतामयी एवं भगवत्स्वरूपभूता है. उसीसे भगवान् विश्वको उत्पन्न करते हैं, रक्षा करते हैं तथा लय करते हैं. एक ही वस्तु बिना सहायताके एककी अनेकता कर देती है, अजन्मा भगवान् ही स्वयं जन्म लेते हैं. जन्म लेना आदि विरुद्ध धर्मोंका सम्बन्ध होनेपर भी उस (भगवान्)में अजत्व (अजन्मा) आदि पूर्व धर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती ।।१५।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्ने सबकी रक्षाकी, उस समय कुन्ती आदिको ऐसा भ्रम हुआ कि विषयोंका भोग हमको मिला है. हम सब इसकेलिए ही बचाए गए हैं. ऐसी स्थितिमें विषयार्थ रक्षा करना व्यर्थ है ऐसा मानकर यह हमारा जीवन भक्तिके उपयोगी बने ऐसी प्रार्थना करनेकेलिए कुन्तीने भगवान्की स्तुति आरम्भकी यही कहते हैं :

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः आत्मजैः सह कृष्णया।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णम् इदम् आह पृथा सती ।।१६।।

श्लोकार्थ : ब्रह्मास्त्रसे छुटकारा पाये हुए अपने पुत्र युधिष्ठिर आदिके तथा द्रौपदीके साथ विद्यमान सती कुन्ती जाते हुए भगवान् कृष्णको आगे कही जानेवाली बात कही।।१६।।

सुबोधिनी: भगवान् अपनी बहिन सुभद्राको तथा उत्तराको तो स्वयमेव कृतार्थ कर देंगे परन्तु कुछ कार्य शेष रहनेसे अपना पूरा कार्य न कर जाते हुए भगवान्को द्रौपदी एवं अपने पुत्र युधिष्ठिर आदिके साथ रही कुन्तीने इस प्रकार कहा. कुन्ती सती थी. और सन्तोंका यह धर्म है कि सम्पूर्ण जीवन भगवान्की भक्ति करते हुए बितावें. अतः कुन्तीने आगेकी स्तुति की ।।१६।।

आभासार्थ: भगवान्से सम्बन्ध होनेके कारण भगवान्की अवहेलनाका ज्ञान रखनेवाली कुन्तीने स्वरूप प्राप्तिकेलिए संसार बन्धनसे मुक्त करनेवाले

भगवान्को नमस्कार पुरस्सर स्वरूप, गुण, लीलादि दुष्ट-दुर्ज्ञेयत्व लक्षण जन्मके कारणका निर्णय, फल, दैन्य तथा अपनी कामनाओंको व्यक्त कर स्तुति की. इनमें प्रथम 'नमस्ये'से 'पश्येमहि स्त्रियः' तक स्वरूपका वर्णन करते हैं, इससे आगे 'कृष्णाय'से लेकर 'पङ्कजाङ्घ्रये' इन दो श्लोकोंसे गुणका 'यथा हृषीकेश'से 'अपुनर्भवदर्शनम्' तक लीलाका 'जन्मैश्वर्य'से लेकर 'विषमा मतिर्नृणाम्' तक दुष्ट दुर्ज्ञेयत्वका 'जन्मकर्मसे' लेकर 'भीरपि यद्बिभेति' तक लक्षणका निरूपण है. 'केचिदाहु'से लेकर 'करिष्यन्निति केचन' तक भगवान्के जन्मके कारणका 'शृण्वन्ति' गायन्ति'से फलका 'अप्यद्य नस्त्वम्'से लेकर 'तव वीक्षितैः' तक दैन्यका निरूपण है और 'अथ विश्वेश'से लेकर 'भगवन्नमस्ते' तक कामनाओंका व्यक्तिकरण है:

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यम् ईश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानाम् अन्तर्बहिरवस्थितम्।।१७।।
मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा।।१८।।
तथा परमहंसानां मुनीनाम् अमलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः।।१९।।

श्लोकार्थ: कुन्ती कहती है कि प्रकृत्तिसे परे आद्य पुरुष ईश्वर मायारूपी पर्देसे ढके होनेसे सब प्राणियोंका बाहर भीतर रहते हुए भी अलक्षित इन्द्रियातीत अविनाशी नाट्य करनेवाले नटका जैसे अज्ञानी पुरुष असली स्वरूप नहीं समझ पाते उसी तरह नहीं समझमें आनेवाले आपको मैं अबोध नमस्कार करती हूं तथा शुद्धान्तःकरणवाले परमहंस मुनियोंके हृदयमें भक्तियोग स्थापित करनेकेलिए अवतीर्ण हुए आपको हम स्त्रियां कैसे जान सकती हैं।।१७-१९।।

सुबोधिनी: कुन्ती कहती है कि तुमको नमस्कार करती हूं. यदि आप यह आशङ्का करें कि मैं तेरा भतीजा हूं. भतीजेको नमस्कार करना उचित नहीं है तो वह कुन्ती 'पुरुष आद्यम्' आदि नौ विशेषणोंसे भगवान्के स्वरूपका निर्देश करती है. आप सब पुर अर्थात् शरीरोंमें रहनेके कारण पुरुष हैं और आद्य (सर्व प्रथम) हैं ईश्वर हैं प्रकृतिसे परे हैं सब प्राणियोंको प्रत्यक्ष नहीं होनेवाले हैं. सब प्राणियोंके बाहर भीतर वर्तमान हैं. मायारूपी यवनिका (परदे)से ढके हुए हैं. आप

इन्द्रियातीत और अव्यय हैं. ऐसे भगवान्का वर्णन करती हुई कुन्ती कहती है कि यद्यपि इस प्रकारके आप मेरी आत्मारूप हैं तो आत्मारूप होनेसे नमस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि नमस्कार अपनेसे भिन्नको होता है तो कुन्ती कहती है कि मैं आपको आत्मत्वेन नहीं जानती इसलिए आत्मत्वेन ज्ञान हो इसलिए ही प्रणाम करती हूं. व्यावहारिक दशामें कुन्ती एवं भगवान्का भूआ एवं भतीजेका सम्बन्ध है. इसलिए प्रणाम करना ठीक नहीं है और दृश्यमान स्वरूप जो मनुष्यत्व क्षत्रियत्व आदिके विचारसे नमस्कार करना उचित नहीं है और परमार्थ रूपसे कहना भी इसलिए ठीक नहीं है कि परमार्थरूपताका दर्शन नहीं हो रहा है. इस आशङ्का पर कुन्ती जो वर्तमान दृश्य स्वरूप है वह परमानन्दरूप है यह कहती हुई नमस्कार करती है.

कुन्ती कहती है कि आप आद्य सबके मूलभूत हैं. अर्थात् बिम्बरूप हैं. जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बका ही स्वरूप होता है उसी प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड आप हीका स्वरूप है. यद्यपि अमुक अमुक मतमें प्रकृति एवं आकाश आदिको भी आद्य माना है किन्तु उनका ग्रहण यहां नहीं हो इसलिए 'पुरुषम्' पद दिया है. जड पदार्थ प्रकृति आदि पुरुष नहीं कहे जाते. अतः वे यहां नहींलिये गये. पुर शरीरमें शयन करनेवाला जीव भी हो सकता है. वह न लिया जाय इसकेलिए 'आद्यम्' कहा है. जीव मूलभूत पुरुष नहीं है. भगवान् ही मूलभूत हैं. इस प्रकारका मूलभूत पुरुष सबका कारण है. इसलिए कुन्तीने भगवान्को पितृरूप बताया. कुन्ती अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए दो रूपोंको कहती है. 'ईश्वरम्' 'प्रकृतेः परम्' आप ईश्वर एवं प्रकृतिसे परे हैं. ऐश्वर्य युक्त होनेसे बाहर फल देनेवाले हैं और प्रकृतिसे परे होनेसे अन्तः फल देनेवाले हैं. ऐसे भगवान्को जब सब जान जायेंगे तो सबकी मुक्ति हो जायेगी. ऐसी स्थितिमें वेदोक्त साधनोंके काम न आनेसे वेद व्यर्थ होंगें. इसलिए कहते हैं कि 'अलक्ष्यं सर्वभूतानाम्' वह भगवान् सब प्राणियोंको प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता यदि प्रत्यक्ष दिखाई देता तो सबकी मुक्ति हो जाती. और वेदोंका वैयर्थ्य रहता. परन्तु वह प्रत्यक्ष दृश्य नहीं है इसलिए सबकी मुक्ति नहीं हो पाती और वेदोक्त साधन करना भी सार्थक रहता है. जगद्रूप कार्यके द्वारा भी उसका अनुमान नहीं हो सकता. क्योंकि कार्य जगत् एवं कारण ब्रह्मकी अग्नि–धूमकी तरह एकत्र कहीं भी साहचर्य नहीं दीखता. अतएव ब्रह्मादि देवताओंकेलिए भी वह अदृश्य है. यहां ब्रह्मादि देवता 'सर्वभूतानाम्' पदसे लिये गये हैं. अथवा

'अलक्ष्यम्'का यह अर्थ है कि 'अ' कृष्णको कहनेवाला है अर्थात् भगवान् अपने आप ही जाने जाते हैं. दूसरेसे नहीं. तात्पर्य यह है कि वह परतः प्रकाश्य न होकर सूर्यकी तरह स्वप्रकाश है. जब 'अलक्ष्यम्'में रहा 'अ'का अर्थ गुरु करते हैं तो यह अर्थ होता है कि वह भगवान् गुरुसे जाना जाता है. जैसा कि ''**आचार्यवान् पुरुषो वेद**''से कहा है. आचार्य बनानेवाला ही पुरुष भगवान्को जानता है. और जो आचार्य बनायेगा वही मुक्त होगा. आचार्य वेदोंके द्वारा समझा जायेगा. इसलिए वेदकी व्यर्थता एवं सबकी मुक्ति नहीं हो सकती. अथवा यहां यह भी तात्पर्य हो सकता है कि ''**वेदो नारायण साक्षात्**'' वेद भगवान्का ही रूप है उससे ज्ञात होना स्वप्रकाश्य होना ही है. इसलिए उसके ज्ञानार्थ वेद अपेक्षित होनेसे वेद व्यर्थ नहीं है और जो आचार्य बनायेगा उसकी ही मुक्ति होगी. सबकी नहीं इसलिए सबकी मुक्ति नहीं हो सकती. जैसा कि ''**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः, अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्**'', ''**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योप सेचनं क इत्था वेद यत्र सः**'' साधनान्तरके नहीं होनेसे दुर्ज्ञेय है यह बात नहीं है किन्तु वास्तवमें वह दुर्ज्ञेय ही हैं. इससे भगवान् दुर्ज्ञेय ही हैं तो उसके ज्ञानकी प्रार्थना करना व्यर्थ है इस आशङ्कापर कहते हैं कि 'सर्वभूतानाम् अन्तर्बहिरवस्थितम्'' भगवान् सब प्राणियोंके भीतर बाहर विद्यमान हैं. वह सर्वत्र हैं और इसका ज्ञान सुलभ है. परन्तु उस भगवान्को बतानेवाला ही दुर्लभ है. क्योंकि सब वस्तुमें वस्तुस्वरूप वही है. भगवान्का ज्ञान सुलभ है फिर भी वह नहीं जाना जा सकता ऐसा जो कहा गया है ''**अविज्ञातं विजानताम्**'' ''**क इत्था वेद यत्र सः**'' वह भगवान् विरुद्धधर्मा है यह बतानेकेलिए है. इसलिए सर्वत्र विद्यमान होनेसे उसका ज्ञान सुलभ है. शंका होती है कि ऐसी स्थितिमें घट आदिकी तरह उसका प्रत्यक्ष सबको क्यों नहीं होता इसका उत्तर देते है कि 'मायाजवनिकाच्छन्नम्' माया ही परदा है उससे वह भगवान् ढका हुआ है अर्थात् सब वस्तुमें वस्तुस्वरूप वही है तो भी मायासे आवृत्त होनेके कारण भगवद्बहिर्मुख हूं इसलिए मुझे आपका ज्ञान नहीं है. इसी बातको श्लोकस्थ 'अज्ञा' पदसे कहा है. आशंका होती है कि सभी लोग सर्वत्र भ्रान्त नहीं हो सकते कोई कहीं भ्रान्त हो सकता है. दोषयुक्त इन्द्रियोंसे ही भ्रमकी उत्पत्ति होती है अतः कदाचित् निर्दुष्ट इन्द्रियोंसे घटकी तरह उसे ग्रहण किया जा सकता है. इसका उत्तर देते हैं कि 'अधोक्षजम्' इन्द्रिय जन्य ज्ञान भगवान्को विषय नहीं बना सकता. जैसा कि

''पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्, कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्''से कहा है. अतः भगवान्के वस्तुस्वरूप होनेपर भी वह इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता. आशंका होती है कि वह भगवान् सब वस्तुमें वस्तु स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि सब वस्तु नाशवाली हैं. यदि वस्तु स्वरूप मान लिया जाता है तो उसका भी नाश मानना होगा और उस भगवान्का नाश तो होता नहीं. अतः उसे वस्तु स्वरूप मानना ठीक नहीं. यदि उसमें कारण पन मान लेते हैं तो कारणत्व आदि स्वरूप सम्बन्ध विशेष हैं और वह सम्बन्ध स्वरूप द्वय रूप है इसलिए एकके नाश होनेपर कारणत्व भी नहीं रह सकता. इसी प्रकार आधारत्व माननेपर आधारत्व नहीं रहता और आधेयत्व माननेपर भी आधेयत्व नहीं रहता इसलिए कहीं उस ब्रह्मका धर्मरूपसे और कहीं धर्मीरूपसे नाश सम्भव है तो ब्रह्मत्व कैसा? इसका समाधान कहते हैं कि 'अव्ययम्' भगवान् सर्वरूप हैं तो भी उसका विनाश नहीं होता. सर्वरूप तथा विनाशी न होना परस्पर विरुद्ध है. परन्तु भगवान् विरुद्ध सर्वधर्मके आश्रय हैं इसलिए सब संगत हो सकता है. अतः निर्दुष्ट पूर्ण गुण श्री अङ्गवाले आपको नमस्कार करती हूं. यदि आप यह शंका करें कि मूलरूप हीमैं जैसाका तैसा अवतीर्ण हुआ हूं तो मैं तो सर्व प्रत्यक्ष हूं ऐसी स्थितिमें मुझे क्यों नहीं जान सकते. क्योंकि जैसे मैं स्वप्रकाश हूं उसी प्रकार मेरे धर्म भी स्वप्रकाश हैं तो मेरा धर्मरूपसे और धर्मीरूपसे अवतार दशामें क्यों नहीं ज्ञान हो सकता इसपर कुन्ती कहती है कि मूढ दृष्टिवालोंसे आप नहीं देखे जाते. यदि कहें कि मैं प्रत्यक्ष हूं तो मेरा यथार्थ ज्ञान क्यों नहीं होता? इसपर कहती है कि 'नटो नाट्यधरो यथा' जैसे नट स्त्री रूपको दिखाता है उसके आन्तर रूपको नहीं जाननेवाले उसे स्त्री ही समझते हैं पुरुष नहीं जानते. इसी प्रकार नररूपको प्रकट करते हुए आविर्भूत आप भगवद्रूपसे नहीं जाने जाते. तात्पर्य यह है कि अवतीर्ण भगवान्को भगवान् है ऐसा नहीं जानते. भगवान्का आविर्भाव सबको अपना स्वरूप समझानेकेलिए ही है. यदि स्वरूप समझना अभीष्ट न हो तो आविर्भाव ही व्यर्थ होता है. अतः आविर्भावसे यह निश्चय है कि भगवान् अपने स्वरूपको समझाना चाहते हैं तो फिर नटकी तरह उसके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता यह कैसे कहा. नटकी तरह भगवान् प्रतारणाके लिए तथा उनमें रस पैदा करनेकेलिए प्रकट नहीं होते तो उसका ज्ञान सुलभ है. ऐसी आशंकापर कहते हैं कि ''तथा परमहंसानाम्''

भक्तियोगके लिए प्रकट हुए भगवान् अपने पहले वेद और ऋषियोंको प्रकट करते हैं उनसे जब साधन सहित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब आगेके कार्य करनेकेलिए अवतीर्ण होते हैं. वेद और ऋषियोंसे होनेवाले ज्ञानमें सन्यास अङ्ग है क्योंकि वह अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाला है जैसा कि श्रुतिमें कहा है "**संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः**" अर्थात् सन्यास योगसे यति शुद्ध सत्त्ववाले बन जाते हैं. ऐसी स्थितिमें अन्न आदि जनित दोष भी नहीं होते. अन्तःकरण शुद्धि होनेके अनन्तर मनन होना अङ्ग है. यद्यपि श्रवणके बाद मनन होता है परन्तु श्रवण तो पहले ही हो चुका है. मननोत्तर होनेवाले निदिध्यासनसे युक्त जो परमहंस हैं अर्थात् जो एकाग्र चित्त है अथवा भगवान्के निर्धारवाले हैं ऐसे परमहंसोंमें शुद्धान्तःकरण होना परमावश्यक है. उन्हीं ज्ञानके अधिकारियोंको अथवा जिनको ज्ञान हो गया है उनको ज्ञानार्थ भक्तियोग आवश्यक है. भक्तियोगके बिना न भगवद् ज्ञान ही हो सकता है और न सायुज्य मुक्ति ही. अतः भक्तियोग प्रकट करनेकेलिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं. श्लोकस्थ 'परमहंसानाम्'में आये हुए 'हंस' शब्दका तात्पर्य यह है कि जैसे हंस नीर क्षीर विवेकी है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थको विवेचनके साथ समझनेवाले हैं. परमहंस वे हैं जो केवल आत्माका ही दर्शन करते हैं. जैसे अभिनय करने वालोंके नृत्यको सब देखते हैं किन्तु जो सहृदय हैं उन्हींको आनन्दानुभव होता है. नपुंसक एवं स्त्रियोंको नटके स्त्री रूपमें आकर नृत्य करनेपर शृङ्गार रस उत्पन्न नहीं होता. उन्हें उल्टा खेद होता है. वे नपुंसक एवं स्त्रियां यह समझती हैं कि हमारे समान धर्मको प्रकट करके यह हमारी नकल करता है. उसी प्रकार साधारण स्त्री पुरुषोंको तथा दैत्यांशोंको रस ज्ञान एवं भक्ति उत्पन्न न हो इसलिए वञ्चनार्थ नटकी तरह भगवान् लीला करते हैं तो ऐसी स्थितिमें हम स्त्रियां आपको कैसे जान सकती हैं. प्रत्युत हम स्त्रियां तो आपके प्राकट्यसे लज्जा काम आदि दोषोंसे युक्त हो जाती हैं. ऐसी स्थितिमें दोषयुक्त होनेपर हम आपको जान ही कैसे सकती हैं ।।१७-१९।।

आभासार्थः इस प्रकार स्वरूपका वर्णन कर गुणोंको कहती हुई अपनेसे सब तरहके सम्बन्ध बताती हुई कुन्ती नमस्कार करती है:

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमोनमः ।।२०।।

श्लोकार्थः श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकी पुत्र, नन्दगोपकुमार और गोविन्द

आदि नामोंसे कहे जानेवाले आपको बार बार प्रणाम है।।२०।।

सुबोधिनी: कृष्ण नामसे कुन्ती अपने भाईका पुत्र बता रही है. भगवान् तथा कुन्तीका सम्बन्ध ऐसा है जिससे श्लोकमें बताये गये रूप नमस्करणीय नहीं हैं क्योंकि श्लोकके पदोंसे भगवान्को बतीजा बताया गया है परन्तु जब भगवान् अपने निज जनोंके उद्धारकेलिए सब सम्बन्धोंको रखकर अवतीर्ण होते हैं. ऐसा ज्ञान होनेपर श्लोकमें बताये गये स्वरूप भी नमस्करणीय हो जाते हैं. अज्ञान दशामें नमस्करणीय नहीं होते इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे पहले महान रहा हो फिर क्षीण दशामें लज्जासे नमस्कार करता है किन्तु अपने आपको सेवक नहीं मानता. वैसे ही मूल रूप भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं, क्षीण दशामें लोग अपनेको अवतीर्ण हुए भगवान्का सेवक नहीं मानता किन्तु नमस्कार करता है क्योंकि मूल रूपका अवतार लेना क्षीण दशाको बताता है ऐसा माननेपर सत्त्वोपाधिक वासुदेव मूलरूप माना जाता है किन्तु सगुण होनेसे वह मूलरूप नहीं हो सकता. इस अरुचिसे कृष्णको पहले मूलरूप बताती है. मूल कहकर उसीके सम्बन्धका जब निरूपण किया जाता है तो नमस्करणीय होता है क्योंकि मूलरूप नमस्करणीय है और वही अवतार दशामें सम्बन्धी होता हुआ भी नमस्करणीय हो सकता है कुन्तीने 'वासुदेवाय' यह कहकर वसुदेव जो मेरा भाई है उसके आप पुत्र हैं इस पदसे यह संकेत करती है कि जैसे आपने भाई वसुदेवजीको विपत्तिसे छुडाया वैसे ही उनकी बहिन मुझको भी छुडावें इसी प्रकार 'देवकीनन्दनाय' यह कहकर कुन्ती यह सूचित करती है कि जैसे देवकीको दुःखोंसे मुक्त किया वैसे ही देवकीकी ननद मुझको भी दुःखोंसे मुक्त करेंगे. श्लोकमें 'च' पद है उससे फूफा पाण्डु लिया गया अर्थात् पाण्डुको जैसे विपत्तिसे छुडाया इस प्रकार मैं जो उसकी पत्नी हूं उसे भी छुडायेंगे. पाण्डव प्रिय होना नमस्करणीय रूप है आप यदि अपनेको नन्द तनय समझ दूरका सम्बन्ध मानें अर्थात् मैं वसुदेवकी बहिन हूं और नन्द वसुदेवजीके मित्र हैं ऐसी स्थितिमें दूर सम्बन्ध होनेपर भी मेरी आप रक्षा कर सकते हैं इसी बातको 'नन्दगोपकुमाराय' पदसे कहा. यहां कुमारका अर्थ आत्मज नहीं है किन्तु पालन करनेवाले जो नन्द हैं उनके पुत्र ऐसा अर्थ है. तात्पर्य यह है कि नन्द आपके पालक पिता हैं जनक नहीं, 'कुमार' पदसे ऐसा अर्थ लेनेमें स्कन्द पुराण प्रमाण है. जैसे कार्तिकेय स्वामी महादेवसे पैदा नहीं हुए हैं तो भी वे महादेवके कुमार कहलाते हैं उसी प्रकार आप भी पालक पुत्र होनेसे नन्दके कुमार कहलाते हैं. मेरा

नन्दगोपसे परम्परा सम्बन्ध है इसलिए भी आप मेरी रक्षा कर सकते हैं, इसी बातको बतानेकेलिए 'गोप' पद दिया है. जो सन्मार्गमें चलनेवाले सभीको सम्पूर्ण अभीष्ट देते हैं इसलिए आप गाय आदिके इन्द्र हैं. इसी बातको ''इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामः'' हम आपको इन्द्र बनाना चाहते हैं. ये कामधेनुके वाक्य हैं. गायोंका इन्द्र इस अर्थवाला 'गोविन्द' शब्द श्लोकमें दिया गया है. यद्यपि इस अर्थवाला यह शब्द व्याकरणसे नहीं बनता. परन्तु निगमसे इसकी सिद्धि कर लेनी चाहिये. निगम, निरुक्त और व्याकरण इन तीनोंसे पदकी सिद्धि होती है. 'गोविन्द इति चाभ्यधात्' यहांका 'गोविन्द' पद भी निगमसे सिद्ध हुआ है. जैसे जलवाची 'वसतीवरी' शब्द निगमसे सिद्ध किया गया है वैसे ही यहां समझना. आदर बतानेकेलिए 'नमोनमः'से दो बार नमन किया है. कुन्ती कहती है कि जिसके आप सम्बन्धी होते हैं उसको आप संसारसे मुक्त कर देते हैं यह आपमें गुण है यह कहा ।।२०।।

आभासार्थः अब दूसरे गुणोंको कहते हैं :

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।

नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ।।२१।।

श्लोकार्थः जिनके नाभिमें कमल है, जो कमलकी माला धारण किये हुए हैं और जो कमल नेत्र हैं तथा कमलके समान जिनके चरणारविन्द हैं ऐसे भगवान्को नमस्कार करती हूं।।२१।।

सुबोधिनीः श्लोकस्थ 'पङ्कजनाभाय' पदसे भगवान्को जगत्का कारण बताया. 'पङ्कजमालिने' पदसे भूषित बताया. 'पङ्कजनेत्राय'से कृपाका आश्रय बताया. 'पङ्कजाङ्घ्रये'से सुख सेव्य बताया. अर्थात् जगत्कारणत्व भूषितत्व कृपाश्रयत्व सुख सेव्यत्व गुणोंसे कुन्ती भगवान्को नमस्कार करती है. नमस्कार स्वरूपको अथवा उसके गुणोंको किया है. लीला आदिको नहीं. लीला आदिके अनुभवमें रसावेश होनेसे देहानुसन्धान आदिके न रहनेके कारण नमन नहीं बन सकता. 'पङ्कजनाभाय'का अर्थ यह है कि कमल है नाभिमें जिसके अर्थात् ब्रह्माके पिता रूप आपको नमस्कार है. 'पङ्कजमालिने'का अर्थ है कमलकी माला है जिसके अर्थात् आप लक्ष्मीके पति हैं. लक्ष्मीने विवाहके समय नवीन कमलोंकी मालाको भगवान्के गलेमें डाला था इसलिए 'पङ्कजमालिने' पदसे लक्ष्मीपति सूचित हुआ. 'पङ्कजनेत्राय'का अर्थ है कमलके समान जिनके

नेत्र हैं. भगवान् जब प्रसन्न होते हैं तब उनके नेत्र कमलके समान विकसित होते हैं. इससे यह भी सूचित हुआ कि भगवान् सबके पति हैं जैसा कि विष्णुको पुण्डरीकाक्ष कहकर लौगाक्षिगृह्यमें **''विष्णवे सर्वाधिपतये स्वाहा''**से सबके अधिपति बताये हैं. इसलिए भगवान्को पति बताना ठीक है परन्तु ऐसे अर्थ करनेमें कल्पना करनी पडती है इससे क्लेश होता है अतः **''वश्यतासम्पादकत्वेन अमृतवर्षणाद् वा''**के द्वारा प्रकारान्तरसे भगवान्को सबका पति बताया है. आप सबके पति हैं पति वशमें करता है और अमृतकी वर्षा करता है. आप जब जब भी पङ्कजनेत्रवाले दिखाई देते हैं तब भक्तोंको वशमें करते हैं और अमृतकी वर्षा करते हैं. इस तरह आप पतिके कार्यको करते हैं इसलिए आप सबके पति हैं 'पङ्कजाङ्घ्रये'का अर्थ है कमलके समान जिनके चरणारविन्द हैं. चरणारविन्द कमलकी तरह सुख सेव्य होनेसे अथवा आपके चरणारविन्दकी सेवामें सुखानुभूति होती है इसलिए आप भक्तिके प्रवर्तक हैं 'पङ्कजनाभाय'से बताया कि आप सबके जनक हैं इसलिए सभी वस्तुका नवीन रूपसे उत्पन्न करके भी दे सकते हैं. अर्थात् ऐहिक लक्ष्मी प्राप्ति आदि और पारलौकिक फल तथा भक्ति आप दे सकते हैं ये आपके गुण हैं ।।२१।।

आभासार्थ: तीन श्लोकोंसे भगवान्की लीलाका वर्णन करती है :

यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ।।२२।।

श्लोकार्थ : हे हृषीकेश ! हे इन्द्रियोंके नियामक! दुर्जन कंससे जेलमें रोकी गई बहुत कालसे शोकयुक्त अपनी माता देवकीको शोकसे तथा बन्धनसे छुडाया. हे विभो ! पुत्र सहित मुझे तो स्वयं नाथ बनकर आपने विपत्तियोंके समुदायसे बार बार मुक्त किया।।२२।।

सुबोधिनी: 'हृषीकेश' पदसे मुख्य लीला कही. यहां 'ऋषीक' पदसे इन्द्रियां और 'ईश' पदसे नियामक लिया गया है. अर्थात् आप सब इन्द्रियोंके नियामक होनेसे भर्ताकी तरह इन्द्रियोंको आनन्द देते हैं. आपके दर्शन आदिसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी प्रीतिका अनुभव कर उस रसमें अभिनिविष्ट हुए कौन आपको नमस्कार न करे. आपकी कौतुक पैदा करनेवाली लीला होनेसे वह दुर्ज्ञेय है. जैसे कि माता और पिताका दुर्जन कंसके द्वारा बन्धन कराकर और बहुत समय तक दुःखानुभव कराकर पीछे उन्हें मुक्त कराया. अतः देवकी वसुदेवजीकी अपेक्षा

हम ही कृतार्थ हैं. इस प्रकारकी आपकी लीलाका कथन भी अशक्य है. ऊपर प्रतीकमें तीन श्लोकोंसे लीलाका वर्णन करती है ऐसा कहा है तो श्लोकमें 'विमोचिता'से भक्त मोचकत्व जो बताया गया है वह तो गुण है लीला नहीं फिर इस श्लोकसे लीलाका वर्णन कैसे हुआ तो कहते हैं कि भगवान्में भक्त मोचकत्व गुण है तो भी लीलाको गुप्त रखकर गुण ही उस रूपमें कहे गये हैं. अर्थात् गुणोंसे गुप्त रूपमें लीलाका ही वर्णन किया है. जैसे खल कंससे जेलमें बन्द रही देवकीको आपने छुडाया और बहुत काल तक शोकयुक्त थीं उसे बन्धन एवं शोकसे भी मुक्त किया. कुन्ती कहती है कि इसी प्रकार मुझे भी शोकमुक्त किया. श्लोकस्थ 'च'से यशोदा आदि भी ली गईं अर्थात् उन्हें भी दुःखसे मुक्त किया. मेरेमें उनकी अपेक्षा विशेषता है. मैं अपने पुत्रों सहित विपत्तियोंसे मुक्तकी गई अर्थात् मुझे और मेरे पुत्रोंको भी आपने बचाया. देवकीजीके तो आप ही ऐसे पुत्र हैं जिससे उसे दूसरे पुत्रोंकी अपेक्षा नहीं है इसलिए आत्मज सहित देवकीको छुडाया इस आशयसे 'सहात्मजा' देवकीका विशेषण नहीं हो सकता. क्योंकि भगवान्के अतिरिक्त दूसरा कोई पुत्र उनके नहीं था. जिसको कि आप दुःखोंसे मुक्त करते. अथवा कुन्तीके कहनेका तात्पर्य यह है कि उस देवकीके बहुतसे पुत्र मरवा डाले और मेरे एक ही पुत्र कर्णको मरवाया. अतः देवकीसे मेरेमें विपरीतता है अर्थात् देवकीके एक ही पुत्र आप रहे और मेरे एक ही पुत्रको मरवाया. इसपर कहते हैं कि इस प्रकार क्यों किया? इसका उत्तर कुन्ती देती है कि आप विभु हैं अर्थात् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं. इसलिए इस रूपमें भी कार्य कर सकते हैं. जिनका स्वामी नहीं है उसके आप ही स्वामी बनकर दुःखोंसे छुडाते हैं. देवकीके पक्षमें 'नाथेन' पदके आगे सह लगाकर अपने पति (वसुदेवजी)के साथ देवकीको बन्धन एवं शोकसे मुक्त किया. कुन्तीके पक्षमें यह अर्थ है कि आप ही ने नाथ होकर मुझे बचाया. देवकीके तो वसुदेवजी नाथ (स्वामी) थे और मेरे पति पाण्डुके न रहनेसे मैं अनाथ थी. इसलिए आपने मेरे नाथ बनकर मुझे मुक्त किया. नाथ (स्वामी) वसुदेवजीको छुडानेकी अपेक्षा भगवान्का नाथ (स्वामी) होना ही अच्छा है. तात्पर्य यह है कि देवकीके पति वसुदेवजीको बन्धनसे मुक्त किया किन्तु स्वयंपर आपने इतनी जिम्मेवारी नहीं ली और मेरे तो नाथ बनकर मेरी सभी जिम्मेवारी आपने ले ली. इससे देवकीकी अपेक्षा मैं उत्तम हूं. यह भगवल्लीला है. लीलामें विपरीत कहना भी अच्छा होता है. एक बात यह भी है कि वह देवकी

बार बार नहीं छुडाई गई किन्तु दो बार ही छुडाई गई. मुझे तो बाल्यकालसे लेकर बार बार मुक्त किया. एक आपत्तिमें अनेक आपत्तियां आईं उन सब आपत्तियोंसे आपने मुझे बचाया. एक आपत्तिसे नहीं किन्तु आपत्तियोंके समुदायसे मेरी रक्षा की. आपत्तियां क्या आईं यह महाभारतमें प्रसिद्ध हैं ।।२२।।

आभासार्थ: उन आपत्तियोंको गिनाती हैं :

विषाद् महाग्नेः पुरुषाद् अदर्शनाद् असत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः।।२३।।

श्लोकार्थ: भीमसेनको दिए गए विषके लड्डुओंसे तथा सर्पके जहरसे लाक्षागृहकी महान् अग्निसे हिडिम्ब आदि राक्षसोंके सामने आनेपर उनसे दुष्ट दुर्योधन आदिकी सभासे वनवासमें होनेवाले दुर्वासा आदिके कष्टोंसे प्रत्येक युद्धमें अनेक महारथियोंके अस्त्रोंसे तथा अश्वत्थामासे चलाए गए ब्रह्मास्त्रसे हे हरे ! आपने चारों ओरसे रक्षा की।।२३।।

सुबोधिनी: भगवान् सब कुछ कर सकते हैं इसलिए कुन्तीने विष देना आदिसे हमें मुक्त किया ऐसा कहा. श्लोकस्थ 'विषाद्' पदका विषके लड्डुओंसे (जो भीमसेनको दिये गये थे) और सर्पके विषसे छुडाना अभिप्रेत है लाक्षागृहमें लगी महा अग्निसे हिडिम्बादि राक्षसोंसे उनके सामने आनेपर भी रक्षा की. द्रौपदीको वशमें लानेकेलिए वस्त्र और केशको खींचने आदि दुष्कृत्य जिसमें हो रहे थे ऐसी असत्सभासे द्रौपदीके वस्त्र हरणसे तथा दुर्वासाके आनेसे जो वनवासमें दुःख उत्पन्न हुआ उससे वनमें भी राज्यका ऐश्वर्य देकर रक्षा की. अनेक बार हुए युद्धमें गायोंके चुरानेसे लेकर आज तक जितने भी संग्राम हुए हैं उनमें महारथी भीष्म आदिसे चलाये गये ब्रह्मास्त्र आदिसे भगदत्त कर्ण आदि ऐसे वीर थे जिनका प्रतीकार नहीं हो सकता था उनसे आपने रक्षा की. वह रक्षा भी हमारी प्रार्थनापर नहीं. क्योंकि बाधक जो थे उसका स्वरूप ज्ञान हमें नहीं था इसलिए हमने कोई प्रार्थना नहीं की. आप स्वयं हरि हैं अर्थात् सब दुःखोंको हरण करनेवाले हैं इसलिए चारों ओरसे आनेवाली आपत्तियोंसे हमें बचाया ।।२३।।

आभासार्थ: इस प्रकार नाना प्रकारकी लीलासे भगवान्सेकी गई रक्षाका वर्णन कर लीलासे वह अद्भुत कर्म करता है ऐसा कहनेकेलिए सुरक्षित रहनेकी अपेक्षा आपत्तियां हीं अच्छी हैं यह कहनेकेलिए भूखेको अन्न भोजनसे होनेवाले सुखकी तरह विपत्तिसे पीडितोंको भगवान्के दर्शनका आनन्द दुर्लभ है अत:

लोगोंको विपत्तियां अनिष्ट हैं तो भी भक्तोंकेलिए वे विपत्तियां इष्ट साधन करनेवाली हैं इसलिए कुन्ती उन विपत्तियोंको चाहती है :

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम् ।।२४।।

श्लोकार्थः हे जगद्गुरो! जहां-जहां मैं रहूं या जाऊं वहां-वहां मेरेपर विपत्तियां आती रहें जिससे कि पुनर्जन्मको मिटानेवाले आपके दर्शन होते रहें।।२४।।

सुबोधिनीः यह भगवान्की विपरीत लीला है कि आपत्तियोंमें वह परमानन्दको देती है और आपत्तिके न होनेपर परमानन्दरूप आपको तिरोहित कर देती है. कुन्ती कहती है कि जहां मैं ठहरूं और चलूं वहां वहां मेरेपर विपत्तियां हों. यदि आप (भगवान्) यह आशंका करें कि यह निर्णय तुमने कैसे किया कि विपत्तियोंका होना ही ठीक है और ऐसी शिक्षा कहांसे ली इस पर कुन्ती कहती है कि आप जगद्गुरु हैं आपसे ही यह सीखा है कि विपत्तियां अच्छी होती हैं. आपने अन्तर्यामी रूपसे ऐसी ही प्रेरणा दी है कि विपत्तियां ठीक हैं. और बाहर भी युक्तियोंसे हम जानती हैं कि विपत्तियां अच्छी हैं जैसा कि सब प्राणियोंमें देखा जाता है. आपने किस रूपमें विपत्तियां अच्छी हैं यह शिक्षा दी इस प्रकार कहती हैं कि जिन विपत्तियोंसे आपके दर्शन होते हैं. जब विपत्तियां होती हैं तब फलरूप दर्शन होते हैं और जब विपत्तियां नहीं होतीं तब दर्शन नहीं होते इस रूपके अन्वय व्यतिरेकसे मैंने ऐसा समझा है. आपके दर्शनसे पुनः जन्म नहीं होता अर्थात् वह दूसरे शरीरको नहीं देखता. अथवा जब आप दर्शन देते हैं तब आपके साथ आये जीवन्मुक्तोंके भी दर्शन हो जाते हैं इसलिए विपत्तियां अच्छी हैं और वे मेरे ऊपर होवें ।।२४।।

आभासार्थः आप आपत्तिमें परमानन्द देते हैं और आपत्ति नहीं होनेपर परमानन्दका तिरोभाव कर देते हैं यह आपकी अद्भुत लीला है इस प्रकार अद्भुत लीलाका उपपादन कर भगवान् दुष्टोंसे दुर्ज्ञेय हैं यह बात चार श्लोकोंसे कहते हैं:

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिः एधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वाम् अकिञ्चनगोचरम् ।।२५।।

श्लोकार्थः सत्कुलमें जन्म, राज्यादिका ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मीसे जिसका मद बढ गया है ऐसा व्यक्ति अकिञ्चनोंको प्रत्यक्ष होनेवाले

आपके नामोंका उच्चारण नहीं कर सकता।।२५।।

सुबोधिनी: 'स्वरूपगुणलीला आदि दुष्ट दुर्ज्ञेयत्वलक्षणैः' इस कारिकामें भगवान्के नौ प्रकारके धर्म बताये हैं वे नौ प्रकारके धर्म श्रवण कीर्तन आदि नौ प्रकारकी भक्तिके कारण हैं. भगवान्का स्वरूप ज्ञान होनेपर श्रवण होता है. गुणोंके जाननेपर कीर्तन होता है. लीलाओंके जाननेपर स्मरण होता है. इस प्रकार स्वरूप, गुण, लीलाके भेदसे श्रवण कीर्तन आदि नौ प्रकारकी भक्तिके कारण हैं. भगवान्का स्वरूप ज्ञान होनेपर श्रवण होता है. गुणोंके जाननेपर कीर्तन होता है. लीलाओंके जाननेपर स्मरण होता है. इस प्रकार स्वरूप, गुण, लीलाके भेदसे श्रवण कीर्तन, स्मरणसे एक खण्ड हुआ. पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य यह दूसरा विभाग है. पाद सेवन आदि भगवान्के समीप जानेपर होते हैं. तीसरे खण्डमें सख्य और आत्मनिवेदन है सख्य और आत्मनिवेदनमें दीनता जाती रहती है इसलिये यह तीसरा खण्ड है. अर्थात् श्रवण कीर्तन, स्मरण यह नवधा भक्तिका एक खण्ड है. पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य ये चार भक्तिका द्वितीय खण्ड है. तीसरे खण्डमें सख्य और आत्मनिवेदन है. पाद सेवन आदिमें दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व आदि जो उक्त कारिकामें कहे गये हैं वे कारण हैं यह बात उन उन श्लोकोंमें कही जायेगी. पहले वहां जब तक दुष्ट दुर्ज्ञेयता नहीं जानी जाय तब तक दुष्टोंके (दोष युक्तोंके) भक्तिमें बाधक जो काय, वाणी, मनो व्यापार है उनके देखनेसे भगवान्के पास वे नहीं जाय. जब उनका दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व जान लिया जाय तो यदि अन्धा नहीं देखता है तो क्या नेत्रवालेको भी उसे नहीं देखना चाहिये इसकी तरह हमारी बुद्धिमें बाधककी प्रतीति होगी तो हम उसे हटाकर समीप जायेंगे और पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्यमें प्रवृत्त होंगे. इसलिये पाद सेवनकेलिये दुष्ट दुर्ज्ञेयत्वका निर्णय करते हैं. अर्थात् नीचे बताये हुए जन्म राज्यादिका ऐश्वर्य, शास्त्र आदिका सुनना तथा लक्ष्मीके मादक होनेपर भगवान् नहीं जाने जाते. सत्कुलमें जन्म, राज्यादिका ऐश्वर्य, शास्त्र आदिका सुनना तथा सम्पत्तिसे जिसका मद बढ गया है वह श्रवण कीर्तन आदिका अधिकारी नहीं है. अभिप्राय यह है कि जैसे चावल आदिके ओदन रूपमें परिणत हो जानेपर पितृदेव और मनुष्य आदिके तृप्ति जनक होनेसे उस ओदनमें अमृतरूपता है किन्तु जो उससे मद (नशा) चाहते हैं वे उसे मलरूपमें परिणत करते हैं तो वह चावल मद जनक बन जाते हैं. इससे यह नहीं होता कि वह आसव हविष्यान्नसे उत्पन्न है इसलिए

पीने योग्य हो. उसी तरह मदाभिलासी दैत्यके अंशसे उत्पन्न होनेपर भी मद होनेसे वह कुल मदरूप (आसवरूप) बननेसे मादक हो गया. ऐसी स्थितिमें सत्कुलसे उत्पन्न हुआ भी (सयाह्य ?) नहीं होता. क्योंकि वह मद युक्त है. जैसे चावलोंका आसव (इसी प्रकार ऐश्वर्य शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मीमें भी समझना) अर्थात् इनसे यदि मद हो जाय तो भगवन्नाम लेनेका अधिकारी नहीं होता. इसी अवान्तर भेदको लेकर अर्थात् मादक हानेपर (विद्यामदो धनमदः) इत्यादि वाक्य प्रवृत्त होते हैं. श्लोकस्थ 'पुमान्'का तात्पर्य स्वतन्त्र होनेसे अर्थात् पुरुष होनेसे स्वतंत्र होनेके कारण गुरु आदिसे भी नियम्य नहीं है अर्थात् गुरु भी उसे अच्छे मार्गपर नहीं ला सकता. मदवाला है इसलिये हे भगवन्! यह आपका नामोच्चारण करनेका अधिकारी नहीं रहता जैसे पहले ब्राह्मण होते हुए भी म्लेच्छ आदिके रूपमें हो जानेपर मदिरा आदिके सेवनसे मत्त हुआ वह वेद नहीं पढ सकता. पढता भी तो उन्मत्त प्रलापकी तरह व्यर्थ होनेसे सुनने योग्य नहीं है. यद्यपि वेद पढनेमें अमुक अमुकका ही अधिकार है किन्तु भक्तिमें सबका अधिकार है तथापि उक्त कृत्रिम मदिरा आदिके सेवनमें वेद पढनेका अधिकार नहीं होता इसी तरह जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्रश्रवण तथा लक्ष्मीसे मत्त होनेपर भगवत्सम्बन्धी नाम आदिके उच्चारणका अधिकार नहीं रहता अतः मत्तके आचरणको कोई प्रामाणिक समझकर तदनुसार आचरण नहीं करता. शंका करते हैं कि जन्म एवं कर्मसे जो शुद्ध हैं उन्हें वेद पढनेका अधिकार कहा गया है. इसलिये मत्तको वेद पढनेका अधिकार नहीं किन्तु भगवान् तो सर्व रूप हैं इसलिये कहा है कि "**चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्**" भगवान्के नामोंका उच्चारण सदा सब जगह करे. इस स्मृतिके कथनसे तथा 'पतितः स्खलितः' इत्यादि वाक्यसे महापापीकेलिए भी भगवन्नामको प्रायश्चित रूप बताया गया है. तो मत्तको भगवन्नाम लेनेका अधिकार क्यों नहीं इसका उत्तर देते हैं कि 'अकिञ्चन गोचरम्' आप जन्ममद, ऐश्वर्यमद, शास्त्र श्रवणमद तथा लक्ष्मी मद इनसे जो मुक्त रहता है वही आपको प्राप्त कर सकता है. तात्पर्य यह है कि मत्त व्यक्ति स्वरूपतः भगवन्नाम लेनेका अधिकारी नहीं है. ऐसी बात नहीं है. किन्तु मत्तको भगवन्नामोच्चारणका कोई फल नहीं होता. क्योंकि ऐसे व्यक्तिके हृदयमें भगवान् प्रवेश ही नहीं करते नामोच्चारण करनेसे तो हृदयमें भगवान्का प्रवेश होता है. मत्त अपने मुखसे भगवान्के गुणोंको कहता भी है. किन्तु वह गुणाख्यान केवल कहनेकेलिये ही है

किन्तु उससे कोई फल नहीं होता. जैसे शौचमें उपयुक्त गङ्गाजलसे कोई लाभ नहीं. अर्थात् उससे कोई पारलौकिक फल नहीं होता क्योंकि उपर्युक्त मदसे जो रहित है उनसे ही मिलनेका भगवान्का स्वभाव है. इस समय भी हम देखते हैं कि लोग जो मत्त (नशेबाज) नहीं हैं उन्हींसे बात करते हैं. मत्तोंसे नहीं. उपर्युक्त बातोंसे यह कहा गया कि जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मीके मदवालोंके हृदयमें कभी भी भगवत्सान्निध्य नहीं होता इस अभिप्रायसे उनको अनधिकारी बताया है ।।२५।।

आभासार्थ: शंका होती है कि केवल मत्त ही भगवान्को नहीं जानते यह कहना ठीक नहीं. भगवान् अचिन्त्य महिमावाले हैं. अत: शिष्ट लोग भी भगवान्को नहीं जान सकते इसका उत्तर देते हैं कि यद्यपि शिष्ट लोगोंको भी भगवान्का ज्ञान नहीं होता. किन्तु वे शिष्ट लोग यह तो जानते हैं कि हम भगवान्को नहीं जानते मत्त लोगोंको तो इसका भी ज्ञान नहीं. अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि ''विज्ञातम् अविजानताम्''के अनुसार जो हम नहीं जानते ऐसा मानते हैं उनकेलिए वह ज्ञात हो जाता है इस बातको कहते हैं कि :

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ।।२६।।

श्लोकार्थ: जिस भगवान्के निष्किञ्चन भक्त धन हैं अथवा जो निष्किञ्चन जनोंका धन है और निर्गुणोंके साथ व्यवहार रखनेवाले अपनी आत्मामें ही रमण करनेवाले शान्त, मोक्षके पति भगवान्को नमस्कार करती हूं।।२६।।

सुबोधिनी: श्लोकस्थ 'अकिञ्चन वित्ताय'में अकिञ्चन वित्तके दो अर्थ हैं. पहला अकिञ्चन निर्धन ही जिसका धन है ऐसे भगवान् हैं. द्वितीय अकिञ्चनों(निर्धनों)के धन भगवान् हैं. धनिक लोग हृदयमें धनका ही चिन्तन करते हैं और उनकी बाह्य क्रिया भी धन सम्बन्धिनी होती है. इसी प्रकार भगवान्के हृदयमें भक्तोंका ही चिन्तन रहता है तथा बाह्यक्रिया भी भक्तोंकेलिये ही होती हैं. ऐसे ही भक्त भी हृदयमें भगवान्का ही चिन्तन करते हैं. और भक्तोंकी बाह्य क्रिया भी भगवत्सम्बन्धिनी ही होती है. अतः ऐसे भक्त ही उसे जानते हैं दूसरे नहीं इसमें हेतु कहते हैं कि 'निवृत्तगुणवृत्तये' जिनके गुण निवृत्त हो गये हैं. अर्थात् जो निर्गुण हैं उनके साथ ही भगवान्का व्यवहार होता है. अथवा

भगवान् उन्हींमें रहते हैं. ''हरिर्हिनिर्गुणः साक्षात्'' इस वाक्यके अनुसार भगवान् निर्गुण हैं. और ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'' इस भगवद् वाक्यके अनुसार भक्त भी निर्गुण हैं. अतः वह भगवान् निर्गुण होनेसे निर्गुणसे प्राप्त हैं. सगुण गम्य नहीं हैं. जैसे चक्षु इन्द्रियसे ग्रहणकी जानेवाली वस्तुका रसना (जीभ)से ग्रहण नहीं होता. वैसे ही वह निर्गुणसे ही प्राप्त होता है. दूसरोंसे प्राप्त नहीं होता इसमें हेतु कहते हैं कि 'आत्मारामाय' आत्मा (अपने)में ही जिसका सब ओरसे रमण है. जब वह अपनेमें ही रमण करता है तो दूसरेकी उसको अपेक्षा ही नहीं है यदि दूसरेकी अपेक्षा हो तो कदाचित् सगुण गम्य भी हो सकता है. यदि दूसरे उनकी अपेक्षा करते हों तो भी क्रूर प्रकृति वालोंसे वह प्राप्त नहीं है क्योंकि वे भगवान् शान्त हैं. अर्थात् जो क्रूर प्रकृतिके हैं वे भी भगवान्का शान्त रूप होनेसे उन्हें नहीं चाहते हैं. इससे कहा गया कि उसकी दूसरे (क्रूर) भी अपेक्षा नहीं करते. जो अपेक्षा करते हैं वे मोक्षकेलिये. क्योंकि वह फल नियत है. अर्थात् भगवान् सेवा करनेवालोंको मोक्षारूप फल निश्चित रूपसे देते हैं. अन्य फल तो काकतालीय न्यायसे अनायास ही प्राप्त हो जाता है. भगवान् मोक्षके स्वामी हैं. इसलिये मुक्तिके अधिकारियोंसे ही वह सेव्य हैं अन्यसे नहीं ।।२६।।

आभासार्थः इस प्रकार प्रसंगसे भगवान्के स्वरूपका वर्णन करती हुई कुन्ती नमस्कार कर फिरसे प्रस्तुत जो दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व है उसे दूसरे प्रकारसे कहती हैं:

मन्ये त्वां कालम् ईशानम् अनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन् मिथः कलिः ।।२७।।

श्लोकार्थः मैं सर्वसमर्थ, अनादि, अनन्त, व्यापक, सर्वत्र समान रूपसे विचरण करनेवाले आपको कालरूप मानती हूं. जिस कालसे प्राणियोंमें परस्पर कलह होता है. तात्पर्य यह है कि समय पाकर भाई भाइयोंमें भी कलह होता है।।२७।।

सुबोधिनीः दुष्ट दो प्रकारके हैं. एक विषयोंमे परायण. दूसरे जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण लक्ष्मी मदसे मत्त. इनमें दूसरे जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण और श्रीमद्वाले भगवान्को नहीं प्राप्त कर सकते हैं. यह पहले निरूपण कर आये हैं. विषय परायण भी भगवान्को नहीं प्राप्त कर सकते. यह सम्भावनासे कहती है. यहां यह सम्भावना होती है कि यदि विषय परायण (विषयोंमें रत) भगवान्को जान लें तो कालके ग्रास ही न बनें. क्योंकि भगवान् ही कालरूप हैं. भगवान्को

जान लेनेपर ''ज्ञानी प्रियतमो मतः'' इस गीतावाक्यके अनुसार अपने अत्यन्त प्रिय ज्ञानी भक्तको कालरूप भगवान् नहीं खाते. तात्पर्य यह है कि विषय परायण यदि भगवान्को जान लें तो वह ''ज्ञानी प्रियतमो मतः''के अनुसार अत्यन्त प्यारे हो जायेंगे. तो कालरूप भगवान् उन्हें नहीं खायेगा क्योंकि अत्यन्त प्रियको कोई नष्ट नहीं करना चाहता. विषयोंमें रत कालग्रस्त होते हैं. इससे ज्ञात होता है कि वे भगवान्को नहीं जानते. यदि कहें कि काल भगवद्रूप कैसे हो सकता है तो कहते हैं कि 'ईशानम्' सर्वत्र भगवान्की तरह कालका ऐश्वर्य है. ऐसा ऐश्वर्य कालमें भगवद्रूपता हुए बिना नहीं हो सकता. इससे ज्ञात होता है कि काल भगवद्रूप ही है. यदि काल भगवद्रूप न हो तो **''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्''** **''नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्''** अर्थात् यह विश्व पहले भगवद्रूप ही था. उस समय न सत् था न असत् था. यहांके 'अग्रे' और 'तदानीम्' पद कालके बोधक हैं. यदि काल भगवान्का रूप न हो तो उसकी पूर्व स्थिति न होनेसे इन श्रुतियोंका वाक्यार्थ संगत न होगा. भगवान्की तरह काल अनादि अनन्त है इसलिए काल भगवान्का रूप है. काल वश ही शीतोष्ण आदि समय आते हैं. अन्यथा उनके होनेमें दूसरा कौन कारण हो सकता है. अतः वह काल भगवान्की तरह सब कुछ रखनेका सामर्थ्य रखता है. इसलिए वह भगवान् है. गीतामें **''निर्दोषं हि समं ब्रह्म''** इस वाक्यसे समत्वरूप भगवान्का धर्म बताया. अर्थात् वह समान रूपसे सर्वत्र है. यही समानता कालमें भी है इसलिए काल भी भगद्रूप है. इसी बातको ''समं चरन्तं सर्वत्र'' इससे बताया. काल ब्रह्मरूप होनेसे सर्वत्र समान रूपसे प्रविष्ट होता है इसमें युक्ति कहते हैं कि ''भूतानां यन्मिथः कलिः'' इस कालके प्रविष्ट होनेसे पहले एक प्राणके रूपमें रहनेवाले भाई आदि भी समय पाकर आपसमें झगडकर मर जाते हैं. सभीके कालग्रस्त होनेसे यह ज्ञात होता है कि आप ही काल हैं आपको कोई भी नहीं जानता ।।२७।।

आभासार्थः इस समय अवतीर्ण हुए आपको भक्त भी सर्वथा नहीं जानते इस बातको कहते हैं:

न वेद कश्चिद् भगवंश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद् दयितोऽस्ति कर्हिचिद् द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम्।।२८।।

श्लोकार्थः हे भगवन्! आप जब मनुष्योंकी सी लीला करते हैं तब आप क्या करना चाहते हैं यह कोई नहीं जानता. आपका कभी न कोई प्रिय है और न

शत्रु है. आपके सम्बन्धमें लोगोंकी बुद्धि ही विषम हुआ करती है।।२८।।

सुबोधिनी: भगवान् क्या करनेका विचार करते हैं इस बातको कोई नहीं जानता. यदि कहें कि कार्यके देखनेसे अथवा ज्योतिषशास्त्रसे जो कुछ बात ज्ञात होती है वही भगवान्की करनेकी इच्छा है यह ज्ञात हो ही जाता है. तो भगवान्का विचार नहीं जाना जा सकता यह कैसे कहा? समाधान करते हैं कि जो मनुष्यके सदृश चेष्टा करता है उसके करनेकी इच्छाको कैसे जानी जाय. सामान्य प्रयत्नसे ही कार्य सिद्ध होता है, तो भगवान् विशेष रूपका अनुकरण किस कार्यकेलिए करते हैं यह सन्देह होता है. तात्पर्य यह है कि भगवान् मनुष्यके आकारको ग्रहण न करके भी कार्य कर सकते हैं तो मनुष्याकार एवं तदनुरूप कार्य किसलिए करते हैं यह सन्देह होता है. यदि कहें कि मनुष्यका अनुकरण कर जो पाण्डव रक्षा कौरव वध पृथ्वी भार हरण अर्जुन आदिको यश दिलाना कार्य किया वह स्पष्ट है. तो फिर भगवान्ने मानवका अनुकरण क्यों किया यह शंका करना ठीक नहीं है. इस पर कहते हैं कि भगवान्के पाण्डव रक्षा आदि विशेष कार्य तब हो सकते हैं जब भगवान्के कोई मित्र, उदासीन एवं शत्रु हों. पाण्डवोंकी रक्षा करना एवं कौरवोंका वध करना यह बताता है कि भगवान्के भी मित्र और शत्रु हैं. यदि मित्र शत्रु हों तो वह भगवान् ही नहीं है. कोई कहीं भी उसका प्रिय नहीं है. इसी प्रकार कोई कहीं द्वेष्य (शत्रु) भी नहीं है. श्लोकस्थ 'च'से उदासीन भी लिया गया. अर्थात् भगवान्का उदासीन भी कोई नहीं है. तो फिर पाण्डव रक्षा कौरव वध आदि कार्य भगवान्में कैसे दीखते हैं. यदि कहें कि कालके प्रतिकूल एवं अनुकूल होनेपर यह सब कुछ कार्य होता है ऐसा मानते हैं तो कदाचित् कौरवोंके लिए भी काल अनुकूल हो सकता है और उनकी भी रक्षा हो सकती है, किन्तु कौरवोंकी रक्षा नहीं सुनी गई है. अर्थात् कौरवोंकी रक्षा नहीं हुई है. जिस भगवान्में पाण्डव आदिकी यह विषम बुद्धि हुई कि भगवान् हमारे मित्र हैं और कौरवोंके शत्रु हैं. अर्थात् यह हमारा मित्र है और यह हमारा शत्रु है ऐसा मानते हैं. कलश आदि वस्तुके घरमें ले जाते हुए दीखनेपर वह घडा आदि शकुन रूप माना जाता है. किन्तु शकुन रूपमें माने जानेवाले घडे आदि एवं शकुन रूपमें नहीं माने जानेवाले घडेके स्वरूपमें कोई भिन्नता नहीं होती. इसी प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें शत्रु, मित्र उदासीनता आदिसे भिन्नता नहीं हो सकती. शुक्ति (शीप)में रजत आदिकी प्रतीतिमें उसके स्वाभाविक धर्मसे भिन्न कोई भ्रमका कारण है. यदि उसीका

स्वाभाविक धर्म भ्रमका कारण हो तो सभीको भ्रम होना चाहिये. तात्पर्य यह है कि शुक्तिकामें जो रजत भ्रम होता है वह अपनेमें रहे किसी विशेष दोषके कारण होता है. इसी प्रकार अपनेमें रहे रागादि दोषसे ही आप (भगवान्)में मित्र शत्रु उदासीनताकी प्रतीति होती है. आपमें ऐसा कोई धर्म नहीं है कि जो मित्र, शत्रु उदासीनकी प्रतीति करावे. यदि यहां यह कहा जाय कि जैसी भावना मानव करता है उसकी भावनाका अनुसरण कर भगवान् अपनेमें उस धर्मको रखते हैं जिससे भगवान् सर्व भावितकी तरह हो जाते हैं. अर्थात् भगवान् मानवकी भावनाके अनुसार प्रतीत होने लगते हैं. अर्थात् मनुष्य जैसी भावना करता है भगवान्को वैसा बनना पडता है. यदि किसीने भगवान्में मित्रकी भावनाकी तो भगवान् मित्र होंगे और शत्रुकी भावना करनेपर भगवान् शत्रु होंगे तो यह कैसे कहते हैं कि भगवान् शत्रु, मित्र, उदासीन नहीं बनते इसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है. इसी बातको श्लोकस्थ 'च'से कहा है. तात्पर्य यह है कि जैसे भगवान्में मित्रत्व न होते हुए भी उसकी भ्रान्ति होती है उसी प्रकार भावनानुसारी धर्म भगवान्में है यह भी भ्रान्ति है ।।२८।।

आभासार्थः इस प्रकार दुष्ट दुर्ज्ञेयत्वका निरूपण कर दो श्लोकोंसे कुन्ती भगवान्के लक्षणका निरूपण करती है :

जन्म कर्म च विश्वात्मन् अजस्याकर्त्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ।।२९।।

श्लोकार्थः हे विश्वरूप ! न आप जन्म लेते हैं और न कर्म ही करते हैं. फिर भी पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदिमें आप जन्म लेते हैं और उन योनियोंके अनुसार कर्म भी करते हैं यह अत्यन्त विडम्बना है।।२९।।

सुबोधिनीः भगवान्का सब रूप बनना लक्षण है अर्थात् वह उसका असाधारण धर्म है. तात्पर्य यह है कि जो सब रूप दिखा सकता है वह भगवान् है. नट आदि भी कुछ दूसरे द्रव्योंकी सहायतासे अपनेको उस उस रूपमें दिखाता है परन्तु भगवान् तो दूसरे किसीको नहीं लेता हुआ स्वयं अविकृत एवं परमानन्द रूप रहता हुआ ही मनुष्य देह तथा इन्द्रिय रूपसे अर्थात् दृश्य रूपसे अपने आपको प्रसिद्ध करता है. यही भगवान्का असाधारण लक्षण है. इस प्रकार भगवान्की असाधारणताका ज्ञान न हो और मनुष्यताका ज्ञान हो ये मनुष्य हैं ऐसा ज्ञान हो तो उसका कोई पूजन न करे. अतः भगवान् अविकृत एवं परमानन्द रूप ही नर देह

इन्द्रियोंसे अपने आपको प्रसिद्ध करता है. दिखाया गया रूप मोहक नहीं होता. क्योंकि वह उसका लक्षण है. जो लक्षण रूप धर्म होता है उसकी स्थिति वास्तविक होती है. यदि उस सब रूप बननेको मोहक मान लेते हैं तो सबको मोह होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता. इससे ज्ञात होता है कि वह भगवान्का अनुकरण मोहक न होकर भगवल्लक्षण होनेसे गौके सास्नादिकी तरह वास्तविक है. वहां यदि किसीको भ्रम हो तो वह पहले कहे गयेके अनुसार अपने स्वगत दोषसे ही कुछ अन्यथा रूपमें देखता है. भगवान्में कोई दोष नहीं है. शंका होती है कि एक वस्तु ही अनेक रूपमें नहीं दीख सकती तो इस युक्तिके विरुद्ध वेद भी भगवान्को सर्वरूप कैसे बता सकता है इससे भगवान् सब रूपका अनुकरण कर लेते हैं यह कैसे हो सकता है इस पर कहती है कि 'विश्वात्मन्' जैसे भगवान् (आप) बिना विकारके ही विश्वरूप हो सकता है तो उसको नटकी तरह मानव देहका अनुकरण करनेमें क्या प्रयास है. आप अजन्मा हैं तथापि जन्म लेते हैं. अकर्ता होने पर भी कर्म करते हैं. व्यापक रूप जो आप पुरुषोत्तम हैं आपका पशु पक्षी रूप वराह हंस आदिमें मनुष्य रूप राम आदिमें ऋषि रूप वामन आदिमें जलचर रूप मत्स्य आदिमें तत्तद् रूप आप जो स्फुरित होते हैं वह अत्यन्त दूसरेका अनुकरण है. अवतारकी स्थितिमें पुरुषोत्तमत्वको बताते हुए भी मनुष्यत्व आदिको भी उसीमें बताते हैं. विश्वमें यदि ब्रह्मत्वका ज्ञान हो जाता है तो जगत् ब्रह्मत्वेन ज्ञात होता है जगद्रूपसे नहीं. अवतार दशामें इससे भेद है. अर्थात् अवतार दशामें विरोधी प्रतीति होती रहती है और ब्रह्मज्ञानीकेलिए जगत्की प्रतीति न होकर विशुद्ध ब्रह्मकी ही प्रतीति होती है. यही अवतार रूपमें प्रकट होनेपर तथा जगद्रूप बननेमें भेद है इसलिए अमुक अमुक रूपमें आना भगवान्का असाधारण धर्म है. इससे यह सिद्ध हुआ कि युक्ति बाधित भी भगवान् अनुकरण कर सकते हैं. अर्थात् एक ही समयमें पुरुषोत्तमत्व एवं मनुष्यत्व दोनों दिखा सकते हैं. अतः भगवान् अनुकरण नहीं करते यह संदेह करना युक्त नहीं है ।।२९।।

आभासार्थः यहां यह शंका होती है कि विशेष प्रकारका भगवत्कार्य देखनेसे संदेह निवृत्त हो जायेगा तो फिर वैसे धर्मवाले भगवान्को बतानेसे क्या प्रयोजन है इस पर कहती है कि :

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद् या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ।।३०।।

श्लोकार्थ: दधिभाण्डके फोडनेके अपराध करनेपर यशोदाजीने आपको बांधनेकेलिए जब डोरी ली उसी क्षण आंसुओंसे मिले अतएव बहते हुए अञ्जनसे संभ्रमयुक्त नेत्रवाले मुखारविन्दको नीचा कर भयकी भावनासे स्थित जिससे कि मृत्यु भी डरती है ऐसे आपकी वह दशा मुझे मोहित कर रही है।।३०।।

सुबोधिनी: कुन्ती कहती है कि आपके विशेष विश्व दर्शन कराना आदि कार्योंके दीखनेपर भी इस प्रकारका अनुकरण भ्रम उत्पन्न करता है. इसमें मैं ही दृष्टान्त हूं. मैं आपके दर्शनकेलिए कभी गोकुलमें गई थी. उस समय गोपी यशोदाने आपके द्वारा पत्थरसे दधिभाण्डके भेदन करनेपर अपराधी आपको बांधनेकेलिए डोरी ली. उस समय ही जो आपकी दशा हुई उसे मैंने देखी थी. वह दशा आपकी स्वाभाविक नहीं थी. क्योंकि ''अश्रुकलिलाञ्जन-सम्भ्रमाक्षम्'' आसुओंसे पंकीभूत जो कज्जल उससे प्रतीत हुई सम्भ्रमयुक्त जिसकी आंखें हैं ऐसे अपने मुखको नीचा कर खडे हुए आपको देखा. सबने यही समझा कि आप सर्वथा डरे हुए हैं. शंका होती है कि भगवान् डरे हुए हों तो भी क्या दोष है इसपर कहती है कि 'भीरपि यद्बिभेति' मृत्युरूप भय आपसे डरता है उसको भय कैसे हो सकता है मृत्युको भय उत्पन्न करनेवाले आपका भीत होना बाधक धर्म है. अर्थात् जो मृत्युको भी डरा सकता है. वह अन्यसे डर कैसे सकता है. आपके हृदयमें तथा बाहर सन्निधानमें रहनेपर अन्य किसीको भी भयकी संभावना नहीं है. तो आपका डरना अत्यन्त आश्चर्यजनक है ।।३०।।

आभासार्थ: इस प्रकार अजन्माका जन्म आदि तथा जिससे काल भी डरे उसे डरते हुए आदि भगवान्में विरुद्ध धर्मोंका दीखना तथा भगवत्सम्बन्धसे और जगह भी विरुद्ध धर्मोंका दीखना विरुद्ध धर्माश्रयता रूप भगवान्का लक्षण कहा. भगवान्के जन्म लेनेके कारणका निर्णय 'केचिदाहु' इत्यादि चार श्लोकोंसे कहते हैं. नमनकेलिए जन्मका निर्धार बताना चाहिए. देह अन्त:करण एवं आत्मामें आगे आगेका उत्तम माना गया है. अर्थात् देहसे अन्त:करण प्रधान है. अन्त:करणसे आत्मा उत्तम है केवल देह मानकर भगवान् नमनीय न भी हों किन्तु भगवान्का अवतार लेना जान लेनेपर भगवान् नमस्करणीय होते हैं. यदि कहें कि भगवान्ने ऐसे अनमनीय देहको क्यों धारण किया इस शंकाका उत्तर देते हैं कि ऋषि अनेक हैं. उनके योगज धर्म भी भिन्न भिन्न हैं और वास्तवमें भगवदिच्छाका ज्ञान नहीं होनेसे चार प्रकारके ऋषियोंने अपनी अपनी बुद्धिके

अनुसार भगवान्के देह धारणका प्रयोजन कहा है :

वंशकर्ता पिता चैव मुख्यौ देहनिरूपकौ।

दुःखाभावश्च मोक्षश्च द्वावर्थाविह सम्मतौ।।

वंशकर्त्ता यदु तथा पिता मुख्य रूपसे भगवान्के देह धारण करनेके कारण हैं. देह धारण करनेके दुःखाभाव एवं मोक्ष दो प्रयोजन यहां माने गए हैं. अर्थ और द्रव्यका परस्परमें विरोध होनेपर अर्थ बलवान् है इस न्यायसे यहां अर्थको लेकर ऋषियोंका मतभेद है अर्थ जब गौण रहता है तब देहको मुख्य मानकर वंशकर्ता एवं पिता ये दो मत यहां कहे गए हैं. द्रव्य देहको गौण मानकर और अर्थ (प्रयोजन)को मुख्य मानकर कारिकामें दुःखाभाव एवं मोक्ष ये दो मत कहे गए हैं. अर्थात् अर्थको गौण तथा देहको मुख्य माननेपर वंशकर्ता एवं पिता देह सम्बन्धके कारण है यह बताया गया. अर्थ (प्रयोजन)को प्रधान माननेपर दुःखाभाव और मोक्ष ये दो मत हैं इन चार मतोंमें वंशकर्ता यदुके मुख्य एवं महान् होनेसे भगवान् यदि उस वंशमें अवतार लेते हैं तो यदुकी कीर्ति होती है इसलिए धर्म प्राधान्यसे (अथात् विरुद्ध धर्मोका आश्रय बनते हुए भगवान्) यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं यह कहती है :

केचिद् आहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्त्तये।

यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्।।३१।।

श्लोकार्थः पुण्य श्लोक अपने प्रिय यदुकी कीर्ति बढानेकेलिए उसके वंशमें जैसे मलय पर्वतकी कीर्ति बढानेकेलिए चन्दन होता है वैसे ही अजन्माने जन्म ग्रहण किया है यह कोई कहते हैं।।३१।।

सुबोधिनीः 'अजं जातम्'से अजन्माने जन्म लिया है यह कहकर पहलेकी तरह भगवान्को विरुद्ध धर्माश्रय बताया है. पुण्य कीर्तिवाले यदुके वंशमें प्रकट हुए अतएव ''तत्रांशेनावतीर्णस्य'' इससे वैसा ही शास्त्रका अर्थ बताया गया. अर्थात् ''यदोश्च धर्मशीलस्य''से यदु धर्मशील होनेसे ही उस वंशमें भगवान्का अवतार हुआ यह शास्त्रार्थ निर्धारित हुआ. श्लोकमें यदुका विशेषण 'प्रिय' है. प्रिय वही होता है जो पुष्टिमार्गीय होता है. यदु पुष्टिमार्गीय भक्त है इसलिए इसे प्रिय कहा है. श्लोकमें 'मलयस्येव चन्दनम्' कहा है. अर्थात् जैसे 'वन्दामहे मलयमेव'से मलयाचलको प्रणाम करते हैं जिसके सम्बन्धसे निम्ब आदि भी चन्दन बन जाते हैं. इस प्रकार जैसे मलयाचलका यश बताया उसी

प्रकार यदुका भी बताया. क्योंकि उसके वंशमें उत्पन्न होनेवालोंमें भगवान्‌की सन्निधि होनेसे उन्हें भगवत्सारूप्य मिला है ।।३१।।

आभासार्थः दूसरे लोग यदुके दूर सम्बन्धको बताना ठीक न मानकर यदुकी कीर्ति तो प्रसंगसे भी हो सकती है तो यदुका सम्बन्ध बताना उतना ठीक नहीं है जितना तप आदिकेलिए प्रयत्न करनेवाले वसुदेवजीके यहां प्राकट्य बताना ठीक है. वसुदेवजी निर्दोष हैं और ऋषि लोग अर्थ (प्रयोजन)को प्रधान मानकर वसुदेवजी और उनकी पत्नी देवकी सुतपा और पृश्नि रूपसे प्रार्थित हुए अजन्मा भगवान् ही देवकीमें पुत्र रूपसे उत्पन्न हुए. ऐसा कहते हैं इसी बातको कुन्ती कहती है कि :

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्।।३२।।

श्लोकार्थः दूसरे यह कहते हैं कि अजन्मा होते हुए भी जगत्‌के कल्याणकेलिए तथा दैत्योंको मारनेकेलिए वसुदेव और देवकी जो जन्मान्तरमें सुतपा और पृश्नि रूपमें थे उनसे प्रार्थित हुए आप वसुदेवजीकी पत्नी देवकीमें प्रादुर्भूत हुए।।३२।।

सुबोधिनीः प्रार्थना करनेपर भक्तोंके कल्याणकेलिए तथा दैत्योंके वधकेलिए जो वसुदेवकी पत्नी देवकीमें पधारे वह अजन्मा आप ही हैं. इस अर्थमें वह अजन्मा आप ही हैं ऐसी पृथक् योजना हुई. ''पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यः'' इस श्लोकमें भगवान्‌का प्राकृत रूपमें होना दिखाया गया है इससे प्राकृत रूप भिन्न है. ऐसी शंका न हो इसके लिए जो अजन्मा है वही आप हैं ऐसा कहा गया. प्राकट्यमें कारण यह है कि इस जगत्‌के अथवा युधिष्ठिरके कल्याणके लिए और देवताओंके शत्रु दैत्योंको मारनेकेलिए जैसा कि ''**जातः कंसवधार्थाय**''से कहा है. आप प्रकट हुए. दैत्योंको मारकर आप मुक्ति देते हैं. इसलिए जगत्‌के हितकेलिए तथा दैत्योंको मारनेकेलिए आपका प्राकट्य है इससे अवतारके दो प्रयोजन भिन्न भिन्न बताये. क्योंकि देवताओंका भिन्न रूपसे आपने हित किया है. श्लोकस्थ 'च'कारसे यह भी कहा गया कि दैत्योंको कृतार्थ करनेकेलिए भी आपका प्राकट्य है. दैत्य देवताओंसे द्वेष करनेवाले हैं इसलिए उनकी स्वतः मुक्ति नहीं हो सकती. भगवान् मारकर उन्हें मुक्त करते हैं. इसलिए दैत्योंके हित चिन्तक होनेसे भगवान्‌में वैषम्य दोष नहीं आया. दैत्योंको मुक्ति देते हैं. और विश्वका कल्याण

करते हैं इसलिए दैत्योंको मुक्ति देना एवं विश्वका कल्याण करना ये दोनों भगवान्‌के कार्य हैं. दैत्य वधमें उन्हें मुक्ति देना अभिप्रेत है. इसलिए भगवान्‌में वैषम्य दोष न आया. अन्यथा दैत्योंका बुरा करनेसे भगवान्‌में वैषम्य दोष आता है ।।३२।।

आभासार्थ: इस प्रकार ''**किञ्चिदाहुरजं जातम्**'' ''**अपरे वसुदेवस्य**'' इन दो श्लोकोंसे देहकी मुख्यता मानकर वंशकर्ता एवं पिताको लेते हुए निरूपण किया गया. यहां बहुतसे यह भी कहते हैं कि वसुदेवजी एवं देवकीका बीते दो जन्मोमें भगवान्‌से सम्बन्ध रहा है यदि कहे गए प्रयोजनोंको मान लिया जाता है तो भगवान्‌को वसुदेवजीके यहां पूर्व जन्मकी तरह अंशरूपसे ही प्रादुर्भूत होना चाहिए था. तो फिर पूर्ण रूपसे क्यों प्रकट हुए इससे ज्ञात होता है कि भगवान्‌का अवतार लेनेका पूर्वोक्त प्रयोजन नहीं है. अत: ''**अर्थद्रव्यविरोधे अर्थो बलीयान्**'' इस न्यायको मानकर जो धर्म, अर्थ, कामको प्रधान मानते हैं ऐसे लोग कहते हैं कि भगवान् पृथ्वीका भार हटानेकेलिए आए हैं इसी बातको कहते हैं कि:

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ।।३३।।

श्लोकार्थ: कोई यह कहते हैं कि समुद्रमें डूबती हुई नावकी तरह अधिक भारसे पीडित पृथ्वीका भार उतारनेकेलिए ब्रह्मासे प्रार्थना किये गए भगवान् प्रकट हुए।।३३।।

सुबोधिनी: शंका करते हैं कि अपने परिकर सहित भगवान्‌के पृथ्वीपर पधारनेपर अधिक भार बढेगा. भार उतरेगा नहीं. यदि भार करने वालोंमें अथवा भूमिमें भगवान्‌का बल रूपसे प्रवेश होनेपर भार नाश समझा जायेगा. भारका उतरना नहीं समझा जायेगा. तो श्लोकमें 'भारावतारणाय' कहना असंगत होगा. भार बढानेवालोंको नीचे गिरा देनेपर भगवान्‌में वैषम्य दोष आयेगा. उस वैषम्य दोषको मिटानेकेलिए यदि कहें कि उन्हें मुक्ति देना है तो पहले कहे गये पक्षमें एवं इस पक्षमें कोई विशेषता न होगी. अर्थात् पहले कहे गये श्लोकके प्रयोजनमें और इस प्रयोजनमें एकता होनेसे दूसरे ऐसा प्रयोजन कहते हैं यह कहना ठीक नहीं होगा और भारका उतारना स्वतन्त्र फल रूप माना जायेगा और सुख साधनको स्वतन्त्र फल माननेपर विरोध होगा. इसपर उत्तर देते हैं कि यह पृथ्वीका भार दैहिक नहीं होता है किन्तु असुरोंके उद्‌वृत्ताचरण (असद् आचरण)से होनेवाला पृथ्वीका

मानस भार है. जहां अत्यधिक ऐसी मानस भावना बढती है उससे वह मानस भार दैहिक भारकी तरह हो जाता है. भगवान्के पृथ्वीपर आनेपर चित्त भगवान्में लग जाता है जिससे उद्वेग करानेवालोंका विस्मरण हो जाता है तो भार उतरा हुआ माना जाता है. अर्थात् भगवान्में चित्त लग जानेसे उपद्रुत करनेवालेका पृथ्वीको भान नहीं रहता. इससे भार उतरना माना जाता है. बुद्धिसे ही भार माना जाता है और वह बुद्धि यदि भार नहीं मानती है तो भार उतरा हुआ माना जाता है. शीघ्र प्रतीकार आवश्यक है इस बातको दृष्टान्तसे कहते हैं कि 'नाव इवोदधौ' समुद्रमें डूबती हुई नौकाका शीघ्र भार उतारना आवश्यक होता है. इसी प्रकार यहां भी शीघ्र पृथ्वीका भार उतारना आवश्यक है. नाव और समुद्रके उदाहरणसे यह बाताया है कि काल विषम है वह भी पृथ्वीको डुबानेका कारण है. जैसे तरङ्गादि समुद्रादिका (आधारका) दोष रूप है वैसे ही धर्मक्षय आदि होना कालका दोष है. पृथ्वीका काल आधार है. अतः कालके सम्बन्धसे पृथ्वीका भी सदोष होना सम्भव है. अतः शीघ्र प्रतीकार करना चाहिये. यदि शीघ्र प्रतीकार न किया गया तो पृथ्वीके मग्न हो जानेसे उसका पुनः उद्धार करना पडेगा और ब्रह्माको सृष्टि भी फिर से करनी होगी. इसी आशयसे श्लोकमें कहा गया है कि ब्रह्माकी प्रार्थनासे आप पधारे हैं. अर्थात् ब्रह्माको पुनः सृष्टि करनेका आयास? होगा. इससे ब्रह्माने प्रार्थनाकी और आप पधारे. 'आत्मभुवा' इस पदका तात्पर्य यह भी है कि भगवान्से ब्रह्मा पैदा होते हैं. यदि सृष्टि नहीं रहती है तो अपनेसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा भी नहीं रह सकता. ऐसी स्थितिमें भगवान्को भी ब्रह्माको पैदा करना पडेगा. पृथ्वी स्त्री एवं ब्रह्मा पुत्रकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारा है. इससे यह सिद्ध है कि भारको उतारनेकेलिए भगवान्का स्वयं अवतार लेना अभिप्रेत नहीं था. भारके दुःखसे यदि पृथ्वी विशीर्ण हो जाती है तो पुनः इसका निर्माण करना पडेगा. ऐसी स्थितिमें एकदेश पृथ्वीका निर्माण होना असम्भव होनेसे पूर्णरूपसे नूतन ब्रह्माण्डका निर्माण भी करना पडेगा. अतः भगवान्ने पृथ्वीका भार उतारा. शंका करते हैं कि पृथ्वीका भार उतारना ही भगवान्के पधारनेका प्रयोजन नहीं है किन्तु देवताओंका हित करना आदि भी प्रयोजन हैं तो एक भूभारहरण ही प्रयोजन बताना कैसे संगत हो सकता है तो कहते हैं कि यह एक प्रधान प्रयोजन है और इतर प्रयोजन प्रासङ्गिक हैं. यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके होनेसे प्रयोजनानुसार भिन्न भिन्न अवतार माने जायेंगे ।।३३।।

आभासार्थ: ऊपरके श्लोकोंसे बताए गए जो अवतार लेनेके पक्ष हैं वे सब पूर्वपक्ष हैं इसलिए उनमें अन्तिम प्रयोजन नहीं कहा गया. कितने ही कहते हैं कि भगवान्‌के स्वरूपका विचार किया जाय तो भगवत्स्वरूपकी अपेक्षा धर्म, अर्थ, काम जो हीन हैं उनके सम्पादनकेलिए भगवान् अवतार लेते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं होगा. इस विचारसे भगवान्‌के किये गए कर्म उनसे होनेवाले ही श्रवण कीर्तन आदि हेतुसे सबकी मुक्तिकेलिए भगवान्‌का अवतार होता है कोई ऐसा कहते हैं इसी बातको कहते हैं. आशय यह है कि भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं उनसे श्रवण कीर्तन आदि प्रारम्भ होते हैं. जिनसे सबकी मुक्ति होती है. यदि भगवान् अवतार न लें तो श्रवण कीर्तनका कोई अवलम्बन न होनेसे सबकी मुक्ति नहीं होगी. अत: भगवान् अवतार लेकर सबकी मुक्तिकेलिए लीलाके द्वारा श्रवण कीर्तन आदिका प्रचार करते हैं यही कहते हैं :

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानाम् अविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन् इति केचन ।।३४।।

श्लोकार्थ: कोई ऐसा कहते हैं कि स्वरूपज्ञान विषयेच्छा एवं कर्मोंसे जिसमें उत्पत्ति आदि होते रहते हैं ऐसे जगत्‌में दु:ख पा रहे जीवोंके श्रवण स्मरणके योग्य चरित्र करनेकेलिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं।।३४।।

सुबोधिनी: कुन्तीको जो प्रयोजन अभिप्रेत है वह ''**तथा परमहंसानाम्**'' श्लोकसे कहे गये भगवान्‌के स्वरूपके निरूपणमें ही कह दिया. अर्थात् आप भक्ति योगके प्रचारार्थ पधारते हैं. ऐसा उस श्लोकमें प्रयोजन बताया गया है. वह कुन्तीको अभिप्रेत है. ''तथा परमहंसानाम्'' श्लोकमें आये हुए 'भक्तियोग' पदसे श्रवण कीर्तन आदि ही विवक्षित हैं और यहां भी श्रवण कीर्तन आदि कहे गये हैं तो यहां भी कहे गये श्रवण कीर्तन आदिको पूर्वपक्षमें कैसे मान लिया? इस आशंकापर कहते हैं कि यहां निरूपित हुए श्रवण स्मरण आदि मुक्तिके अंगभूत हैं अर्थात् यहां श्रवण स्मरण मुक्तिकेलिए ही कहे गये हैं इसलिए धर्मरूप हैं. वे निष्काम न होनेसे भक्तिरूप नहीं कहे जाते. ''तथा परमहंसानाम्''में श्रवण स्मरण आदिको भक्तिरूपमें कहा गया है और यहां धर्मरूपमें उन्हें कहा है इसलिए यहां कहे गये श्रवण स्मरण आदिका पूर्वपक्ष कोटिमें प्रवेश होता है. श्लोकमें 'भवे' पद दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि ''**जायस्व म्रियस्व**'' इत्यादिसे कहा गया जो निरन्तर उत्पत्तिका मार्ग है उसको प्राप्तकर निरन्तर जन्म लेनेसे दु:खी. श्लोकमें

'अस्मिन्' पद देकर यह बताया कि यह जिसमें कि अनेक दुःखोंकी अनुभूति हो रही है 'क्लिश्यमानानाम्'में वर्तमानार्थक 'शानच्' प्रत्यय है इसलिए उन दुःखोंमें उनको वर्तमानमें रहना बताया. ऐसा कहनेसे क्लेश असह्य है ऐसा निरूपण किया गया. श्लोकमें 'अविद्या' पदसे स्वरूपका अज्ञान कहा गया है. स्वरूप भूल जानेपर विषयोंकी इच्छा होती है. जिसे श्लोकमें 'काम' पदसे कहा गया है. परमानन्द प्रभुकी स्फूर्ति होनेपर जिनमें साधारण एवं क्षणिक आनन्द है ऐसे विषयोंकी इच्छा नहीं होती. उन विषयोंकी इच्छाकेलिए सात्विक राजस तामस कर्म किये जाते हैं. भगवान्केलिए होनेवाले श्रवण स्मरण आदि कर्म अविद्या विषयेच्छा एवं कर्मकी निवृत्ति करनेवाले हैं. यह पञ्चमाध्याय "**एवं नृणां क्रियायोगाः**" श्लोकमें निरूपण किया गया है. श्रवण–स्मरण यदि भगवत्सम्बन्धी होते हैं तो श्रवणसे प्राकृत बाह्य संग नहीं होता और स्मरणसे भीतरी संग नहीं होता. जिसके न होनेसे जन्म लेनेका क्लेश भी नहीं होता. भगवान्के अर्थ (प्रयोजन)की विवक्षासे भगवान्के अवतीर्ण होनेपर सभीको यह भगवान् है ऐसा ज्ञान हो जाता है जिससे दुःख देखनेका क्लेश नहीं होता. अवतारका प्रयोजन यह न होकर लोगोंको धर्म अर्थ काम प्राप्ति कराना प्रयोजन हो तो कुएमें अन्धेको गिरानेकी तरह धर्म, अर्थ, काममें फंसानेसे भगवान्का भी उसी प्रकारका कार्य होगा. किन्तु वह परम दयालु है इसलिए धर्म, अर्थ, काममें फंसाने (आसक्ति कराने)केलिए अवतीर्ण नहीं होता. श्लोकमें त्रिविध ताप न देकर 'अविद्याकाम–कर्मभिः' ऐसा कहा है इसलिए क्लेश दृढ मूल है क्योंकि वे दुःख अविद्या काम कर्मसे होते हैं. यदि बिना कारणके ही वे क्लेश होवें तो उनका कोई मूल न होनेसे उन दुःखोंका स्वतः नाश हो जायेगा. तो उस दुःख नाशकेलिए श्रवण आदि करना व्यर्थ होगा. अतः भगवान् मुक्तिकेलिए ही अवतीर्ण हुए हैं यह बात सिद्ध हुई. अर्थात् अवतार लेकर लीला करता है तो उसके श्रवण स्मरण सम्भव हो जाते हैं ।।३४।।

आभासार्थः इस प्रकार भगवान्के जन्मके कारणका निर्धार कर फलका निर्धार कहती है :

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ।।३५।।

श्लोकार्थः जो मनुष्य आपके चेष्टितको बार बार सुनते हैं, उपदेश देते

हैं, गाते हैं, स्मरण करते हैं तथा आनन्दित होते हैं वे ही जन्म परम्पराके निर्वतक आपके चरणारविन्दका जल्दी ही दर्शन करते हैं।।३५।।

सुबोधिनी: दास्य भक्तिका क्या फल होता है. इसका निर्णय करना है. जैसे धर्म आदिका फल कदाचित् होता है. कदाचित् नहीं. ऐसे ही दास्य भक्तिका फल कदाचित् हो कदाचित् न हो तो स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवाको कौन करेगा. इसी प्रकार दास्य भक्तिका धर्मादिकी तरह परम्परया फल होना माना जाय तथा भगवान्से अलग फल माना जाय तो स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवा कौन करे. ''नमस्ये पुरुषं त्वाद्यम्'' आदिसे यद्यपि भगवान्के स्वरूपका निरूपण हुआ है उससे ही स्वतः दास्य भक्ति हो सकती है. क्योंकि स्वरूप ज्ञान करनेपर यह ज्ञान हो जायेगा कि भगवान् परब्रह्म हैं और मैं जीव होनेसे दास हूं तो इससे दास्य भक्ति सिद्ध हो सकती है. तो उसकेलिए फल निरूपण करनेकी क्या आवश्यकता है. तो कहते हैं कि भगवान्को परब्रह्म एवं अपनेको जीव समझनेपर दास्य भक्तिकी योग्यता मात्र होती है. किन्तु फल अवश्य मिल जाय ऐसी दास्य भक्ति नहीं होती. अतः श्रवण आदिसे यह मानना चाहिये कि जब भगवान्के चरणारविन्दके दर्शन कर लेता है तभी दास्य भक्ति करता है. अतः यहां चरणारविन्दका दर्शन रूप फल कहा. श्लोकस्थ 'ईहितम्'का अर्थ है चेष्टित. अर्थात् भगवान्के प्रयत्न मात्रसे होनेवाली चेष्टा. श्लोकमें आये हुए 'तव'का अर्थ है अवतीर्ण हुए आपका जो श्रवण गान आदि करते हैं वे ही आपके चरणारविन्दको देखते हैं. जैसे जगत्में सभी पदार्थ उस उस स्थानपर मिलते हैं इसी प्रकार संत(साधु पुरुष) और भगवत्कथा गंगाकी तरह देश विशेषमें मिलती है. तो 'गंगायां स्नायात्' गंगामें स्नान करे इसका अभिप्राय यह नहीं है कि गंगा स्वयं अपने पास आवे तब स्नान करें. किन्तु स्वयं प्रयत्न कर वहां जावें और बडे प्रयत्नसे उसमें प्रविष्ट होकर स्नान करें. ऐसे ही यहां यह नहीं होना चाहिये कि वक्ता मिले तब सुनें नहीं तो नहीं सुनें. श्रोताको स्वयं सत्पुरुषोंके स्थानमें जाना चाहिये और जैसे वे कहें वैसा उपाय कर मन सम्बद्ध इन्द्रियोंसे उन कथा आदिका भली प्रकार शक्ति तात्पर्य निर्णय करे. वाक्योंके शक्ति तात्पर्यके निर्णयके होनेपर सुनी हुई लीलाओंका आनन्द हृदयमें आविर्भूत होता है. तदनन्तर रस (आनन्द)के साथ गाने लगते हैं. उन लीलाओंके आनन्दसे परवश हुए किन्हीं दूसरे श्रोतोओंको आगे कर उन कथा आदिका उपदेश देते हैं वे ही भगवच्चरणारविन्दको देखते हैं. इन श्रवण आदिके हेतु-हेतुमद्-भावको आगे

कहेंगे. अर्थात् श्रवण होगा तब गान करेगा और गान होगा तब उपदेश होगा यह आगे कहेंगे. सब पदार्थोंको भगवत्सम्बन्धी रूपमें सुननेसे जिस किसी पदार्थोंको देखकर भगवान्के चेष्टितका ही स्मरण करते हैं. तदनन्तर स्वतन्त्र फल रूप होनेसे तथा आनन्दका कारण होनेसे स्वतः एवं भीतर आनन्द युक्त होते हैं. इस प्रकार स्मरण आनन्दरूप जो अवान्तर फल है उनके सहित श्रवण, कीर्तन और गान आदिका निरूपण किया. श्रवणादिसे बडा फल मिलता है इसका निरूपण करनेकेलिए स्मरण एवं आनन्दरूप अवान्तर फलवालोंको ही बडा फल मिलता है यह कहती है. 'त एव पश्यन्ति' वे ही भगवच्चरणारविन्दके दर्शन करते हैं. श्लोकस्थ 'अचिरेण' पदसे उस महाफलका सम्बन्ध नहीं होता यह बात नहीं है किन्तु महाफल मिलता ही है. इसमें काल कारण नहीं है. इसलिए काल विलम्ब भी बाधक नहीं है. इस बातको भी 'अचिरेण' यह पद सूचित करता है. जैसे कोई समुद्रमें डूबता हुआ तीरको देखे इसी प्रकार जन्म प्रवाहका जहां उपरम (विश्रान्ति) होती है ऐसे तीर रूप भगवच्चरणारविन्द देखता है तात्पर्य यह है कि समुद्रमें डूबते हुएको जब तीर दीख जाता है तब उसे जैसे शांति होती है उसी प्रकार भगवच्चरणारविन्दको देखनेसे भव प्रवाहका उपरम होनेसे शान्ति मिलती है ।।३५।।

आभासार्थः इस प्रकार भगवच्चरणारविन्दको देखता है इस फलका निरूपण कर 'अप्यद्य' आदि चार श्लोकोंसे दीनताका निरूपण करती है :

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात् परायणं राजसु योजितांहसाम् ।।३६।।

श्लोकार्थः हे भक्तोंके कार्य करनेवाले भगवन्! क्या आप हमें आज ही छोडना चाहते हैं? हे सर्वसमर्थ ! आप समर्थ होनेसे छोडे बिना भी कार्य कर सकते हैं. हम जो शुद्ध हृदय और दास हो गए हैं और हमने राजाओंका अपराध भी किया है इसकेलिए आपके चरणारविन्दके सिवाय हमारा कोई आश्रय नहीं है।।३६।।

सुबोधिनीः सख्य भक्ति होनेपर समानता होनेके कारण दीनता नहीं रहती. दीनता अन्तःकरणका धर्म है. वह धर्म जब प्रकट होता है तब वह दीन कहलाता है. वह दीनता रूप धर्म आपके पास रहनेपर और दुःखोंके नहीं होनेपर स्फुरित नहीं हुआ. इस समय पुनः दुःखोंके प्राप्त होनेपर और आपके पधारनेकी

भावना करनेपर वह दैत्य धर्म स्फुरित हुआ. इसलिए हम दोनोंको आप न छोडें यह प्रार्थना है. अन्य समयमें आप कुछ कार्यको शेष रखकर जाते थे और इस समय कार्यको सम्पूर्ण करके जा रहे हैं इसलिए पुनः नहीं पधारेंगे. अतः प्रायः हमें छोडकर जा रहे हैं. श्लोकमें 'स्वकृतेहित' यह भगवान्का सम्बोधन है. इसका अर्थ यह है कि अपने भक्तोंके ही कार्य करनेकेलिए जिसकी चेष्टा है अर्थात् कुन्ती कहती है कि आप भक्तोंके कार्य करनेवाले हैं. आपके नहीं छोडनेपर ही हमारा कार्य होता है. इसलिए आपकी भी चेष्टा इसी प्रकार होनी चाहिये. श्लोकस्थ 'अपि'का अर्थ है सम्भावना. क्या मैं ऐसी सम्भावना करूं कि आप हमें छोडना चाहते हैं. 'अद्य'का अर्थ है क्या हमको छोडनेका दिन आज है. श्लोकस्थ 'नः'का अर्थ है हमें जब 'त्वम्'का अन्वय 'जिहाससि'में होता है तो क्या हमें तुम छोडकर जाना चाहते हो. अथवा 'नस्त्वम्'का साथमें अन्वय रखते हैं तो आप हमारे हो तो क्या हमें छोडना चाहते हो? यह अर्थ होता है. आप कहें कि किसी कामकेलिए परित्याग तो सर्वथा होगा ही तो अभी परित्याग क्यों न किया जाय? इसपर कुन्ती कहती है कि बिना परित्यागके भी तो आप सब कुछ कार्य कर सकते हैं. इसी बातको 'प्रभो' यह सम्बोधन कहता है. श्लोकमें 'स्वित्'का अर्थ है क्या. श्लोकस्थ 'सुहृदः'का विग्रह यह है कि 'सुष्ठु हृदयानि येषां ते सुहृदः तान् सुहृदः' उक्त विग्रहसे 'सुहृद'का अर्थ है शुद्ध हृदय अर्थात् इतने समय बीतनेपर अब हम शुद्ध हृदय बने हैं. शुद्ध हृदयोंका परितः ग्रहण किया जाता है और स्वीकार किया जाता है तो ऐसी स्थितिमें हमारा त्याग क्यों कर रहे हैं. श्लोकस्थ 'अनुजीविनः'का अर्थ है दास. 'अनुजीवी' शब्दका तात्पर्य यह है कि जो अनुजीवी होते हैं उनका जीवन स्वामीके पीछे ही रहता है. अर्थात् स्वामीके रहनेपर ही उनका जीवन रहता है और स्वामीके नहीं रहनेपर उनका जीवन नहीं रहता. ऐसी स्थितिमें आपके दूर पधार जानेपर हमारा जीवन ही नहीं रहेगा. क्योंकि हम आपके अनुजीवी हैं. आपके चरणारविन्दके अतिरिक्त हमारा कोई आश्रय नहीं है. इसमें कारण यह है कि सब राजाओंका हमने अपराध किया है इसलिए इस समय वे सब विरोधी हो गये हैं. अतः आपसे अरक्षित हम जीवित नहीं रह सकते ।।३६।।

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणाम् इवेशितुः।।३७।।

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर!।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः।।३८।।

श्लोकार्थः हे भगवन्! आपके दर्शनके बिना यादवों सहित पाण्डवोंका महत्व न रहनेसे उनकी कोई ख्याति नहीं रहती. जैसे प्राणोंके नहीं रहनेपर इन्द्रियोंकी कोई सत्ता नहीं रहती वैसे ही आपके दर्शनोंके बिना हमारी कोई सत्ता नहीं है।।३७।।

श्लोकार्थः हे गदाधर! जिस प्रकार वज्रादि चिन्होंसे चिन्हित आपके चरणारविन्दसे अङ्कित यह पृथ्वी इस समय जैसी शोभित हो रही है वैसी आपके पधारने पर शोभित नहीं होगी ।।३८।।

सुबोधिनीः आप यह विचार न रखें कि हम स्वभावतः महान् हैं. जिससे हम स्वतः अपनी रक्षा कर सकें. हम आपके दर्शन कर रहे हैं इसलिए महान् हैं. अन्यथा यादव और पाण्डव जो नाम तथा रूपसे प्रसिद्ध हैं वे आपके दर्शनोंके बिना कुछ भी नहीं हैं. अर्थात् आपके दर्शन नहीं होनेपर हमारे नाम और रूप दोनों नहीं रहेंगे. यादवोंका यदुत्व और हमारा पाण्डवत्व भी चला जायेगा. उसमें हेतुभूत दृष्टान्त कहते हैं कि 'हृषीकाणामिवेशितुः' इन्द्रियोंके स्वामी प्राणोंके नहीं दीखने (नहीं रहने)पर किसी भी इन्द्रियकी सत्ता नहीं रहती. एक एक इन्द्रियके नहीं रहनेपर अन्ध और बधिरकी तरह जीवित रहते हैं. प्राणोंके चले जानेपर तो सब कुछ चला जाता है. अर्थात् जीवन भी नहीं रहता. एक बात यह भी है कि आपके परित्यागके अनन्तर यह देश भी सुखद नहीं होगा. यह पृथ्वी जैसे इस समय आपके चरणारविन्दोंसे अति शोभायुक्त प्रतीत हो रही है. पीछे आपके परित्याग करनेपर यह शोभित नहीं होगी. आपके असाधारण चिन्ह जो ध्वजा आदि हैं उनसे मालूम पडनेवाले जो आपके चरणारविन्द उनसे अति शोभित यह पृथ्वी आपके सम्बन्धसे शोभायुक्त है. अर्थात् आपके सम्बन्धसे ही सब शोभा है. कुन्तीने जो 'गदाधर' सम्बोधन दिया है उसका अभिप्राय यह है कि हे भगवन्! आपके चरणारविन्दका स्पर्श जब भूमिको होता है तो उसमें आपके पति होनेके कारण पृथ्वीमें सात्विक भावका उदय होनेसे स्वेद (पसीना) होता है जिससे कीचड हो जाता है. कीचडवाले प्रदेशमें सभी लोग किसी लकडी आदि सहारेको लेकर ही चलते हैं. आपके चरणारविन्दके सम्बन्धसे पृथ्वीमें कीचड हो गया है इसलिए आपको गदाका सहारा आवश्यक है यह बात मैं अलौकिक देख रही हूं. अर्थात्

आपके चरणारविन्दका जहां जहां स्पर्श हो रहा है वहां वहां कीचड हो रहा है और उसमें चलनेकेलिए आपने गदा धारणकी है ।।३७-३८।।

आभासार्थ: और एक बात यह भी है कि शत्रुओंको जीतनेसे प्राप्त हुए सभी देश हमें सुखकर नहीं होंगे. क्योंकि आपके नहीं बिराजनेपर सस्य (धान्य) आदि उत्पन्न नहीं होंगे. इस समय सस्यादि सम्पत्ति आपकी दृष्टि पडनेसे है इसी बातको कहती है :

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः।।३९।।

श्लोकार्थ: आपके देखनेसे अच्छे पके हुए चावल आदि तथा द्राक्षादि युक्त ये देश सुसमृद्ध हैं और वन, पर्वत, नदियां तथा समुद्र बढ रहे हैं।।३९।।

सुबोधिनी: आपके सम्बन्धसे देश अच्छे समृद्ध हैं. चावल आदि औषधियां तथा द्राक्षा आदि अच्छे पके हुए हैं. वन, पर्वत, नदियां तथा समुद्र आपकी दृष्टि पडनेसे बढ रहे हैं इसलिए आपके परित्याग करनेपर ऊपर कही हुई ये बातें नहीं रहेंगी ।।३९।।

आभासार्थ: इस प्रकार बाहरी बातोंका चिन्तन करनेसे बहिर्मुख रूपसे दीनताका प्रतिपादनकर अन्तर्मुखसे भिन्न प्रक्रमसे 'अथ' इत्यादि दो श्लोकोंसे दो बातोंकी प्रार्थना करती है:

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्त्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशम् इमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ।।४०।।

श्लोकार्थ हे विश्वके स्वामी! हे विश्वरूप! विश्वके आधार! अपने आत्मीय पाण्डवोंमें तथा यादवोंमें जो मेरा दृढ स्नेह पाश है उसे काटिये।।४०।।

सुबोधिनी: आत्मनिवेदनमें कही जानेवाली दोनों ही बातें हेतु हैं. अतः दोनों ही सिद्ध करने योग्य हैं. इनमें एक भगवदतिरिक्तमें संग न होना. दूसरा भगवान्में प्रीति होना है. इनमें भगवान्से अतिरिक्तमें संग न होनेका विचार किया जाता है. यहां यह शंका होती है कि भगवान्से अतिरिक्त कोई है या नहीं. यदि भगवान्से अतिरिक्त कोई वस्तु हो तो भगवान् सर्वात्मा नहीं कहला सकते. यदि सब भगवद्रूप है तो कुन्ती किसके साथ संग न होनेकी प्रार्थना कर रही है. भगवद्रूप माननेपर तो किसीका संग दूषित नहीं है. यदि कहें कि यह जो भगवान्से अतिरिक्त रूपमें प्रतीत हो रहा है उससे संग नहीं चाहती. परन्तु यह कहना भी

युक्त प्रतीत नहीं होता. क्योंकि प्रतीत होनेवाला भगवद्रूप है या नहीं. यदि प्रतीत होनेवाला यह भगवद्रूप नहीं है तो भगवान् सर्वात्मा नहीं हो सकते. यदि प्रतीत भगवद्रूप है तो फिर उससे संग नहीं करनेकी प्रार्थना संगत नहीं हो सकती. इस प्रकार दोनों पक्षोंमें दोष आता है. इसपर दोषके निराकरणकेलिए यदि यह कहा जाय कि जो अन्यथा रूप (जगद्रूप)में प्रतीत हो रहा है उसके साथ संग न होना कुन्ती चाहती है तो ऐसी स्थितिमें भी पूर्ववत् विकल्पका सम्भव है. अर्थात् अन्यथा रूपमें प्रतीत होनेवाला विश्व भगवद्रूप है या नहीं. यदि भगवद्रूप है तो उसका असंग क्यों चाहा जा रहा है. यदि भगवद्रूप नहीं है तो भगवान् सर्वात्मा कैसे होंगे. ऐसा विकल्प इस पक्षमें भी सम्भव है ऐसी दशामें सबके भगवद्रूप होनेसे ज्ञानीकेलिए बताया गया असंग भी नहीं होगा. क्योंकि उसके सम्मुख भी सब भगवद्रूप रहेगा. तो शास्त्रोंमें ज्ञानीको वैराग्य युक्त होना चाहिये इस कथनका विरोध होगा. इसलिए कोई ऐसी बात कहनी चाहिये कि जिससे शास्त्रका अर्थ अर्थात् सब भगवद्रूप है यह कहना तथा इसका परित्याग करना ये दोनों संगत हो सकें. इसी बातकी सिद्धिकेलिए कहती है कि 'विश्वेश विश्वात्मन्' विश्व कार्य है स्वयं भगवान् सबके कारण हैं. अतएव वे इस विश्वके स्वामी हैं. स्वामी भगवान् अपनी क्रीडाकेलिए इस सब विश्वको उत्पन्न करते हैं. यह इस 'विश्वेश' पदसे बताया गया. जब भगवान्ने अपने लिए जगत्को उत्पन्न किया है तो मानव यदि उसमें अपनी अहंता ममता करता है अर्थात् अपना अधिकार स्थापित करता है तो भगवान्के साथ विरोध होनेसे जीवको बन्धन होगा क्योंकि भगवान्ने अपनी क्रीडाकेलिए इसका निर्माण किया है. जैसा कि 'क्रीडार्थम् आत्मनमिदम्' इससे कहा है. दूसरेकी वस्तुपर दूसरा यदि अधिकार स्थापित करता है तो विरोध होता ही है. अतः इन्द्र एवं इन्द्राणीके तथा लक्ष्मी एवं नारायणके रमणकेलिए जैसे आंखोंमें निद्रा उत्पन्नकी वैसे ही जीव अपना अधिकार न करें इसलिए भगवान्ने परित्याग (वैराग्य)को भी उत्पन्न किया है इसलिए कुन्ती कहती है कि मैं पाण्डवोंके स्नेहका परित्याग हो ऐसी प्रार्थना करती हूं. अब कुन्ती भगवान् सर्वरूप हैं 'विश्वात्मन्'से यह सिद्ध करती है. कहती है कि आप विश्वके स्वरूप हैं. जिस किसीका भगवद्रूपसे स्फुरण न हो उसीका परित्याग कर देना चाहिये. इस पर शंका होती है कि जब विश्व वस्तुतः भगवद्रूप है तो अन्यथा स्फुरणसे क्या हो सकता है. वह तो भगवद्रूप ही रहेगा. क्योंकि ''इदं सर्वं यदयम् आत्मा'' इस

श्रुतिसे सबको भगवद्रूप बताया है. इस शंकाका उत्तर देते हैं कि पुत्र आदि भगवान् हैं ऐसे कहनेमें पुत्र आदि उद्देश्य होते हैं और इनको भगवद्रूप कहना विधेय है. उद्देश्य तक ही अर्थात् पुत्र है ऐसी भावना रहनेपर उसका परित्याग कहा है. जितने भी साधन हैं वे ज्ञान तारतम्यकेलिए ही हैं. यदि कहें कि भगवान्का विश्वरूप होना औपचारिक (काल्पनिक) है. जैसे लोकमें कहा जाता है कि यह भद्रसेन व्यक्ति मेरी आत्मा है. अर्थात् भद्रसेनके पृथक् रहते हुए भी अति स्नेहसे अपना आत्मा कहा जाता है जैसे यह लाक्षणिक प्रयोग है. वैसे ही यह विश्व भगवान् है ऐसा प्रयोग लक्षणासे हो सकता है. इसका उत्तर देती है कि 'विश्वमूर्ते' 'विश्वमूर्ति' पदका तीन रूपमें विग्रह हो सकता है. 'विश्वं मूर्तौ यस्य' विश्व है स्वरूपमें जिसके. 'विश्वस्मिन् मूर्तिः यस्य' विश्वमें है स्वरूप जिसका. 'विश्वं मूर्तिः यस्य' विश्व है मूर्ति जिस की. इन तीनों विग्रहोंमें भगवान्का सर्वात्मत्व लाक्षणिक ही आरोपित नहीं है परन्तु मुझे आपके रूपमें (भगवद्रूपमें पुत्र आदिकी स्फूर्ति न होकर उद्देश्य रूपसे पुत्र आदिकी स्फूर्ति है इसलिए स्नेह पाशके छेदनकी प्रार्थना करती हूं. यदि आप कहें कि यदि तुझे इस प्रकारका परिज्ञान है तो स्वतः परित्याग क्यों नहीं कर देती. मुझसे प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है. इसपर कुन्ती कहती है कि आपकी मायाने पुत्रादिमें स्नेह उत्पन्न किया है वह मेरे सामर्थ्यसे नहीं मिट सकता अतः आपसे मिटानेकी प्रार्थना करती हूं. विश्व भगवद्रूप है ऐसा ज्ञान हो जानेपर शास्त्रसे विश्वको भगवद्रूप मानकर उससे स्नेह किया जाता है और पुत्रादि भावना होनेपर पूर्व शास्त्रोंसे विरुद्ध शास्त्र उनमें प्रेम नहीं रखना चाहिये यह कहते हैं. मायासे होनेवाला स्नेह भगवान्के अतिरिक्त किसीसे दूर नहीं हो सकता. मायाकृत दोष तो "**मामेव ये प्रपद्यन्ते**" इस वाक्यके अनुसार भगवच्छरण लेनेवालोंके ही दूर होते हैं. श्लोकमें 'छिन्धि' पद इस तात्पर्यसे दिया गया है कि मेरी स्नेह पाश उस रूपमें काट दीजिये जिससे पुनः वह जुडे नहीं. श्लोकमें स्नेह पाशका 'दृढम्' यह विशेषण दिया गया है. स्नेह पाशकी ग्रंथि इतनी दृढ है कि वह खुल नहीं सकती. इसलिए उससे छुटकारा पानेकी मैं आपसे प्रार्थना करती हूं ।।४०।।

आभासार्थः इस प्रकार उद्देश्य रूपमें माने गए पुत्रादिमें वैराग्य होना चाहिये ऐसा कहकर विधेय रूप भगवान्के साक्षात् अवतीर्ण होनेपर आत्म निवेदनका कारण जो स्नेह है उसकी प्रार्थना करती है :

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिम् उद्वहताद् अद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ।।४१।।

श्लोकार्थ: हे मधुपते! जैसे गंगा अपने प्रवाहका सम्बन्ध समुद्रमें अविच्छिन्न रूपसे कराती रहती है वैसे ही अन्य ओर न जानेवाली मेरी बुद्धि साक्षात् परमात्मा रूप आपसे अविच्छिन्न रूपसे प्रेम करती रहे।।४१।।

सुबोधिनी: यद्यपि आप भाईके पुत्र हैं तथा रक्षक होनेसे आपमें स्नेह तो है ही तो भी वह स्नेह देह सम्बन्धसे है इसलिए अन्यविषयक है. अर्थात् देह जीवात्मासे भिन्न है. जो देहके सम्बन्धी हैं वे आत्मसम्बन्धी नहीं हैं. भाई बहिनका नाता देहसे सम्बन्ध रखता है और रक्षक भी देहका ही होता है इसलिए भाईके पुत्र मानकर स्नेह करना अथवा रक्षक मानकर स्नेह करना देह विषयक होनेसे अन्य विषयक है. मैं आपको आत्मसम्बन्धी मानकर स्नेह करूं तो वह स्नेह अन्य विषयक न होगा. मैं यह मानूं कि यह परमात्मा आत्माका अधिष्ठात्री देवता है ऐसा मान कर मेरी बुद्धि आपसे परम स्नेह करे. अर्थात् मैं आपको परमात्मा समझकर भक्ति करूं. मेरी माहात्म्य ज्ञान पूर्वक भक्ति हो. गंगाका प्रवाह जैसे समुद्रमें मिलता रहता है उसी प्रकार मेरी बुद्धि आपसे सदा सम्बन्ध रखे. गगांजी अनेक प्रतिबन्ध आनेपर भी समुद्रमें मिले बिना नहीं रहती वैसे ही अनेक बाधायें आनेपर भी मेरी बुद्धि आपसे स्नेह विच्छेद न करे. जैसे गंगा और उसका प्रवाह एक है इसी तरह भगवान् और भगवान्का स्नेह अभिन्न है. यहां अभेद बतानेकेलिए गंगा और प्रवाहका दृष्टान्त रूपसे उल्लेख किया है. गंगाजीके प्रवाहका दूसरी नदियोंसे सम्बन्ध न होकर सीधा समुद्रसे ही सम्बन्ध होता है. वैसे ही मेरा सम्बन्ध परम्परया न होकर सीधा आपसे ही हो. इसलिए भी श्लोकमें गंगाका दृष्टान्त दिया गया है. श्लोकस्थ 'ओघ'का अर्थ है प्रवाह और 'उदन्वति'का अर्थ है समुद्रमें ।।४१।।

आभासार्थ: इस प्रकार नौ प्रकारसे भगवान्की स्तुति कर शास्त्रमें बताई गई नवविध भक्तिके अनन्तर स्नेह होनेपर और माहात्म्य ज्ञान होनेपर पुन: पुन: भगवान्का आविर्भाव होता है तो फिर वैसी स्थितिमें क्या करना चाहिए इस आकांक्षापर माहात्म्य स्मरण पूर्वक नमन करना चाहिए यह सिद्धान्त है. इसलिए भगवान्की स्तुति कर उपसंहारमें माहात्म्य स्मरणकेलिए अनेक प्रकारसे सम्बोधित करती हुई कुन्ती भगवान्को नमस्कार करती है :

श्रीकृष्ण कृष्ण–सख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्र् राजन्य–वंश–दहनानपवर्ग–वीर्य ।
गोविन्द गो–द्विज–सुरार्ति–हरावतार योगेश्वराखिल–गुरो भगवन् नमस्ते ।।४२।।

श्लोकार्थ: हे श्रीकृष्ण! अर्थात् सुन्दर सदानन्द रूप! हे अर्जुनके सखा! हे यादवोंमें श्रेष्ठ! हे पृथ्वीके द्वेषी राजाओंके वंशको दग्ध करनेकेलिए अग्नि रूप! हे अक्षय वीर्य! हे गाय आदि नि:साधनोंके स्वामी! हे गाय द्विज तथा देवताओंकी पीडाको मिटानेकेलिए अवतार लेनेवाले! हे योगके स्वामी! हे सम्पूर्णके गुरु! हे भगवन्! आपको नमस्कार हो।।४२।।

सुबोधिनी: श्लोकमें 'भगवन्' यह विशेष्य है और श्रीकृष्ण आदि नौ विशेषण हैं. श्रीकृष्ण विशेषणसे भगवान्का स्वरूप कहा. उपनिषद्में कहा है कि कृष्णमें जो 'कृष्' है वह सत् अर्थको बताता है और 'ण' आनन्द अर्थको बताता है. अर्थात् 'कृष्ण' शब्दका अर्थ है सदानन्द. वह सदानन्द कृष्ण साकार है इसलिए उसके सौन्दर्यको बतानेवाला 'श्री' शब्द उसके साथ लगाया गया है. श्लोकस्थ 'कृष्णसख' पदसे गुणोंका निर्देश किया गया है. 'कृष्णसख' शब्दमें जो 'कृष्ण' शब्द है उसका अर्थ अर्जुन है. उसके आप सखा (मित्र) हैं. सखा वही होता है जिसका समान स्वभाव एवं व्यसन हो. इसलिए आप दोनोंमें गाम्भीर्य आदि गुण हैं. कुन्ती लीलाका वर्णन करती है कि 'वृष्ण्यृषभ' यादव वंशमें आप श्रेष्ठ हैं इस सम्बोधनसे यह सूचित किया कि यादवोंमें श्रेष्ठ तभी कहलायेंगे जब उनमें आप प्रकट होंगे. बिना यादवोंमें पैदा हुए यादवोंमें श्रेष्ठ यह व्यवहार नहीं हो सकता है इसलिए यादवोंमें प्रकट होना आपकी कपटयुक्त मनुष्य लीला है. आप दुष्ट दुर्ज्ञेय हैं. यह 'अवनिध्रुग् राजन्यवंशदहम्'से कहती है. आप पृथ्वीसे द्रोह करनेवाले राजाओंके वंशको दग्ध (नष्ट) करनेवाले हैं. यदि उन राजाओंको भगवान्का ज्ञान होता तो उनकी यह दशा न होती. परन्तु वे दुष्ट थे. इसलिए भगवान्का वे ज्ञान न कर सके. भगवान्के असाधारण धर्मको 'अनपवर्गवीर्य'से कहती है. अर्थात् आपके पराक्रमकी समाप्ति नहीं है. आप अनन्तवीर्य हैं. अनन्तवीर्य होना ही पुरुषोत्तमका असाधारण लक्षण है. जन्मके कारणको 'गोविन्द' पदसे बताती है. अर्थात् आप गो के स्वामी हैं इसलिए उनके रक्षक हैं. इस 'गोविन्द' पदसे यह सूचित हुआ कि सन्तोंकी रक्षाकेलिए आपका अवतार है. अवतारका फल कहती है कि 'गोद्विजसुरार्त्तिहरावतारः' गाय, ब्राह्मण और देवता इनकी पीडा मिटानेकेलिए आपका अवतार है. इससे यह कहा गया कि जब जब भी धर्ममें

ग्लानि होती है तब उसकी निवृत्तिकेलिए आप अवतार लेते हैं. यज्ञरूप धर्ममें देवताके उद्देश्यसे मन्त्रोंके द्वारा हवि दी जाती है. धर्मरूप यज्ञमें ये तीन ही प्रधान हैं. तात्पर्य यह है कि श्लोकमें गाय ब्राह्मण और देवता इन तीनोंका निर्देश इसलिए किया है कि गायें हवि देती हैं. ब्राह्मण मन्त्र बोलते हैं और देवता आकर ग्रहण करते हैं. इस प्रकार इन तीनोंसे यज्ञ सम्पन्न होता है. यदि इन तीनोंकी रक्षा न हो तो यज्ञरूप धर्म नहीं हो सकता इसलिए इनकी रक्षाकेलिए अवतार लेते हैं. ये तीनों धर्मके मूल हैं. इसलिए इनसे अतिरिक्त फलोंका पृथक्से निरूपण नहीं किया गया है. आपमें दीनता है यह बात नहीं है क्योंकि आप योगेश्वर हैं. योगके द्वारा चित्तवृत्ति रोकनेपर उसमें प्रसन्नता नहीं होती. अतः अतिदीनता होती है. भगवान् योगके नियामक हैं इसलिए उन्हें योगसे चित्तवृत्तिका निरोध नहीं करना पडता है. इसलिए चित्त प्रसन्न रहनेसे दीनता नहीं रहती. यह यहां 'योगेश्वर' पदका अभिप्राय है. ऐसा प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी मानते हैं. भगवान् योगके द्वारा सब कार्य करें स्वतः न करें तो भगवान्की अति दीनता होगी. यह सुबोधिनीजीका भाव मालूम पडता है. कुन्ती अपने लिए प्रार्थना करती है कि 'हे अखिलगुरो!' आप सभीके गुरु हैं और गुरु प्रमाणसिद्ध वस्तु ही देता है. अतः मुझे भी प्रमाणसिद्ध वस्तु ही दें. पूर्वमें कहे गये धर्मोंसे युक्त लौकिक गुणोंवाला नहीं हो सकता. किन्तु वह भगवान् है इसलिए 'भगवन्!' सम्बोधन कहा. जीव नमस्कार ही कर सकता है. यह सत्पुरुषोंने शिक्षा दी है इसलिए मैं आपको नमस्कार करती हूं।।४२।।

सूतः उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया।।४३।।

श्लोकार्थः सूतजी कहते हैं कि कुन्तीके द्वारा इस प्रकार अव्यक्त मधुर शब्दोंसे सब ओरसे स्फुरित हुई है महिमा जिसकी ऐसे भगवान् मायासे मोहित करते हुए से मुस्कुराये।।४३।।

सुबोधिनीः सूतजी कहते हैं कि कुन्तीके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान्ने क्या किया यह कहते हैं. विषयोंका भोग करानेकेलिए ही भगवान्ने पाण्डवोंकेलिए इतना सब कुछ किया है. वैराग्य और भक्ति उत्पन्न हो इसकेलिए यह नहीं किया. वैराग्य और भक्तिकेलिए ही भगवान्को कुछ करना होता तो वनमें रहते हुए ही कर देते. भक्त जो कुछ मांगे परन्तु भगवान् तो प्रक्रांत अपना विचारित

ही फल देते हैं. भक्त वैराग्य, भक्ति भी चाहे किन्तु भगवान्‌की इच्छा विषय भोग देनेकी हो तो वे विषय भोग ही देते हैं. इसलिए यहां कुन्तीने भगवान्‌के अद्‌भुत कर्मोंका निरूपण किया है तो भगवान्‌ने उसे और कुछ न देकर मोह उत्पन्न किया. क्योंकि भगवान् अपना विचारित ही फल देते हैं. गद्‌गद् कण्ठसे उच्चारित अस्पष्ट और मधुर शब्दोंसे परितः स्फुरित हुए हैं सब[१]. गुणोंका उदय जिससे ऐसे भगवान् मन्द मन्द हंसे. गुणोंको परस्पर मिला देनेसे नौ भेद हो जाते हैं और नहीं मिलानेपर एक भेद रहता है ''एकधा दशधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्'' एक ही चन्द्रमा जल भेदसे नाना प्रतीत होता है इसी प्रकार भगवान् एवं भगवान्‌के गुण अनेक प्रकारके ज्ञात होते हैं. उक्त श्रुतिका अभिप्राय यह है कि एक ही भगवान् नाना बनता है. उसकी लीला भी ऐसी ही है. यद्यपि 'णु स्तुतौ' धातुके ह्रस्व उकारान्त होनेसे परिणूत यह नहीं बन सकता. परन्तु कवि कल्पद्रुममें इसे दीर्घान्त भी बताया है. वह स्वतः दीर्घ है. इसलिए इसे छान्दस दीर्घ नहीं मानना. भगवान् मुझे मोहित कर रहे हैं. ऐसा भी ज्ञान कुन्तीको नहीं हो इसकेलिए 'मन्दं जहास' कहा है. यद्यपि भगवान् वैकुण्ठ निवासी हैं तो भी सम्प्रति रक्षार्थ पृथ्वीपर पधारे हैं अथवा 'मोहयन्निव'का तात्पर्य यह है कि जय विजयकी कुछ भी इच्छा रही हो. परन्तु भगवान्‌ने तो उन्हें स्वविचारित ही फल दिया. अर्थात् भगवान्‌को उनका गिराना अभीष्ट था वही किया. इसी प्रकार यहां कुन्तीने भगवान्‌के अद्‌भुत कर्म निरूपण किये परन्तु उसे भगवान्‌ने ज्ञान न देकर मोह उत्पन्न किया. प्रभु अपने स्वरूपसे भक्तोंको कृतार्थ करते हैं और अपनी मायासे मोहित करते हैं ।।४३।।

(टिप्पणी१. प्रकाश भगवान्‌के गुण इतने ही हैं यह बात न होनेसे उनकी सम्पूर्ण गुणोंकी स्तुति कैसे कर सकती है तो ऐसी स्थितिमें 'अखिल' पद व्यर्थ होता है इसपर कहते हैं कि 'खिल' अर्थात् न्यून. अखिल अर्थात् अन्यून. तात्पर्य यह है कि भगवद्‌गुणोंमें स्वतः न्यूनता नहीं है. केवल उनके स्फुरण न होनेसे न्यूनताकी प्रतीति होती है और स्फुरण होनेपर न्यूनताकी प्रतीति नहीं होती. अभिप्राय यह है कि कुन्तीको जितने भगवान्‌के गुण स्फुरित हुए उन सबको उसने कहा. इसलिए कुन्तीकी बुद्धिसे अखिलत्व कहा गया.)

आभासार्थः भगवान्‌ने भीतर मोह पैदा कर आन्तर कार्य किया यह कहकर बाहरका कार्य क्या किया सो कहते हैं

तां बाढम् इत्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम्।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ।।४४।।

श्लोकार्थः कुन्तीने ''त्वयि मेऽनन्य विषया''से जो प्रार्थनाकी वह सिद्ध होगी. ऐसा भगवान्ने कहा और रथके स्थानसे पुनः हस्तिनापुरमें प्रवेश किया और कुन्ती सुभद्रा प्रमुख स्त्रियोंसे पूछकर द्वारकाकी ओर जानेवाले भगवान्को युधिष्ठिरने कुछ काल यहीं विराजिये ऐसा प्रेमपूर्वक कहकर जानेसे रोका।।४४।।

सुबोधिनीः श्लोकमें 'ताम्' पदसे कुन्ती अथवा उसकी प्रार्थना ली गई है. अर्थात् भगवान्ने कुन्तीसे कहा कि ठीक है. अथवा प्रार्थना ठीक है ऐसा कहा. जो तू करती है अथवा कहती है वह मुझे भी सम्मत है. मुझे अपूर्व कुछ नहीं करना है. इस प्रकार कहकर पहले जानेमें कुन्तीके रुकावट करनेसे भगवान्ने समझा कि शकुन ठीक नहीं है. अतः पुनः हस्तिनापुरमें प्रवेश किया. अब जब द्वारका जाने लगे तो वहांकी स्त्रियोंसे तथा औरोंसे अनुमति प्राप्त कर द्वारका पधारनेवाले भगवान्को भगवान्की इच्छासे लौकिक प्रेमके उद्गत होनेसे भगवान्के माहात्म्यको भूलकर सम्बन्धके स्नेहसे युधिष्ठिरने जानेसे रोका ।।४४।।

आभासार्थः यह भगवान्की अद्भुत लीला है कि जुआ आदि व्यसनसे मुक्त हुए युधिष्ठिरको शोकरूप बन्धन करा रहे हैं और बद्धका मोक्ष कर रहे हैं. मुक्त हुए युधिष्ठिरका सात श्लोकोंसे मोहका निरूपण कर रहे हैं. द्यूत (जुआ) मांस, मदिरा, वेश्या, पापसे कमाई हुई सम्पत्ति, चोरी, परस्त्री सेवन ये सात व्यसन हैं. इसलिए सात श्लोकोंसे युधिष्ठिरका मोह कहते हैं. जब ही उत्तम अथवा अधर्म कार्य अपने लिए करता है तभी उसे मोह होता है कृष्णकेलिए करनेपर ज्ञान होता है मोह नहीं होता. यह निश्चय है. युधिष्ठिरकेलिए कहा है कि ''**यक्ष्यमाणो अश्वमेधेन ज्ञाति द्रोह जिहासया**'' अर्थात् ज्ञाति द्रोह मिटानेकी इच्छासे वह अश्वमेघ यज्ञ करना चाहता था. यहां युधिष्ठिरका अपना प्रयोजन बताया गया है इसलिए उसे मोह हुआ.

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
प्रबोधितोऽपीतिहासैः नाबुध्यत शुचार्पितः ।।४५।।

श्लोकार्थः ईश्वरकी चेष्टा न जाननेवाले व्यास आदिने तथा अद्भुतकर्मा कृष्णने इतिहासके द्वारा युधिष्ठिरको समझाया तो भी वह नहीं समझा. प्रत्युत अधिक शोकग्रस्त हुआ।।४५।।

व्याख्यार्थः शंका करते हैं कि अधिकारीका मोह प्रमाणसे निवृत्त हो

सकता है. युधिष्ठिर अधिकारी है. यदि अधिकारी न होता तो आगे भी ज्ञान न होता. प्रमाण वेद है. वक्ता व्यास, नारद आदि हैं. उनके समझानेपर भी युधिष्ठिरको ज्ञान न हुआ. भगवान्‌की इच्छा थी कि भीष्मजीके मुखसे ही इसे समझाना है इसलिए व्यास नारदादिके समझाने पर भी वह न समझा. यदि कहें कि व्यास नारद आदि यह जानते थे कि भीष्मजीसे ही यह समझेगा ऐसी भगवदिच्छा है तो स्वयं उनने समझानेका प्रयत्न क्यों किया इस आशंकाका उत्तर देते हैं कि योगसे उत्पन्न होनेवाले धर्मसे अथवा ज्ञानशक्तिसे भगवदिच्छाका ज्ञान नहीं हो सकता. इसलिए व्यास नारद आदिको भगवदिच्छाका ज्ञान नहीं हुआ. भगवान्‌की इच्छाको जाननेकेलिए जब ही चित्त भगवत्परायण होता है तो लौकिक विषयोंका विस्मरण होनेसे कि विषयक भगवान्‌की इच्छा है यह जिज्ञासा नहीं रहती. अतः सर्वज्ञ ऋषि भी तथा सत्त्व गुणका व्यवधान रख भगवदवतार रूपमें आये. व्यास आदि भगवान्‌की इच्छाको नहीं जानते इसी बातको 'ईश्वरेहाज्ञैः'से कहा है अर्थात् वे भगवान्‌की चेष्टाको नहीं जानते. युधिष्ठिरको भगवान्‌ने समझाया. परन्तु वह न समझा. उसमें कारण यह है कि भगवान् अद्‌भुतकर्मा हैं. जैसे कौरव पाण्डवोंमें सन्धि करानेकेलिए गये और सर्वसमर्थ होनेसे उस कार्यको कर भी सकते थे परन्तु अद्‌भुतकर्मा होनेसे विग्रह करा करके आये. इसी प्रकार युधिष्ठिरको समझानेके वाक्य कह रहे हैं किन्तु मोह (अज्ञान) पैदा कर रहे हैं. इतिहासके द्वारा उसे समझाया भी तो भी न समझा. उनके वाक्यसे ज्ञान न हो यह बात नहीं थी क्योंकि उसे अच्छे रूपमें समझाया. उसका समझना तो दूर रहा. किन्तु जैसे जैसे उसे समझाया गया वैसे वैसे उसका शोक बढता गया. अर्थात् वह समझानेपर अधिक शोक मग्न हुआ ।।४५।।

आभासार्थः इसलिए शोक व्याप्त युधिष्ठिरके वाक्य कहते हैं:

आह राजा धर्मसुतः चिन्तयन् सुहृदां वधम्।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ।।४६।।

श्लोकार्थः हे ब्राह्मणों ! देहात्म बुद्धिसे धर्म पुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सम्बन्धियोंके वधका चिन्तन करता हुआ स्नेह और मोहसे अधीन होकर बोला।।४६।।

सुबोधिनीः 'राजा' पदका यहां तात्पर्य यह है कि राजा रजोगुण व्याप्त होता है. 'धर्मसुत'का अर्थ है प्रार्थनासे धर्मसे उत्पन्न हुए. लौकिक शोक रखना

बहिर्मुख धर्म है. उसे युधिष्ठिरने स्वीकार किया. अतएव अपने सम्बन्धियोंके वधका विचार करता हुआ पूर्वमें किये हुए कार्यका शोक करता है. उसकी अन्तःकरणकी समीचीनताको भी भगवान्ने अपहरण की. यही कहते हैं कि 'प्राकृतेन' अर्थात् देहमें आत्म बुद्धि करनेसे उसका अन्तःकरण ठीक नहीं रहा. 'विप्राः' यह सम्बोधन यह बताता है कि जैसे तुम विशेष रूपसे मनोरथ पूर्ति करते हो ऐसे ही भगवान् भी नहीं होनेके कार्य कर देते हैं. अतः भगवान् अद्भुतकर्मा हैं. ऐसी भावना करनी चाहिये. अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सूतजीने कहा कि हे शौनक आदि ऋषियों! तुम ब्राह्मण हो इसलिए भगवान् अद्भुतकर्मा हैं यह जानते हो अतः ऐसी भावना करनी चाहिये. युधिष्ठिरका मरे हुओंमें स्नेह है और जीवित रहे हुए व्यक्तियोंमें मोह है. यह 'स्नेहमोहवशं गतः'की व्याख्या है. तात्पर्य यह है कि स्नेह और मोहके परवश हुआ युधिष्ठिर इस प्रकार बोला ।।४६।।

आभासार्थः युधिष्ठिरकी विपरीत बुद्धि हुई इसे विस्तारसे कहते हैं:

अहो मे पश्यताज्ञानं हृत्प्ररूढं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ।।४७।।

श्लोकार्थः आश्चर्यकी बात है कि दुष्ट चित्तवाले मेरे हृदयमें अंकुरित हुए अज्ञानको देखो. मैंने पराये (कुत्ते, सियार आदिके) भक्ष्य इस देहकेलिए मेरी बहुत सी अक्षौहिणी सेनाएं मार दीं।।४७।।

सुबोधिनीः देहके उपभोगकेलिए बडा अन्याय करना अज्ञान है. जो मेरे हृदयमें उत्पन्न हुआ है. इसका प्रतीकार नहीं हो सकता. इसका कारण मेरी अन्तःकरणकी अशुद्धि है. युधिष्ठिर अपनेमें पैदा हुए अज्ञानको कहता है कि श्व (कुत्ते) शृगालसे खाने योग्य परकीय इस मेरे शरीरकेलिए मैंने अपनी अनेक अक्षौहिणी सेनाएं मार डालीं. यह युधिष्ठिरका अज्ञान है. वास्तवमें तो भगवान्ने पृथ्वी भार मिटानेकेलिए लीलासे ही उन्हें मार दिया है ।।४७।।

आभासार्थः इससे यह कहा कि यह लोक मेरा बिगड गया है और परलोक भी बिगड गया यही अब कहता है:

बालद्विजसुहृन्मित्र–पितृभ्रातृगुरुद्रुहः।
न मे स्याद् निरयान् मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः।।४८।।

श्लोकार्थः मैं बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, मित्र, पिता, भाई और गुरुओंसे द्रोह करनेवाला हूं. इसलिए लाखों करोडों वर्ष तक भी मेरा नरकसे

छुटकारा नहीं होगा।।४८।।

सुबोधिनी: बालक अभिमन्यु आदि, द्विज द्रोणाचार्य आदि. सम्बन्धी शल्य आदि मित्र कर्ण आदि, पितर भीष्म आदि, भाई दुर्योधन आदि, ये ही गुरुरूपमें समझने लायक थे. और भी अन्य बहुतसे थे जिनका मुझे सम्मान करना चाहिये था उन सबके साथ मैंने द्रोह किया. बताये गये इनमें यदि ज्ञानपूर्वक एकको भी मार डालें तो महापातक होता है और उसका प्रायश्चित्त नहीं है. मैंने तो इन्हें मारकर अनेक महापातक किये हैं इसलिए प्रायश्चित्तसे मेरी शुद्धि हो ही नहीं सकती. इसलिए प्रलय पर्यन्त मुझे नरकमें ही रहना पडेगा ।।४८।।

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुः धर्मयुद्धे वधो द्विषाम्।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः।।४९।।

श्लोकार्थ: प्रजा पालन करनेवाले राजाको धर्मयुद्धमें शत्रुओंको मारना पाप नहीं है यह नीति वचन मुझे नहीं समझा सकता।।४९।।

सुबोधिनी: शंका होती है कि जो लडनेवाले हैं इनके मारनेमें कोई दोष नहीं है तो कहते हैं कि ठीक है किन्तु 'श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्' प्रजाका पालन करना ही राजाओंकेलिए श्रेय रूप है इस कथनसे प्रजाकी रक्षाकेलिए कौरवोंका वध होता तो कोई दोष नहीं था. परन्तु प्रकृतमें तो दुर्योधन प्रजाका पालन कर रहा था. और मैंने अपने लोभके लिए ही उन सबको मारा अतः प्रजाके पालन करनेवाले राजाको धर्मयुद्धमें शत्रुओंको मारना पाप नहीं है. यह नीति वचन मुझे नहीं समझा सकता ।।४९।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि इस पापकी निवृत्तिकेलिए प्रायश्चित कर लिया जाय शोक करनेकी क्या आवश्यकता है इसके समाधानमें कहता है कि:

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः।
कर्मभिर्गृहमेधीयैः नाऽहं कल्पो व्यपोहितुम्।।५०।।

श्लोकार्थ: मेरे द्वार जिनके पति मारे गए वे स्त्रियां प्रतिदिन मर रही हैं. यह द्रोह जो हो रहा है वह गृहस्थाश्रमसे होनेवाले यज्ञादिसे नहीं मिटाया जा सकता।।५०।।

सुबोधिनी: रोगकी तरह पापका प्रतीकार किया जाता है. वह प्रतीकार नवीन उत्पन्न हुएका प्रथम करना चाहिये. तदनन्तर पुराने पापोंका प्रतीकार करना चाहिये. प्रतिदिन हजारों स्त्रियां मेरेसे मारे गये अपने पतियोंको लेकर शोक करती

हुई मर रही हैं. वह द्रोह यहां ही बडे रूपमें उपस्थित हो गया है. यदि कहें कि इस द्रोहका प्रायश्चित्त कर लिया जाय तो कहते हैं कि इसका प्रायश्चित्त सर्व परित्याग एवं शरीर परित्याग ही है. गृहस्थमें होनेवाले जिनमें प्राणियोंकी हिंसा होती है. ऐसे यज्ञ प्रायश्चित्त रूप नहीं हो सकते. अतः यज्ञादि द्वारा मैं इस पापसे मुक्त नहीं हो सकता. इसका प्रायश्चित्त तो उपर्युक्त ही है ।।५०।।

आभासार्थ: यद्यपि ऐसे दोषोंका वेदने प्रायश्चित बताया है परन्तु उसमें मेरा अधिकार नहीं है क्योंकि ठीक यज्ञके उपयोगी साधन नहीं है. साधनोंके ठीक न होनेपर अजीर्णमें भोजनकी तरह वह यज्ञ सर्वनाशक हो जाता है. इसलिए वैसे यज्ञसे मेरा निस्तार नहीं है. यह दृष्टान्त पूर्वक कहता है :

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुम् अर्हति ।।५१।।

श्लोकार्थ: जैसे कीचडसे गंदला जल साफ नहीं होता और मदिराका बिन्दु मदिरासे पवित्र नहीं हो सकता वैसे ही हिंसा प्रधान यज्ञोंसे एक भी प्राणीकी हत्याका मार्जन नहीं हो सकता।।५१।।

सुबोधिनी: कीचडके जलके धोनेकेलिए जैसे कीचडका लेप हो तो भीत आदि पर लेपनकी तरह अधिक मिट्टी बढानेवाला ही होगा. यह दृष्टान्त परलोक नाशक रूपमें नहीं दिया गया. इसलिए युधिष्ठिर परलोकको नाश करनेवाला दूसरा दृष्टान्त कहता है 'सुरया वा' जैसे मदिराके बिन्दुके स्पर्श होनेपर अधिक मदिरासे धोना परलोकका नाश करनेवाला है. इसी प्रकार एक भी स्त्री हत्या जिनमें पशु मारे जाते हैं ऐसे अनेक यज्ञोंसे दूर नहीं की जा सकती. वास्तवमें वेदके पूर्वकाण्डके विचार करनेवालोंने जो ज्ञान बताया है वह मोह करनेवाला ज्ञान है यह निरूपण किया गया है. इस प्रकार भगवान्का अद्भुत कर्मत्व सिद्ध हुआ. अर्थात् भगवान् जैसे जैसे उसे समझा रहे हैं वैसे वैसे उसका शोक बढ ही रहा है. प्रत्यक्षमें यह दीख रहा है कि समझा रहे हैं परन्तु उसका फल विपरीत ही हो रहा है. इसलिए भगवान् अद्भुतकर्मा हैं यह सिद्ध हुआ ।।५१।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके
वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके उत्तमाधिकार प्रकरणका
अष्टम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

अध्याय ९

भक्तराज भीष्म पितामहको दर्शन, उनकी स्तुति और मुक्ति

लोकप्रतीत्या कृष्णस्य यदा कार्यसमापनम् ।
तदा भागवतश्रोतुर्देहरक्षा निरूप्यते ।।का.१।।
ऐहिकामुष्मिकफले भक्तानां स्थानभार्ययोः।
सर्वेष्टापूरणं चैव भगवत्कार्यसंग्रहः ।।का.२।।
श्रीमद्भागवतश्रोतू रक्षापूर्वक्रियाखिला ।
निरूपिता ततो मध्ये भगवत्कार्यवर्णनम् ।।का.३।।

कारिकार्थ : अष्टम अध्यायसे लेकर एकादश अध्याय तक परीक्षित राजाकी रक्षा नहीं करनेमें तथा बारहवें अध्यायमें उस परीक्षित राजाकी रक्षाके निरूपण करनेमें हेतु कहते हैं. लोक प्रतीतिसे जब कृष्णका कार्य समाप्त हुआ अर्थात् भगवान्का कार्य तो नित्य है सदा होता रहता है किन्तु लोगोंको यह प्रतीति हुई कि भगवत्कार्य समाप्त हुआ. तब भागवत श्रोता परीक्षितकी देह रक्षाका निरूपण किया गया अर्थात् हस्तिनापुरमें भगवान्के सब कार्य समाप्त होनेपर बारहवें अध्यायमें परीक्षितकी देहरक्षाका निरूपण किया गया है. बीचमें भक्तोंको ऐहिक पारलौकिक फल दिया है और स्थान एव स्त्रियोंकी सम्पूर्ण इष्ट पूर्ति की. यह भगवान्ने जो कार्य किये उनका संग्रह है अष्टम अध्यायमें श्रीमद्भागवतके श्रोता परीक्षितकी रक्षाके पूर्वमें जो सम्पूर्ण क्रिया होनी चाहिए उसका निरूपण हुआ. बीचमें अर्थात् नवमसे लेकर एकादश अध्याय पर्यन्त भगवान्के कार्यका निरूपण है।।१– ३।।

आभासार्थ: इस प्रकार परीक्षितकी शरीर रक्षाके प्रसंगमें रक्षाका पूर्वकार्य परीक्षितको मायासे वेष्टित करना कहकर भगवान्के दूसरे कार्य यदि निरूपित न हों तो एकान्तत: उस परीक्षितकी रक्षा नहीं हो सकती इसलिए अष्टम अध्यायमें और द्वादश अध्यायके बीचके नवमसे एकादश तक तीन अध्याय हैं उनमें भगवान्के कार्यका निरूपण है भगवान्का कार्य चार प्रकारका है. सब भक्तोंको ऐहिक सम्पूर्ण फल देते हुए भक्ति देना और ऐहिक और पारलौकिक कार्योंका एक सबन्ध जोडनेकेलिए प्रथम युधिष्ठिरके निर्वेद (वैराग्य)का वर्णन अष्टम अध्यायमें हैं. नवम अध्ययमें भीष्म द्वारा ज्ञानका सन्देश देना तथा उससे भीष्मजीमें

परमभक्ति प्रादुर्भूत होनेसे मुक्ति देना भगवान्का द्वितीय कार्य है. सब भक्तोंके चित्तका समाधान कर अपने स्थान द्वारकामें पहुंचना यह भगवान्का तृतीय कार्य है. जो कि दशम अध्यायमें निरूपित है. द्वारका वासियोंको सब सुख देना भगवान्का चर्तुथ कार्य है यह एकादश अध्यायमें निरूपित है. भीष्मजीको मुक्ति देना ही उत्तम कार्य है और ऐहिक फल देना उसका पूर्वांगभूत है. ऐसा निश्चय कर रक्षा पूर्वक ऐहिक फल दान देना अष्टम अध्यायमें ही निरूपित हुआ है नवम अध्यायमें दूसरा कार्य जो युधिष्ठिरको भीष्मजीके द्वारा ज्ञान दिलाया और भीष्मजीको परमभक्ति देकर उन्हें मुक्ति देना इस कार्यका निरूपण किया जाता है.

नवमे स्वस्य भिन्नत्वं प्राप्तस्याभावसंशये ।
स्वच्छन्दमृत्योस्तच्छान्त्यै मुक्तिर्भीष्मस्य वर्ण्यते ।।का.।।
पुरस्कृतोऽघमुत्सृज्य जह्यादृदेहमितीरितः ।
राज्ञो मोहप्रसङ्गाय निवृत्तिश्चोपदेशतः ।।का.।।
भक्तोऽपि भगवद्द्रोहम् आचरन्नरकं व्रजेत् ।
इति दर्शयितुं भीष्मशरपञ्जरसंस्थितिः ।।का.।।
तस्याप्युद्धारकः कृष्णो निजदत्तधिया स्तुतः ।
इति स्तुतिस्तथाप्यस्य तादृग्रूपेण वर्ण्यते ।।का.।।

कारिकार्थ: शंका करते हैं कि ऐहिक पारलौकिक फलोंके एक सम्बन्धकेलिए पाण्डवोंकी मुक्तिका ही निरूपण करना चाहिए था सो न कर भीष्मजीकी मुक्तिके कहनेका कौनसा प्रसंग है इसपर कहते हैं कि ''नवमे स्वस्य भिन्नत्वम्'' अर्थात् उद्योग पर्वमें भगवान्के वाक्य हैं कि ''यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि'' मेरे भक्त जो पाण्डव हैं उनसे जो द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है इस वाक्यके अनुसार पाण्डवोंसे द्वेष करनेसे स्वकीयसे भिन्न हुए अर्थात् अभगवदीय हुए भीष्मको मुक्ति न होगी यह भगवान्को संशय था. उस संशयको मिटानेकेलिए अपने अधीन मृत्युवाले भीष्मजीकी मुक्तिका वर्णन किया जाता है. कारिका गत 'स्व'शब्दसे स्वकीय अर्थ लिया गया है. अतएव उपर्युक्त अर्थ हुआ. भीष्मजीके पास भगवान् इसलिए गये कि भीष्मजीके भक्त द्रोह रूप पाप तथा भगवदपराध दूर हो जाय इसलिए भगवान् उनके पास पधारे. राजा युधिष्ठिरका जो मोह हो गया है उसकी निवृत्ति भीष्मजीके उपदेशसे करनी है. यदि युधिष्ठिरका क्लेश नहीं मिटाते हैं तो यह क्लेश मरण पर्यन्त रहेगा जिससे राजाकी भी ''अन्ते मतिः सा गतिः''

इस न्यायसे उसकी भी मुक्ति नहीं होती. इसलिए भी भीष्मजीके पास जाना आवश्यक था.

भक्त भी भगवद्द्रोह करता है तो नरकगामी होता है इसी बातको बतानेकेलिए भीष्मजीका बाण–शय्यापर मरण कहा गया. तात्पर्य यह है कि पृथ्वीपर मरने पर मुक्ति होती है और भूमिका स्पर्श नहीं करते हुए मरनेपर मुक्ति नहीं होती. इसलिए भगवान्से दी गई बुद्धिसे स्तुत हुए श्रीकृष्ण भीष्मके भी उद्धारक बने. अतएव श्रीकृष्ण मुझ जैसे आततायीके भी उद्धारक हैं इस रूपमें भीष्मजीने भगवान्की स्तुति की है.

आभासार्थः अब संगति कहते हैं :

सूतः उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात् सर्वधर्मविवित्सया ।

ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ।।१।।

श्लोकार्थः सूतजी बोले इस प्रकार प्रजाद्रोहसे डरे हुए युधिष्ठिर भीष्मजीसे सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेकी इच्छासे कुरुक्षेत्रमें गए. जहां बाण– शय्यापर भीष्मजी पडे हुए थे।।१।।

सुबोधिनीः सूतजी कहते हैं कि प्रजाद्रोह होनेपर भी वास्तवमें वह प्रजाद्रोह हमसे हुआ या नहीं और वह प्रजाद्रोह अधर्मजनक है या नहीं इस सन्देहसे प्रजाद्रोह भयका कारण है ऐसा युधिष्ठिर मानता है. अतएव सब कुछ जान लेनेपर ही सब सन्देहकी निवृत्ति होती है. इससे सम्पूर्ण तत्त्वोंके ज्ञानकेलिए सर्व धर्मोंके जाननेकी इच्छासे हस्तिनापुरसे युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र गया. जहां देवव्रत (भीष्मजी) बाणशय्या पर पडे हुए थे. भीष्मजी देवव्रत इसलिए थे कि भगवान्की ब्रह्मचर्यादिके पालनकी जैसे प्रतिज्ञा है, भीष्मजीकी भी वैसी ही प्रतिज्ञा थी. क्योंकि वे देव (भगवान्)की तरह व्रत (नियम)वाले थे. ऐसे वे इस स्थितिमें कभी नहीं गिर सकते. किन्तु भगवान् अद्भुत चरित्र हैं इसलिए भीष्मजी गिर गये ।।१।।

आभासार्थः तब भीष्मजीके पुरस्कारकेलिए सब गए यह कहते हैं :

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।

अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ।।२।।

श्लोकार्थः हे विप्रो! उस समय युधिष्ठिरके सब भाई अच्छे घोडोंसे युक्त स्वर्ण जटित रथोंमें बैठकर चले तथा व्यास– धौम्य आदि ब्राह्मण भी उनके

साथ होलिये।।२।।

सुबोधिनी: युधिष्ठिरके जो भाई थे. जिनने यह समझ रखा था कि हमने प्रजाद्रोह आदि पाप किये हैं. वे सब और दूसरे भी सभी तथा ब्राह्मण भी गये ब्राह्मणोंमें वेदव्यास और पाण्डवोंके बनाये हुए पुरोहित धौम्य आदि मुख्य थे ।।२।।

आभासार्थ: भगवान्को भी भीष्मजीको मुक्ति देनेकेलिए वहां जाना आवश्यक था तो भी युधिष्ठिरको भी प्रिय लगे इसलिए उसके साथ ही गए यह कहते हैं:

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः।।३।।

श्लोकार्थ: हे विप्रर्षे ! अर्जुनके सहित भगवान् भी एक रथपर चढकर चले. उन सबसे परिवेष्टित युधिष्ठिर ऐसे शोभित हुए जैसे यक्षोंसे युक्त कुबेर।।३।।

सुबोधिनी: सूतजीने शौनककेलिए 'विप्रर्षे' सम्बोधन देकर यह बताया कि तुम ब्राह्मणोंमें ऋषि हो अतः तुम मेरी अपेक्षा महान् हो परन्तु महान् होते हुए भी आपने जैसे मेरा अनुसरण कर रहे हो उसी तरह भगवान्ने युधिष्ठिरका अनुवर्तन किया यह उनकी लीला थी. लीलामें सब कुछ हो सकता है इसलिए भगवान्के बडे होनेपर भी युधिष्ठिरका अनुसरण करना दोषावह नहीं है. गरुडके चिह्नवाली जिसकी ध्वजा है. ऐसे रथपर बैठकर उस समय सारथिका कार्य करनेवाले अर्जुनके साथ युधिष्ठिर पीछे गये. यह बात 'रथेन सधनञ्जयः' पदोंसे ज्ञात होती है क्योंकि 'सधनञ्जयः'की व्युत्पत्ति यह है कि 'धनञ्जयेन सहितः स धनञ्जयः' 'धनञ्जयेन' यह तृतीया अप्रधानमें है. अर्जुन अप्रधान तभी कहा जायेगा कि जब वह सारथिका काम करे. रथी प्रधान होता है और सारथि गौण होता है. युधिष्ठिर भाई आदिके साथ गया तो भी उसे बाहरी सुख है आन्तर सुख नहीं है. बाहरी सुखको लेकर ही राजा होनेसे उनके साथ वह शोभित हुआ यह कहा गया है. वास्तवमें भीतर सुखी नहीं था यह दृष्टान्त सहित कहते हैं. जैसे गुह्यकोंके साथ कुबेर शोभित होता है. 'कुबेर' शब्दकी व्युत्पत्ति यह है कि 'कुत्सितं वेरं यस्य सः कुबेरः'. वेरका अर्थ है चक्षु अर्थात् ज्ञानचक्षु जिसके ठीक नहीं है. कुबेरके बाहर तो बहुत प्रकाश है अर्थात् बाह्य शोभा अधिक है भीतर

अन्धेके समान है वैसे ही युधिष्ठिर भी बाह्य शोभावाला है और भीतर शोकग्रस्त है ।।३।।

आभासार्थः इस प्रकार सबके साथ युधिष्ठिरका जाना बताकर बिना बातचीतके ही दर्शन मात्रसे ही पाण्डवोंने भीष्मजीको नमस्कार किया यही बात कहते हैं :

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतम् इवामरम् ।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा।।४।।

श्लोकार्थः पाण्डवोंने स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान पृथ्वीपर पडे हुए भीष्मजीको देखकर अपने अनुगामियों और कृष्णके सहित उन्हें प्रणाम किया।।४।।

सुबोधिनीः पृथ्वीपर गिरे हुए भीष्मजीकी बडी कान्ति है यह दृष्टान्त सहित कहते हैं. जैसे स्वर्गसे गिरे हुए देवताकी महती कान्ति रहती है वैसे ही भीष्मजीकी कान्ति थी. देवताको भूमिका स्पर्श करना ही युक्त नहीं है. क्योंकि देवता पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते तो उसका गिरना कैसे हो सकता है. वैसे ही भीष्मजीका पराजित करना ही अशक्य है तो फिर उनकी यह स्थिति कैसे हो सकती है. स्वर्गसे गिरा हुआ भी देवता मनुष्योंकेलिए नमस्करणीय होता है वैसे ही भीष्मजी भी भगवान्से विरोध करनेपर भी नमस्करणीय हुए. जैसे देवता अपने पदसे च्युत होनेपर भी दूसरोंसे सेव्य होता है क्योंकि उसमें देवता जैसी बुद्धि आदि विद्यमान होती है. वैसे ही देहकी स्थिति बिगडनेपर भी ज्ञानपूर्ण होनेके कारण भीष्मजी नमस्करणीय हैं. पाण्डव भीष्मजीके भाईके पौत्र हैं इसलिए वे भीष्मजीको नमस्कार कर सकते हैं. भीष्मजीसे उपदिष्ट होनेवाला धर्म सबको समझनेमें आवे इसकेलिये आये हुए सभीने भीष्मजीको प्रणाम किया. यही बात 'सानुगाः' पदसे कही है. भगवान् सहित सबने आकर भीष्मजीको प्रणाम किया. वह प्रणाम 'भक्त प्रणम्य होता है'. इस प्रकारकी लोगोंको शिक्षा देनेकेलिए किया है. यदि भक्त न हो, द्रोह करनेवाला हो तो वह नमन करने योग्य नहीं होता. भक्त कैसा भी हो नमन योग्य होता है यहां व्याख्यानमें दी गई कारिकामें जो 'लोकात्' यह पञ्चमी है. वह ल्यप् लोपमें है अर्थात् लोकात्का अर्थ है लोकका आश्रय करके. तात्पर्य यह है कि लोग भी भक्तको प्रणाम करें इस लोक संग्रहकेलिए भगवान्ने भीष्मको प्रणाम किया. श्लोकमें 'चक्रिणः' पद है यह इस बातको सूचित करता है कि चक्र

लेकर आये हैं इसलिए भगवान् अवश्य मारेंगे यही भगवान्की अद्भुतकर्मता है कि प्रणाम भी करते हैं और भीष्मजीको मारना भी चाहते हैं ।।४।।

आभासार्थः सर्वज्ञ ऋषियोंने सोचा कि भीष्मजी गूढ तत्त्व कहेंगे अतः वे आये यही कहते हैं:

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तमाः।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम्।।५।।

श्लोकार्थः उस समय वहां सभी ब्रह्मर्षि एवं अत्यन्त श्रेष्ठ देवर्षि और राजर्षि भरतवंशमें श्रेष्ठ भीष्मजीको देखनेके लिये आए।।५।।

सुबोधिनीः ब्रह्मर्षि भृगु आदि हैं. देवर्षि नारद आदि हैं और राजर्षि मनु आदि हैं. वे तीन प्रकारके धर्म एवं तीन प्रकारके मन्त्रोंके दृष्टा हैं. क्योंकि वे ऋषि हैं. देह इन्द्रियादिकोंके सर्वथा स्वस्थ होनेपर शुद्ध धर्म आदिकी स्फूर्ति होती है. अन्यथा नहीं. ऐसा धर्मतत्त्व है यह जानकर भीष्मजीके देहेन्द्रियादि स्वस्थ प्रतीत नहीं होते हैं तो उनमें धर्मकी स्थिति है या नहीं यह जाननेकेलिए ऋषिगण आये. ''दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्'' अर्थात् दुष्यन्तके पुत्र भरतने मायाका अतिक्रमण किया तो भीष्मजी भी उसी वंशमें हैं. इसलिए माया सम्बन्धका गन्ध न होनेसे देहको लेते हुए किसी धर्मको नहीं कहेंगे अर्थात् आत्म धर्म कह सकते हैं. दैहिक धर्म नहीं कहेंगे. क्योंकि भरतवंशमें ये श्रेष्ठ हैं. ऋषियोंको भीष्मजीमें इसलिए सन्देह हुआ कि मृत्युके समयमें भगवान्में उनने मन लगाया इसलिए स्वार्थी हैं. यदि माया सम्बन्ध नहीं होता तो स्वार्थ भावना नहीं होती. स्वार्थ भावना उनमें देखी गई. इसलिए सन्देह हुआ. अतएव ऋषियोंके मतोंमें दैहिक धर्मकी मुख्यता बतानेवाली युक्ति आदि भीष्मजीमें रहेगी यह उन्होंने समझा ।।५।।

आभासार्थः नीचे गिनाये जानेवाले ऋषियोंका जो भेद है वह राजस तामस एवं सात्त्विकतासे है. उन भेदोंको तीन श्लोकोंसे गिनाते हैं. निम्न श्लोकोंमें सात्त्विक ऋषियोंको प्रथम कहा. तदनन्तर राजसोंको कहा. दोषोंके नहीं रहनेसे राजाओंके समान माने गये तामसोंका पश्चात् निरूपण है.

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ।।६।।
वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः।।७।।

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः।।८।।

श्लोकार्थः पर्वत मुनि, नारदजी, महर्षि धौम्य, भगवान् व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, शिष्योंके सहित परशुराम, वसिष्ठ, इन्द्र, प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी शुकदेव आदि शुद्ध चित्त महात्मा गण एवं शिष्योंके सहित कश्यप, बृहस्पति आदि मुनिगण वहां आये।।६ – ८।।

सुबोधिनी: व्यास केवल देवर्षि नहीं हैं किन्तु भगवान् भी हैं इसलिए व्यासकेलिए 'भगवान्' यह विशेषण दिया. श्लोकमें 'रेणुकासुतः'का अर्थ रेणुकाके पुत्र परशुराम हैं. परशुरामजी शिष्यों सहित आये. पर्वत, नारद, धौम्य, वेदव्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम ये सात सात्त्विक देवर्षि हैं. वसिष्ठ, इन्द्र प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन ये दस राजस हैं और ब्रह्मर्षि हैं. वास्तवमें राजस ब्रह्मर्षि नौ ही हैं. क्योंकि सुदर्शनके पहले 'अथ' यह पद आया है. वह भिन्न क्रमको बताता है. अर्थात् इन नौ ऋषियोंमें सुदर्शन नहीं है. श्लोकमें आये 'अन्य' पदसे राजर्षिलिये गये और ऊपर गिनाये गये ब्रह्मर्षियोंके अलावा जितने भी ब्राह्मण आये उन्हें भीलिये गये हैं जिनका समावेश ब्रह्मर्षिमें किया गया है. श्लोकमें आये हुए 'ब्रह्मरात' पदका अर्थ शुकदेवजी हैं. उनमें तामस आदि दोष नहीं हैं. क्योंकि वे अमल हैं. अर्थात् दोषरहित हैं. इनमें बाहर ही तामसत्व भासित होता है. भीतर तो निर्गुण हैं. इनमें शुकदेव आदि श्रेष्ठ हैं. कश्यप आदि मध्यम हैं. श्लोकस्थ 'आङ्गिरस' पदका अर्थ बृहस्पति है. अर्थात् शुकदेव, कश्यप, बृहस्पति आदि भी वहां आये।।६–८।।

आभासार्थः यहां उत्तमाधिकारक धर्मका निर्णय करना है इसलिए सात्त्विक, राजस, तामस बताये. अर्थात् सबका ज्ञान समान नहीं है. किन्तु ज्ञानमें तारतम्य है. क्योंकि कई सात्त्विक हैं, कई राजस एवं कई तामस हैं. इस प्रकार पाण्डव भगवान् और ऋषि लोग ये तीनों आए. ऋषियोंकेलिए भीष्मजीने जो कुछ किया उसे कहते हैं :

तान् समेतान् महाभाग उपलभ्य वसूत्तमः।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित्।।९।।

श्लोकार्थः धर्मज्ञ देशकालके विभागको जाननेवाले वसुश्रेष्ठ (वसु

देवताओंमें श्रेष्ठ) महाभाग भीष्मने उन आये हुए मुनीश्वरों और राजाओंको देखकर मन वाणीसे यथा योग्य सत्कार किया।।९।।

सुबोधिनी: बडा है भाग जिसका. भागका अर्थ है धर्म ज्ञानादि समूह. अर्थात् भीष्मजी धर्म ज्ञानादि समूह युक्त थे. श्लोकस्थ 'वसूत्तमः'का अर्थ है भीष्म. क्योंकि वे वसु देवताओंमें उत्तम हैं. पृथ्वीपर वसु मुक्त किये जाते हैं. दूसरे अन्यत्र उनके घरमें मुक्त किये जाते हैं. भीष्मजी पुष्टि भक्त नहीं थे. क्योंकि देश कालका विभाग जानते थे. अर्थात् देश कालका अनुसरण करके जो कुछ करता है वह पुष्टि भक्त नहीं होता. पुष्टि भक्त देश कालकी अपेक्षा नहीं रखता. भीष्मजी प्राकृत हैं इसलिए ऋषियोंमें जो उत्तम नहीं हैं और प्रथम गिनाये गये हैं उन पर्वत ऋषिका प्रथम पूजन किया. 'देशकालविभागवित्'की जगह 'देशकाल-विधानवित्' ऐसा पाठ यदि रखते हैं तो भी पूर्वोक्त ही अर्थ है ।।९।।

आभासार्थ: इस प्रकार मुनियोंके धर्मोपयोगी होनेसे भीष्मजीने उन ऋषियोंका मन वाणीसे पूजन किया और भगवान्का भी उसी रूपमें पूजन किया यह कहते हैं :

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम्।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम्।।१०।।

श्लोकार्थ: और जगदीश्वर जो हृदय स्थित हैं तथा जिनने अपनी शक्तिसे देह धारण किया है ऐसे बैठे हुए श्रीकृष्णका उनके प्रभावको जानकर भीष्मजीने मन वाणीसे पूजन किया।।१०।।

सुबोधिनी: शंका होती है कि भीष्मजीने भगवान्की किस भावनासे पूजा की. अर्थात् भीष्मजीने सम्बन्धी समझके अथवा ज्ञातिके मानकर अथवा ईश्वर मानकर पूजन किया. इस आकांक्षापर कहते हैं कि 'तत्प्रभावज्ञः' अर्थात् भगवान्के प्रभावको जानकर उनका पूजन किया. पहलेके श्लोकमें कहे गये जो ऋषि हैं उनका खडे हुओंका ही देखने मात्रसे ही पूजन किया और भगवान्का पूजन बैठे हुएका किया. भगवान्की पूजामें भावनासे सर्वोत्तम प्रकार रहा. इस बातको बतानेकेलिए 'जगदीश्वरम्' कहा. अर्थात् जगदीश्वर मानकर भगवान्का पूजन किया और 'हृदिस्थम्' अर्थात् अन्तर्यामी रूपमें मानकर भी पूजन किया. हृदयमें स्थित अन्तर्यामीका बाहर भान होनेमें कारण कहते हैं कि 'माययोपात्त-विग्रहम्' बाहर इसलिए भान हो रहा है कि अपनी शक्तिरूपा मायासे श्रीविग्रह

धारण किया है. जीव प्राकृत समुदाय रूप जो इन्द्रियादि हैं उनसे तथा अहङ्कारसे देह ग्रहण करता है. भगवान्में प्राकृत इन्द्रियां एवं अहङ्कार नहीं है. इसलिए वे जीवकी तरह देह ग्रहण नहीं करते. वे तो अपनी शक्तिसे ही अपने देहका निर्माण भी करते हैं. बीज सम्बन्धी होनेसे माया कहीं भगवान्को पुत्ररूपमें पितृरूप आदिमें अन्यथा भान कराती है. कोई कहते हैं कि मायाने बीजका ही ग्रहण कर लिया. इस प्रकार लोकानुसार एवं भीष्म बुद्धिके अनुसार सूतजीने भगवान्का निरूपण किया. वास्तवमें जैसे भगवान् हैं उनका निरूपण कौरवेन्द्रपुरकी स्त्रियोंके वाक्योंमें होगा ।।१०।।

आभासार्थ: इस प्रकार ऋषि एवं भगवान्का पूजन कहकर प्रथम कहे गए पाण्डवोंका पूजन छोटे होनेसे न कर भीष्मजीने समझा कि मेरी कही गई बातको ये (पाण्डव) ग्रहण करें. अर्थात् मेरेमें दूषित भावना होनेपर मेरे कहे अर्थका ग्रहण नहीं करेंगे. इसलिए उनका शोक दूर करते हुए और अपनेको निर्दोष कहते हुए भगवान्का निरूपण कर फलकी प्रार्थना करते हैं. यह बात 'पाण्डुपुत्रान्' इत्यादि चतुर्दश (चौदह) श्लोकोंसे कही है.

पाण्डुपुत्रान् उपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान्।
अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा।।११।।

श्लोकार्थ: प्रेमके आंसुओंसे नहीं देखनेवाले नेत्रोंसे प्रेमी मालूम होनेवाले भीष्मजीने विनय एवं प्रेमसे युक्त अपने पास बैठे पाण्डवोंको कहा ।।११।।

सुबोधिनी: पाण्डव भीष्मजीके भतीजेके पुत्र हैं इसलिए उनमें भीष्मजीका स्नेह है. अतः स्नेहसे शिक्षा देने योग्य हैं. पासमें बैठनेसे वे धर्मयुक्त हैं. अर्थात् उपदेश ग्रहण करने वालेको पासमें बैठना चाहिये इस धर्मको पाण्डव समझते हैं. इसलिए वे भीष्मजीके पास बैठे हैं. वे विनयी एवं प्रेम करनेवाले हैं इसलिए उन्हें ज्ञानका उपदेश किया जा सकता है. विनीत एवं प्रेमीको ही ज्ञानका उपदेश दिया जाता है. भगवान्के दर्शन होनेसे पाण्डवोंके प्रति होनेवाला भीष्मजीका क्रूर भाव नहीं रहा और वे प्रेमभावसे बोले. यह बात 'अनुरागास्रैः'से कही है. अनुरागके आसुओंसे अन्धीभूत नेत्रोंसे युक्त है. अर्थात् आखोंमें अनुरागके आसूं भर जानेसे वे देख नहीं रहे हैं. अथवा अनुरागके आंसू आनेसे भीष्मजी हमसे प्रेम करनेवाले हैं यह मालूम पडा. भीष्मजीको अपना क्लेश तथा पाण्डवोंका जो दुःख याद

आया वह रोनेका कारण है. भीष्मजी विचार रहे हैं कि भगवान्ने सबको व्यामोहित कर लिया जिससे इनने भी क्लेश पाया और हमने भी क्लेश पाया ।।११।।

आभासार्थ: पाण्डवोंके क्लेशका दो श्लोकोंसे भीष्मजी अनुवाद कर रहे हैं :

भीष्मः उवाच

अहो कष्टम् अहोऽन्याय्यं यद् यूयं धर्मनन्दनाः।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः।।१२।।

श्लोकार्थ: भीष्मजी बोले आश्चर्यकी बात है कि ब्राह्मण, धर्म एवं भगवान्के आश्रित रहनेवाले लोग ऐसे दुःखमय जीवनके योग्य नहीं थे. क्योंकि तुम धर्मराजके पुत्र हो. तो भी तुम्हें इतने क्लेश सहन करने पडे बडे कष्ट और अन्यायकी बात है।।१२।।

सुबोधिनी: श्लोकमें 'अहो' पदका अर्थ आश्चर्य है. पाण्डवोंके वनवासके क्लेशको याद कर बिना प्रसिद्ध कारणके यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ. इसीका आश्चर्य है और दुःख भी है. अपमान एवं द्रौपदीके क्लेश ग्रहण आदिको याद करके भीष्मजी कहते हैं कि आश्चर्य है कि तुम्हारे साथ अन्याय हुआ. बीज स्वभाव एवं क्षेत्रोंके धर्म अधर्मसे मनुष्य कर्म मार्गके द्वारा सुख दुःख प्राप्त करता है. अन्यथा नहीं. तुम्हें क्लेशसे जो शारीर दुःख हुआ और अन्यायसे मानस दुःख हुआ. वह बीज स्वभाव तथा क्षेत्रोंके कर्मसे नहीं हुआ. क्योंकि तुम धर्मके पुत्र हो. यद्यपि युधिष्ठिर ही धर्मका पुत्र है तथापि उसे ही सब भाई प्रधान रूपसे मानते थे इसलिए सभी 'धर्मनन्दन' पदसे कहे गये. धर्म पिता है. इसलिए बीजगत दोष न होनेसे तुम्हें बीजके कारण दुःख होना युक्त नहीं है. और तुममें स्वाभाविक दोष भी नहीं हैं. स्वाभाविक दोष होता तो वह तुम्हारे दुःखका कारण बनता. जो स्वभाव दुष्ट होते हैं. वे तीन प्रकारके धर्मका पालन नहीं करते. पहला नीतिके अविरुद्ध. दूसरा भाव शुद्ध. तीसरा ईश्वर सम्बन्धी. तुम ब्राह्मणोंके आश्रित हो. इसलिए सब नीतिका ज्ञान होनेसे तुममें नीतिके अविरुद्ध धर्म हैं. तुमने धर्मका आश्रय लिया है. इसलिए धर्म अपने आश्रितको शुद्ध रखता है. अतः आप स्वभाव शुद्ध भी हैं. आप लोग भगवान्के आश्रयमें हैं इसलिए आप लोगोंको ईश्वर सम्बन्धी धर्मकी स्फूर्ति है. इनमेंसे एक एकका भी आश्रय लेनेवाला क्लेश

नहीं पाता. तो तीनों धर्मोंका पालन करनेवाला कैसे क्लेश पायेगा. क्योंकि तीन धर्मोंकी एकत्र सत्ता है. यह व्यवस्था धर्म मार्गमें है. काल मार्गसे तथा भगवन्मार्गसे तुम्हें क्लेश मिला यह भिन्न रूपसे भीष्मजी कहेंगे ।।१२।।

आभासार्थ: इस प्रकार पाण्डवोंमें स्वभाव एवं वीर्यगत दोषोंका परिहार कर उनमें क्षेत्रज दोष भी नहीं है यह कहते हैं :

संस्थितेऽधिरथे पाण्डौ वृथा बालप्रजा वधूः।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः।।१३।।

श्लोकार्थ: महाबली पाण्डुके देह त्याग करनेपर छोटे बालकवाली कुन्तीने तुम्हारी तथा माद्रीके अत्यन्त छोटे पुत्र नकुल सहदेवकी रक्षाकेलिए बार बार कष्ट उठाए।।१३।।

सुबोधिनी: श्लोकमें 'संस्थिति' पदसे शरीर त्याग अर्थ लिया गया है. 'अधिरथ' पदसे शौर्यरूप क्षत्रियका धर्म कहा है. अर्थात् शौर्यवाले पाण्डु राजाके शरीर त्याग करनेपर इससे यह सूचित हुआ कि पाण्डुके मर जानेसे पाण्डवोंका रक्षक दूसरा नहीं था. छोटी है सन्तान जिसकी ऐसी वह कुन्ती वधू थी. 'वधू' पदसे कुन्ती अपने धर्मका परिपालन करनेवाली थी. यह सूचित हुआ. स्वधर्म पालन करनेवाली थी. इसीलिए धर्ममार्गसे तुम्हारी रक्षार्थ बहुत क्लेश पाई. माद्रीके पुत्र जो दोनों साथ उत्पन्न हुए थे और बहुत छोटे बालक थे. पैरोंसे नहीं चल सकते थे. उनके पालन करनेसे कुन्तीको बार बार दुःख हुआ. कुन्ती सर्वथा अपने धर्मका पालन करनेवाली थी. इससे क्षेत्र दोषसे पाण्डव दुःख पायें यह भी बात नहीं है. देखी गई बात अदृष्टको लेकर ही होती है. तुम्हारा अदृष्ट यदि ऐसा नहीं होता तो दृष्ट हम लोग भी दुःखके कारण नहीं होते. इसलिए दुःखमें तुम्हारा अदृष्ट (भाग्य) ही कारण है यह भीष्मजीने पाण्डवोंको कहा ।।१३।।

आभासार्थ: बिना कारणके कार्य नहीं होता तो तुम्हारे दुःखमें क्या कारण है ऐसी आकांक्षा पर कहते हैं कि:

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां यद्यदप्रियम्।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः।।१४।।

श्लोकार्थ: तुम्हें जो जो भी दुःख हुए हैं उन सबको मैं कालसे किये हुए मानता हूं. जैसे मेघ पंक्ति वायुके अधीन होती है. वैसे ही इन्द्रादि सहित लोक कालके वशमें हैं।।१४।।

सुबोधिनी: आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप हमसे किया गया अथवा दूसरेसे किया गया. वह सब कालका किया हुआ है. अर्थात् कालने ही तुम्हारे ऊपर विपत्ति आदि उत्पन्न की. ऐसा मैं मानता हूं. काल केवल निमित्त ही नहीं है क्योंकि ज्योतिष शास्त्रमें कालसे ही सब कुछ होता है ऐसा प्रतिपादन किया गया है इसलिए कालसे ही तुम्हारे ऊपर क्लेश आये. शंका होती है कि दुःखादिके कारण बहुतसे बताये गये हैं. जैसे लोक, काल, कर्म, स्वभाव एवं ईश्वर है तो इनमें कालको ही दुःखादिका कारण कैसे बताया इसका उत्तर देते हैं कि मुझे ऐसा मालूम पडता है इसमें 'प्रमाणम् अन्तःकरण–प्रवृत्तयः' अन्तःकरणकी प्रवृत्तियां ही प्रमाण हैं. इसके अनुसार मैंने अपने मनमें निश्चय किया है कि पाण्डवोंमें दुःखमें काल ही कारण है. ऐसा माननेपर ज्योतिष शास्त्रसे अनुकूलता हो जाती है. 'अहो कष्टम्' इस पूर्वमें आये हुए श्लोकमें 'धर्मनन्दनाः' 'विप्रधर्माच्युताश्रयाः' ये दो पद बताते हैं कि युधिष्ठिरके धर्मपुत्र होनेसे वह धार्मिक ही कार्य कर सकता है. अधार्मिक नहीं. तो कर्मके कारण तुम्हें दुःख हुआ यह मैं नहीं मान सकता. धर्माश्रय होनेसे लोक भी तुम्हारे दुःखके कारण नहीं हो सकते. मायासे मुक्त ज्ञानी भी क्लेश पाते हैं इसलिए स्वभावके भीतर आई हुई माया आदि भी तुम्हारे दुःखके कारण नहीं हो सकते. ईश्वर तुम्हारे साथ थे और तुम भक्त थे इसलिए ईश्वर कृत दुःख भी तुम्हें नहीं हो सकता. अतः शेष रहा काल ही तुम्हें दुःख देनेवाला रहा यह मैं मानता हूं. जो जो प्रसिद्ध बडे बडे दुःख आये उनका कारण तुम्हारे जन्मान्तरके कर्म भी नहीं हो सकते. यह 'यद्यत्' पदसे सूचित हुआ. प्रकृतमें उपयोगी कालका सामर्थ्य कहते हैं. 'सपालो यद्वशे लोकः' काल सबका आधार है और आधारके वशमें सभी होते हैं. अवस्था भी कालसे होती है इसलिए कालके अधीन सब हैं. काल मानसे ही सुख दुःखोंका भोग प्राप्त होता है. अर्थात् अमुक अमुक समय तक ही सुख दुःखादि होते हैं. ब्रह्माण्डकी स्थिति भी अमुक काल तक ही रहती है. इन्द्रादि सहित लोककी उत्पत्ति स्थिति नाश कालके कारण ही होते हैं. इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि 'वायोरिव घनावलिः' जैसे मेघ पंक्ति वायुके अधीन होती है. सब महिनोंमें आते हुए भी मेघ वायुसे ही रह पाते हैं और वायुके कारण ही नहीं रह पाते. ऐसे ही सब कुछ कालकृत है. ऐसा मानना चाहिये ।।१४।।

आभासार्थ: कालने ही सब कुछ किया है लोक, कर्म, स्वभाव और

ईश्वर तुम्हारे दुःखमें कारण नहीं है. इसमें भीष्मजी तर्क कहते हैं:

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत्।।१५।।

श्लोकार्थः जहां धर्मराजका पुत्र युधिष्ठिर राजा हो. गदा धारण किये हुए भीमसेन हो. अस्त्रोंको जाननेवाला गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हो और हित चाहनेवाले भगवान् कृष्ण हों वहां भी विपत्ति रहे यह कालकृत ही मानता हूं।।१५।।

सुबोधिनीः देखी गई सब सामग्री पाण्डवोंको दुःख न होनेका कारण है अर्थात् पाण्डवोंके पास ऐसी सामग्री थी. जिससे उन्हें कभी दुःख नहीं हो सकता था क्योंकि युधिष्ठिर धर्मका पुत्र है इसलिए अपने पुत्रका पालन धर्म करता है और वह धर्मपुत्र युधिष्ठिर राजा है. राजा होनेसे स्वयं धर्मसे पालित हुआ अन्यकी रक्षा करता है. भीमसेन वृकोदर है. वृकोदका अर्थ यह है कि दस प्रकारके प्राण जिसके उदरमें हों. वह दस प्रकारका प्राण जो 'वृक' शब्दसे कहा गया है वह बलकी अधिष्ठात्री देवता है. भीमसेनके गदा हाथमें है अतः वह गदारूप साधन सहित है. श्लोकमें पहलेके 'कृष्ण' पदसे यहां अर्जुन लिया गया है. अर्जुनको 'कृष्ण' पदसे बोधित कर यह बताया है कि भगवान्के समान धर्म उसमें भी है. वह अर्जुन अस्त्रवाला है अर्थात् गाण्डीव धनुषसे ब्रह्मास्त्र आदि चलानेमें समर्थ है. धनुषका नाम गाण्डीव है इसलिए यह अक्षय है. अन्य धनुष नाश योग्य हैं. पाण्डवोंके हितके चाहनेवाले भगवान् हैं. ऐसी स्थितिमें पाण्डवोंको दुःख होना ही नहीं चाहिये परन्तु दुःख हुआ तो विचार करनेपर श्लोकमें जिनका उल्लेख है वे ही दुःखके कारण बने हैं. यदि पाण्डु राजाने अपने पुत्रको युवराज बनाकर राज्य त्याग कर दिया होता तो दुःखकी शंका नहीं रहती. राज्यमें भीमसेन यदि महाबली न होता तो दुर्योधनको ईर्ष्या न होनेसे पाण्डवोंको दुःख न होता. अर्जुन यदि राधावेध आदि कार्य न करता तो दुर्योधनको अर्जुनके शौर्यसे मात्सर्य नहीं होता और वह पाण्डवोंको दुःख नहीं देता. अग्नि यदि गाण्डीव धनुष आदि साधन न देता तो इन्द्रके साथ कलह न होनेसे देवताओंके साथ द्रोह नहीं होता. भगवान् सहायता न करते तो पाण्डवोंको दीन समझकर दुःख देने वालोंको दया रहती और वे दुःख न देते. इसलिए जो सुखके साधनरूप श्लोकमें बताये गये भीमसेन आदिसे दुःख हुआ वह सब कालकृत ही था. अर्थात् जिनसे सुख मिलना चाहिये उनसे ही दुःख

हुआ. तो यह निश्चय है कि यह सब कुछ कालने ही किया था ।।१५।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि इस प्रकार माननेपर कालकी बलिष्ठता सूचित होती है. परन्तु काल भगवान्का अतिक्रमण कैसे कर सकता है. अर्थात् यदि भगवान् दु:ख देना न चाहें तो काल कैसे दु:ख दे सकता है? इसका उत्तर देते हैं:

न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन्! पुमान् वेद विधित्सितम्।
यद् विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि।।१६।।

श्लोकार्थ: हे राजन् ! इन भगवान्को क्या करना इष्ट है यह कभी कोई नहीं जानता. भगवान् क्या करना चाहते हैं इसकी जाननेकी इच्छावाले ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं।।१६।।

सुबोधिनी: ये भगवान् क्या करना चाहते हैं यह कोई नहीं जानता. यद्यपि काल भगवान्का आज्ञाकारी है तो पाण्डवोंको दु:ख देनेकी भगवान्की इच्छा न हो तो काल दु:ख नहीं दे सकता. परन्तु भगवान्की इच्छा क्या है यह ही ज्ञात नहीं हो सकता. भगवान् सुख दु:ख देनेके कारण नहीं हैं. यदि वे कारण हों तो सबको सब जगह सुख दु:ख मिलना चाहिये. इसलिए सुख दु:खका कारण भगवदिच्छा है. उसका कार्यके द्वारा ही ज्ञान हो सकता है. कार्यके प्रथम नहीं अर्थात् अमुक कार्यके होनेपर भगवान्की इच्छा ऐसे कार्य करनेकी थी वह ज्ञात हो सकता है. शंका करते हैं कि ऐसी स्थितिमें भगवान्का कैसे विश्वास किया जाय. अर्थात् पाण्डवोंके भक्त होनेपर भी भगवान्की इच्छा उनको दु:ख देनेकी रहे तो भगवान्का कौन विश्वास करेगा. इसपर कहते हैं कि 'यद् विजिज्ञासया' भगवान्ने पाण्डवोंको दु:ख दिया. अथवा वैराग्यकेलिए सुख दिया. भगवान्ने हमारा पालन किया ऐसा पाण्डवोंको ज्ञान होनेसे उनको भक्ति दी. यदि पाण्डवोंपर विपत्ति न आती तो भगवान् विपत्तिसे नहीं बचाते ऐसी स्थितिमें पाण्डवोंको माहात्म्य ज्ञान नहीं होता तो भक्ति भी नहीं होती. अथवा कौरवोंको मोक्ष देकर उनका हित किया. ऐसे विचार करनेपर ऊपर कही गई सब बातोंमें युक्ति हो सकती है. अतएव भगवान्के कार्यमें कवि ब्रह्मादि ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं. वाणी एवं मनके अविषय भगवान्में युक्ति काम नहीं देती इसी बातको श्लोकमें आया हुआ 'हि' शब्द कहता है ।।१६।।

आभासार्थ: तो आगे अब कौनसा प्रतीकार हो सकता है? इसका उत्तर

देते हैं :

तस्माद् इदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ!।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ।।१७।।

श्लोकार्थ: हे भरत श्रेष्ठ! इसलिए यह सब कुछ कालरूप भगवान्के अधीन है ऐसा निश्चय कर हे नाथ! हे प्रभो! उन भगवान्के आज्ञाकारी होते हुए अनाथ प्रजाकी रक्षा करिये।।१७।।

सुबोधिनी: सब कालके अधीन है. वह काल भगवान् हैं. उसे ही 'दैव' शब्दसे कहा जाता है. कालका अतिक्रमण दूसरे प्रकारसे नहीं हो सकता. अतः भगवान्का आज्ञाकारी होता हुआ तू अनाथ प्रजाकी रक्षा कर. आज्ञा पालनसे तथा प्रजा पालन रूप स्वधर्मसे भगवान् राजी होते हैं. यह मर्यादा है. यद्यपि विशेष रूपसे प्रमेय बलका विचार किया जाये तो भगवान् किससे सन्तुष्ट होते हैं यह नहीं ज्ञात होता. तथापि प्रमाण बलके विचारसे यह सिद्ध होता है कि भगवदाज्ञा पालनसे एवं स्वधर्म पालनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं. पहले इस प्रजाके दुर्योधन आदि स्वामी थे. इस समय यह प्रजा अनाथ है. इसका पालन मुझे करना चाहिये. अथवा तुम्हारे स्वामी होते हुए भी तुममें स्वामित्वका अभिमान नहीं है. इसलिए अनाथ इस प्रजाका केवल दयासे पालन करो. क्योंकि तुम समर्थ हो ।।१७।।

आभासार्थ: शंका होती है कि 'तस्यानुविहितः' यहां 'तत्'पद पहले कहे को बताता है. पहले 'दैवतन्त्रम्'से कालका निरूपण है. उससे पूर्व ''न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन्''से कृष्णका निरूपण किया गया है. तो संदेह होता है कि कालका आज्ञाकारी हो अथवा भगवान्का कालके अधीन सब हैं इसलिए उसके अधीन रहता हुआ प्रजा पालन कर यह कालकी अधीनतामें अर्थ होता है. 'न ह्यस्य' इस वाक्यमें कृष्णका निरूपण कालाधीन बतानेपर उस कालका निवारण हो इसलिए भगवान्के कैसे कार्य करनेकी इच्छा है. यह सन्देह निरूपित हुआ है. वहां यह सन्देह होता है कि क्या कृष्ण कालाधीन नहीं होता यह निरूपण करना है. अथवा काल दु:ख सुखका कारण नहीं होता यह कहना है. अथवा काल और कृष्ण दोनों मिलकर दु:खके कारण होते हैं. यह कहना है इन तीनों पक्षोंमें कालसे कृष्णका भेद है यही सिद्ध होता है. तो काल पक्ष पूर्वापर विरुद्ध है ऐसी आशंकाके निराकरणके लिये कहते हैं कि काल ही कृष्ण है और वह भगवान् है, वह कृष्ण भगवान् हैं इसका विस्तारसे निरूपण करते हैं :

एष वै भगवान् साक्षाद् आद्यो नारायणः पुमान् ।
मोहयन् मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ।।१८।।

श्लोकार्थः ये भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् आदि पुरुष नारायण ही हैं. जो कि अपनी मायासे लोकको मोहित करते हुए वृष्णि वंशमें गूढ भावसे विचर रहे हैं ।।१८।।

सुबोधिनी: यह जो कालरूप कृष्ण है यह निश्चय ही भगवान् है. कालरूप इस कृष्णमें भगवत्त्व औपचारिक (आरोपित) नहीं है और ज्ञान द्वारा भावना करनेपर यह सिद्ध है कि साक्षात् भगवान् है. शंका होती है कि कालरूप कृष्ण भगवान् है यह कैसे समझा जाय तो कहते हैं कि 'आद्यो नारायणः पुमान्' पहले होनेवाला जो पुरुषोत्तम है वही ब्रह्माण्ड देहवाला नारायण है. उसे ही स्वराट् भी कहते हैं. इससे सिद्ध हुआ कि काल कृष्णरूप है. कृष्ण भगवान् हैं और भगवान् पुरुषोत्तम हैं और पुरुषोत्तम नारायण हैं और नारायण स्वराट् पुरुष हैं. अर्थात् स्वयं प्रकाश होनेवाला पुरुष है. उस भगवान्को अपने शरीरमें भार मालूम होनेपर उसे दूर करनेकेलिए यादवोंमें आये हैं. जैसे अपनेको कोई न जाने उस रूपमें भगवान् मनुष्यकी चेष्टाओंसे लोकोंको व्यामोहित करते हुए अपनेमें रहे भगवत्वको सर्वथा छिपाते हुए सबको खानेकेलिए भ्रमण कर रहे हैं ।।१८।।

आभासार्थ: शंका करते हैं कि ये भगवान् इस प्रकारके कैसे हैं इन्हें कोई भी क्यों नहीं जानता. इसका उत्तर 'अस्यानुभावम्' इन दो श्लोकोंसे देते हैं :

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः ।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद् भगवान् कपिलो नृप! ।।१९।।

श्लोकार्थः हे राजन्! इन भगवान्के अत्यन्त गुप्त प्रभावको भगवान् शिव, देवर्षि नारद तथा साक्षात् भगवान् कपिलदेवजी जानते हैं।।१९।।

सुबोधिनी: यह भगवान् इस प्रकारका ही है. इस प्रकारके इसका सबके मारनेका प्रभाव सर्व गोप्य है. उसके प्रभावको शिवजी ही जानते हैं. जो उन भगवान्का स्मरण करते हुए सबको भक्षण करते हुए भी कल्याण रूप है. वैसे ही नारदजी सर्वत्र प्रविष्ट होकर सबको मारते हुए भी स्मरण करनेके कारण सबके हितैषी ज्ञात होते हैं तथा साक्षात् भगवान् कपिलदेवजी जिनने प्रकृतिको ही विश्वका कारण बताकर पुरुषकी कारणताको निराकृत किया है. वे कपिलदेवजी पुरुष रूप होनेसे सबके कारण रूप होते हुए भी अपने आपको पुरुष रूपसे

किसीका कारण नहीं मानते अतः सात्त्विक राजस तामसोंमें जो निर्गुण शिव नारद कपिल हैं ये तीन ही भगवान्के प्रभावको जानते हैं. शिवजी तामस होते हुए भी गुणातीत कहे गये हैं. इसी प्रकार नारदजी राजस होते हुए कपिलजी सात्त्विक होते हुए गुणातीत कहे गये हैं ।।१९।।

आभासार्थः दूसरे तो अनेक प्रकारसे उनके प्रभावको सुनकर भी नहीं जानते हैं. जैसे तुम लोग (पाण्डव) नहीं जानते हो यही कहते हैं:

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदाद् रथसारथिम् ।।२०।।

श्लोकार्थः जिस कृष्णको मामाका पुत्र, प्रीतिका विषय, मित्र, अत्यन्त हितैषी मानता है. जिसको तूने मंत्री बनाया कभी दूत कभी सौहृदसे रथका सारथि बनाया था।।२०।।

सुबोधिनीः वसुदेवजीके घरमें अवतीर्ण हुए हैं इसलिए तुम इनको मामाके पुत्र मानते हो सम्बन्धसे और आत्मीयतासे इन्हें प्रिय मानते हो. द्रौपदी आदिके दिलानेसे गुप्त रूपसे निरन्तर उपकारी होनेके कारण मित्र मानते हो और सुहृत्तम मानते हो. जो सद्भावना युक्त हो कभी कपट नहीं करता हो परोक्ष और प्रत्यक्षमें साक्षात् एवं परम्परया अपनेका हित ही विचारता हो वह सुहृद है. तुमने भगवान्को इस रूपमें समझा ही हो यह नहीं किन्तु ऐसा समझकर इनसे अनेक अयुक्त कार्य भी कराये हैं. यही कहते हैं कि 'अकरोः सचिवम्' आदि तुमने इन्हें मन्त्री बनाया हीन होकर कार्यके सिद्ध करनेवाला दूत बनाया व्यवहारमें समान भी व्यक्ति सौहार्दसे हीन कार्य करता है इसलिए यह देखा गया है भगवान्ने सौहार्दसे दूत कार्य भी कर दिया. तुमने इन्हें रथका सारथि बनाया. श्लोकमें सारथि न देकर रथ सारथि देनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् केवल सारथ्य ही नहीं करते थे किन्तु रथके रक्षक होते हुए सारथि थे ।।२०।।

आभासार्थः शंका करते हैं कि दूसरे (पाण्डवादि) भगवान्के स्वरूपको न जाने किन्तु भगवान् तो अपने आपको जानते हैं तो फिर हीन कर्ममें कैसे प्रवृत्त हुए इसका उत्तर देते हैं कि:

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ।।२१।।

श्लोकार्थः जिस भगवान्का स्वरूप सबमें है. जिसकी शत्रु, मित्र,

उदासीनमें समबुद्धि है जो अपनेसे भिन्नको देखता ही नहीं और अहंकार रहित है तथा जो सर्वत्र सदा पाप रहित है उसकी ऊंच नीच कर्मसे होनेवाली वैषम्य बुद्धि नहीं हो सकती।।२१।।

सुबोधिनी: जिसका स्वरूप सबमें है. अतः वह जो कुछ कार्य करता है वह अपने ही लिए करता है. तो उसमें वैषम्य (हीन उच्च) कैसे हो सकता है. वेद आदिके निर्माता होनेसे शत्रु मित्र उदासीनमें उनकी समान बुद्धि है इसलिए इनमें वैषम्य नहीं है. विषमता भेद देखनेमें होता है. भगवान् तो सर्वत्र अपने आपको ही देखते हैं. अतः वे अपनेसे भिन्न किसीको नहीं देखते. तो इस प्रकारके भगवान्में वैषम्य कैसे रह सकता है. श्लोकमें आये हुए 'सर्वात्मनः' पदसे स्वरूप कृत वैषम्य नहीं है यह कहा. 'समदृशः' पदसे प्रमाणतः 'अद्वयस्य' पदसे प्रमेयतः भगवान्में वैषम्य नहीं है. अवतारदशामें अपने श्री अङ्गमें अहङ्कार न होनेसे वैषम्य नहीं है. उच्च नीच कर्मसे इनमें वैषम्य नहीं है. कुछ करना चाहिये इसलिए ये सब कुछ करते रहते हैं. उत्कृष्ट है इसलिए करना चाहिये ये बात इनमें नहीं हैं. यदि कहें कि हीन कर्मके कारण भगवान्में दोष क्यों नहीं लगेगा तो कहते हैं कि 'निरवद्यस्य' वह पाप रहित है. इसलिए उन्हें किसी प्रकारका दोष नहीं लगता. अमुक स्थलमें अथवा अमुक कालमें ही थे अपहतपाप्मा है यह बात नहीं किन्तु सर्वत्र सर्वदा ये पापमुक्त हैं यही बात श्लोकमें आये हुए 'न क्वचित्' पदसे कही गई है ।।२१।।

आभासार्थ: इसलिए भगवान् सर्व भक्षक हैं यह अज्ञानसे भगवान्में आरोप है. इस प्रकार यदि भगवान्ने किया ऐसा कहते हैं तो भगवान्से भय होगा और ऐसा प्रभु सेव्य नहीं होगा. इस शंकाके निराकरणकेलिए कहते हैं कि:

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन् मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात् कृष्णो दर्शनम् आगतः।।२२।।

श्लोकार्थ: यद्यपि यह भगवान् सम हैं अथवा सर्व भक्षक हैं. तथापि हे राजन्! अनन्य भक्तोंपर इनकी अनुकम्पाको देखो जो कि स्तुति करनेवाला मैं हूं. उसका भक्त्याभास मानकर अर्थात् हृदयकी भक्ति न समझ मेरे प्राण त्याग करनेके समय मुझे मुक्ति देनेकेलिए इन कृष्णने साक्षात् दर्शन दिये हैं।।२२।।

सुबोधिनी: यद्यपि ये सर्व भक्षक ही हैं तो भी इनमें एक साधारण गुण है कि भक्तपर कृपा रखना. भक्तपर कृपा रहती है इसलिए ये भजनीय भी होते हैं और भगवान्से भक्तको किसी प्रकारका भय नहीं होता. इसमें भक्तपर भगवान्की

कृपा होना कारण है. भक्त कृपा रूप गुण सदा रहता है और सदा फल देने वाला है. भीष्मजीने युधिष्ठिरको 'भूप' इस रूपमें सम्बोधित इसलिए किया है कि राजाओंकी भी कृपा उसकी सेवामें एवं उससे नहीं डरनेमें कारण बनती है और वह फलवाली भी होती है. यह राजामें कदाचित् होता है. अर्थात् तुम्हारेमें जैसे ये बातें होती हैं उसी प्रकार भगवान्में भी यह बात है. भगवान्की कृपा सदा रहती है. इस बातको अपने दृष्टान्तसे भीष्मजी कहते हैं 'यन्मे' भीष्मजी कहते हैं कि भगवान्की अवहेलना करनेवाला भक्तोंका द्रोह करनेवाला भक्तोंके शत्रुओंका पक्षपात करनेवाला होनेसे मेरे समान अपराधी कोई नहीं है. तथापि मेरे भगवन्नामोच्चारण करते हुए भी यह कार्य हृदयसे न होकर प्रेमसे न होकर भक्त्याभासके रूपमें होता होगा. तो प्राण त्यागके समय यह मेरा भक्त भीष्म मुक्त नहीं होगा. इस शंकासे भगवान्ने स्वयं आकर भक्तोंपर सदा कृपा रहती है इससे मुझे अपना साक्षात्कार कराकर कृतार्थ किया जब मेरे जैसे अपराधी भी कृतार्थ हो जाते हैं तो अन्य भक्त कृतार्थ हों इसमें क्या कहना ।।२२।।

आभासार्थः भगवान्के साक्षात्कारसे मुक्ति हो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं किन्तु भगवान्के प्रकट हुए बिना भी भगवदंगभूत मानस रूपसे तथा नामसे भी मुक्ति होती है इसे कहते हैं:

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यद् नाम कीर्त्तयन् ।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ।।२३।।

श्लोकार्थः जिस कृष्णमें मन लगाकर और वाणीसे भगवान्का नामोच्चारण कर देहत्याग करता हुआ भक्तियोगवाला पुरुष नाना कामनाओंसे होनेवाले कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है तब यदि अन्त समयमें भगवान्के दर्शन हो जाय तो क्या नहीं हो सकता।।२३।।

सुबोधिनीः जिन भगवान्में भक्तिसे मनको लगाकर यह जो कहा है वह मर्यादा भक्तिके अधिकारीके विचारसे कहा है. वास्तवमें किसी प्रकारसे भी भगवान्में मनका लग जाना भी मुक्तिका कारण होता है. पहले योगाभ्यासमें लगा हुआ भी इस समय इन्द्रियोंसे जो भी कार्य करता है वह भगवन्नामके साथ करता है तो भक्तिमार्गसे शरीरको छोडता हुआ कायवाङ् मनसे तामस राजस सात्त्विक कर्म करता हुआ भी विषयोंकेलिए किये गये कर्मोंसे मुक्त हो जाता है. अथवा भगवत्सम्बन्धमें होनेवाले इन कर्मोंसे पूर्वमें किये गये जो कर्म हैं वे भगवत्सम्बन्धी

बना दिये जाते हैं और वे मुक्तिके कारण बन जाते हैं ।।२३।।

आभासार्थ: इस प्रकार भजनीय भगवान्के गुणोंको कहकर भीष्मजी भगवान्की मानसी मूर्तिकी कल्पना करनेमें अशक्त हैं इसलिए अन्तिम श्वास तक मेरे पास रहें यहीं प्रार्थना करते हैं :

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां कलेवरं यावद् इदं हिनोम्यहम् ।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन् मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः।।२४।।

श्लोकार्थ: अपने प्रसन्न हास्य एव अरुण नेत्रोंसे शोभित मुखारविन्दवाले देवताओंके पूज्य जो कि दूसरोंकेलिए ध्यानगम्य हैं वे चतुर्भुज भगवान् जब तक मैं शरीर न छोडूं तब तक मेरे सम्मुख ही बिराजे।।२४।।

सुबोधिनी: हमारे ऊपर भगवान्की कृपा होनेमें अन्य भी कारण हैं. केवल इस समयकी भक्ति ही कारण नहीं है. अन्य कारण यह है कि वसु आदि देवताओंके आप देव हैं. अर्थात् सर्वदा पूज्य हं. इसलिए मैंने पहले भी पूजन किया है. और भगवान् होनेसे स्वतः पूर्ण हैं. वह भगवान् जब तक मैं इस शरीरको न छोडूं तब तक यहीं विराजें. मैं जब तक अपनी इच्छासे प्राणोंका परित्याग करूं तब तक मेरे सम्मुख स्थित रहें मुझे बीचमें ही सशरीर मुझे अपनेमें लीन न करें अथवा न मारें. 'इदम्' पदसे भीष्मजी अपने शरीरकी ओर इङ्गित करके कहते हैं कि यह जीर्ण शरीर 'अहम्' पद देकर भीष्मजीने अमुक कालमें ही अपने शरीर छोडनेका सामर्थ्य मेरेमें है यह कहा. "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" अर्थात् जो जिस प्रकारसे मुझे प्राप्त होता है मैं भी उसी प्रकार उसे प्राप्त होता हूं. इस वाक्यके अनुसार मैं जिस प्रकार दुःखी हूं इस प्रकार दुःखके साथ मेरे सामने न रहें किन्तु प्रसन्न हास्यवाले रक्त नेत्रोंसे शोभित मुखारविन्दसे युक्त रहें. आपका हास्य मायामोह करनेवाला है परन्तु वह आपका हास्य प्रसन्न होनेके कारण मुझे माया मोह नहीं करेगा. इसलिए हास्यका प्रसन्न यह विशेषण दिया है. नेत्रोंमें रक्तिमा होनेसे मेरे पापोंको दूर करेंगे. नेत्रकी रक्तिमा दो रूपसे होती है. क्रोधसे एवं अनुरागसे परन्तु यहां रक्तिमा पापोंको दूर करनेकेलिए क्रोधको लिए हुए होनी चाहिये. जिससे कि पापोंको दूर कर सके इसी आशयसे लोचनका अरुण विशेषण दिया है. 'प्रसन्न' पदको हास्य एवं अरुण लोचनकी ओर लगाते हैं तो यह अर्थ होता है कि प्रसन्न हास्य एवं प्रसन्न अरुण लोचनसे शोभित मुखारविन्दवाले. अर्थात् आपने प्रसन्न हास्य एवं प्रसन्न लोचनोंसे देखकर मेरेमें सब गुणोंको

स्थापित कर दिया. आपका मुख कमल प्रसन्न हास्य एवं अरुण लोचन युक्त होनेसे मुझे आप अपना पद (मोक्ष) देंगे. योगीके ध्यानमें स्थित रहनेपर अणिमादि सिद्धि मिलती है इसलिए मेरे ध्यान स्थित होनेसे अणिमा आदि सिद्धि मिलेगी. 'चतुर्भुजः' यह कहकर भीष्मजीने बताया कि चार भुजाएं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको देनेवाली हैं. इसलिए चतुर्भुज रूपमें आप मेरे सम्मुख विराजें. इस प्रकार सब पुरुषार्थोंके देनेकेलिए कही हुई सभी बातोंको अभिव्यक्त कर दूसरा विषय मेरेमें स्थिति न करले इसकेलिए आप प्रकट होकर रहें जिससे आपमें ही मेरा मन रहे और विषयान्तरमें न जावे यही प्रार्थना है ।।२४।।

आभासार्थः बीचमें भीष्मजीको अवकाश है ऐसा जानकर युधिष्ठिरने अपने सन्देहको दूर करनेकेलिए पूछा यही कहते हैं :

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे।

अपृच्छद् विविधान् धर्मान् ऋषीणाम् अनुशृण्वताम्।।२५।।

श्लोकार्थः सूतजी कहते हैं कि युधिष्ठिरने पूर्वोक्त बात सुनकर बाणशय्यापर सोते हुए भीष्मजीको ऋषियोंके सुनते हुए नाना प्रकारके धर्म पूछे।।२५।।

सुबोधिनीः शंका करते हैं कि युधिष्ठिरने सब कुछ भगवान्ने किया है ऐसा समझकर मेरे इसमें कारण न होनेसे मुझे वध आदिका दोष नहीं है. ऐसा निश्चय होनेपर भी क्यों पूछा जा रहा है इसका समाधान करते हैं कि 'शरपञ्जरे शयानम्' यदि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो अपने भक्त भीष्मजी बाणशय्या पर कैसे पडे हुए हैं क्योंकि भगवान् तो अपने भक्तकेलिए ऐसा करना नहीं चाहते अतः यह सिद्ध होता है कि कर्मके अनुसार भगवान् फल देते हैं. यदि भगवान् ही स्वतन्त्र रूपसे सुख दुःखके कारण बन जाय तो या तो सभी सर्वदा सुखी या सभी सर्वदा दुःखी होने चाहिये परन्तु ऐसा नहीं देखा गया है. इससे ज्ञात होता है कि भगवान् कर्मोंके अनुसार फल देते हैं. यहां भीष्मजीको दुःख है यह प्रसिद्ध है और भगवान् सब कुछ करनेवाले हैं. यह वेद सिद्ध है तो सभी ऋषियोंको इस विषयमें सन्देह था. अतः उनके सन्देहकी निवृत्तिकेलिए उनके सुनते हुए युधिष्ठिरने भीष्मजीसे पूछा. अथवा धर्म नाना प्रकारके हैं तो उन धर्मोंमें राजा और सेवककी तरह प्रबल दुर्बल भाव है अथवा नहीं इस सन्देहसे भी युधिष्ठिरने पूछा. अथवा

जिस प्रकार राजाके सेवकोंमें कोई बडा होता है कोई छोटा होता है इसी तरह कोई धर्म प्रबल है अथवा कोई धर्म उसकी अपेक्षा दुर्बल है यह बात है या नहीं इस सन्देहसे भी युधिष्ठिरने पूछा इसी बातको 'विविधान्' पदसे सूचित किया है ।।२५।।

आभासार्थ: धर्म तीन प्रकारके हैं एक श्रौत (वैदिक) दूसरा पौराणिक धर्म जिन धर्मोके करनेसे पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मिलते हैं और उनके न करनेसे नहीं मिलते. ऐसे लौकिक धर्म उन सबको भीष्मजी 'पुरुषस्वभाव' इत्यादि तीन श्लोकोंसे क्रमश: कहते हैं :

पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् ।
वैराग्यरागोपाधिभ्याम् आम्नातोभयलक्षणान् ।।२६।।
दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः।।२७।।
धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपयान् यथा मुने ।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ।।२८।।

श्लोकार्थ: पुरुष स्वभावसे कहे गए धर्म, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोके धर्म, अध्ययन आदि आश्रम धर्म, वेदमें पूर्वकाण्डमें कहे गए अनुरागसे होनेवाले प्रवृत्ति धर्म तथा उत्तर काण्डमें कहे गये वैराग्यसे होनेवाले निवृत्ति धर्म पौराणिक दानधर्म, राजधर्म मौन आदि मोक्षधर्म, पातिव्रत्यादि स्त्रीधर्म कार्तिक व्रत इत्यादि भगवद्धर्म पुरुषार्थका स्वरूप तथा उनके साधन प्रकार आख्यान इतिहास यथावत् हे मुने ! तत्ववेत्ता भीष्मजीने कहे।।२६-२८।।

सुबोधिनी: त्रिविध धर्मोमें वैदिक धर्म तीन प्रकारके हैं शरीराधिकारसे प्रवृत्त वर्णाश्रम रूप बाह्य धर्मसे प्रवृत्त तथा वैराग्य आदि आन्तर धर्मोसे प्रवृत्त ये तीन प्रकारके वैदिक धर्म हैं. पुरुषके स्वाभाविक स्वतन्त्र धर्म रक्षा करना आदि है. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र वर्णोके धर्म ज्ञान आदि हैं. ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रमके धर्म अध्ययनादि हैं. किसी कार्यमें अनुराग रखकर किये जानेवाले धर्म पूर्वकाण्डमें कहे गये हैं. जिनको प्रवृत्ति धर्म कहा है. वैराग्यसे होनेवाले धर्म उत्तरकाण्डमें कहे गये हैं. गोदानादि तुला पुरुषादि दान धर्म पौराणिक हैं. दूतोंके द्वारा हेतु आदि जानना राजधर्म है. मौन लौकिक निष्क्रियता आदि मोक्षधर्म हैं और उनके अवान्तर धर्म. पातिव्रत्य आदि स्त्रीधर्म. कार्त्तिक

व्रत आदि भगवद्धर्म. इनका संक्षिप्त रूपसे तथा विस्तृत रूपसे भीष्मजीने वर्णन किया. संक्षिप्त एवं विस्तृत रूपमें कहनेसे बुद्धि स्थिर हो जाती है. इसी बातको 'समासव्यासयोगतः'से कहा है. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयके साधनरूप धर्मोंका वर्णन किया. अर्थात् पुरुषार्थोंके स्वरूपको साधनोंको तथा प्रकारको यथावत् कहा. ये बात 'धर्मार्थकाममोक्षांश्च'से कही है. सूतजी शौनकको 'मुने' यह सम्बोधन देकर यह सूचित करते हैं कि आप मनन करनेवाले हो इसलिए मैं पूर्वोक्त धर्मोंको विस्तारसे नहीं कह रहा हूं. विस्तारसे कहनेपर तुम्हारे मननमें विघ्न होगा. अतः केवल उनका निर्देश मात्र किया है. इन सबको आख्यान और इतिहासोंमें वर्णित किया है. उनने ऐसा कहा इत्यादि रूप जो शब्द प्रधान वाक्य हैं वह 'आख्यान' शब्दसे लिया जाता है. उनने इस प्रकार किया एवं इस प्रकार हुआ इस रूपका पुरावृत्त इतिहास कहा जाता है. अर्थात् पुराण एवं अर्थवादसे सिद्ध लौकिक बात ही केवल भ्रान्तिसे स्वीकृत लौकिक धर्म नहीं कहा. भीष्मजी सभी तत्त्वोंको जानते थे इसलिए उनने निःशङ्क होकर धर्मोंका वर्णन किया. यही 'तत्त्ववित्' पद कहता है. इन सबसे यह कहा गया कि युधिष्ठिरके सब सन्देहको भीष्मजीने निवृत्त किये. भीष्मजीने समझा हो कि सगुण कर्मोंसे बन्धन होता है और निर्गुण कर्मोंसे मोक्ष होता है. कर्म ही सब फल देनेवाले हैं. यह बात लोक समझे इसकेलिए जिसको नीचकी ओर भगवान् ले जाना चाहते हैं. अर्थात् जिसका पतन करना चाहते हैं उससे बुरे कर्म कराते हैं और जिसे उच्च बनाना होता है उससे अच्छे कर्म कराते हैं. इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ही सब कुछ करता है और जीवको अपने अपने कर्मानुसार सुख दुःखोंका अनुभव होता है अर्थात् भगवान्की प्रेरणासे हीन कर्म एवं उत्तम कर्म बनते हैं और उन कर्मोंके अनुसार जीवको सुख-दुःखादि मिलते हैं ।।२६-२८।।

आभासार्थः धर्मके प्रवचन आदि जो भीष्मजी कर रहे हैं वह उत्तरायण कालमें विलम्ब होनेसे कर रहे हैं. धर्म प्रवचन आदिसे पुरुषार्थ सिद्धि होती है यह बात नहीं है. इसलिए उत्तरायण कालके आनेपर भीष्मजी जो धर्मका प्रवचन कर रहे थे. उसका उन्होने उपसंहार कर दिया यह बात 'धर्म प्रवदतस्तस्य' इन दो श्लोकोंसे कहते हैं:

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।
यो योगिनश्छन्दमृत्योः वाञ्छितस्तूत्तरायणः।।२९।।

श्लोकार्थः धर्मका प्रवचन करते हुए भीष्मजीका वह उत्तरायण काल उपस्थित हो गया. जो कि स्वाधीन मृत्युवाले योगीकेलिए वांछित होता है।।२९।।

सुबोधिनी: उत्तरायण काल यद्यपि उत्तम है. तथापि दक्षिणायन कालके निकृष्ट होनेसे उसके दोषोंका सम्बन्ध होनेसे अपनेमें निर्दुष्टता नहीं रहेगी इसलिए दक्षिणायन कालको धर्म प्रवचन करते बिताया. यही बात 'धर्मं प्रवदतः'से कही है. योगियोंका परलोक मार्ग नियत है. वे सूर्य मण्डलके मध्य मार्गसे जाते हैं और वह उत्तरायण सूर्यमें ही उनका हो सकता है. इसलिए भीष्मजीने उत्तरायणकी प्रतीक्षा की. भीष्मजीने योगसे उत्पन्न होनेवाले धर्मसे कालको भी वशमें कर लिया. इसलिए वे स्वच्छन्द मृत्यु (स्वाधीन मृत्यु) थे ।।२९।।

आभासार्थ: मृत्युके समय जो करना चाहिए उसे कहते हैं:

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणीः विमुक्तसङ्गं (?) मन आदिपूरुषे ।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत्।।३०।।

श्लोकार्थः जो भीष्मजी हजारों योद्धाओंको वशमें करते हैं वे वाणीका नियमन कर आसक्तिको छोड आदि पुरुष पीताम्बरसे शोभित चतुर्भुज जो कि सामने खडे हैं ऐसे कृष्णमें निर्निमेष दृष्टिसे अपने मनको लगाया।।३०।।

सुबोधिनी: मृत्युके समय सब छोडकर भगवच्चिन्तन करना चाहिये. वह भगवच्चिन्तन मौनसे मनकी चञ्चलताको नहीं रखनेसे तथा कुछ भी क्रिया न करनेसे हो सकता है. बाणशय्यापर सोनेसे भीष्मजीके शरीरकी क्रिया तो पहले ही नहीं हो रही है. वाणीका नियमन नहीं था वह भी कर लिया. इसी बातको 'गिरः उपसंहृत्य'से कहा है. श्लोकमें आये हुए 'सहस्रणीः' पदका अर्थ यह है कि जो युद्धसे अथवा अपने वचनसे हजारों योद्धाओंको अपने अधीन कर लेता है वह 'सहस्रणीः' है. इससे भीष्मजीके धर्मका उत्कर्ष बताया. भीष्मजीके मनका विनियोग कहते हैं. 'विमुक्तसङ्गः' बाहर और भीतर जिसने मनसे आसक्तिका परित्याग कर दिया है. इससे भीष्मजीका त्रिदण्ड संन्यास कहा गया. श्लोकमें 'आदिपूरुषे व्यधारयत्' ऐसा ही कहते तो मनमें बनाई गई प्रतिमामें भीष्मजीने अपने चित्तको लगाया यह कहा जाता. ऐसा न समझ जाय इसकेलिए अलौकिक प्रकार कहते हैं. 'कृष्णे पुरःस्थिते' अर्थात् सामने खडे श्रीकृष्णमें चित्त लगाया. ''**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्**'' कोई धीर पुरुष अपने भीतर रहे हुए भगवान्को देखता है. अर्थात् चक्षुके व्यापारको भीतर ले जाकर उससे भीतर रही

हुई मानसी मूर्तिको देखता है यहां तो उससे विपरीत है. मनको चक्षुके द्वारा बाहर लाकर उससे भगवान्को देखता है. श्लोकस्थ 'कृष्ण' पद आविर्भूत (प्रकट) हुए भगवान्को कहता है. क्योंकि प्रकट हुए भगवान्का नाम ही कृष्ण है. भगवान् अन्तःकरणमें स्थित न होकर बाहर स्थित हैं इस बातको बतानेकेलिए भगवान्के वस्त्रादि परिकरको तथा आकारको कहते हैं. 'लसत्पीतपटे चतुर्भुजे' अग्निमें स्वच्छ किये सुवर्णकी तरहसे भगवान्के पीताम्बर हैं. यह 'लसत्' शब्द कहता है. देवकीकी प्रार्थनासे जो प्राकृत रूप धारण किया था उसे अभी छोडकर भगवान्ने अपना सहज ही चतुर्भुज रूप भीष्मजीको दिखाया. भगवान् सामने स्थित थे. इसलिए भीष्मजीको मनमें भगवान्की कल्पना करनेका क्लेश नहीं हुआ. भीष्मजी 'अमीलितदृक्' थे अर्थात् पलक आदिसे भगवान्के दर्शनमें बाधा होगी इसलिए निर्निमेष थे ।।३०।।

विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाशु गतायुधव्यथः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमः तुष्टाव जन्यं विसृजन् जनार्दनम्।।३१।।

श्लोकार्थः भगवान्के सर्वावयवोंकी विशुद्ध धारणासे जिनके सम्पूर्ण पाप क्षय हो गये हैं और भगवान्के देखने मात्रसे ही जिनके आयुधोंकी व्यथा शीघ्र दूर हो गई है और सब इन्द्रियोंके व्यापारमें जिनके अनेक प्रकारके भ्रम थे वे सब दूर हो गए हैं ऐसे भीष्मजीने प्राकृत शरीरको छोडते हुए जनार्दन भगवान्की स्तुति की।।३१।।

सुबोधिनीः भीष्मजी भगवान्में होनेवाली मानस धारणा भगवान्के सर्वावयवमें थी. अर्थात् धारणा सब अङ्गोंकी होती है और ध्यान एक एक अंगका होता है. यहां 'धारणा' पद है. इसलिए भीष्मजीने भगवान्के सब अङ्गोंकी धारणाकी यह अर्थ हुआ. अपहत पाप्मारूप भगवान्को धारणा थी इसलिए वह शुद्ध थी. ऐसी धारणासे सम्पूर्ण पापोंका क्षय हो गया. द्रौपदीके वस्त्र केशादि खींचनेपर प्रतीकार न करनेसे तथा उपेक्षा जनित जो भीष्मजीका पाप उसने भगवान्के अपराधको पैदा किया वह सब पाप शुद्ध सेवक भाव होनेसे निवृत्त हो गया. भगवान्में भीष्मजीका शुद्ध भाव हो गया इसलिए भगवान्ने भी कृपासे उनकी पीडाको दूर कर दिया. यही बात 'तदीक्षया' आदिसे कही है. उन भगवान्की दोष निवर्तक दृष्टिसे ही भीष्मजीको जो आयुधोंकी व्यथा थी वह निवृत्त हो गई. मन आदि सब इन्द्रियोंके व्यापारमें भ्रम न रहा. ऐसा कहनेसे

भीष्मजीमें बाह्य एवं आन्तर दोष न रहा. ऐसा कहा गया. श्लोकस्थ 'जन्यम्'का अर्थ प्रकृतिसे बना हुआ देहादि समुदाय उसे छोडते हुए भीष्मजीने जनार्दनकी स्तुति की. जो प्रकृतिको पीडित करता है वह जनार्दन है जब तक प्रकृति पीडत नहीं होती तब तक अपने देहादि कार्यको हटाती नहीं. इसलिए भीष्मजीने प्रकृतिको पीडित करनेवाले भगवान् जनार्दनकी स्तुतिकी ।।३१।।

आभासार्थ: मर्यादाके अनुसार अन्तमें भगवान्के विषयमें जो कर्तव्य होता है उसका यहां निरूपण करते हैं. उनमें सबसे पहला भगवान्को सर्व समर्पण करना है. तदनन्तर माहात्म्य ज्ञानपूर्वक भगवान्में प्रेम होता है. तत्पश्चात् आत्मसमर्पण करना है. सर्व समर्पण तथा आत्मसमर्पणमें आदि और अन्तमें एक एक श्लोक है. अर्थात् 'इतिमतिरुपकल्पिता'से सर्व समर्पण है और 'तम् इमम् अहम् अजम्' जो अन्तका श्लोक है उसमें आत्म समर्पण है. मध्यमें माहाम्यज्ञान पूर्वक भक्तिके विषयमें नौ श्लोक हैं. भक्ति नौ प्रकारकी है अत: वहां पहले सर्व समर्पणका एक श्लोकसे निरूपण करते हैं:

भीष्म: उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्त्वत–पुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखम् उपगते क्वचिद् विहर्त्तुं प्रकृतिम् उपेयुषि यद् भवप्रवाहः।।३२।।

श्लोकार्थ: भीष्मजी कहते हैं कि अन्य बातोंको समाप्त कर स्वानन्दको प्राप्त हुए कहीं विहार करनेकेलिए जिससे विश्वका प्रवाह चलता रहता है ऐसी प्रकृतिको स्वीकार करनेवाले यादवोंमें श्रेष्ठ जिनसे कोई बडा नहीं है ऐसे पुरुषोत्तम भगवान्में कामना रहित बुद्धिको अर्पण करता हूं।।३२।।

सुबोधिनी: श्लोकमें आया 'इति' शब्द भीष्मजीके अन्य सब कर्तव्योंकी समाप्तिका बोधक है. परमेश्वरसे पृथक् हुए अनन्तकोटि जन्मसे जो कुछ किया जो कुछ है विचार करनेपर उन उन विषयोंमें ले जानेवाली बुद्धि ही हमारी है. जिसके द्वारा मैंने यह किया यह मेरा है ऐसा विचार होता है. सभी पदार्थ तो भगवान्के हैं. अतः जो बुद्धि हमारी है उसे ही भगवान्को समर्पित करनी चाहिये. यही बात 'इति मति'से कहते हैं. अर्थात् अन्तिम उच्छ्वास पर्यन्त जो बुद्धि हमने सम्पादितकी है वह भगवान्को अर्पित कर दी. क्योंकि पदार्थ तो भगवान्के हैं और बुद्धि ही अपनी है. तात्पर्य यह है कि बुद्धिको भगवान्के अर्पण कर दिया. क्योंकि अपनी चीज ही अर्पितकी जाती है. किसी फल कामनाकेलिए अर्पित नहीं

किया. इसी बातको 'वितृष्णा' पदसे कहते हैं. यद्यपि इस प्रकार बुद्धिके समर्पित करनेपर शास्त्रसिद्ध कोई फल नहीं है. तथापि मैं यह समर्पित करता हूं. मुझे यह फल मिलेगा. इस प्रकार स्वयं ही फलकी तृष्णा होती है अतः उसीका वितृष्णासे निषेध किया है. श्लोकमें आये 'भगवति' पदका अर्थ है ब्रह्ममें. 'सात्वत–पुङ्गवे'का तात्पर्य यह है कि यादवोंमें श्रेष्ठ रूपसे प्रकट हुए. 'विभूति'का अर्थ है भूमारूप जो अक्षर ब्रह्म है उससे परे होनेवाले पुरुषोत्तममें शंका होती है कि पुरुषोत्तम भगवान् यादवोंमें श्रेष्ठ रूपसे कैसे कहलाये तब कहते हैं कि 'स्वसुखमुपगते' अपने परमानन्दकोलिये हुए ही कदाचित् किसी स्थान विशेषमें **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''** अर्थात् जैसे लोकमें राजा विनोदकेलिए मृगयाकेलिए जाता है मांस आदि तो दूसरोंसे भी मंगवा सकता है वैसे ही भगवान् भी लीला करते हैं और वह लीला उसके गान करनेवालोंको मोक्ष रूप हो जाती है. एतदर्थक इस न्यायसे विहार करनेकेलिए अपनी ही स्वभावरूपा प्रकृतिको जो कि सांख्यादि न्यायसे विश्वको उत्पन्न करनेवाली मानी जाती है. उसे स्वयं पिता रूप भगवान् स्वीकार करते हैं. ऐसे भगवान्में मेरी मति समर्पित हो. भगवान् अपनी स्वभावरूपा प्रकृतिको क्यों स्वीकार करते हैं तो कहते हैं कि 'यद्भवप्रवाहः' जिस प्रकृतिके सम्बन्ध होनेसे विश्वकी बीजांकुरकी तरह परम्परा चलती है. वह प्रकृति शक्तिरूप होनेसे भगवान्से अभिन्न है. तो भी प्रकृतिके स्वरूपको भिन्न अभिन्न रूपमें कहनेपर यह कहा जा सकता है. यदि अभिन्न है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती. क्योंकि वह नित्य है. भिन्न होनेपर भी अनादि होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती. अतः उसके संयोगसे दूसरेकी ही उत्पत्ति हो सकती है. इसी आशयसे कहते हैं कि ये ऊपरका विवरण 'न घटत उद्भव' इस श्लोकके तात्पर्यको लेकर है. जैसे सृष्टि बनाकर क्रीडाके लिए अपनी स्वभाव रूपा प्रकृतिका सम्बन्ध करते हैं उसी प्रकार हमको मुक्ति देनेके लिए यादवोंमें श्रेष्ठ बनते हैं ।।३२।।

आभासार्थ: अब मेरा भगवान्में प्रेम हो यह भीष्मजी प्रार्थना करते हैं:

त्रिभुवन–कमनं तमाल–वर्णं रविकर–गौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ।।३३।।

श्लोकार्थ: त्रिलोकमें एक ही सुन्दर तमालवृक्षके समान नीलवर्ण सूर्यकी किरणोंके समान लालवर्णसे मिले श्रेष्ठ पीताम्बरको धारण करनेवाले

अलकावलीसे शोभित मुखारविन्द युक्त श्रीअंगको धारण करनेवाले अर्जुनके सखा भगवान्‌में मेरी अलौकिकी प्रीति हो।।३३।।

सुबोधिनी: कदाचित् अन्तर्यामीके साथ अभेद होनेसे उसमें अथवा जीवात्मामें रतिकी प्रार्थना भीष्मजीनेकी यह बात नहीं है किन्तु जिनने शरीर धारण किया है और जिनमें प्राकृत (साधारण) व्यक्ति भी यह शरीरवाला है ऐसी प्रतीति करते हैं ऐसे मेरे सामने उपस्थित आपमें मेरा प्रेम हो. शास्त्रके द्वारा आपके स्वरूपका ज्ञान होनेपर मेरा कार्य हो इसकी मुझे अपेक्षा नहीं है. मैं तो यह चाहता हूं कि जिसमें प्राकृत व्यक्तियोंकी यह शरीरी है ऐसाी प्रतीति होती है उसमें प्रेम चाहता हूं. अर्थात् आपके इस स्वरूप बलसे ही जो कार्य होता है वही होवे. इसी बातका 'वपुर्दधानम्'से अनुवाद करते हैं. स्वरूप सौन्दर्यसे ही भगवान्‌में मेरा चित्त लगे इसलिए भीष्मजी भगवान्‌के रूपका वर्णन करते हैं. तीन लोकमें जो लोक दृष्टिसे सुन्दर माने जानेवाले हैं उनमें मेरी प्रीति हो शास्त्र संस्कारके द्वारा जिसकी प्रतीति होती है उसमें नहीं. शास्त्रोंके द्वारा समझे जानेवाले भगवान्‌से जो फल होगा वह बुद्धिके द्वारा होनेसे अल्प होगा क्योंकि बुद्धि कल्पना करेगी तो बुद्धिगत भगवान्‌का मनन होगा. लौकिक रूपमें शरीरी प्रतीत होनेवाले इन भगवान्‌में प्रेम किया जाय तो इस वस्तुके सामर्थ्यसे महान् फल होता है. भगवान् तमालवृक्षके समान श्यामवर्ण हैं. तमालवृक्षमें नैसर्गिक सर्वाधिक सदा एकसा रहनेवाला नीलवर्ण है. 'तमालवर्ण' पद देकरके यह बताया कि वृक्ष सर्वथा परहित करनेवाला है. इसी तरह भगवान् भी परहित करनेवाले हैं. भगवान् रविकर गौरवराम्बर हैं. अर्थात् सूर्य किरणोंकी तरह गौर और श्रेष्ठ हैं वस्त्र जिसका. सबकी मुक्तिकेलिए प्रकट हुए भगवान्‌का पीताम्बर स्वरूपावरण करनेके कारण दुष्ट है ऐसी आशङ्कापर कहते हैं कि 'रविकर' सूर्यकी किरणें घट आदिपर पडती हैं तो उसे बताती ही हैं आवृत्त नहीं करतीं. ढकती नहीं. वैसे ही पीताम्बर भी परमानन्दका प्रकाश ही करता है. उसे छिपाता नहीं. पीताम्बरको वेदरूप भी माना है. वेद, अर्थका प्रकाश ही करता है. छिपाता नहीं. 'गौर' शब्दका अर्थ यह है कि जिसमें कुछ ललाईके साथ पीलापन हो ऐसा भगवान्‌का पीताम्बर है. नीलवर्ण कुछ दूसरे वर्णवालेके सम्बन्धसे प्रकाशित होता है. यहां भगवान्‌का श्यामवर्ण पीताम्बरसे शोभित है. वेदोंकी प्रार्थना थी कि भगवान् हमसे आवेष्टित होकर रहें. भगवान्‌ने उन्हें कहा कि ठीक है तो पीताम्बर रूपमें बने वेद भगवान्‌को ढककरके

रहते हैं. इसलिए पीताम्बरको वेदरूप कहा. पीताम्बर यदि मायारूप होता तो वह प्रकाशक नहीं होता इसलिए पीताम्बरको वेदरूप बताया. वेदत्रयी रूप सूर्य अपने स्वरूपसे घटादिको प्रकाशित करता है वैसे ही यहां भी समझना चाहिये. 'वासश्छन्दोमयं पीतम्'के अनुसार पीताम्बरको वेदरूप बताया है. तात्पर्य यह है कि क्रिया बाहुल्य एवं उसके नाना फल बताकर भगवान्से जीवोंको पृथक् किया और अपनी क्रियाओंमें मानवोंको लगाया. जिससे केवल भगवद्भक्ति करनेवाले जीव न रहें. इस प्रकार वेद भगवान्के स्वरूपको ढकनेवाला है. किन्तु वेदरूप पीताम्बर मायाकी तरह भगवान्का आवरक नहीं है. यहां वस्त्रकेलिए 'अम्बर' पद इसलिए दिया है कि उससे आकाशका भी बोध हो जैसे आकाश व्यापक है वैसे ही वेदरूप वस्त्र भी व्यापक है ऐसा 'अम्बर' पदसे कहा गया. अथवा ब्रह्म व्यापक है तो उसका वस्त्र भी व्यापक है और वस्त्रकी अप्रकृतता भी बताई. अथवा रवि किरणोंसे गौर श्रेष्ठ जो आकाश वह ब्रह्मका शरीर है. अर्थात् ब्रह्म आकाश शरीरवाला है. यह कहा गया. 'त्रिभुवनकमनं तमालवर्णम्' ये जो दो विशेषण हैं वे आकाश पक्षमें भी स्पष्ट हैं. क्योंकि आकाश त्रिभुवनको अवकाश देता है. इसलिए सुन्दर है और आकाशकी प्रतीति तमालवृक्षके जैसी श्याम है. अब 'अलककुलाब्जवृताननम्'का अर्थ कहते हैं कि अलकावलिसे आवृत्त है मुखारविन्द जिसका. अथवा 'अल'का अर्थ है अधिक. 'क'का अर्थ है आनन्द और 'कुल'का अर्थ है समूह अर्थात् अधिक आनन्दके समूहसे चारों ओरसे वेष्टित अर्थात् आनन्दरूप कर चरणादि रूपसे स्थित. 'आनन'का अर्थ है जिसका चारों ओरसे अभाव नहीं ऐसा सद्रूप सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी, बिजली, मेघादि रूप अब्ज है जिसके अर्थात् आनन्दरूप है अवयव जिनके ऐसे आकाश शरीरवाले ब्रह्मके दन्त नेत्र रूप है सूर्य चन्द्रमा आदि जिसके. 'वपु'का अर्थ यह है कि 'व' अर्थात् अमृत उसका 'पुष' पोषण करनेवाला अर्थात् सबको आनन्द देनेवाला जिसका परमानन्द स्वरूप है. अथवा 'अलक-कुलावृताननाब्जम्'का यह अर्थ है कि विशेष रूपमें जिनको सुख है ऐसे ब्रह्मज्ञानी हैं. उनके समुदायसे व्याप्त. अथवा संस्कृत जो पृथ्वी आदि तद्रूप शरीरको ग्रहण करनेवाले ब्रह्मज्ञानी उनसे परिवेष्टित. अथवा ब्रह्मज्ञानी ही अलकावलि रूपमें हैं जिसके उससे आवृत. अग्नि ब्राह्मण रूप जो मुख वह जिसका आसन कमल है अर्थात् कमल पत्रोंमें स्थित सनकादि ब्राह्मण देवता और ज्ञानियोंसे आवृत्त कर्णिका रूप आसन है. सूर्य

चन्द्रमा आदि जलसे पैदा होते हैं अतः 'अब्ज' पदसेलिये गये जो सूर्य चन्द्रमा आदि हैं उनसे भी आवेष्टित हैं. भगवान् इस प्रकारके शरीरका धारण करनेवाले होते हुए भी वे भक्तवत्सल हैं इस बातको 'विजयसखे'से कहा है. अर्थात् भगवान् ऐसे भक्तवत्सल हैं कि अर्जुनको सख्य पर्यन्त भक्ति दे दी है. 'विजयसखे'में 'विजय' पद है उससे अर्जुन लिया गया है. अथवा जिनका विशिष्ट जय हो वे भी 'विजय' पदसेलिये गये हैं. क्योंकि शत्रुओंको जीतना विशिष्ट जय नहीं है. अन्तःकरण आदिको जीतना विशिष्ट जय है. अर्थात् अन्तःकरण आदिको जीतनेवाला भक्त है, सखा (मित्र) जिसके. अथवा ऐसे अन्तःकरणको जीतने वालोंके आप सखा हैं. ऐसे भगवान्में मेरी अलौकिकी प्रीति होवे. अलौकिकी सबको दुर्लभ भगवान्में ही एक निष्ठा करानेवाली परमा प्रीति अन्तःकरण आदि जीतनेवालेमें ही हो सकती है. इसलिए आगेके श्लोकसे विरोध नहीं हुआ. अर्थात् भीष्मजीने अलौकिकी प्रीतिकी प्रार्थनाकी है. वह प्रीति उत्तमाधिकारीमें ही सम्भव है. भीष्मजीने 'मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि' अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे जिनकी त्वचा छेदी जा रही थी इस रूपमें युद्धके सामयिक रूपका वर्णन किया है. उत्तम अधिकारी इस प्रकार भगवान्केलिए नहीं कह सकता तो उत्तर देते हैं कि उस समय भीष्मजी अन्तःकरण आदिको जीतनेवाले नहीं थे और इस समय अन्तःकरणादिको जीतनेवाले हैं इसलिए अलौकिक रतिकी प्रार्थना युक्त है ।।३३।।

आभासार्थः शंका करते हैं कि युद्ध समयमें भीष्मजीमें उत्तमाधिकारीके भाव नहीं रहे तो इस समय भीष्मजीमें उत्तमाधिकारीके भाव कैसे उत्पन्न हुए इसका उत्तर देते हैं कि भगवान्की अवस्थाके भेदसे भीष्मजीके भावमें भिन्नता हुई पूर्व श्लोकमें की जानेवाली स्तुतिमें भगवान्में सर्वतोऽधिक सुन्दरता होनेसे वे सुख जनक हैं एवं प्रकाशक हैं. सत्त्वगुणके सुखरूप प्रकाश होता है अतः सत्त्वगुणका कार्य होनेसे सत्त्वयुक्त सत्त्वकी अवस्थाका भीष्मजीने वर्णन किया है भीष्मजीको भगवान्के दर्शन हुए. अब भगवान्की रजोमिश्रित राजस अवस्थाको कहते हैं :

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक् कचलुलितश्रमवार्य्यलंकृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत् कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ।।३४।।

श्लोकार्थः युद्धमें घोडोंके खुरकी रजसे धूसर वर्ण चारों ओर फैले हुए केशोंसे मिले हुए श्रम बिन्दुओंसे शोभित मुखारविन्दवाले मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे

जिनकी त्वचा छेदी जा रही है जो कवचसे शोभित हैं ऐसे श्रीकृष्णमें मेरा अन्त:करण हो।।३४।।

सुबोधिनी: भगवान्‌की सत्वमिश्र अवस्था तथा रजोमिश्र रजोवस्था आदि जितनी भी अवस्था हैं उनमें रहे हुए भगवान्‌में प्रीति हो ऐसी प्रार्थना करते हैं. युद्धमें घोडोंके खुरोंके अग्र भागसे खुदी हुई रजसे विशेष रूपसे परितः धूसरवर्णवाले जो बाल उनसे सम्बन्ध रखनेवाला युद्धसे होनेवाले श्रमवारि (पसीना)से अलंकृत है मुख जिनका. नील मुख कमलपर मोतियोंके सदृश श्रम बिन्दु अधिक शोभा बढा रहे हैं. श्लोकस्थ 'मम' पदसे भीष्मजीलिये गये हैं. 'त्वक्' शब्दसे चर्म आदिलिये गये हैं. अर्थात् भीष्मजी कहते हैं कि मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे छेदी जाती हुई त्वचावाले श्रीकृष्णमें मेरा अन्तःकरण हो. अथवा 'निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि' यह युद्धका विशेषण है. अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे छेदी जाती हुई है त्वचा जिस युद्धमें. तीक्ष्ण बाणोंसे शरीरका भेदन होना राजस अवस्थाकी शोभा ही है. अथवा इन्द्रियादिकोंसे युद्ध करनेकेलिए तुरग अर्थात् वेद अथवा सूर्य आदि उनका रज अर्थात् काम अथवा रजोगुण उनसे विशेष रूपसे धूसर जो सकाम मनुष्य. तात्पर्य यह है कि कालके वशमें होनेसे तथा वेदोक्त क्रियाओंके वशमें होनेसे मनुष्य सकाम है. काल एवं वेद उन्हें सकाम बनाते हैं. अग्नि सूर्य आदि अमुक अमुक कालके बतानेवाले हैं. सूर्य आदि घोडे हैं. इसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं. ''**अग्निर्वा अर्वा वायुः सप्तिः आदित्यो वाजी एताभिरेव अस्मै देवताभिः देवरथं युनक्ति**'' तात्पर्य यह है कि अग्नि वायु सूर्य घोडे हैं इनसे देवरथ जोडा जाता है. इस श्रुतिमें सूर्य आदिको घोडा बताया है. त्रिपुरको जलानेमें वेदोंको घोडा बनाया गया था. इसलिए वे भी घोडे कहे जाते हैं. ऐसे सकाम क्रममुक्तिके अधिकारी चारों ओरसे ब्रह्मको जाननेवाले जो सूर्यादि मार्ग गामी हैं. अथवा अश्व समुच्चय अर्थवाले 'च'से सकामोंसे भिन्न ब्रह्मज्ञानीलिये गये हैं. इन सबका समाहार द्वन्द्व माननेपर एकवचन होगा. इतरेतर द्वन्द्व माननेपर विग्रह यह होगा कि ''**तुरगरजोविधूम्राश्च ते विष्वक् काश्चाश्च**'' श्लोकमें कहे गये सकाम ब्रह्मज्ञानीके समुदायसे एकताको प्राप्त हुए अर्थात् उनके समान जो 'श्रमवार्यलङ्कृत' अर्थात् भगवान्‌का श्रमवारि रूप जो गंगाजल उससे अलंकृत अर्थात् पवित्र. जो पवित्र होगा वही अलंकृत होगा. ऐसे जो ब्रह्मा शिव आदि जिसके मुखमें है. अर्थात् ब्रह्मा शिव भी जिन भगवान्‌के भक्ष्य हैं. अथवा

'आस्ये'का अर्थ है आसमन्तात् सद्रूप ब्रह्ममें. श्लोकमें आये हुए 'आस्ये'के 'स्य'का सद्रूप अर्थ कैसे होगा इस पर प्रकाशकार लिखते हैं कि यहां सत्से स्य बना है. सत्में आये हुए त्को और समें अ है उसको पर निपात ''बहुलं छन्दसि''(पाणि.सू.)से हुआ है. इसलिए 'आस्य'का अर्थ ऐसा है. उपर्युक्त बातसे भगवान्का बडा सामर्थ्य सूचित हुआ तथा कालरूपता भी सूचित हुई. भीष्मजीसे कहे गये 'मम' से अहङ्कार लेना अर्थात् मेरे पेने बाणोंसे ऐसा कहनेसे अहङ्कार सूचित होता है. उस अहङ्कारसे निश् अर्थात् रात्रि उसके प्राप्त होनेवाले अर्थात् अहङ्कारसे जो अज्ञानको प्राप्त हो गये हैं. यहां 'निशा' शब्दसे अज्ञान लिया गया है. अहङ्कारसे जो अज्ञानी होते हैं वे दूसरोंके मर्म भेदन करनेवाले होते हैं जैसे कि बाण भेदन करता है. पर भेदन (दूसरेको छेदनेवाले ऐसे) अर्थको लेकर मर्म भेदन करनेवाले 'शर' पदसे कहे गये हैं. इस प्रकारके पाषण्डियोंसे विशेष रूपसे नष्ट किये गये हैं त्वचा रूप वेदोंको जिसके अथवा पाखण्डियोंसे वेद दूषित हुए हैं जहां, इस पक्षमें 'त्वच्' शब्दसे वेद अर्थ लिया गया है. पाषण्डकी प्रवृत्ति होनेपर अथवा कलियुगमें दूसरी कोई गति न होनेके कारण पाषण्डी वेदको दूषित कर देते हैं. भगवान् बुद्धने जब इस प्रकार वेदोंको दूषित किया तो भगवान्को दोष लगाना चाहिये इसपर कहते हैं कि 'विलसत्कवचे' विशेष रूपसे शोभित हैं धर्मादि रूप कवच जिसके इसलिए वह भगवान् निर्दोष हैं. धर्मादि रूप कवच धारण किये हुए होनेपर दोष नहीं लगता. ऐसे कृष्ण भगवान्में मेरा अन्तःकरण एवं आत्मा हो. यहां 'आत्मा' शब्दसे अन्तःकरण एवं आत्मा दोनोंलिये गये हैं. निश्चय करके भक्ति अन्तःकरण एवं आत्मासे होती है. आत्मा एवं अन्तःकरण ये दोनों यदि भगवान्में होते हैं तो उसमें अनवद्य भक्ति होती है. रति अन्तःकरण एवं आत्मा साध्य है. यदि अन्तःकरण एवं आत्माका सम्बन्ध भगवान्में कर लिया जाता है तो अनवद्य रति होना माना जाता है. इस श्लोकमें अन्तःकरणका भगवान्से सम्बन्ध चाहा गया है. इसलिए पूर्वश्लोकके अर्थमें हेतु है. इस श्लोकका अर्थ हेतु है. भीष्मजीने भगवान्में निर्दोष परमा प्रीतिकी पूर्व श्लोकमें कामनाकी है तो ''**मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि**'' ऐसा भीष्मजीका कहना इस प्रकारकी प्रीति चाहनेवालेका युक्त नहीं होता परन्तु जब इसका अर्थ दूसरा कर दिया गया तो पूर्वापर विरोध नहीं हुआ ।।३४।।

आभासार्थः तमोमिश्रित तमो अवस्थाको कहते हैं :

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्षणा हृतवति पार्थसखे मतिर्ममास्तु ।।३५।।

श्लोकार्थ: दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको स्थापित करो ऐसे अपने सखा अर्जुनके वचनोंको सुनकर जल्दी ही अपनी और शत्रुओंकी सेनाके बीचमें रथको ले जाकर स्थित हुए और नेत्रोंसे शत्रुओंके सैनिकोंकी आयुको हरण करनेवाले अर्जुनके सखा भगवान्में मेरी बुद्धि हो।।३५।।

सुबोधिनी: तत्क्षण ही अर्जुनके ''सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'' इस वचनको सुनकर अपनी एवं शत्रुकी सेनाके बीचमें रथको स्थापित कर दिया. यहां भगवान्में पाण्डवोंका पक्ष करना और पाण्डवोंके लिए कौरवोंको मारना यह तीसरा गुण तमोगुण है. शत्रुओंके सैनिकोंकी आयुको काल दृष्टिसे हरण करनेवाले कुन्तीके पुत्र अर्जुनके मित्रमें जो पाण्डवोंका पक्ष लेनेवाले तथा कौरवोंके विनाश करनेवाले होनेसे तमोगुणवाले होनेपर भी भक्तवत्सलता गुण होनेसे ऐसे भगवान्में मेरी बुद्धि हो ।।३५।।

आभासार्थ: सत्त्वमिश्रित रजोऽवस्थाको कहते हैं:

व्यवहित–पृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ।।३६।।

श्लोकार्थ: दूर दूर स्थित सेनाओंके अग्रिम भागको देखकर दोष बुद्धिसे अपने आत्मीय जनोंको नहीं मारनेवाले अर्जुनकी कुमतिको जिसने आत्मविद्या (गीतोपदेश)से दूर किया उस परम भगवान्में मेरी भक्ति बनी रहे।।३६।।

सुबोधिनी: दूर दूर स्थित जो सेनाएं उनके अग्रिम भागको देखकर अथवा व्यवहितका अर्थ है जिसमें विशेष रूपसे लोग सावधान हैं. तीसरा अर्थ व्यवहितका यह भी है कि जो अहित (शत्रु) है. यह अर्थ इसलिए कहा गया कि अव्यवहितमें जो 'अव' उपसर्ग है वह निषेधार्थक है. अर्थात् विशेषण जो अहित है अर्थात् शत्रुओंकी सेनाके अग्रिम भागको देखकर. अथवा व्यवहित 'वि'के साथ हितका सम्बन्ध करनेपर अर्थ यह है कि जो विशेष रूपसे हित है. निषेधार्थक 'अव'के साथ हितका सम्बन्ध होनेपर यह अर्थ हुआ कि जो अहित है उनकी सेनाके अग्रभागको देखकर जिस अग्रिम भागमें बान्धव ही खडे हैं उन बान्धवोंके मारनेके बिना सेनामें रहे हुए साधारणोंको मारना भी सम्भव नहीं है. अतः स्वजनको न मारकर निवृत्त हुए अर्थात् परहिंसा दोषसे निवृत्त हुए अर्जुनके

द्वारा नापितसे जैसे क्षौर कराया जाता है ऐसे ही यहां सेनाको साफ कर दिया यह समझना. भारभूत जो क्षत्रिय हैं वे श्मश्रू (दाढी मूंछ) आदि रूप है. और अर्जुन नापित रूप है. नापितसे जैसे केश दूर किये जाते हैं ऐसे श्मश्रू आदि रूप जो शत्रु सैनिक हैं. उन्हें भगवान्ने अर्जुनके द्वारा नष्ट करा दिया. अर्जुनने स्वजनोंको देखकर जब मारना न चाहा तो भगवान्ने गीतासे अपनी विद्याका अर्थात् यह सब कुछ मुझसे ही किया जा रहा है और मेरा इसमें हित है. इस रूपकी आत्मविद्याका उपदेश देकर अर्जुनके मोहको जिसने हटाया और भगवान्ने शत्रु सैनिकोंको मुक्ति देनेकेलिए उनमें रहे जडांशको दूर किया. इस प्रकारके भगवान्में सर्वथा दोषकी कल्पना नहीं हो सकती. भीष्मजीने भगवान्को आत्मविद्याके उपदेष्टाके रूपमें वर्णन करनेसे भगवान्को गुरु बताया क्योंकि जो विद्याका उपदेश देता है वह गुरु होता है अतः भीष्मजीने गुरु भावनासे यहां चरणारविन्दोंमें प्रेम चाहा. पूर्वश्लोकोंमें 'चरणरति' पद न देकर इसीमें 'चरणरति' पद दिया. गुरु इतना सम्मान्य होता है कि उसके चरणारविन्दमें ही प्रेम चाहना चाहिये. श्लोकमें 'परमस्य' आया है इसका अर्थ यह है कि जिससे पर पुरुष ज्ञात होवे. श्लोकमें जो 'परम' पदसे कहा गया है वही 'तत्' पदसे कहा गया है. अर्थात् ''**मत्तः परतरं नान्यत्**''(भग.गी.)से भगवान्ने अपने आपको सबसे पर बताया. और ''**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**''(भग.गी.) इत्यादिसे अपना ज्ञान अपने हीसे होना बताया. इसलिए वही भगवान् परम भी हो सकता है और पर भी हो सकता है अर्थात् वही भगवान् परको समझानेवाला हो सकता है. अथवा गीताके द्वारा आत्मविद्याका उपदेश देनेसे सात्विकता बताई और युद्धसे संहार करानेके कारण इस अवस्थाको रजो अवस्था बताई और उस भगवान्के चरणारविन्दमें रति चाही है ।।३६।।

आभासार्थः तमोमिश्रित रजो अवस्थाको कहते हैं :

स्वनिगमम् अपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुम् अवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिवि हन्तुमिभं गतोत्तरीयः।।३७।।

श्लोकार्थः अपनी प्रतिज्ञाको छोडकर मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकेलिए रथसे नीचे कूद पडे और सिंह जैसे हाथीको मारनेकेलिए उस पर टूट् पडता है वैसे ही रथका पहिया लेकर मुझपर टूट् पडे. उस समय उत्तरीय गिर गया और पृथ्वी कांपने लगी।।३७।।

सुबोधिनीः श्लोकमें आये निगमका अभिप्राय शस्त्र ग्रहण नहीं करनेकी

प्रतिज्ञा. भगवान्ने शिशुपाल सहित दन्तवक्त्रके मरनेपर शस्त्रोंका संन्यास (त्याग) कर दिया था. पुनः तृतीय दिनके युद्धमें तथा नवम दिनके युद्धमें भीष्मजीको मारनेकेलिए भगवान्ने चक्र लिया युद्धमें आनेकेसमय भगवान्ने प्रतिज्ञाकी थी कि युद्ध नहीं करता हुआ मैं एक ओर रहूंगा. दूसरी ओर मेरी नारायणी सेना रहेगी. भीष्मजी कहते हैं कि मैंने यह प्रतिज्ञाकी थी कि सर्वथा भगवान्को शस्त्र ग्रहण कराऊंगा. उन दोनों प्रतिज्ञाओंमें मेरी प्रतिज्ञाको सत्य बनानेकेलिए रथपर विराजे हुए भगवान् नीचे कूद पडे और रथका पहिया उठाया. जब कि भगवान्ने शस्त्र ग्रहण नहीं करनेकी प्रतिज्ञा की. तो फिर शस्त्र ग्रहण क्यों किया तो कहते हैं कि ''**अहं भक्तपराधीनः**'' इस वाक्यके अनुसार भगवान्की प्रतिज्ञा भक्ताधीन रहनेको अधिक है इसलिए भगवान्ने उसीके अनुसार कार्य किया. भगवान्ने शस्त्र ही लिया भीष्मजीको मारा नहीं. भगवान्ने रथके पहियेको जब उठाया तब उसमें सुदर्शनजीका आवेश हो गया. इसलिए महाभारतमें रथके चक्रके अग्रभागको क्षुरके अग्रभागके समान तीक्ष्ण कहा है. भगवान्ने जब प्रतिज्ञा छोड दी तो पृथ्वीमें कंप हुआ इसी बातको 'चलद्गुः'से कहा है. गोका अर्थ है पृथ्वी वह कम्पित हो गई. अर्थात् साधारण व्यक्तिका भी प्रतिज्ञा छोडना अच्छा नहीं होता तो अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् प्रभुके प्रतिज्ञा छोडनेपर पृथ्वीने समझा कि भगवान् जब नियमोंका त्याग करने लगे हैं तो मेरा इस असमयमें भी प्रलय कर सकते हैं अतः पृथ्वीमें कम्प हुआ. जैसे सिंह हाथीको मारनेकेलिए दौडता है इसी प्रकार भगवान् भीष्मजीकी ओर दौडे. सिंहको जैसे मारनेका दोष नहीं लगता. वैसे ही भगवान्को भी प्रतिज्ञा त्याग होनेपर भी मारनेका दोष नहीं लग सकता. क्योंकि ''**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः**'' जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों भात (भक्ष्य) बन जाते हैं. इस श्रुतिके अनुसार भगवान्को भक्षक बताया. अपनेमें भीष्मजीको मिलानेकेलिए ही भगवान् प्रवृत्त हुए. केवल मारणके नहीं. इसलिए भगवान्को मारनेका दोष नहीं आया. उस समय भगवान्का उपरना नीचे गिर गया. महाभारतमें ''**व्यालम्बीपीतान्तपटः**'' 'पीतान्तपटः' इस विशेषणसे उत्तरीय छोर पीला बताया गया है इसलिए रवि किरणोंके समान पीतरक्त न होनेसे उसकी वेदरूपता नहीं है किन्तु मायारूपता है. तात्पर्य यह है कि भगवान् भीष्मजीको मुक्ति देनेकेलिए उतरे किन्तु उस बातको तो छिपाया और अर्जुनकी रक्षाकेलिए नीचे उतरे यह प्रकट किया यही भगवान्ने माया की. किसी अन्य उद्देश्यसे प्रवृत्त

हुए हैं और प्रकटमें कुछ अन्य दिखा रहे हैं. यही माया करना है. वह उत्तरीय पट पृथ्वीपर आकर गिर गया इसीलिए भीष्मजीको नहीं मारा. उत्तरीयके न होनेपर धर्मशास्त्रमें भोजन निषेध है इसलिए भगवान्ने भीष्मजीका भोजन नहीं किया. भगवान्के चक्र हाथमें लेनेपर भीष्मजीको मैं बडा वीर हूं ऐसा अहङ्कार हुआ जिससे भगवान्के ज्ञानकी स्फूर्ति जाती रही. भगवान्ने सोचा कि अहंकार दशामें भीष्मजीको मार देनेपर इनकी मुक्ति न होगी. इसलिए उस समय नहीं मारा. भगवान् ही प्रेमका कार्य जो मुक्ति है उसके देनेवाले हैं. इसलिए इस श्लोकमें भीष्मजीने प्रीतिकी प्रार्थना नहीं की. क्योंकि जिस मोक्षफलकेलिए भगवान्में प्रेम किया जाता है वह फल भगवान् स्वयं देनेकेलिए तैयार हैं श्लोकमें प्रतिज्ञा त्याग तामस है. भीष्मजीकी ओर दौडना राजस कार्य है. इसलिए यहां तामस राजसत्वकी अवस्था समझना ।।३७।।

आभासार्थः रजोगुण मिश्रित तमोगुणकी अवस्थाको कहते हैं :

शित–विशिख–हतो विशीर्ण–दंश–क्षतज–परिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभम् अभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः।।३८।।

श्लोकार्थः तीक्ष्ण स्वभाववाले बिना चोटीके पाषण्डियोंको जिसने निवृत्त कर दिया है. मच्छरोंके नहीं रहनेका आठ महिनेका समय है उसमें घूमनेसे क्षत हो गये हैं जिनके अर्थात् चातुर्मासमें सन्यासी एवं क्षत्रिय नहीं घूमते हैं, न युद्ध करते हैं और अतिरिक्त आठ महीना ही घूमते हैं ऐसे सन्यासियों एवं उत्तम क्षत्रियोंसे चारों ओरसे व्याप्त इसलिए भगवान् अधर्मके निवारक और धर्मके रक्षक हैं अतएव पापी मुझको मारकर मोक्ष देनेकेलिए अर्जुनके मना करनेपर भी जो बलात् मेरी और दौडे वे ही भगवान् मुझे प्राप्त हों।।३८।।

सुबोधिनीः भगवान्ने रथचक्रको दो बार उठाया. एक युद्धके तीसरे दिन दूसरा युद्धके नवमे दिन. इस श्लोकमें वर्णित भगवान्का रूप युद्धके नवम दिनका है. पूर्व श्लोक जो 'स्वनिगममपहाय' है उसमें युद्धके तीसरे दिनके स्वरूपका वर्णन है. इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ. श्रीमहाप्रभुजीने भक्त भीष्मपर यह दोष न लग जाय कि भगवान्के युद्धके स्वरूपका वर्णन कर रहे हैं. इसलिए भगवान्के प्राप्तिकी प्रार्थना करना कैसे युक्त हो सकता है इसी दोषके निवारणकेलिए श्रीमहाप्रभुजी और भगवन्निन्दाकी कोई भी बात कहना नहीं चाहते इसलिए भी इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार कर रहे हैं. शितका अर्थ है तीक्ष्ण विशिखका अर्थ

है पाषण्डी केवल चोटी कटाकर दिखावटी सन्यासी जैसे उनको जिसने नष्ट किया है 'विशीर्णदंश' शब्दका अर्थ यह है कि जिस समयमें मच्छर कम हो जाते हैं अर्थात् वर्षाके अतिरिक्त जो आठ मास उनमें फिरनेसे सन्यासियोंको क्षत हो जाते हैं तथा जो वीर क्षत्रिय हैं युद्धमें उनके क्षत हो जाते हैं. यहां 'क्षतज'का अर्थ यह किया गया है कि जिनके क्षत हो गये हैं ऐसे सच्चे सन्यासी एवं क्षत्रिय. उन सन्यासी और क्षत्रियोंसे चारों ओरसे व्याप्त. इससे यह कहा गया कि भगवान् पाषण्डियोंको नष्ट कर अधर्मका निवारण करते हैं और धर्मका पालन करनेवाले सन्यासी एवं उत्तम क्षत्रियोंसे व्याप्त होनेके कारण धर्मरक्षक हैं. अधर्म निवर्तक एवं धर्म रक्षक होनेसे ही आततायी मुझ पापिष्ठको मारनेकेलिए अर्जुनके मना करनेपर भी बलात् दौडे. युद्ध न करनेवाले भगवान्से मैं युद्ध करनेके कारण पापी था तथापि मुक्ति देनेकेलिए जो प्रवृत्त हुए वे भगवान् मेरी गति (मेरे प्राप्य) हों. यहां 'मे'में सम्बन्ध सामान्यमें षष्ठी मानकर ऐसा भी अन्वय किया गया है कि ये भगवान् अर्थात् मत्सम्बन्धी भगवान् मेरे प्राप्य हों. वे भगवान् मुझे मारनेकेलिए प्रवृत्त नहीं हुए थे किन्तु मुक्ति देनेकेलिए प्रवृत्त हुए थे इसी बातको बतानेकेलिए श्लोकमें 'मुकुन्द' पद दिया है. मुकुन्दका अर्थ है मोक्ष देनेवाला. तीक्ष्ण बाणोंसे मारे गये ऐसा वर्णन करना राजस है मुझे मारनेको दौडे यह तामस है इसलिए रजोमिश्रित तमोवस्था इस श्लोकमें वर्णित है ।।३८।।

आभासार्थः सत्त्वगुण मिश्रित तमोगुणकी अवस्थाको कहते हैं. भगवान्के देखनेसे जो सुख होना सात्त्विक है और मारकर उनको अपने स्वरूपमें लीन करना तामस है अर्थात् जीवित स्थितिमें ब्रह्मरूप नहीं बने किन्तु मरनेके बाद उनको भगवद् स्वरूप प्राप्त हुआ इस बातको कहते हैं:

विजय–रथ–कुटुम्ब आत्ततोत्रे धृत–हय–रश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्।।३९।।

श्लोकार्थः जो अर्जुनके रथकी रक्षा करनेवाले हैं, जिनने चाबुक लिया है और घोडोंकी लगाम पकड रखी है उस समयकी शोभासे जो दर्शनीय हैं. जिनके दर्शन करते हुए यहां जो मरे वे सब स्वरूपको प्राप्त हुए ऐसे भगवान्में मुझ मरनेकी इच्छा रखनेवालेका अनुराग हो।।३९।।

सुबोधिनीः अर्जुनका रथ सर्वथा परिपालनीय है. जैसे कुटुम्बका पालन किया जाता है. अतएव अर्जुनके रथको कुटुम्ब बताया. 'विजय' शब्दका अर्थ है

नाना प्रकारका जय जिसका अथवा जिसका जय नहीं रहा. अर्थात् जिसका जय संदिग्ध रहा ऐसा अर्जुन 'विजय' पदसे लिया गया है. क्योंकि जयद्रथके मारनेके समय अर्जुनका जय अशक्य हो गया था तब स्वयं भगवान्ने कशा (चाबुक) तथा घोडोंकी रस्सी लेकर खडे होकर कर्ण इत्यादिके अस्त्रोंको युक्तिसे रथके चलानेसे ही निराकरण करते हुए उस समयकी शोभासे अतिसुन्दर दिखाई दिये ऐसे आपमें मुझ मरनेकी इच्छा रखनेवालेकी प्रीति हो. ऐसा न हो कि पहलेकी तरह मरणके अनन्तर हो. मुझे प्रेमसे उत्तम फल हो इसकेलिए तो कोई आश्चर्यकी बात ही नहीं है. इसी बातको कहते हैं कि 'यमिह निरीक्ष्य' जिस भगवान्को अन्तकालके समय दर्शन कर युद्ध करनेवाले मुक्त हो गये तो अन्त समयमें स्नेह होनेपर मुक्त होनेमें तो कोई बात ही नहीं ।।३९।।

आभासार्थः तमोगुण मिश्रित सत्त्वगुणकी अवस्थाको कहते हैं :

ललित–गति–विलास–वल्गु–हास–प्रणय–निरीक्षण–कल्पितोरुमानाः।
कृतम् अनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।।४०।।

श्लोकार्थः हंस एवं हाथीकी तरह सुन्दर चलनेसे मनोहर रहस्यसे एवं प्रेम पूर्वक देखनेसे जिनको अधिक मान हो गया है ऐसी गोपीजन भगवान्के चरित्रका अनुकरण करती हुई बहुत मदान्ध होती हुई भी निश्चय करके जिनके स्वरूपको प्राप्त हो गई उन भगवान्में मेरी प्रीति हो।।४०।।

सुबोधिनीः सुन्दर गमनमें जो हंस एवं हाथी हैं उनकी तरह भगवान्का चलना मनोहर हास्य और स्नेहपूर्वक देखना ये क्रमशः तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुणोंके कार्य हैं. भगवान्की ऐसी चेष्टासे जिनको भगवन्माहात्म्यका ज्ञान न रहा और वे अधिक मान करने लगीं ऐसी गोपवधू जिनमें मान केवल अन्तःस्थित दोष ही नहीं था किन्तु त्रिदोष (सन्निपात)का कार्य भी बाहर कर रही थीं इसी बातको कहते हैं कि 'कृतमनुकृतवत्य' पूतनाके पयः पान आदि भगवच्चरित्रका अनुकरण कर रहीं थीं. यह एक प्रकारका दोष है. दूसरा उनमें यह दोष था कि लौकिक ज्ञान भी उनको नहीं रहा यही बात कहते हैं कि 'उन्मदान्धाः' बढे हुए मदसे भगवान्के ऊपर बैठनेकेलिए भी यत्न किया इसलिए वे अन्ध थीं. यह उनका द्वितीय दोष था. ऊपर कहा गया जो और मान करना उनका तृतीय दोष था. यह उनका त्रिदोष (सन्निपात) सर्वथा अचिकित्स्य था. और यह भी बात थी कि वे गायें चराने वालोंकी स्त्रियां थीं जिससे जाति एवं स्वभावसे भी दुष्ट थीं.

ऐसी गोपियां भी जिस भगवान्के सम्बन्धसे भगवान्के स्वरूपको प्राप्त हो गईं. श्लोकमें आया हुआ 'किल' पद प्रसिद्धि अर्थ में है. अर्थात् यह बात सर्वविदित है इसलिए इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये. यहां 'उन्मदान्ध' पदसे मोह होना तामस है और भगवान्का देखना सात्विक है इसलिए यहां तमोमिश्रित सत्त्वका वर्णन है ।।४०।।

आभासार्थः रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुणकी अवस्थाको कहते हैं:

मुनिगण–नृपवर्य्य–सङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिर–राजसूय एषाम्।
अर्हणम् उपपेद ईक्षणीयो मम दृशि–गोचर एष आविरात्मा।।४१।।

श्लोकार्थः मुनि समुदाय एवं श्रेष्ठ राजाओंसे व्याप्त सभाके बीचमें युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें पूजन ग्रहण कर जो दर्शनीय हुए वे जगत्की आत्मा भगवान् मेरे दृष्टिके विषय होते हुए प्रकट हैं इसलिए मेरा अहोभाग्य है।।४१।।

सुबोधिनीः मुनियोंके समुदाय एवं श्रेष्ठ राजाओंसे व्याप्त सभा मध्यमें. जो सबके मध्यका स्थान था. यहां मुनि सात्विक हैं और राजा लोग राजस कहे गये हैं श्लोकमें तामसोंका निर्देश नहीं है. 'अन्तःसदसि'का अर्थ है सभा मध्यमें. अभिषेकके दिन जब सदस्योंका पूजन होने लगा तो हमने कहा कि जो सर्वोत्तम है उसका पूजन होना चाहिये तब कृष्णको सब पुरुषोंमें उत्तम माना. क्योंकि इन भगवान्के पूजनसे इन सबका पूजन हो जाता है क्योंकि ये सबके सम्मानित हैं. ऐसे हम लोगोंके कहनेपर और इनके पूजनसे सबका पूजन होनेसे पूजाको स्वयंने ही ग्रहण किया. तब सबके दर्शनीय हुए. वही भगवान् मेरी दृष्टिके विषय हैं. अर्थात् इस समय इनके सौन्दर्यको देखता हूं. यह जो प्रकट स्वरूप सामने दिखाई दे रहा है यही सर्वरूप भगवान् हैं. इसके अन्तः रहनेवाला नहीं. कोई दूसरा सर्वरूप भगवान् नहीं है. यहां राजसूय राजासे किया गया है ऐसा बतानेसे राजसूय यज्ञ राजस है. और तत्सम्बन्धी रूपमें पूजनीय होनेसे भगवान्को भी राजस कहा है. ज्ञानानन्तर इनका निश्चय होनेसे सात्त्विकत्व भी कहा ।।४१।।

आभासार्थः इस प्रकार भीष्मजी अपनी दृष्टिसे भगवान्की सब अवस्थाओंका पूर्व श्लोकोंसे वर्णन कर गुणातीत अवस्थामें विद्यमान भगवान्को मैं आत्मसमर्पण करता हूं यह कहते हैं:

तम् इमम् अहम् अजं शरीरभाजां हृदि–हृदि धिष्ठितम् आत्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कम् एकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः।।४२।।

श्लोकार्थ: उन इन भगवान्को जो अजन्मा है देहधारी जीव जो अपनी अवस्था विशेष रूप है उनके हृदयमें जो अधिष्ठात्री देवताके रूपमें स्थित है. जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दृष्टिओंमें अलग अलग प्रतीत होता है. वैसे ही वह एक भगवान् अनेक प्राणियोंके हृदयमें अनेक रूपमें प्रतीत सा होता है उस भगवान्को भेद और मोहको छोडकर अच्छे रूपमें प्राप्त हो गया हूं।।४२।।

सुबोधिनी: पूर्वमें जो सर्वोत्कृष्ट धर्मवाला कहा गया है वही यह हृदयसे लेकर बाहर पर्यन्त अनुस्यूत (व्याप्त) है. यह देहादि रूप नहीं है किन्तु अजन्मा है. जैसे मेरे भीतर एवं बाहर है वैसे ही सब प्राणियोंमें भी है यही "**शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितम्**"से कहा है. 'शरीरभाजाम्'का यह अभिप्राय है कि शरीरकी सेवा करनेवाले जीव जिन्हें भगवान्ने अपने समान आकार पुरुष रूप देकर अपनी सेवाको छुडाकर देहकी सेवामें लगा दिया. देहोंमें अन्य (देह)की सेवा न हो इसकेलिये स्वयमेव प्रत्येकके हृदयमें अधिष्ठात्री देवताके रूपमें स्थित हो गये. जीवकी तरह स्थित नहीं हुए. ऐसी स्थितिमें जो भी सेवा होगी उनकी ही होगी. यदि कहें कि जीवोंका स्वरूप क्या है तो कहते हैं कि 'आत्मकल्पितानाम्' अपनेसे (भगवान्से) ये जीव कल्पित हुए हैं. "**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः**" (ब्रह्मसू.) अर्थात् भगवान्की अवस्था विशेष है. प्राकृत भोगोंको भोगनेकेलिये ही भगवान् जीव रूप बने हैं. यदि कहें कि एक ही भगवान् अनेक स्थानोंमें किस प्रकार अनुस्यूत (व्याप्त) दीख रहे हैं. तो कहते हैं कि "**प्रतिदृशमिव नैकधार्कम् एकम्**" चक्षुरिन्द्रियका अधिष्ठात्री देवता रूप सूर्य एक होते हुए भी प्रत्येककी दृष्टिके सामने पृथक्-पृथक् रूपसे दीखता है. अथवा बहिः स्थित ही यह सूर्य सबकी दृष्टिमें यही ज्ञात होता है कि इसका उदय मेरे हीलिये हुआ है. जैसा कि श्रुतिमें कहा है कि "**तस्मात् सर्व एव मन्यते मां प्रत्युगात्**" अर्थात् सभी यह मानते हैं कि मेरेलिये इस सूर्यका उदय हुआ है. अतः जो भी महान् होते हैं उनमें अचिन्त्य, सामर्थ्य होता है इसलिये भगवान्के एक होनेपर भी अनेकत्र स्थितिमें सन्देह नहीं करना चाहिये. इस प्रकारके परमात्माको अच्छे रूपमें प्राप्त हो गया हूं. अर्थात् योगके द्वारा अपनी आत्माको (अपने आपको) इसे सम्बद्ध कर लिया है. सभी भगवान्के पास ही रहें तो भी मायासे और विश्वके कार्यरूप होनेसे जो मायासे मोह होता है तथा कार्य होनेसे कारणरूप भगवान्से भेद प्रतीति होती है उन दोनों (मोह एवं भेद)के बाधक होनेसे भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध नहीं होता

इसलिये मैंने उस मोह एवं भेदको दूर कर दिया है यही बात 'विधूतभेदमोहः'से कही है. यहां यह भी भीष्मजीका आशय है कि भगवत्प्राप्तिके अनन्तर मेरे भेद और मोह दूर हो गये ।।४२।।

आभासार्थः इस प्रकार अपने मनमें जो भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति हुई उसे कहकर अन्तमें अपनेसे किये गये आत्म समर्पणका निरूपण कर भीष्मजीने शरीर छोड दिया यह कहते हैं :

सूतः उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनो–वाग्–देहवृत्तिभिः।

आत्मन्यात्मानम् आवेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्।।४३।।

श्लोकार्थः सूतजी कहते हैं कि इस प्रकार मूलरूप श्रीकृष्णमें मन, वाणी, देहकी वृत्तियों सहित अपनी आत्माको भगवत्सम्बद्ध कर श्वासको रोककर भीष्मजीने अपने देहको छोड दिया।।४३।।

सुबोधिनीः मूलरूप प्रकट हुए भगवान् कृष्णमें इस प्रकार देह वाणी एवं मनकी वृत्तियोंको भीष्मजीने लगा दिया. उन वृत्तियोंके साथ अपनी आत्माका सम्बन्ध भी भगवान्के साथ कर दिया. देह वाणी और मनका सम्बन्ध भिन्न रूपसे किया क्योंकि देह मन इन्द्रियां भगवान्से भिन्न प्रतीत होती हैं और अपनी आत्माका तो सम्बन्ध भगवान्में ही अभेदेन किया. क्योंकि दोनों आत्मत्वेन एक हैं जैसा कि श्रुतिमें कहा है "**इहैव समवनीयन्ते प्राणाः**" यहां ही भगवान्में प्राणोंका सम्बन्ध कराया जाता है. 'अन्तःश्वास'का अर्थ यह है कि प्राणायाम द्वारा श्वासको भीतर ही रोककर 'उपारमत्' अर्थात् देहको छोड दिया ।।४३।।

आभासार्थः तब सभीको जैसी प्रतीति हुई उसे कहते हैं:

सम्पद्यमानम् आज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।

सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये।।४४।।

श्लोकार्थः जब भीष्मजीको व्यापकपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्णमें एकताको प्राप्त हुए जानकर वे सब चुप हो गये जैसे रात्रिमें पक्षी चुप हो जाते हैं।।४४।।

सुबोधिनीः उस समय भीष्मजीके अन्तःस्थित रहे भगवान् बाहर प्रकट हो गये. उन्हींमें भीष्मजीका सायुज्य (एकता) हो गया उस समय विलक्षण बडी कान्ति निकली. उस कान्तिसे सबको ज्ञात हुआ कि भीष्मजी ब्रह्ममें मिल गये. ऐसे परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके समय किसी प्रकारका विघ्न (बाधा) न हो

इसकेलिए वहां रहे सब चुप हो गये क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय अनावृत (खुली) रहती है इसलिए उस इन्द्रिय द्वारा विषयोंसे मनका आकर्षण सम्भव है और उस मनके द्वारा जीवका आकर्षण भी हो सकता है. जैसे सुषुप्ति दशामें दूसरी इन्द्रियोंके व्यापारके न होनेपर भी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द जीव तक पहुंचता है और उससे वह जग जाता है. तात्पर्य यह है कि भीष्मजीके देहत्यागके समय वहां बैठे लोग कुछ बोलते तो भीष्मजीकी आत्माका सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अन्य ओर हो सकता था. वह न हो इसकेलिए सब चुप हो गये. रात्रिके आरम्भमें उस उस स्थान पर बैठे पक्षी जिनको कल हम रहेंगे या नहीं. जीवनके रहनेका भी निश्चय नहीं होनेसे विचार शून्य पहलेकी बातोंका अनुसन्धान नहीं रखनेवाले वे निद्रा न आनेपर भी चुप हो जाते हैं वैसे ही सब सन्देह मिटनेसे और दृष्टान्तको देखकर वक्तव्य दोष न रहा तथा ब्रह्म भूतको इस प्रकारकी अन्तिम स्थिति होती है ऐसे विचारसे वे सब ब्रह्मभूत होकर ही चुप हो गये ।।४४।।

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रचोदिताः।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः।।४५।।

श्लोकार्थः उस समय आकाशमें देवताओंसे बजाये गये नगाडोंका घोष होने लगा. उत्तम राजागण प्रशंसा करने लगे और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी।।४५।।

सुबोधिनीः देवता सर्वज्ञ हैं इसलिए उनने जाना कि वसु ही भीष्म बना है इसलिए हमारा वसु देवता मुक्त हो गया है इसलिए उन्होंने वाद्य बजाये. श्लोकमें वादन (बजाना) प्रशंसा तथा पुष्पवृष्टि तीनोंका वर्णन है. इनमें वादन तामस है, प्रशंसा सात्त्विक है और पुष्पवृष्टि राजस है और ये उत्तम हैं अर्थात् देवताओंने वाद्य बजाये पुष्पवृष्टिकी और राजाओंमें जो साधु थे उन्होंने प्रशंसा की. यहां 'राज्ञाम्'में निर्धारणमें जो षष्ठी है इसलिए यह अर्थ हुआ कि राजाओंमें जो साधु थे उन्होंने भीष्मजीकी प्रशंसाकी ऐसा कहनेसे वहां दुष्ट राजा भी थे ऐसा बताया गया है ।।४५।।

आभासार्थः 'भस्मान्तं शरीरम्' शरीर अन्तमें भस्म रूपमें परिणत होता है इस श्रुतिके अनुसार शरीरकी अन्तिम क्रियाएं की. यही कहते हैं :

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भारत!।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्त्तं दुःखितोऽभवत्।।४६।।

श्लोकार्थः भरत वंशमें पैदा होनेवाला युधिष्ठिर! उन भीष्मजीके मृत शरीरकी दाह आदि क्रिया कराकर मुहूर्त्त भरकेलिए शोकाकुल हुआ।।४६।।

सुबोधिनीः श्लोकमें आये 'निर्हरण' शब्दका अर्थ जलाना है. 'सम्परेत'का अर्थ निष्प्राण शरीर है. भीतरसे प्रकट हुए भगवान्के भीष्मजीकी आत्माको लेकर तिरोहित होनेपर युधिष्ठिरने उत्तर क्रिया करवाई. युधिष्ठिरकेलिए भारत विशेषण इसलिए दिया गया है कि "**दौष्यन्तिरत्यगान् मायाम्**"के अनुसार भरतको मायासे मोह नहीं था. भरत वंशमें उत्पन्न होनेवालेको मायासे मोह नहीं होता है इसलिए युधिष्ठिरको भीष्मजीके मर जानेपर मोह नहीं हुआ. श्लोकमें 'कृत्वा' पद न कहकर 'कारयित्वा' कहा है इसका तात्पर्य यह है कि राज्यपर अभिषिक्त होनेपर स्वयंको उत्तर क्रिया नहीं करनी चाहिये इसलिए दूसरोंसे भीष्मजीकी उत्तर क्रिया करवाई. श्लोकमें "**मुहूर्त्तं दुःखितोऽभवत्**" अर्थात् युधिष्ठिर एक मुहूर्त्त तक खिन्न हुआ. एक मुहूर्त्त मरणोत्तर दुःखी रहना शास्त्रमें कहा गया है. इसलिए युधिष्ठिर मुहूर्त्त तक दुःखी रहा ।।४६।।

आभासार्थः भीष्मजीका कहना एवं करना सबके हृदयमें आया इस अभिप्रायसे कहते हैं कि :

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः।।४७।।

श्लोकार्थः प्रसन्न हुए मुनियोंने कृष्णकी अद्भुत कर्मत्वादिसे स्तुति की. उसके अनन्तर कृष्णको हृदयमें स्थापित कर सब अपने अपने आश्रममें गये. कुछ मुनि लोग अपने आश्रममें जाकर भी भगवद्दर्शनकेलिए लौटे और दर्शन करके पुनः अपने आश्रममें गए।।४७।।

सुबोधिनीः भगवान् अद्भुतकर्मा हैं आदि गुप्त नामोंसे मुनियोंने भगवान्की स्तुति की. कृष्णको हृदयमें धारण कर सब गये यह 'ततस्ते'से कहते हैं. श्लोकमें 'पुनः' पद आया है इसका भाव यह है कि कतिपय मुनि अपने आश्रममें जाकर भगवद्दर्शनकेलिए पीछे आये और कृष्णके दर्शन कर पुनः अपने अपने आश्रमोंमें चले गये ।।४७।।

आभासार्थः युधिष्ठिरको तो ज्ञान हो गया यह कहते हैं :

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम्।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीञ्च तपस्विनीम्।।४८।।

श्लोकार्थ: उसके अनन्तर युधिष्ठिरने भगवान् कृष्णके साथ हस्तिनापुरमें जाकर धृतराष्ट्र एवं पुत्रशोकसे संतप्त गान्धारीको तथा दूसरी स्त्रियोंको सांत्वना दी।।४८।।

सुबोधिनी: स्वयं शोक रहित ही दूसरोंके शोकको दूर करता है. युधिष्ठिर भीष्मजीके उपदेशसे शोक रहित हो गया इसलिए पिता धृतराष्ट्रको और संतप्ता गान्धारीको तथा चकारसे ली गई अन्य स्त्रियोंको भी सान्त्वना दी ।।४८।।

आभासार्थ: तदनन्तर भगवान्की कृपासे उस युधिष्ठिरको राज्य मिला यह कहते हैं:

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः।।४९।।

श्लोकार्थ: समर्थ राजा युधिष्ठिर मंत्रियोंकी एवं धृतराष्ट्रकी अनुमति प्राप्त कर भगवान् कृष्णसे अनुमोदित होता हुआ पितृ पितामहसे चले आये अपने राज्यका धर्मसे पालन किया।।४९।।

सुबोधिनी: अपने अपने अधिकारोंपर नियुक्त मन्त्रियोंसे तथा पितासे अनुमति ले वह युधिष्ठिर स्वभावतः प्रजाका अनुरञ्जन करनेसे राजा था ही उसने मंत्री एवं पिताकी अनुमतिसे और मुख्य रूपसे भगवान्का अनुमोदन होनेसे पिता और पितामहका वह राज्य रहा इसलिए उसका पालन भी आवश्यक था. अथवा उसका मिलना भी आवश्यक था. युधिष्ठिर समर्थ था इसलिए धर्मसे राज्यका पालन किया. श्लोकमें पिता और वासुदेवकी अनुमति बताई गई है इसलिए सब गुण कहे और पिता पितामहका राज्य कहनेसे तथा धर्मसे राज्यका पालन करनेसे सब दोषोंका अभाव रहा ।।४९।।

इति श्रीभागवत महापुराण प्रथम स्कन्धकी
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके वक्ताके हृत्प्रसाद प्रकरणके
उत्तमाधिकार प्रकरणका नवम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।

यहांसे आगेके अध्याय प्रथमस्कन्धके द्वितीय खंडमें देखें.